गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला-संख्या : १६४

गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास

लेखक
भगवतशरण उपाध्याय

हिन्दी समिति,
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश,
लखनऊ

प्रथम संस्करण १९६९

मूल्य रु० ९·००

मुद्रक
मेहरा आफसेट प्रेस, आगरा

प्रकाशकीय

सभ्यताओं के उत्थान-पतन की कथा ही इतिहास है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति और राष्ट्र अपने भूतकालिक जीवन का पर्यालोचन कर उसके प्रकाश में प्रगति के कदम आगे बढ़ाते है। भारत के ज्ञात इतिहास मे मौर्य, शुग और कुषाण युगो के अनन्तर गुप्त वंशीय शासको के ही ऐसे समृद्ध युग का पता चलता है, जिसमें अपने विकास के लिए सचेष्ट आधुनिक भारत को उन्नति की ओर बढाने के उद्दात प्रेरक सूत्र प्राप्त हो सकते हैं। गुप्तों के साम्राज्य मे शासन की कुशलता, राज्य की विशालता, संपत्ति की विपुलता एवं नीति-प्रयोग की तेजस्विता पुष्कल मात्रा मे दिखाई देती है। उस समय साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान, धर्म, दर्शन, वाणिज्य, यातायात, परराष्ट्र संपर्क—संस्कृति और सभ्यता के सभी अगो का उत्कर्ष इतना परिष्कृत हो गया था कि वह समय 'स्वर्णयुग' के नाम से याद किया जाता है।

हिन्दी भाषा के ओजस्वी लेखक एव इतिहासवेत्ता श्री भगवतशरण उपाध्याय ने प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी गुप्तकालीन स्वर्णयुग का उद्‌घाटन करते हुए भारत के तत्कालीन वैभव का साकार रूप प्रदर्शित किया है। इस प्रसग मे पूर्वपीठिका के रूप मे विद्वान ग्रन्थकार ने गुप्तपूर्व प्राचीन इतिहास का सिंहावलोकन उपस्थित किया है, साथ ही अपने मन्तव्यो की पुष्टि के लिए सास्कृतिक रचनाओं तथा आधुनिक पाश्चात्य इतिहासकारों के प्रमाण भी प्रस्तुत किये है।

आशा है, राष्ट्रभाषा की गौरव-वृद्धि मे यह ग्रन्थ सहायक सिद्ध होगा और भारतीय इतिहास के अध्येता एव प्राचीन वैभव के अनुरागी जिज्ञासु तथा विद्यार्थी इससे सामान्य रूप से लाभान्वित होगे।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति

दिवंगत आचार्य नरेन्द्र देव

की

पुण्य स्मृति में

विषय-सूची

अध्याय १

उपोद्घात

संस्कृति का स्वरूप

सभ्यता सामाजिक बोध है, संस्कृति उस बोध की चरितार्थता है। अराजक वन्य जीवन से सामाजिक सगठित जीवन की ओर मानव की प्रगति सभ्यता के इतिहास की मंजिलें स्थापित करती गयी है। प्रगति में अगति और प्रतिगति की स्थितियाँ भी सन्निहित हैं पर वे ऐतिहासिक जीवन के प्रवाह के शैथिल्य, उसकी निश्चेष्टता, जब तब उसके प्रतिगामी अवरोध की परिचायक है। प्रगति जीवन के कल्याणकारी विकास की कड़िया गढ़ती जाती है 'शिव' की अभिमत दिशा ही उसकी अभिप्रेत है। द्रष्टा की याचना—तम से ज्योति की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो !—सभ्यता की उसी कल्याणकारी प्रगति की ओर सकेत करती है। अज्ञान से ज्ञान की ओर, अनिष्ट से इष्ट वन्य एकाकी दुर्बलता से (नायमात्मा बलहीनेन लभ्य) सामाजिक सघबल की ओर अनृद्ध से ऋद्ध, ऋद्ध से ऋद्धतर की ओर इसकी दिशा है। सभ्यता का सक्रमण अनजान-अनदेखे के उद्घाटन का अभियान है, काल के दौरान मानव की मेधा से खोजी, उसके भुजबल और सामर्थ्य से अर्जित उसकी उपलब्धियाँ है, उन उपलब्धियो का प्राणबोध उनकी सार्वजनीन समग्रता का सस्कार संस्कृति है।

मानव ने जब अपने निर्बन्ध गृहविहीन जीवन मे अपनी सज्ञा से जाना कि ऋतु-सक्रमण से वसन्त लौटता है और फूलो से वनस्थली रँग उठती है, उनकी मधुर गन्ध से वातावरण महमह हो उठता है, जब उसने जाना कि समय से पेडो पर प्राणपोषक फल लगते है, अपने आप उगे पौधो की पकी बालो से अन्न झर पडते है, तब उसने पचाग का वार्षिक कैलेंडर का भेद पा लिया। जब उसने जाना कि गोल चक्र ही चिपटी भूमि पर दौड सकता है तब उसने आज की सभ्यता का आदि बीज, उसकी आदिम इकाई प्राप्त कर ली। चक्र कुम्हार का चाक बना, गृह का जीवन स्थिर हुआ, चाक से उतारे बर्तन-भाडे नवप्रस्तर युग के कृषि जीवन मे एक क्रान्ति लिये आये, पहियो पर गाँव-गाँव, हाट-हाट फिरने वाली बैलगाडी विनिमय और व्यापार, अर्थ के वितरण का आरम्भ तो कर ही चली, साथ ही उसने गति की, उत्तरोत्तर अन्वेषण-विकासशील आज के 'स्पुत्निक' पर्यन्त प्रगति की प्रारम्भिक भूमि भी प्रस्तुत कर दी।

मानव ने पचाग से काल को जीता, आकाश के प्रकाशपिडो की गति जानी, ऋतुओ के सक्रमण से प्राणो के आधार अन्नो को बोया-काटा, चक्र से, गति की सभावनाओ से, धरा पर वह चक्रवर्ती हुआ, सागर पर विजयी, गगनचारी, जो तारो और दिशाओ को वेध गया। उसने गुना और गिना, जोडा और घटाया, शून्य का अनुपात जाना, कृषिभूमि नापी, सख्या से दशमलव तक, क्षेत्रफल—त्रिकोणमिति से गुरुत्वाकर्षण—सापेक्षता तक के सिद्धान्त खोजे। सभ्यता युग-युग बढ़ी, सस्कृति उसकी सूक्ष्म समग्रता से समृद्ध हुई, इतिहास के पोर पोर बढी।

सभ्यता के युगो का क्रमोदय

अभावग्रस्त, भयावह, पूर्व-प्रस्तर युग का जीवन था, मधु-दूध-दही-मद्य-अन्न-मास-मत्स्य आदि से उत्तर-प्रस्तर युग के गृहस्थ का जीवन आढ्य बना। ताम्रयुग मे सुमेर, मिस्र, क्रीत और सिन्धुनद की सभ्यताएँ फली-फूली, और दजला-फरात, नीलनद और सिन्धु की ही भाति चीन मे ह्वाग-हो की घाटी मे भी सस्कृति की बेले लगी जीवन सौ-सौ धार बह चला, अगली सभ्यताओ की बुनियाद बन गयी। नयी सभ्यताएँ पुरानी को निगल गयी, पर नष्ट न कर सकी। उन्हे पचाकर स्वय नयी काया से सजी। सुमेर की भूमि पर बाबुली उतरे, बाबुल पर असुर, खत्ती और मीदी आर्य, जिन्होंने बारी-बारी सुमेरी लिपि और भाषा का, उनके पचाग और देववर्ग का उपयोग किया। मिस्री भूमि पर असुर, ईरानी और ग्रीक उतरे, क्रीन पर यवनानी आर्य, और सिन्धु की उपत्यका मे द्रविडो की नागर सभ्यता की भावभूमि पर ऋग्वैदिक आर्य। पुरानी राजनीति नष्ट होती गयी, पर सस्कृति का लोप न हो सका, पुरानी नयी के रोम-रोम मे बसी, उसे उसने शक्ति और उदारता दी। विविध सभ्यताओ-सस्कृतियो ने अपनी-अपनी भूमि पर अपनी-अपनी प्रतिभा से नवजीवन जाग्रत किया। भारत मे भी ताम्रयुगीन सैन्धव सभ्यता का उत्तराधिकार आर्यों को मिला।

भारत ने ससार को दिया बहुत, परन्तु उसने ससार से लिया उससे भी अधिक। कारण कि देने वाला वह अकेला था, उसे देने वाले अनेक थे। कथाकारिता, आयुर्वेद, गणित, दर्शन आदि के क्षेत्र मे औरो को उसने इतना दिया जितना किसी अकेले देश ने नही दिया, किन्तु पाया भी उसने उसी अनुपात मे, देने वाले देशो की सख्या की अनेकता के अनुपात मे ही। उसकी सस्कृति मे अनेक धाराएँ उसके ऐतिहासिक युगो के क्रम मे आ मिलीं जिन्होंने उसका समय-समय पर कलेवर सिरजा और पुष्ट किया। भारत की शालीनता उतनी अपनी मौलिकता मे भी नही जितनी समागत धाराओ को आत्मसात् कर लेने में है। आर्य और ईरानी, ग्रीक और पह्लव, शक और मुरुड, कुषाण और हूण सभी

की शक्ति और विशेषता उसने अंगीकार की और उसके वसन का पट इनकी विविधता के ताने-बानों से बुनकर रंग-बिरंगा हो गया।

इन सारी जातियों की विरासत गुप्त-युग को मिली जिससे वह विशेष समृद्ध हुआ। जैसे इस्लाम और अंग्रेजो के संयोग से आज का भारत समूचे पश्चिमी संसार की विरासत पाकर सपन्न हुआ है—उसकी भाषाओं-साहित्यो, कलाओं-शिल्पो, राजनीति-विज्ञान सभी पर उस विरासत का भरपूर प्रभाव पड़ा है—वैसे ही गुप्तकाल युगों की सन्धि पर, अगले युगों के शिखर पर, पिछले युगों के छोर पर, विविध जातियों की दाय लिये नयी आन-बान से खड़ा हुआ। उसकी यशस्विनी चक्रवर्ती राजनीति की छाया मे साहित्य और संगीत, विज्ञान और कलाएँ भरीं पुरीं, जितनी न तो पहले वे भरीं पुरी थीं न पीछे भरी पुरीं। युगो की विविध जातियो की शांति की साधना की परिणति थी गुप्तकालीन संस्कृति जिसने अपनी सम्मिलित विरासत आने वाले युगो को प्रदान की, और वह इस मात्रा मे, इस घनता के साथ, कि हम आज अशत. गुप्तकालीन जीवन जी रहे हैं।

गुप्तकाल अपनी सास्कृतिक विशेषता के ही कारण भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण-युग' कहलाता है। प्राय. प्रत्येक देश के इतिहास मे इस प्रकार के स्वर्णयुगो का समय-समय पर निर्माण हुआ है। उदाहरण के लिए ग्रीस के इतिहास का वह युग जिसका नेतृत्व पेरिक्लीज ने किया था पेरिक्लियन युग कहलाता है, जिसमे सुकरात और दियोजिनीज़ जैसे दार्शनिको, मीरन, फ़ीदियस और प्राक्सितिलीज़ जैसे मूर्तिकारो, आपिलीज़ के-से चितेरो और ईस्किलस, सोफ़ोक्लीज़, युरिपिदीज़ और अरिस्तोफ़ानीज़ के-से नाट्यकारो का प्रादुर्भाव हुआ था। यह पाँचवी-चौथी सदी ई. पू. का काल ग्रीक इतिहास का स्वर्णयुग कहलाया। इसी प्रकार रोम का स्वर्णयुग सम्राट् ओगुस्तस का पहली सदी ई. पू. और ईसवी सदी का विख्यात हुआ, जब वर्जिल ने अपना काव्य 'ईनिद' लिखा, होरेस ने अपने 'ओड' लिखे और रोमांचक ओविद ने अपनी सरस गेय कविताएँ लिखी जिसकी हड्डियो को रोम के बाहर आश्रय मिला, और जब रोमन साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर में इग्लैण्ड और दक्षिण मे अफ़्रीका नीलनद के उद्गम तक, पश्चिम में स्पेन और पूर्व मे पार्थिया—ईरान तक फैल गयी थी। इटली के इतिहास मे पुनर्जागरण का युग स्वर्णयुग कहलाया जब दान्ते के बाद साहित्य मे पेत्रार्क और बोकाच्चो ने अपनी रचनाएँ की और लियोनार्दो दा विची, माइकेलैंजेलो, रफ़ेल, बोतिचेली और तिशियन ने अपनी मूरतें कोरी और चित्र चिते। इसी प्रकार का विशिष्ट युग इंग्लैण्ड के इतिहास मे एलिज़ाबेथ प्रथम का और फ्रांस के इतिहास में चौदहवें लुई का था। भारत का वह विशिष्ट युग गुप्तकाल था जिसकी संस्कृति का इतिहास नीचे प्रस्तुत है।

विगत युगों का सिंहावलोकन

पर वह सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करने से पहले गुप्तों से पूर्व के युगों पर दृष्टि-पात कर लेना समीचीन होगा। इससे यह स्पष्ट प्रकट हो जायेगा कि कितना सांस्कृतिक महत्त्व गुप्त-युग ने भारत को दिया, कितनी विरासत उसे स्वयं पहले युगों से मिली थी। इनमें यहां हम केवल प्राङ्मौर्य, मौर्य और शुंग युगों की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

प्राङ् मौर्य

विनष्ट सिन्धु-सभ्यता के भग्नावशेष पर ऋग्वैदिक संस्कृति प्रतिष्ठित हुई। नये देवों का विकास हुआ जो आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी की प्राकृतिक सत्ता के प्रमाण थे। शुद्ध वैदिक समाज में अब वर्णधर्म का विकास हो चला था और शूद्रों के साथ ही दासों और दस्युओं का भी समावेश हो गया था। उत्तर वैदिक काल में वर्णों की मर्यादा और बढ़ी, यद्यपि ब्राह्मण-क्षत्रियों के परस्पर विवाह में कोई आपत्ति नहीं होती थी। अनेक बार क्षत्रिय भी पौरोहित्य करा लेते थे। इस काल आर्यों ने वर्णों के अतिरिक्त अपने जीवन को ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास के चार आश्रमों में भी बाँटा। गोवध अब तक समाप्त हो चुका था पर अश्वमेध का यजन चोटी पर था। धर्मसूत्रों ने वर्णों की सीमाएँ और वृत्तियां और भी स्पष्ट कर दीं। यद्यपि अनुलोम और प्रतिलोम के वैवाहिक रूप अभी निषिद्ध नहीं हुए थे, भिन्न वर्णों के विवाह से उत्पन्न शिशु संकर कहे जाने लगे थे। महाभारत और रामायण के इतिहास-युग निःसन्देह धर्मसूत्रों के युगों से पूर्वतर थे। तब अभी नियोग की प्रथा प्रचलित थी। उन काव्यों के प्रधान पुरुष—विशेषतः महाभारत के प्रायः सभी क्षत्रिय वीर—ब्राह्मण पिताओं से उत्पन्न थे, पर क्षत्रिय कहलाये, क्योंकि क्षेत्र प्रधान माना जाता था और क्षेत्र का स्वामी ही उपज का स्वामी भी माना जाता था। इससे जिसकी पत्नी होती थी पुत्र भी उसी का होता था, यद्यपि उसका वास्तविक जनक पत्नी के पति से भिन्न रहा हो।

वेदविरोधी और ब्राह्मण धर्म के शत्रु बौद्ध और जैन धर्मों ने वर्णप्रधान उत्तर वैदिक और धर्मसूत्र-चालित समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया। बुद्ध ने न केवल ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड, वैदिक परम्परा पर आघात किया बल्कि उनके वर्णाश्रमों और देववाणी संस्कृत को भी निरर्थक कर दिया, जब उन्होंने उन्हें निरर्थक बता संस्कृत के स्थान पर जनभाषा पालि में अपने उपदेश किये। जैनों की धर्मभाषा भी संस्कृत से भिन्न प्राकृतें बन गयी। उत्तर वैदिक काल से ही प्रव्रजित साधुओं के संघ देश में फिरते रहे थे, पर अधिकतर वे ब्राह्मण और जब तब क्षत्रिय-प्रधान थे, अब बुद्ध के संघ में ब्राह्मण और क्षत्रिय से भिन्न वर्ण के व्यक्ति भी दीक्षित किये जाने लगे। कालान्तर में उसमें नारियाँ

भी दीक्षित होने लगी—बुद्ध की मौसी और विमाता प्रजापती संघ में दीक्षित होनेवाली पहली नारी थी जिससे भिक्षुणी संघ का समारंभ हुआ।

ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष

वैसे तो ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्ष अति प्राचीन, ऋग्वैदिक था, इस काल वह विशेष सचेष्ट हुआ। इस संघर्ष का प्रधान कारण पुरोहिताई का पेशा था जिसके महत्त्व और अर्जन सामर्थ्य के प्रति दोनों ही आकृष्ट होते थे। वह मात्र भारतीय स्थिति नही रही है। यूरोपीय इतिहास के मध्य काल मे ईसाई समाज मे भी यह पौरोहित्य पद आकर्षण का केन्द्र बना। भूपतियो और सामन्तो के ज्येष्ठ पुत्र तो पैतृक दाय अर्थात् पारिवारिक भू-संपत्ति के स्वामी होते थे पर कनिष्ठ पुत्र अधिकतर चर्च के प्रधान पदों पर बड़ी तृष्णा से आरूढ हो जाते थे। वैदिक काल मे ही पौरोहित्य के लिए ब्राह्मण-क्षत्रिय-सघर्ष प्रखर हो गया था। वसिष्ठ और विश्वामित्र के वैमनस्य ने तो ऋग्वैदिक काल के महायुद्ध 'दाशराज्ञ' का ही सकट ला खडा किया जिसमे उस काल के दस राजाओ ने अपनी सेनाओ और परिजनो के साथ भाग लिया था। इसके बाद जब पुरोहिताई का झगडा न रहा तब भी ब्राह्मण-क्षत्रियो मे परस्पर कुलागत वैर चलता रहा था। परशुराम का क्षत्रिय-सहार का प्रण और क्षत्रियों को शस्त्र ज्ञान न देने की शपथ इसी वैर के प्रमाण है। उत्तर वैदिक काल म इस वैर ने और भी रुद्ररूप धारण किया जब जनमेजय के पुरोहित तुर-कावषेय ने जान-बूझकर अपने उस राजा—यजमान का यज्ञ भ्रष्ट कर दिया और जब परिणामस्वरूप हज़ारो ब्राह्मणो को क्षत्रियो की तलवारों के घाट उतरना पडा और अनेको को राजाज्ञा से देश छोड़ देना पडा। क्षत्रिय बुद्ध और जिन ने यह वैर विधि और समग्र चेतना से निभाया था यद्यपि उनके, विशेषत· बुद्ध के, अनुयायियों में ब्राह्मणो का अभाव न था। यह सघर्ष युगों चलता रहा, ऐसा राजपूत काल तक की घटनाओं से प्रमाणित किया जा सकता है, जब विदेशियो को भी क्षत्रिय करार देकर ब्राह्मणों को पारम्परिक क्षत्रियो से लोहा लेने के लिए तैयार करना पड़ा।[1]

बुद्ध के उपदेशो ने निःसन्देह देश मे एक क्रांति पैदा कर दी। न केवल क्षत्रिय बल्कि निचला वर्ण भी ऊपर उठा और कालान्तर मे शूद्र महापद्म नन्द ने ब्राह्मण-क्षत्रिय दोनो की सत्ता नष्ट कर शूद्रों की शक्ति प्रतिष्ठित की और मगध की राज्यश्री उसके हाथ में आ गयी। उसके प्रतिकार मे चाणक्य की ब्राह्मण मेधा और चन्द्रगुप्त मौर्य के क्षत्रिय

[1] उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण : 'गीता-दर्शन अथवा संघर्ष', पृ. २७-४०; वही, 'भारतीय चिन्तन की द्वन्द्वात्मक प्रगति', पृ. ४०-५५, और ३१७-२७।

बाहुबल को संयुक्त कटिबद्ध होना पड़ा। फिर जब बौद्ध धर्म अशोक के माध्यम से और जैन धर्म उसी कुल के सम्प्रति के माध्यम से मौर्यकुलीन हो गये तब एक अर्थ में क्षत्रिय और बौद्ध पर्याय बन गये। इसी से ब्राह्मण धर्म के उन्नायक स्वयं ब्राह्मण पुष्यमित्र को दूसरी सदी ई. पू. में बृहद्रथ को मार, ब्राह्मणविरोधी क्षत्रिय मौर्य कुल का अन्त कर, बौद्ध ग्रीक राजा मिनान्दर को परास्त कर उसकी राजधानी साकल में घोषित करना पड़ा था—"यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि"—जो मुझे बौद्ध भिक्षु का एक सिर देगा उसे मैं सोने के सौ सिक्के (दीनार) दूंगा।[१]

मौर्य

चन्द्रगुप्त-बिन्दुसार के बाद क्षत्रियकर्म अभियान और दिग्विजय की नीति बदल गयी। अशोक बौद्ध हो गया और वह मानव जाति के इतिहास में अकेला राजा है जिसकी कथनी और करनी मे भेद न था, जिसने अपने उद्घोषित आदर्शों के अनुकूल आचरण किया। शिलाओं और स्तंभों पर खुदवायी अपनी घोषणाओं में उसने पड़ोसियों—बौद्धों, जैनों, ब्राह्मणों, आजीवकों—को प्रेम और सहिष्णुता से अपने साम्राज्य में बसने का उपदेश किया,[२] और स्वयं पांचों पडोसी यवन (ग्रीक) राजाओं के साथ न केवल उसने अच्छे पडोसी का व्यवहार किया,[३] बल्कि उनके राज्यों में ओषधियाँ लगाने[४] (दवाएँ बटवाने) का प्रयत्न किया था वह बौद्ध परन्तु उसकी निष्ठा में बड़ी उदारता और सहिष्णुता थी। उसके घोषित उपदेश बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का निरूपण नहीं करते, सारे धर्मों के आधार तत्त्व है। उसने सयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता, दृढ भक्ति, शौच, साधुता, दया, दान, सत्य, माता-पिता, गुरु और बडे बूढ़ो की सेवा और उनके प्रति श्रद्धा तथा ब्राह्मणों, श्रमणों, बान्धवों, दुखियों आदि के प्रति दान और उचित आदर[५] की प्रतिष्ठा की।

शुंग

यह सहिष्णुता भारतीय धार्मिक-सामाजिक जीवन की आधार-शिला थी। इस सहज धर्म से भारतीय राजाओं को उदासीनता कभी-कभी ही हुई। इस प्रकार की

[१] दिव्यावदान, कावेल और नील का संस्करण, पृ. ४३३-३४। [२] शिलालेख, ७ और १२। [३] शिलालेख, १३। [४] वही। [५] स्तंभलेख, २ और ३; शिलालेख, ७; विशेष विचारविमर्श के लिए देखिए डा. राधाकुमुद मुकर्जी का 'अशोक', पृ. ६०-७६।

असहिष्णु घटनाओं के प्रमाण भारतीय इतिहास में कम मिलते हैं। इन्हीं एकाध अपवादों में प्रधान ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र शुंग का चरित है, यद्यपि वह चरित क्षत्रियों के पारंपरिक विरोध और बौद्ध-जैन राजाओं की ब्राह्मणविरोधी नीति से प्रेरित है। निःसन्देह अशोक के पशुवध निरोध[1] से ब्राह्मणों के पशुवधप्रधान धर्म का ह्रास हुआ था, बुद्ध और अशोक दोनों द्वारा जनबोली पालि के प्रयोग से 'देववाणी' संस्कृत की अवमानना हुई थी, और सम्प्रति ने जो सौराष्ट्र में बलपूर्वक जनता को जैन बनाना शुरू किया था, जिससे गार्गीसंहिता के युगपुराण के अनुसार[2] यवन राजा दिमित (देमित्रियस) को 'धर्ममित्र' बनकर उनकी रक्षा करनी पड़ी थी, उससे संभवतः इस ब्राह्मण सेनापति और उसके पुरोहित पतंजलि को मौर्य वंश के अंतिम राजा बृहद्रथ की हत्या के लिए षड्यंत्र करना पड़ा था।[3] फिर जब बौद्ध अपनी कुयोजना द्वारा उस ब्राह्मण राजा के विरुद्ध साकल के बौद्ध यवन राजा मिनान्दर को चढ़ा लाये तब स्वभाव के अतिरिक्त भी पुष्यमित्र को लाचार बौद्ध धर्म का नाश करना पड़ा था। उसने पाटलिपुत्र से जालंधर तक के सघारामो को अग्नि के समर्पण कर दिया[4] और वह घोषणा साकल में की जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

शुंगराज ने ब्राह्मण धर्म और संस्कृत दोनों की पुनः प्रतिष्ठा की, कर्मकाण्ड और पशुयज्ञ का फिर से प्रचलन किया और स्वय दो-दो अश्वमेध कर अश्वमेधो का अनष्ठान करने और 'चिरकाल मे अवरुद्ध अश्वमेध का पुनरुद्धार करने वाला' अपने को अपने अभिलेखो मे घोषित किया। और जब देश मे शान्ति स्थापित हो गयी और विदेशी शत्रुओ का डर न रहा तब पुष्यमित्र की भी देश और समाज सम्मत सहज सहिष्णुता लौट आयी। जिन बौद्धो का कभी उसने सहार किया था उन्ही के प्राचीनतम साँची के स्तूपो की वेदिका (रेलिंग) निर्माण मे उसने कोई आपत्ति नही की। उसी के पैतृक दाय के नगर विदिशा के शिल्पियो ने साँची के स्तूपो के तोरणद्वार कोरे-गढे जो भारतीय तक्षणकला के गौरव बन गये।

धर्म और दर्शन

प्राचीन भारतीय धर्म और दर्शन का विकास द्वन्द्वात्मक रूप से हुआ है।[5] कम से

[1] शिलालेख, १। [2] युगपुराण, विक्रमस्मृति-ग्रंथ, ग्वालियर, प्रथम लेख का परिशिष्ट। [3] उपाध्याय, प्राचीन भारत का इतिहास, पुष्यमित्र शुंग का प्रसंग। [4] तारानाथ, हिस्ट्री आव ऐशेंट इंडिया (त्रिपाठी) पृ. १८७ पर उद्धृत। [5] भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. ४०-५५ और ३१७-२७, 'भारतीय चिन्तन की द्वन्द्वात्मक प्रगति'।

कम प्राचीन शताब्दियों में उसके प्रमाण स्पष्ट मिलते है। ऋग्वैदिक देवताओं का प्राकृतिक स्वरूप दीर्घ काल तक जनों के पूजन का विषय बना रहा। जब तब मनुष्यबलि विशेषत: पशुबलि तब के आर्यों के कर्मकाण्ड में प्रधान बने रहे। वह कर्मकाण्ड धीरे-धीरे इतना पेचीदा हो गया कि यज्ञ कार्य को संपन्न करने के लिए बीस-बीस पुरोहितों की आवश्यकता होने लगी। सौ-सौ वर्ष तक चलने वाले यज्ञो का प्रादुर्भाव हुआ और स्वाभाविक ही क्रियाओ की दुरूहता और जटिलता के कारण पौरोहित्य मे श्रम-विभाजन की आवश्यकता पडी जो पुरोहितो की इस बडी सख्या का कारण बनी। ब्राह्मण-ग्रन्थो का निर्माण यजन कर्म की पेचीदगी को समझाने के साथ ही ब्राह्मणो के कार्य-व्यवहार की कुजी के रूप मे हुआ।

उत्तर-वैदिक काल मे वैदिक कर्मकाण्ड और प्रकृति के देवताओ के विरुद्ध आवाज उठी। पुरोहितों को, उनके साथ ही यजमानो को मूर्ख और देवताओ का पशु[१] कहा जाने लगा। चिन्तन ने उपनिषदो के माध्यम से देव पूजा को गौण कर दिया। चिन्तन की इस परम्परा मे ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनो ने भाग लिया पर प्राधान्य उनमे क्षत्रियों का ही रहा। उद्दालक आरुणि, श्वेत केतु आरुणेय, सत्यकाम जाबाल, दृप्त बालाकि और याज्ञवल्क्य जैसे ब्राह्मण ऋषियो की कथाएँ तो उपनिषदो मे कही गयी है, पर वस्तुत नेतृत्व क्षत्रियो मे प्रमाणत. था। जनक विदेह, अजातशत्रु वाराणसेय, प्रवाहण जैवलि पाचाल और अश्वपति कैकेय के से क्षत्रिय राजा, जिनके पास समय और धन की कमी न थी और जिन्हे भूमि विजय कर उसे ब्राह्मणो को दान दे देने की प्रेरणा न थी, चिन्तन के न केवल अग्रणी थे बल्कि ब्राह्मण ऋषियो के दार्शनिक अखाडो का सचालन भी करते थे। अश्वपति कैकेय ने तो उद्दालक आरुणि और श्वेतकेतु आरुणेय—पिता-पुत्र—को ब्राह्मणोचित मन्त्र 'समित्पाणिर्भव' (हाथ मे इधन लो जिसे अपनी ज्ञानाग्नि से दग्ध कर मै तुम्हे 'विदग्ध', ज्ञानवान्, बनाऊँ) का उच्चारण कर शिष्य बना उन्हे उपदेश दिया।

तभी वेदान्त का प्रादुर्भाव हुआ, आत्मा-परमात्मा की एकता का सिद्धात समर्थित हुआ, ब्रह्म की सत्ता की प्रतिष्ठा हुई और ईश्वर के अशरीरी अव्यक्त रूप का विवेचन हुआ। कर्म के सिद्धात पर पुनर्जन्म, आत्मा के आवागमन, उसकी अमरता और मोक्ष की कल्पना तभी हुई।[२] इस रूप मे भारतीय दर्शन की पहली नीव इसी उपनिषत्काल मे पडी, यद्यपि दार्शनिक सिद्धात (सिस्टम) का निरूपण सागोपाग अभी नही हो सका। वह तब हुआ जब छहो दर्शनो का आरम्भ हुआ। यह दार्शनिक विकास, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रमाणत द्वन्द्वात्मक (विरोधी विचारो द्वारा आनुक्रमिक विकास) हुआ। वैदिक

[१] मुण्डक उपनिषद्, १, २, ७। [२] त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑव एंशेन्ट इण्डिया, पृ. ५३।

कर्मकाण्ड के प्राकृतिक-दैहिक देवताओ को उपनिषदो के राजन्यो ने नही माना। उनकी अनेकता को एक कर ब्रह्मस्वरूप उसे मान 'तत् त्वम् असि' की वाणी घोषित हुई। ब्राह्मण बहु-देववाद का स्थान सामन्तो की जनपदीय स्थिति से उठाकर अधिराट्, सम्राट्, चक्रवर्ती, सार्वभौम बनने वाले क्षत्रिय राजाओं के एकेश्वर रूप ब्रह्मवाद ने ले लिया। पर यह द्वन्द्व वही रुक न सका। ब्रह्म की क्षत्रिय उपनिषदीय व्याख्या ने जो उसे सर्वज्ञ, सर्वक्षम होते हुए भी अव्यक्त की परिभाषा दी तो ब्राह्मणो ने नये दर्शन का विवादजन्य स्वरूप देखा : जब तुम्हारे ब्रह्म की व्यक्त कोई सत्ता ही नहीं, और चिन्तन मात्र अव्यक्त की निरकुश घोषणा करता है, तो क्यो न ब्रह्म अथवा ईश्वर की सत्ता ही अस्वीकार कर दी जाय ? और परिणाम यह हुआ कि छहों दर्शनों का आरम्भ हुआ, जो सबके सब ब्राह्मणों द्वारा निर्मित थे बल्कि जो अधिकतर आरभ मे अनीश्वरवादी थे। लोकायतों[1] --प्रकृतिवादी की सत्ता अनिवार्य रूप से प्रतिष्ठित हुई, कपिल ने अपने साख्य मे सख्यात्मक पुरुष (आत्मा) की व्याख्या की और कणाद ने अणुओ के सघात का सिद्धांत निरूपित किया।

यह कह सकना कठिन है कि कपिल लोकायतो के आरभ में हुए अथवा अन्त मे। पर उनके पूर्ववर्ती आचार्यों, चार्वाक और बृहस्पति का उल्लेख भी प्राचीन साहित्य मे हुआ है।[2] एपिक्यूरस की ही भाति चार्वाक के साथ भी कालान्तर मे विरोधियो का अन्याय हुआ। उसके सिद्धांत का निरूपण स्वतंत्र रूप से कही नही मिलता, केवल प्रतिवाद के लिए विरोधी दार्शनिको मे उसके तथाकथित सिद्धात का उल्लेख हुआ है जिस पर विश्वास कर सकना कठिन है, अतिरिक्त इसके कि वह ईश्वर, आत्मा, पाप-पुण्य आदि को नही मानता था। बृहस्पति-चार्वाक-कपिल कब हुए यह कह सकना तो कठिन है पर इसमे सन्देह नही कि कपिल षट् दार्शनिको मे प्रथम है। कुछ आश्चर्य नही जो प्रारभिक उपनिषदो अथवा वैदिक काल के ही वे समकालीन रहे हो। जो भी हो, वेदो के बहु-देववाद से विरोधी उपनिषदों के एकेश्वरवाद और उससे उसके विरोधी अनीश्वरवाद (लोकायतवाद) का उत्तरोत्तर द्वन्द्वात्मक दार्शनिक विकास हुआ। उपनिषदो के विद्रोही क्षत्रिय विचारको के ही अन्तिम छोर पर पार्श्व, जिन और बुद्ध हुए, जो तीनो ही उपनिषत्कालीन राजाओ की ही भाँति क्षत्रिय और सभ्रान्त दोनो थे। जिन और बुद्ध का उपदेश-काल वस्तुतः उपनिषदो का निर्माण-काल ही है। जैन और बौद्ध दर्शन भी अनीश्वरवादी हुए। उस काल अन्य भी अनेक अनीश्वरवादी साधुवर्ग अपना सघ बनाकर देश मे घूम रहे

[1] कीथ, हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर, ४६८-६९; उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, 'भारतीय चिन्तन की द्वन्द्वात्मक प्रगति'। [2] कीथ, हिस्ट्री., पृ. ४७१।

थे,[१] बुद्ध का संघ उनमें से केवल एक था।

कपिल और कणाद के दर्शनों के बाद जैमिनि और व्यास के पूर्व और उत्तर मीमासा (दर्शनों) का प्रणयन हुआ, यद्यपि गौतम के प्राचीन न्याय की परम्परा भी अधिक अर्वाचीन नही। यदि योगदर्शन के रचयिता पतजलि महाभाष्यकार वैयाकरण पतंजलि ही थे तो उस दर्शन का रचनाकाल शुगो का युग ई पू की दूसरी सदी मानना अनुचित न होगा, कारण कि वैयाकरण पतंजलि ने पुष्यमित्र शुग का अश्वमेध यज्ञ कराया था। समान नामो की एकता मे कुछ विद्वानो को सन्देह है।[२]

इस दूसरी सदी ई पू. मे ही सभवत महाभारत के अंश और भारतीय लोक-दर्शन के सर्वस्व भगवद्गीता का निर्माण हुआ, जिसमे साख्य-योग की दृष्टि से आत्मा की अमरता, उसका आवागमन और कर्मयोग नये सिरे से घोषित हुए। गीता को उप-निषदो से दुहा ज्ञान[3] कहा गया है। ब्राह्मणों के बहुदेवात्मक ऋग्वैदिक कर्मकाण्ड के सर्वस्व इन्द्र के विरोधी क्षत्रिय–गोप कृष्ण उसमे अपने नवदर्शन—जिसके सामने अश्वत्थ के अनन्त पत्तो की भाति वेद नगण्य है—का व्याख्यान कर क्षत्रिय सूर्य-मनु-इक्ष्वाकु और स्थानत कृष्ण-अर्जुन की परम्परा स्थापित करते हैं। गीता मे अवतारवाद की पहली बार खुलकर सिद्धान्त रूप मे प्रतिष्ठा हुई है।[४] पुराणो को इससे स्वाभाविक ही बहुत बल मिला पर उनकी परम्परा वस्तुतः गुप्तयुग के काल-शिखर को छू लेती है।

कला

कला, लगता है, भारतीय जनमानस की आदिम काल से प्रेय और श्रेय रही है। प्राय. पैंतालीस सदियो का कला का इतिहास उसका साक्षी है। सिन्धु सभ्यता की ढली कांसे की नर्तकी मूर्ति, कर-पदविहीन प्रस्तर-नर्तक मूर्ति, और उभारे ठीकरो से लेकर उत्तर भारत के बारहवी-तेरहवी सदी के मन्दिरो-मूर्तियो और दक्षिण भारत के नट-राज की ढली हुई धातुमूर्तियो और सोलहवी–सत्रहवी सदी के जाति-मन्दिरो तक की कलापरपरा मानव जाति के इतिहास मे प्राय. अनजाना उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। उसके प्रति यहा सकेत कर देना हमारे अध्ययन को विकास की सार्थक परम्परा मे बाध देगा।

[१] त्रिपाठी, हिस्ट्री., पृ. ९७; और देखिए पाद-टिप्पणी, पृ. वही। [२] 'महाभाष्यकार पतंजलि और योगसूत्रकार पतंजलि के मूर्खतापूर्ण एकीकरण का प्रयत्न', कीथ, हिस्ट्री., पृ. ४६०। [3] 'उपनिषदः गावः दोग्धा गोपालनन्दनः।' [४] देखिए अध्याय १०-११।

वास्तु

सिन्धु सभ्यता का लोप अगली सदियो के दौरान एक शून्य अथवा अन्धकार युग को प्रतिबिंबित करता है। इस बीच के युग मे निश्चय मूर्तिकला और चित्रकला का अभाव है, यद्यपि वास्तुकला के संबंध मे यही निर्णय नही लिया जा सकता। सिन्धु सभ्यता की आर्य सभ्यता जो स्थानापन्न हुई नि.सन्देह उससे कला का ह्रास हुआ। कारण कि आर्य अधिकतर मूर्तिपूजा के विरोधी थे, जिससे प्रतिमा का इस काल के स्थलो की खुदाइयों मे प्राय. अभाव रहा है। परन्तु यही बात निश्चय वास्तु और भवन निर्माण के सबंध मे नहीं कही जा सकती। इधर हाल मे रूपड, कौशाम्बी आदि मे जो खुदाइया हुई है उनसे प्रकट है कि वैदिक काल स्वयं वास्तु की दृष्टि से इतना अनुर्वर भी न था जिसका पिछले दिनों मे विद्वानों को आभास मिला था। और न ही सिन्धु सभ्यता की निर्माण-शैली का ही समसामयिक वास्तु मे सर्वथा लोप हो गया था। प्राचीन गांवों के परकोटे अनेक खुदाइयों मे मिले हैं जो साधारणत: मिट्टी के थे।[1] पर इनके अतिरिक्त दुर्गों की परम्परा में बने प्राकारो के भी इधर प्रमाण मिले है जिनमे पकायी और कच्ची दोनो प्रकार की ईंटो और जहा-तहा पत्थर का भी उपयोग हुआ है। हड़प्पा के भवन निर्माण की परम्परा बाद की सदियो मे भी दीर्घ काल तक कायम रही थी,[2] यह नि.सन्देह प्रमाणित है।

अनेक अन्य[3] स्थलो के अतिरिक्त इलाहाबाद के पास इधर प्राचीन कौशाम्बी की जो खुदाई हुई है उसने न केवल पाटलिपुत्र के पूर्ववर्ती हर्यंको-शैशुनागो के राजगृह के पत्थर के परकोटे को परवर्ती सिद्ध कर दिया है, बल्कि उदयन के काल से पर्याप्त पूर्व के युगो के वास्तु-स्तर उघाड दिये है,[4] जिससे सिन्धु सभ्यता के बाद के दुर्ग और भवन निर्माण का काल भी राजगिरि के परकोटे से सदियों पहले ठेल दिया गया है।

निर्मित वास्तु और स्थापत्य के जो नमूने आज बच रहे हैं उनमें प्राचीनतम स्तूप, चैत्य और विहार आदि हैं। स्तूप पहले केवल मृत्यु सम्बन्धी थे जिनका उपयोग मृतकों की अस्थिया रखने के लिए समाधियो के रूप मे होता था। ऐसी एक समाधि आठवी–सातवी सदी ई पू. की उत्तर वैदिक काल मे बनी बिहार के लौरिया नन्दनगढ़ मे मिली थी।[5] ऋग्वेद के एक मन्त्र से प्रकट है कि अति प्राचीन काल मे आर्यों मे भी मृतक को समाधि

[1] रूपड़, कौशांबी आदि में, देखिए उपाध्याय, भारतीय कला., पृ., ५६। [2] वही। [3] वही। [4] गोवर्धनराय शर्मा, कौशाम्बी, प्रथम खण्ड। [5] जूवो दुब्रुइल, वैदिक ऐंटिक्विटीज, पांडिचेरी और लन्दन, १६२२; लांगहर्स्ट, राककट टूम्ब नियर कालीकट, ए. एस. आई. ए. आर. १६११-१२; लोगन, फाइण्ड ऑव ऐंशेन्ट पाटरी इन मलाबार, ई. ऐं. ८, मलाबार, मद्रास, १८८७।

देने की प्रथा थी। मलाबार में चट्टान खोदकर मध्यवर्ती स्तंभ पर टिकायी, वर्तुलाकार बनी एक अस्थि-समाधि मिली है, जो उसी उत्तर वैदिक काल की है। खोखले स्तूप अस्थियां रखने के अपने उद्देश्य मे अति प्राचीन मिस्री पिरामिडो से समानता रखते हैं और घटनाओ के स्मारक मिट्टी-ईंटों से बने ठोस स्तूप बाबुली जग्गुरतो से।

स्तूप

भारत मे स्तूपो की परम्परा बौद्धो-जैनो मे ही चली। इनमें जैनों के स्तूप नष्ट हो चुके है, केवल बौद्धो के आज भी खडे है। बुद्ध की मृत्यु के बाद ही शुरू होकर ये पिछले काल तक बनते चले गये थे। पिप्रावा का स्तूप अशोक के बनाये स्तूप से भी पुराना, शायद बुद्ध के कुछ ही काल बाद का है। सारनाथ का 'धर्मराजिका' स्तूप अशोक का बनवाया माना जाता है। भरहुत और साची के स्तूप भी सभवत: अशोक ने ही बनवाये, यद्यपि उनकी वेदिकाएँ (रेलिंगे) शुगो के युग मे दूसरी-पहली सदी ई पू में बनी। सारनाथ के स्तूप के गिर्द जो वेदिका बनी है उस पर तो मौर्य वास्तु की प्रसिद्ध पालिश भी सुरक्षित है।

ऊपर कहा जा चुका है कि किस प्रकार कारणवश पुष्यमित्र शुग को बौद्धो का दमन करना पडा था। पर कालान्तर मे जब उसने अपनी राजसत्ता की प्रतिष्ठा कर ली तब वह देश की परम्परा के अनुरूप ही बौद्धो के प्रति भी सहिष्णु हो गया। भरहुत और सांची के बौद्ध स्तूपों की वेदिकाएँ उसी के शासन काल मे बनी जिन पर कला के अनन्त अलकरण, देव, मानव, पशु, पक्षी अद्भुत सजीवता लिये सँवरे। वस्तुत: इनकी वेदिकाओ और तोरणो पर बनी मूर्तिया और अर्धचित्र (रिलीफ) तो मूर्तिकला की सुईकारी हैं। जो पिछले युगो मे, विशेष कर कुषाण काल मे, यक्षी मूर्तियां वेदिकास्तंभो पर कोरी गयी और वृक्षिका, शालभजिका आदि अनेक नामो मे विख्यात हुई वे पहले-पहल इन्ही शुगकालीन स्तूप-रेलिंगो पर उभरी। प्राय इसी काल की मौर्य पालिश से सपन्न वेदिका बोधगया मे भी सुरक्षित-प्रदर्शित है।[१]

चैत्य

भारतीय वास्तु मे बौद्ध चैत्यो अथवा पूजागारो की भी बडी महिमा है। इनको आज के वास्तुविशारद दरीगृह अथवा गुहामंदिर भी कहते हैं, क्योंकि इनमे बुद्ध की मूर्ति भी प्रतिष्ठित होती थी और जहा पूजा के अतिरिक्त बौद्धाचार्यों के प्रवचन भी होते थे। चैत्य अधिकतर पत्थर को एक ही चट्टान को काटकर बनाये जाते थे। इस प्रकार की कुछ

[१] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ. २६।

चट्टानी शव-समाधिया एशिया माइनर के दक्षिणी समुद्रतट पर लीदिया के पिनारा और जैंथस मे आज भी खड़ी हैं।[1] भारत का प्राचीनतम चैत्यगृह आध्र के वाल्द्रुग जिले मे तेर नामक स्थान पर ईंट और पलस्तर का बना है। ईसा पूर्व की चौथी-तीसरी सदियों से ही पर्वतों को काटकर चैत्यागार बनने लगे थे। अशोक कालीन चैत्य लकडी की निर्माण-पद्धति से बने है। अजन्ता की हीनयानी चैत्यगुहाएँ भी उसी काल की उसी पद्धति से कटी हैं। गया के पास आजीवक साधुओ के आवास के लिए अशोक ने बराबर की गुफाऐं निर्मित करायी थी जिनकी दीवारो पर आज भी मौर्यकालीन पालिश चढ़ी हुई है। पश्चिमी घाट मे बबई-पूना के बीच स्थित कार्लेकर अभिराम चैत्यगृह का बनना ईसा पूर्व की पहली सदी मे आरम्भ हुआ था, पर ईसवी सदी के आरम्भ के बाद तक बनता चला गया था। पश्चिमी भारत मे भाजा, कोदाने, पीतल खोरा, बेडसा, नासिक, कन्हेरी आदि मे भी इसी प्रकार के चैत्यगृह बने।[2]

स्तम्भ

वास्तु—स्थापत्य मे स्तूप-चैत्यो की ही भाति स्तभो की परम्परा भी गुप्तो से पहले ही चल पडी थी। स्तभ दो प्रकार के बने, धार्मिक और राजनीतिक। धार्मिक स्तभो का विकास सभवत प्राचीनतम वैदिक यूपो से हुआ जिनसे यज्ञ में बलि के लिए पशु बाधे जाते थे, फिर इनका स्थान विष्णु आदि के स्मारक स्तभो ने ले लिया। राजनीतिक स्तंभ विजय-स्तम्भ या कीर्तिस्तम्भ कहलाये। अशोक ने स्तभो की विजय परम्परा बदल कर उन्हे अपने उदार धर्म के प्रचार का वाहन बनाया। उसके प्रजा के प्रति उपदेश इन्ही आश्चर्यजनक, सुन्दर, भारी और ऊँचे, पालिश से युक्त गावदुमी रूप के स्तंभों पर खुदे है। ये एक ही पत्थर के बने है और संख्या में ३० हैं।

राजप्रासाद

भारत मे प्राचीन काल से ही नगर बनते आये थे। वस्तुत. इस देश की प्राचीन-तम सिन्धु सभ्यता नागर ही है। मोहेन-जो-देडो, हडप्पा आदि प्रागैतिहासिक काल के अतिरिक्त वैदिक काल मे भी अयोध्या, हस्तिनापुर, आसन्दीवत् आदि अनेक नगरो का उल्लेख मिलता है। गाव और नगर तथा दुर्ग बनाने के मान मानसार, अर्थशास्त्र आदि मे सविस्तार दिये हुए है। कौशाम्बी मे पूरे खडे भवन तो नही मिले, पर राजगिरि मे जरा-सन्ध की बैठक निश्चय मौर्यों से प्राचीनतर भवन का दृष्टान्त प्रस्तुत करती है। स्वयं

[1] कुमार स्वामी, हिस्ट्री. पृ. १२। [2] द क्लासिकल एज, पृ. ४७० से आगे।

चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रसिद्ध राजप्रासाद का विशद वर्णन सेल्यूकस के राजदूत मेगास्थनीज ने अपनी 'इंडिका' में किया है, जिसे वह शूषा और एकबताना के ईरानी राजभवनों से भी सुन्दर मानता है। अशोक के पिता-मह चन्द्रगुप्त का वह चौथी सदी ई. पू. मे बना राज-प्रासाद मछलियो से भरे सरोवरो से सयुक्त, सुविस्तृत उपवन मे खडा था। उसके खभे सुनहरे-रुपहले थे जिनकी चांदी की बेलो पर सोने के पक्षी बिठाये गये थे। उस राजप्रासाद के अवशेष पटना के पास के गाव कुम्रहार में मिले हैं। पाटलिपुत्र नगर के लकड़ी के परकोटे के भी कुछ अश आज हमें प्राप्त हैं।

स्थापत्य मे पूजार्थ प्रतिमाओ के अतिरिक्त भी अलकरण की दृष्टि से मूर्तियों का निर्माण होता था। मन्दिरो मे इनका भरपूर उपयोग हुआ है और दक्षिण के उत्तर-कालीन मदिरो पर तो इनका बाहुल्य इतना है कि आखों को खटकने तक लगता है। दरी-गृहो मे, चैत्य-विहारो मे भी इनकी अनन्त और अटूट छटा देखने को मिलती है। स्वय स्तंभों तक के शीर्ष पशुओ के अलकरणो से मडित होते थे। अशोक के स्तंभो पर तो सिंह, वृषभ, गज, अश्व सभी पशुओ की आकृतिया बनी, विशेष कर सारनाथ वाले स्तभ पर पीठ से पीठ लगाये बैठे चार सिंहो की प्रतिमा तो भारत के मुद्राक का अभिप्राय (मोटिफ) ही बन गयी।

मूर्तिकला

सिन्धु सभ्यता और मौर्य काल के बीच यद्यपि कला की वस्तुओ का अभाव रहा है, वह काल इस प्रसग मे सर्वथा शून्य भी नही रहा है। बरतन-भाडो की जमीन काफी चिक-नायी हुई तब मिलती है और जब-तब इक्के-दुक्के कला के प्रतीक भी मिल जाते हैं, जिससे तब की एक अश तक क्रियाशीलता का पता चलता है। लौरिया नन्दनगढ़ की जिस मृतक-समाधि का ऊपर उल्लेख हो चुका है उसी मे मिली नग्न नारी की स्वर्ण-प्रतिमा इस निष्कर्ष की सपुष्टि करती है। कला सबधी प्रयास निश्चय मौर्यकाल से शीघ्र पूर्व सक्रिय हो उठा जो तब के मिले उन असख्य मिट्टी के ठीकरो से प्रमाणित है जिन पर अनेकानेक चित्र उभार कर बनाये गये है। विशेष कर तब की नारी के चित्र तो अत्यन्त भव्य हैं जिन्होंने मौर्य और शुग काल के भव्यतर चित्रो का समारभ किया। यक्षो-यक्षिणियो की खुरदरे पत्थर की विशालकाय मूर्तिया तभी बनी थी। इनमे परखम और बेसनगर की मूर्तिया काफी प्रसिद्धि पा चुकी है।

भारतीय मूर्तिकला की विविध युगो की विविध शैलिया हैं। युगो के ही परिमाण मे ये शैलिया भी बदलती गयी है और उनके प्रतिमान और आदर्श, तकनीक और स्वरूप बदलते गये है। यदि उन्हें युगों में बाटा जाय तो उनके भाव-भग निम्न ऐतिहासिक युगो

के अनुवर्ती होंगे—प्राङ्मौर्य, मौर्य, शुग, शक, कुषाण, गुप्त, पूर्व-मध्य, उत्तर-मध्य, प्रागाधुनिक और वर्तमान ।

इन युगों में पहले के उदाहरणों का संकेत सैन्धव सभ्यता, उत्तर वैदिक काल और मौर्यकाल के शीघ्रपूर्व-युग की पृष्ठभूमि में किया जा चुका है। गुप्तयुग की पृष्ठभूमि से उठने वाले विदेशी शासकों के युगों की कला-विशेषताओं की चर्चा हम यथास्थान करेंगे। यहा केवल मौर्य और शुगकालीन मूर्तिकला का उल्लेख कर देना उचित होगा।

मौर्यों की मूर्तिकला का प्रतिनिधान अशोक के स्तंभो की शीर्षस्थ पशु प्रतिमाओं द्वारा है। उनका सकेत अन्यत्र किया जा चुका है। उनके अग-प्रत्यंगो का निर्माण इस योग्यता से हुआ है कि वे लगती हैं सजीव हैं और साचे में ढालकर निकाली गयी हैं। उनकी नसें तक असाधारण आकलन से प्रकाशित है और उस काल की विशिष्ट पालिश उन्हें विशेष सौंदर्य प्रदान करती है। सारनाथ के स्तंभ के सिंह न केवल इस देश के बल्कि समस्त ससार के मूर्तिविन्यास मे अप्रतिम हैं।

इसी प्रकार मौर्य कालीन मिट्टी के ठीकरो का मूर्तन भी असाधारण सुन्दर हुआ है। सांचे मे ढले ठीकरो पर अभिराम नारीमूर्ति रेखाओं द्वारा अपनी नैसर्गिक छटा में आकलित हुई है। वह केश की विविध वेणियों का सभार लिये सूक्ष्म परिधान सहित रेखान्वित हुई है। उसकी समता बस अगले युग की परिणति मे है।

शुग काल मे यद्यपि मूर्तिविन्यास मे पहले की मांसलता बनी रही, मासलता ही विशेष कर उसका आराध्य न रही। मूर्ति के अंगागीय सौंदर्य के स्थान पर एक प्रकार की प्रतीकता का समावेश हुआ। कला के प्रतिमान जीवन से नही कल्पना से निर्धारित अभि-प्रायो में प्रकट किये जाने लगे। यथार्थ का अनुकरण और रूप की प्रकृतिता कलावन्त को अब इष्ट न रही। चारों ओर से कोरकर बनाने के बजाय अगाग अब दीवार की पृष्ठभूमि से उठाये-उभारे जाने लगे, 'रिलीफ' या अर्धचित्रण की शैली विशेष खुलकर रूपायित होने लगी। आकृतियां ठिगनी, सामने से कुछ चिपटी होने लगी। इनसे भिन्न पटना संग्रहालय की दीदारगंज वाली चमरधारिणी मूर्ति वस्तुत. मौर्य और शुग काल की सन्धि पर खड़ी है। मूरतो के चरणों के बीच तिकोनी धोती लटकने लगी और पगडी में सामने दो गांठे बाधी जाने लगी।[1]

भरहुत और साची की रेलिगों के स्तभ और पट्टियां शुगकाल मे अनन्त अभिप्रायो, प्रतीको से सज गयी। एक विशिष्ट अभिप्राय जो उस काल विशेष तन्मयता से उभारा गया

[1] देखिए, सांची और भरहुत की मूर्तिसंपदा और संग्रहालयों में सुरक्षित शुंगकालीन मूर्तियों का परिधान।

वह था शालभंजिका का। नारी भंगिमा में खडी शाल अथवा अशोक तरु की शाखा पकड़े उसको तोड़ने अथवा झुकाने की मुद्रा मे रत हुई। इस भावभूमि की परिणति तो कुषाण काल में हुई पर इसकी विविधता का प्रकाश शुग युग ने ही कर दिया। इसी काल पत्थर की सीमित सीमा मे जातककथाओ का विन्यास भी होने लगा। द्वार के स्तभों की पहलें इस प्रकार के भावविन्यास से भर गयी, उनके खानों मे जीवन के अनेकानेक रूप उभारे जाने लगे। अभी बुद्ध की प्रतिमा कोरी नही जा सकी थी इससे उनकी स्थिति का परिज्ञान बोधिवृक्ष, पादुका, पदचिह्न, पगडी, छत्र, धर्मचक्र-प्रवर्तन आदि प्रतीकों द्वारा कराया जाने लगा। दूसरी-पहली ई पू. की इस शुग कला के केन्द्र तब श्रावस्ती, भीटा, कौशाबी, मथुरा, बोधगया, पाटलिपुत्र, साची, भरहुत आदि मे स्थापित हुए।

शुग कालीन मृन्मूर्तिया (मिट्टी की मूरते) अपनी विविधता और अभिरूपता मे सानी नही रखती। ऊपर बताये शुग कालीन केन्द्रों, विशेष कर पाटलिपुत्र और कौशाम्बी से असख्य ठीकरे मिले है जिनमे कला का अभिराम रूप देखते ही बनता है। विशेषतः नारी का रूप उसके अनगिन वेणीप्रसाधन, परिधान, अलकरण और हाथ में धारण किये कमल-दण्ड से असाधारण शालीन मडित हुआ है। उदयन का वासवदत्ता के साथ पलायन और बैलगाडी पर पिकनिक को जाते रूप का वर्णन तो कर सकना कठिन है। बालको के खिलौने, घोडे-हाथी के अतिरिक्त, इस काल मेढे और मेढेजुती गाडिया और मगर है। सर्वत्र उनकी भूमि बिखरे फूलो से भर दी गयी है।

चित्रकला

चित्रकला का मार्गीय (शास्त्रीय) उदय भारतीय इतिहास के प्राय पिछले युगो मे हुआ। सिन्धु सभ्यता के युग से मौर्यो के युग तक सर्वथा उसका अभाव है। उसका वस्तुत पहला परिचय हमे शुगकाल मे ही मिलता है। वैसे इस देश मे भी ऐसी गुफाए हैं जिनमे आदिम मानव के चित्राकन की ओर सकेत किया गया है, पर सौदर्य-साधना की दृष्टि से चित्रकला का वास्तविक उदय यहा शुगकाल मे ही हुआ। मिर्जापुर के पास रामगिरि की पहाड़ियो मे जोगीमारा नाम की गुफा है। उसमे कुछ भित्तिचित्र बने है जो एक-दूसरे मे लाल-पीली रेखाओ मे विभक्त कर दिये गये है। अजन्ता के दरीमन्दिरो मे भी कुछ शुग कालीन चित्र सुरक्षित हैं। नवी-दसवी गुफाओ मे चित्राकन हुआ है। नवी की दीवार पर प्रणाम मुद्रा मे बैठी नारी तो जैसे जीवन से उठा ली गयी है।

चित्रकला की साधना अजन्तावर्ती गुप्तकाल मे इस देश मे निरन्तर होती आयी है, जिससे उसकी युगीन और स्थानीय अनेक शैलिया बन गयी हैं, पर गुप्तकाल से पूर्व उसका क्रमिक रूप दृष्टिगोचर नही होता। मूर्तिकला के अनुपात मे तो वह सर्वथा नगण्य है।

संगीत

इसी प्रकार संगीत शास्त्र के प्रयोग का भी प्राचीन काल में प्रचुर उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि अत्यन्त पूर्व काल से ही अन्य प्रमाणो से उसकी स्थिति की अटकल लगायी जा सकती है। स्वय कालिदास ने गुप्तकाल मे जो शास्त्रीय अभिनय और नृत्य का 'मालविकाग्निमित्र'[1] मे कथोपकथन प्रस्तुत किया है वह एक दीर्घकालीन विकास की अपेक्षा करता है। भरत के प्राचीन नाट्यशास्त्र मे भी सगीत के तीनों अंगों—नृत्य, वाद्य, गीत का अभिनयवर्ती उल्लेख हुआ है। भरत द्वारा ही स्वर्ग में 'लक्ष्मीस्वयवर'[2] नामक मंचरचना के आयोजन का संकेत प्राचीन साहित्य मे हुआ है।

फिर वैदिक छन्दो के गायन की जो प्रक्रिया अति प्राचीन काल मे चल पडी थी, जिसमें उद्गाता नामक पुरोहित की आवश्यकता पडी, वह, उसी मे ताल-स्वर की आवश्यकता पड़ती थी। 'समन' नामक वैदिक मेले मे युवक-युवतियो के समवेत नृत्य का आयोजन होता था।[3] नर्तकियो का उल्लेख तो ऋग्वेद तक में हुआ है। कौटिलीय अर्थशास्त्र मे वेश्याओ पर कर लगाने का उल्लेख मिलता है। निश्चय वेश्याओं की सनातन नृत्य-गान की कला उनके द्वारा उपेक्षित नही रही होगी। शुग कालीन अनेक उत्कीर्णनो मे नृत्य करती नारी और बजते वाद्य का अनुकार्य सुरक्षित मिलता है। गुप्त काल तक पहुचने तक तो अभिनय और सगीत मे क्राति उपस्थित हो गयी।

[1] अंक १ और २। [2] नाट्यशास्त्र का बहुविध उद्धृत स्थल। [3] उपाध्याय, विमेन इन ऋग्वेद, पृ. ३६, ४०, ४५, ४६, ५१, ५४ आदि।

अध्याय २

वैदेशिक वातावरण

१. वैदेशिक विन्यास और क्रिया

जातीय सम्पर्क और प्रभाव

संस्कृति के स्वभाव की ओर ग्रन्थ के आरभ मे कहा जा चुका है कि सस्कृति सार्वजनीन सपदा है, देशी-विदेशी सभी प्रकार के सपर्क का परिणाम है, सयुक्त प्रयास की परिणति है। देश या काल के धरातल पर कोई बिन्दु नही जहाँ खडे होकर यह कहा जा सके कि बस इससे परे अब ऐसा कुछ नही जिससे हमारा कोई सबध नही या जिस का हम पर कोई प्रभाव नही। जातियो के परस्पर सपर्क, प्रतिक्रिया और योग से सस्कृति का शरीर बनता है। नयी जाति देश की ओर सक्रमण करती है, सीमा पर मडराती है, देश मे हलचल होती है, दोनो एक दूसरे से टकराते है, दोनो मे से एक टूट जाता है पर नष्ट नही होता। सगम की धाराओ की भाति फिर दोनो मिलकर समान प्रवाह बन जाते है। अब तक दोनो धाराए अलग-अलग थी, अब वे सपृक्त प्रवहमान द्रव की इकाइया बन गयी। इकाइया सपूर्ण को बनाती है, स्वय सपूर्ण अटूट सघात की इकाई बन जाता है। सस्कृति का यही क्रमिक विकास है—इकाई से सयुक्त इकाई, सयुक्त से सयुक्ततर, पर अगले सपात के लिए इकाई मात्र, अगली सयुक्त इकाई पिछली से सदा ऋद्ध, ऋद्धतर। सस्कृति इनका सपृक्त अटूट क्रम, अविरल परम्परा, अन्योन्याश्रित अतरावलबित सपदा है।[1]

जातियो के सपर्क और उनके प्रभाव की दृष्टि से भारत से बढ़कर दूसरा देश नही। अनन्त मानव धाराएं, सभ्य और बर्बर, एक के बाद एक, इसकी सीमाओ मे प्रविष्ट हुई, क्षण भर टकरायी-लहरायी, फिर उसके जनप्रवाह मे विलीन हो गयी। भारतीय सास्कृतिक पट मे नये रेशे बुन गये, नये रगो से पट चमक उठा।[2] गुप्त कालीन सस्कृति पर जिन जातियो का घना प्रभाव पड़ा और जिनकी दी हुई विरासत से उसका कलेवर भरा-पुरा वे उस काल से लेकर प्राय पाच सदियो पूर्व तक इस देश की भूमि पर बसी रही थी, उस पर उन्होने सदियो शासन किया था। इनमे यवन (ग्रीक), पह्लव, शक और

[1] भगवतशरण उपाध्याय : भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ. १६६।
[2] वही, पृ. १७०।

कुषाण प्रधान थे। गुप्तकाल ने उन जातियों से नयी शक्ति ली, नये प्राण पाये, ताजगी ली, अपने देश की धरा को नये फलागम से निहाल कर दिया।[1] आगे के पृष्ठों में इन्हीं जातियों के प्रभाव का उल्लेख होगा जो गुप्तकालीन संस्कृति की पृष्ठभूमि बना। यह प्रभाव तो निःसन्देह अत्यन्त निकट का था, दूर पूर्व की सिन्धु सभ्यता और पश्चिमी एशिया तथा मिस्र की सभ्यताओं का रंग भी इस संस्कृति की काया में समा गया था जिसकी ओर पहले संकेत किया जा चुका है।[2]

सांस्कृतिक उथल-पुथल और मिश्रण

छठी सदी ई. पू. कुछ पहले और पीछे ईरान, चीन और भारत में सांस्कृतिक क्रांति और धार्मिक नवचिंतन की लहरें उठी, जिनका प्रभाव उन देशों पर और परस्पर भी पर्याप्त पड़ा। जरथुश्त ने ईरान में, कनफूशस ने चीन में और बुद्ध ने भारत में चिन्तन और जातीय जीवन को एक नयी दिशा दी। हखमनी आर्यों ने खल्दी और असुरी साम्राज्यों का संहार कर बाबुल और निनेवे पर अधिकार कर लिया और दारा (दारयवौष्) का साम्राज्य दक्षिणी रूस, मिस्र और ग्रीस से सिन्ध और पंजाब तक फैल गया।[3]

उत्तर-पश्चिमी भारत पर विदेशी राजसत्ता

दारा ने अपने अभिलेख में अपने को 'आर्यों में आर्य' और 'क्षत्रियों में क्षत्रिय' कहा और इतिहास में पहली बार उसके अपने नक्श-ए-रुस्तम वाले अभिलेख में भारतीयों के लिए 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग हुआ। और तब की पांचवी सदी ई. पू. से विदेशी जातियों ने जो भारत में अधिकारपूर्वक बसना आरंभ किया उसका तांता गुप्तकाल तक बराबर बना रहा। तब से और तीसरी सदी ईसवी तक उत्तर पश्चिम में हिन्दूकुश-गन्धार से मथुरा तक की भूमि पर, भारशिव नागों के उदय तक, मौर्य कालान्तर को छोड़, उनका साका चलता रहा। मथुरा के पास के 'देवकुल' नामक गांव में जो शक-कुषाण राजाओं की प्रायः आदमकद मूर्तियां मिली हैं, प्रकट है कि वह गांव उनके राजकीय मूर्तिसंचय का केन्द्र बन गया था।

पेशावर, तक्षशिला, स्यालकोट, मथुरा, युथिदेमिया, दत्तामित्री, पत्तन, उज्जैन

हिन्दूकुश की छाया में, स्वात की घाटी में, सिन्धु के आर-पार पठान-हिन्दू बसते

[1] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका। [2] विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, वही, दूसरा भाग। [3] त्रिपाठी, हिस्ट्री, पृ. ११५-१६।

थे जिनके यूसुफ़ज़ई के इलाके मे शलातुर गाव मे महर्षि पाणिनि ने वैज्ञानिक व्याकरण का पहली बार आरंभ किया था, पुष्कलावती (चारसद्दा)–पुरुषपुर (पेशावर)–तक्षशिला से शाकल–मथुरा तक ग्रीक, शक, कुषाण बसते चले गये थे। उधर पश्चिम मे सिन्ध के यूथिदेमिया–दत्तामित्री–पत्तन से उज्जैन–महाराष्ट्र तक यवन और शक फैले हुए थे। फिर जब ई पू दूसरी सदी मे गुर्जरो और आभीरों ने इस देश मे प्रवेश किया[1] तब पश्चिमी सागरतट से गहरे पूर्व तक उनकी सत्ता देश पर कायम हुई। गुर्जरो ने तो लाट आदि का नामसस्करण ही अपने नाम से 'गुजरात' किया और जोधपुर के पास मन्दोर से आरंभ कर उन्होने अपनी विजयो की एक ऐसी परम्परा बाधी जो कन्नौज के केन्द्र मे साम्राज्य-पदीय हो गयी। गुजराती प्राकृत और जनभाषा गुर्जरो के ही नाम से प्रकाशित हुई।[2] इसी प्रकार आभीरो ने भी ईश्वरदत्त के नेतृत्व मे शक क्षत्रपो की शक्ति तोड अपनी शक्ति पश्चिम मे प्रतिष्ठित की[3] और अहीरवाडा तक उनका बोलबाला हुआ। उन्ही के नाम पर आभीरी प्राकृत का नाम पडा।[4]

इसी प्रकार भारतीय जातियो का भी सीमित मात्रा मे बहिर्गमन इतिहास में अनजाना नही है यद्यपि इस दिशा मे खोज अधिकाधिक अपेक्षित है। बोगजकोई की खत्ती-मितनी आर्य जातियों की सन्धि मे जो साक्षी रूप मे मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्यौ (अश्विनी-कुमार) भारतीय ऋग्वैदिक देवताओ का उल्लेख हुआ, वह किस आधार मे, यह खोज का विषय है। उन जातियो के राजाओं के भारतीय नाम—अर्तनम (आर्त्तनम), तुस्रत्त (दशरथ), शुरियस (सूर्य), मर्यतम (मरुन) कुछ अन्योन्याश्रित अर्थ रखते है।

दारा के पूर्वी यूरोप और दक्षिण रूस की विजय वाले आक्रमण मे सभवत भारतीय योद्धा भी लडे थे और उसके पुत्र क्षयार्षा (४८६-६५ ई पू) के यूनानी आक्रमण के समय तो निश्चय भारतीय सैनिक लडे और यूनान मे बन्दी हुए थे। उनके रुई के बने कपडो और लोहे के फल वाले बेत के लम्बे बाणो को देखकर यूनानियो ने आश्चर्य किया था।[5] इसी प्रकार दारा तृतीय से सिकन्दर के अरबेला मोर्चे पर भी ग्रीको को भारतीय योद्धाओ का सामना करना पडा था।[6]

यद्यपि भारतीय विद्वानो का ध्यान इस तथ्य की ओर नही गया है, यह महत्त्व की बात है कि आज प्राय सारे यूरोप और सयुक्त राज्य अमेरिका तक मे फैले बनजारे 'जिप्सियो' को यूरोपीय विद्वानो ने भारतीय माना है[7] जो, जैसा उनकी भाषा (अधिकतर

[1] त्रिपाठी, हिस्ट्री., पृ. ११५। [2] देखिए, कीथ, हिस्ट्री., पृ. २६ से आगे (भूमिका)
[3] वही, पृ. २१६, ३६४। [4] कीथ, हिस्ट्री., पृ. २६ से आगे (भूमिका)।
[5] त्रिपाठी, हिस्ट्री., पृ. ११६। [6] वही। [7] एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका; लेख 'जिप्सी'।

अर्धमागधी से प्रभावित) से प्रकट है, अशोक के और परवर्ती युगो मे मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया और यूरोप की ओर बढ़ते चले गये थे। वैसे तो अति प्राचीन काल से भारत–पश्चिमी एशिया–पूर्वी यूरोप को थल मार्ग से सार्थ (कारवा) चलते आये थे, सिकन्दर–सेल्यूकस की विजयो ने पश्चिम की वह राह और सुकर कर दी थी जिसको अशोक के धर्मदूतों ने और गहरा किया। जिप्सियों की भाषा मे आज भी अशोकीय पालि के शब्द मिलते हैं। उस भाषा के ही संदर्भ मे 'रोमनी' भाषा और रोमानिया देश के नाम पड़े। जिप्सी आज भी अपने को 'रोम', 'लोम' और 'डोम' (भारतीय डोम) नामों से प्रकट करते और बांस के सूप, टोकरियाँ आदि बुनने का यूरोप मे पेशा करते है।[1]

अभारतीयों का धर्मान्तरण

इस सास्कृतिक उथल-पुथल का ही यह परिणाम था कि हमारे समाजशास्त्रियों को स्मृतियो में नवयुग के अनुकूल परिवर्तन करने पडे। इतनी जातियों का शोषण करने नही बल्कि यहा बस जाने की नियत ने ही विशेषतः हमारी सामाजिक स्थिति और जीवन मे इतना अन्तर डाला। वे स्वय इस देश के समाज में घुलमिल गयी। अनेक ग्रीक-यवनों के भारतीय धर्मों मे दीक्षित हो जाने के भी स्वतंत्र प्रमाण मिलते हैं; इन जातियो के प्रायः सर्वथा भारतीय सामाजिक स्तरो में समा जाने के अतिरिक्त। स्वात के कलश लेख से प्रकट है कि थियोदोर नामक ग्रीक ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था।[2] इसी प्रकार बेसनगर के स्तभलेख से प्रमाणित है कि हेलियोदोर नामक एक ग्रीक ने भागवत-वैष्णव धर्म मे दीक्षा लेकर उस विष्णुध्वज स्तम को खडा किया था।[3] वस्तुतः दल के दल यवन तब भारतीय धर्मों को ग्रहण करते जा रहे थे। इसी कारण उन्हें विशेष कर अपनी जनता के बोध के लिए ग्रीक कला-तकनीक से प्रभावित गान्धार शैली को जन्म देना पडा था। जातियो का यह अन्त सक्रमण गुप्त कालीन सास्कृतिक उदारता की आधार-शिला है। किस परिमाण मे अपने कलागत, साहित्यगत सयोग से ईरानियो, यवनों, शकों, कुषाणो, गुर्जरो, आभीरो आदि ने भारतीय समाज और सस्कृति को प्राणगर्भित किया उस पर नीचे एक नज़र डालना समुचित होगा।

कला

ऊपर स्तूपो के संदर्भ मे मिस्री पिरामिडो और बाबुली जग्गुरतों की चर्चा की

[1] एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका लेख, 'जिप्सी'। [2] त्रिपाठी, हिस्ट्री., पृ. २११।
[3] उपाध्याय, भारतीय कला., पृ. ४७।

जा चुकी है। उस काल की कला का एक प्रतीक वृषभ है, सांड, जो सिन्धु सभ्यता में बहुविध रूपायित हुआ है। मिस्र मे भी 'आपिस बुल'[1] का एक समय साका चला था और इस्रायली यहूदियो मे तो पूजा मे वृषभ के उपयोग ने एक धार्मिक क्रांति ही उपस्थित कर दी थी।[2] इसकी पंखधारी मूर्ति का उपयोग असुरो ने निनेवे आदि के अपने राजमहलो मे द्वारपाल रक्षक देवो के रूप मे किया।[3] उसी वृषभ की अति शालीन मूर्तिया बनाकर ईरान के हखमनी राजाओ ने अपनी विशिष्ट पालिश के साथ अपने अपादान-पर्सिपोलिस के राजप्रासादों के स्तभो पर प्रतिष्ठित की। इस प्रकार के वृषभ-धारी स्तम आज भी अपादान मे खड़े हैं।

ईरानी

पशु-शीर्षधारी स्तभ के उसी अभिप्राय (मोटिफ) को अशोक ने उसकी निर्माण-शैली के साथ स्वीकार किया, जैसे उसने हाल तक के ईरान-शासित अपने उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो के लिए उसी की खरोष्ठी लिपि, उसी के से शिलाभिलेख आदि स्वीकार किये थे। अशोक से पहले परखम-यक्ष आदि की अत्यन्त भोंडी मूर्तियो के सिवा इस देश मे पत्थर की प्रतिमाए थी ही नही और उनके भोंडेपन और अशोक के शालीन स्तंभो की बारीक शैली मे इतना अन्तर है कि एक से दूसरे का विकास असभव था। इसके विपरीत दाराओ के स्तभो और अशोकीय स्तंभो को एक साथ देखने पर सहज ही प्रमाणित हो जाता है कि दोनो की परस्पर कलागत सहोदरता है। यह भी कुछ कम सार्थक नही कि उस ईरानी पालिश की तकनीक का चलन इस देश मे अशोक के साथ ही आरभ हुआ और उसी के साथ प्राय समाप्त भी हो गया। केवल कुछ ही उदाहरण, जैसे पटना के दीदारगज की चमरधारिणी, ऐसे मिले है जिन पर अशोक के सौ पचास वर्ष बाद तक ईरानी अशोकीय पालिश का उपयोग हुआ है, या उसकी चिकनाहट, जैसे भरहुत-साची-बोध-गया की रेलिगो पर, कुछ काल बनी रही है। दीदारगज की चमरधारिणी भी मौर्यकालीन नही, शुगकालीन है, यह सर्वथा निश्चित नही। पश्चिम मे स्तभो पर अभिलेख लिखाने की परम्परा मिस्रियो, बाबुलियो, असुरो से ईरानी दाराओ तक प्राय २००० ई. पू से ३५० ई. पू. तक, तेइस सदियो के दौरान अटूट रही थी जब प्रायः २५० ई. पू मे इस देश मे पहली बार अशोक ने उसका उपयोग किया।

[1] उपाध्याय, भारतीय कला, पृ. ८१। [2] इस विस्तृत विवाद का उल्लेख अनेकानेक प्राचीन यहूदी पुस्तकों में हुआ है। [3] ब्रिटिश म्यूजियम और शिकागो म्यूजियम में प्रदर्शित।

ग्रीक-यवन

सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण कर पूरब की राह खोल दी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि सिल्यूकस और अन्तियोकस ने उस दिशा मे विजय के असफल प्रयत्न किये।[1] पर वही विजय आमू दरिया की घाटी मे ग्रीकों के बस जाने और उनके राज्य बाख्त्री के वहां स्वतन्त्र हो जाने से उनके लिए आसान हो गयी। अन्तियोकस के ही दामाद देमित्रियस ने, उक्रेतिद और मिनान्दर ने सफल प्रयत्न कर सिन्ध, हिन्दूकुश, पंजाब मे शाकल (स्यालकोट) तक के देश पर शासन किया और देमित्रियस-मिनान्दर ने तो पाटलिपुत्र तक धावे किये।[2]

गान्धार कला

हिन्दूकुश से प्रायः मथुरा तक के देश पर अधिकार कर सदियों बस जाने के कारण यह स्वाभाविक था कि ग्रीक वहा अपनी कला, साहित्य आदि का प्रचार करें। उन्होने प्रचार किया भी। उनकी विशिष्ट शैली गान्धार कला कहलायी जो पहली सदी ई. पू से पाचवी-छठी सदी ईसवी के बीच निर्बन्ध पेशावर से मथुरा तक के प्रदेशान्तराल में साधी जाती रही। उसका केन्द्र तक्षशिला-चारसद्दा था जिससे उस प्रदेश के नाम पर ही इस शैली का नाम 'गान्धार' पड़ा। इसमे ग्रीक कलावन्त की छेनी और भारतीय बौद्ध धर्म का योग था। अनन्त सख्या में इस शैली मे कोरी-उभारी मूर्तिया यूरोपीय आकृति–रूपरेखा–में प्रस्तुत मिली है। ग्रीक दार्शनिको के चुन्नटदार परिधान, खितोन, जम्पर और सैंडिल इन मूर्तियो की विशेषता है। पत्थर और स्टक्को (चूना-मिट्टी) का उपयोग इस शैली मे हुआ है। उत्खचन (रिलीफ) का उपयोग भी इसमे भरपूर हुआ है और बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाए, जातक-कथाए इस शैली में निरूपित हुई है। बुद्ध की पहली मूर्ति इसी गान्धार कला मे उपलब्ध हुई है। यह आश्चर्य की बात नही कि विजातीय ग्रीको से इस देश को बुद्ध की पहली मूर्ति मिली। जब ग्रीको ने इस देश मे बसकर इसका धर्म और समाज, कला और सस्कृति अपना ली थी तब वे विजातीय होकर भी विदेशी नही रह गये थे और नि सन्देह इस देश के अभिप्राय उन्होने अपनी तकनीक के अन्दाज से कोरे थे। यह बुद्ध की मूर्ति न केवल ग्रीको की छेनी का परिणाम थी बल्कि उनके चिन्तन और कल्पना का भी, क्योंकि बुद्ध का कोई प्रतिमान उपस्थित न होने के कारण उन्हे प्रमाण अपने अन्त.करण और महापुरुष-लक्षणो को ही बनाना था। समूची गान्धार शैली के महत्त्व के कलाविधान के अतिरिक्त ग्रीको के इस बुद्धमूर्ति के निर्माण

[1] त्रिपाठी, हिस्ट्री., पृ. १५०, २०६। [2] वही, पृ. १८५।

ने भारतीय धर्म और कला के क्षेत्र में एक क्रांति उत्पन्न कर दी। ऐतिहासिक काल के समूचे क्षेत्र में देश-विदेशों मे बनी धार्मिक उपदेष्टा के रूप में यह पहली मूर्ति थी। फिर तो बुद्ध और जिन मूर्तियो की इस देश मे अटूट परम्परा निर्मित हो गयी।

वैसे तो गंधार प्रदेश का प्रसार सिन्धु नद और झेलम के बीच पश्चिमी पंजाब से पेशावर जिला, काबुल नदी की घाटी, स्वात, बुनेर और अन्य कबीली इलाकों तक रहा है, इसकी मूर्तिया मथुरा तक पायी गयी हैं। इस शैली की सबसे अधिक मूर्तियां युसुफ़ज़ई इलाके से जमालगढी, शहर-ए-बहलोल और तख्त-ए-बाही से प्राप्त हुई हैं। स्वात के इलाके ने इस शैली की सुन्दरतम मूर्तियां प्रदान की हैं। वास्तु के क्षेत्र में आयोनियाई (यवन) स्तभों, से युक्त त्रिकोणाकार सामने से युक्त ग्रीक शैली मे बने कुछ भवन भी तक्षशिला की खुदाइयो मे मिले हैं।[१] कालान्तर मे इस वास्तु शैली ने कश्मीर की छिपी घाटी तक पर अपना प्रभाव डाला और आठवी सदी के ललितादित्य मुक्तापीड के बनवाये मार्त्तण्ड मन्दिर पर भी इस शैली का प्रयोग हुआ।[२] इस प्रकार अपने आरंभ से प्राय हजार साल बाद तक ग्रीक शैली का कमाधिक उपयोग होता रहा।

मुद्रा

ग्रीको के सपर्क का जो भारत पर गहरा प्रभाव पडा उसमे से एक विशिष्ट प्रभाव मुद्रा सबधी है। सिकन्दर की विजय के परिणाम मे ही इस दिशा मे कुछ प्रगति हो गयी थी और एथेंस के 'उलूकीय' सिक्को और 'अत्तिक' भार के अनुकरण मे यहा भी कुछ सिक्के बने थे, पर वास्तव मे चादी के विशिष्ट सिक्के भारत को मौर्योत्तर युग के ग्रीको ने दिये। उनसे भारतीय मुद्राक्षेत्र मे एक नया अभिप्राय (मोटिफ), नया आदर्श मिला, एक नयी धातु चादी का उपयोग मिला। चादी मिली धातु का प्रयोग मुद्रा मे अजाना न था। मौर्य युग मे, कुछ उससे पहले भी इस देश मे 'आहत' (पच मार्क्ड) मुद्राए बनती थी, जिन पर चैत्य, बोधिवृक्ष, वृषभ आदि के चिह्न बने होते थे,[3] पर वे बहुत पतली और छोटी हुआ करती थी। अब यवनो के अनुकरण मे चादी के अच्छे गोल बराबर किनारो के ढाले हुए सिक्के चलने लगे। तभी से सिक्को के लिए मूल ग्रीक शब्द 'द्रख्म' तक का उपयोग भाषा मे 'द्रम्म' के रूप मे होने लगा, जो आज भी हिन्दी मे मूल्य के अर्थ मे प्रचलित 'दाम' शब्द मे जीवित और प्रचलित है।[४] इन यवन सिक्को का महत्त्व

[१] पिगट, एंशेंट सिटीज ऑव इण्डिया, 'टैक्सिला'। [२] उपाध्याय, भारतीय कला., पृ. ८। [3] सग्रहालयो में सर्वत्र सुरक्षित प्राचीन सिक्कों पर आहत। [४] त्रिपाठी, हिस्ट्री., पृ. २०९।

भारतीय इतिहास में असाधारण है, क्योंकि उन्ही का परिवर्धित और विकसित रूप हमारा आज का रुपया है।

भाषा और साहित्य

भाषा और लिपि के क्षेत्र मे यवनो का उल्लेख पहले-पहल भारतीय साहित्य मे पांचवी सदी ईसवी पूर्व में मिलता है। तब के प्रख्यात वैयाकरण पाणिनि ने यवनानी लिपि का उल्लेख किया है। इसके बाद तो निरन्तर यवन, यवनी शब्दो का उपयोग सस्कृत साहित्य मे होता आया है। ई. पू दूसरी सदी के पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' मे यवनों की उत्तर भारत विजय का विशद रूप से उल्लेख करते हुए कहा है कि 'यवनों ने साकेत (अयोध्या) घेरा, यवनों ने माध्यमिका घेरी'।[१] यह यवन-आक्रमण उस ग्रीक-बाख्त्री राजा देमित्रियस (संभवत मिनान्दर के साथ साथ) के नेतृत्व मे दूसरी सदी ई. पू. मे हुआ था जिसे ग्रीक इतिहास 'रेक्स इन्दोरम्', भारत का राजा कहते हैं।[२] प्राय. डेढ़ सौ साल के भीतर की ही 'गार्गी सहिता' के युगपुराण ने उसे 'धर्ममित्र' कहकर सराहा[३] और कलिंगराज खारवेल ने अपने हाथीगुम्फा के अभिलेख मे उसे 'दिमित'[४] नाम से प्रकाशित किया। इस काल के बाद निरन्तर अनेक ग्रीक शब्दों का सस्कृत भाषा मे उपयोग हुआ, जिनमे से, ज्योतिष के लाक्षणिक शब्दो से भिन्न, कुछ निम्नलिखित हैं—सुरग (ग्रीक मूल 'सीरिंक्स'), क्रमेल (कामेल), कलम, मरगा आदि।[५] राजाओ के शस्त्र रखने वाली यवनियो का उल्लेख अनेक बार, विशेषतः गुप्तकालीन, सस्कृत नाटको मे हुआ है। ग्रीक राजाओं ने अपने सिक्को पर जो ग्रीक और खरोष्ठी दोनो लिपियो के दुभाषी प्रयोग किये[६] उनसे प्रमाणित है कि देश के कम से कम उस भाग में दोनो लिपिया समझी जाती थी।

गार्गी सहिता मे जिन "दुष्टविक्रात यवनो" का सविस्तर वर्णन हुआ है उनके सर्वथा यवन, यवनप्रधान और यवन-मुहल्लो वाले अनेक नगर—जैसे युथिदेमिया, पत्तन, दत्तामित्री, उक्रेतीदिया, तक्षशिला, शाकल—भारत मे बस गये थे। कहना न होगा कि इन नगरों मे यवन अपने जीवनाचार के अनुसार अपने प्रख्यात नाट्यकारो—

[१] पतंजलि का 'महाभाष्य', ३, २, १११। [२] देखिए डब्लू. डब्लू. टार्न, ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया, पृ. १६५-६७—देमित्रियस का प्रसंग; प्लूतार्क, जीवन-वृत्त, देमित्रियस। [३] देखिए, विक्रमस्मृति-ग्रंथ के पहले लेख का परिशिष्ट। [४] काशीप्रसाद जायसवाल का पाठ। [५] कीथ, हिस्ट्री., पृ. २५ (भूमिका)। [६] त्रिपाठी, हिस्ट्री., पृ. २०६।

ने भारतीय धर्म और कला के क्षेत्र मे एक क्राति उत्पन्न कर दी। ऐतिहासिक काल के समूचे क्षेत्र में देश-विदेशों मे बनी धार्मिक उपदेष्टा के रूप मे यह पहली मूर्ति थी। फिर तो बुद्ध और जिन मूर्तियो की इस देश मे अटूट परम्परा निर्मित हो गयी।

वैसे तो गधार प्रदेश का प्रसार सिन्धु नद और झेलम के बीच पश्चिमी पंजाब से पेशावर जिला, काबुल नदी की घाटी, स्वात, बुनेर और अन्य कबीली इलाकों तक रहा है, इसकी मूर्तिया मथुरा तक पायी गयी हैं। इस शैली की सबसे अधिक मूर्तियां यूसुफ़जई इलाके से जमालगढ़ी, शहर-ए-बहलोल और तख्त-ए-बाही से प्राप्त हुई हैं। स्वात के इलाके ने इस शैली की सुन्दरतम मूर्तियां प्रदान की हैं। वास्तु के क्षेत्र में आयोनियाई (यवन) स्तभो, से युक्त त्रिकोणाकार सामने से युक्त ग्रीक शैली मे बने कुछ भवन भी तक्षशिला की खुदाइयो मे मिले है।[१] कालान्तर मे इस वास्तु शैली ने कश्मीर की छिपी घाटी तक पर अपना प्रभाव डाला और आठवी सदी के ललितादित्य मुक्तापीड के बनवाये मार्त्तण्ड मन्दिर पर भी इस शैली का प्रयोग हुआ।[२] इस प्रकार अपने आरभ से प्राय. हजार साल बाद तक ग्रीक शैली का कमाधिक उपयोग होता रहा।

मुद्रा

ग्रीको के सपर्क का जो भारत पर गहरा प्रभाव पडा उसमें से एक विशिष्ट प्रभाव मुद्रा सबधी है। सिकन्दर की विजय के परिणाम में ही इस दिशा मे कुछ प्रगति हो गयी थी और एथेस के 'उलूकीय' सिक्को और 'अत्तिक' भार के अनुकरण मे यहा भी कुछ सिक्के बने थे, पर वास्तव मे चादी के विशिष्ट सिक्के भारत को मौर्योत्तर युग के ग्रीको ने दिये। उनसे भारतीय मुद्राक्षेत्र मे एक नया अभिप्राय (मोटिफ), नया आदर्श मिला, एक नयी धातु चादी का उपयोग मिला। चादी मिली धातु का प्रयोग मुद्रा मे अजाना न था। मौर्य युग मे, कुछ उससे पहले भी इस देश मे 'आहत' (पच मार्क्ड) मुद्राए बनती थी, जिन पर चैत्य, बोधिवृक्ष, वृषभ आदि के चिह्न बने होते थे,[3] पर वे बहुत पतली और छोटी हुआ करती थी। अब यवनो के अनुकरण मे चादी के अच्छे गोल बराबर किनारो के ढाले हुए सिक्के चलने लगे। तभी से सिक्को के लिए मूल ग्रीक शब्द 'द्रक्म' तक का उपयोग भाषा मे 'द्रम्म' के रूप मे होने लगा, जो आज भी हिन्दी मे मूल्य के अर्थ मे प्रचलित 'दाम' शब्द मे जीवित और प्रचलित है।[४] इन यवन सिक्को का महत्त्व

[१] विगट, एंशेंट सिटीज ऑव इण्डिया, 'टैक्सिला'। [२] उपाध्याय, भारतीय कला., पृ. ८। [3] सग्रहालयों मे सर्वत्र सुरक्षित प्राचीन सिक्कों पर आहत। [४] त्रिपाठी, हिस्ट्री., पृ. २०९।

भारतीय इतिहास मे असाधारण है, क्योंकि उन्ही का परिवर्धित और विकसित रूप हमारा आज का रुपया है।

भाषा और साहित्य

भाषा और लिपि के क्षेत्र में यवनो का उल्लेख पहले-पहल भारतीय साहित्य मे पाचवी सदी ईसवी पूर्व मे मिलता है। तब के प्रख्यात वैयाकरण पाणिनि ने यवनानी लिपि का उल्लेख किया है। इसके बाद तो निरन्तर यवन, यवनी शब्दो का उपयोग सस्कृत साहित्य मे होता आया है। ई. पू. दूसरी सदी के पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' मे यवनो की उत्तर भारत विजय का विशद रूप से उल्लेख करते हुए कहा है कि 'यवनों ने साकेत (अयोध्या) घेरा, यवनो ने माध्यमिका घेरी'।[१] यह यवन-आक्रमण उस ग्रीक-बाख्त्री राजा देमित्रियस (सभवत मिनान्दर के साथ साथ) के नेतृत्व मे दूसरी सदी ई पू. मे हुआ था जिसे ग्रीक इतिहास 'रेक्स इन्दोरम्', भारत का राजा कहते हैं।[२] प्राय. डेढ सौ साल के भीतर की ही 'गार्गी संहिता' के युगपुराण ने उसे 'धर्ममित्र' कहकर सराहा[३] और कलिगराज खारवेल ने अपने हाथीगुम्फा के अभिलेख मे उसे 'दिमित'[४] नाम से प्रकाशित किया। इस काल के बाद निरन्तर अनेक ग्रीक शब्दों का सस्कृत भाषा मे उपयोग हुआ, जिनमे से, ज्योतिष के लाक्षणिक शब्दो से भिन्न, कुछ निम्नलिखित है—सुरग (ग्रीक मूल 'सीरिंक्स'), क्रमेल (कामेल), कलम, मरगा आदि।[५] राजाओ के शस्त्र रखने वाली यवनियों का उल्लेख अनेक बार, विशेषतः गुप्तकालीन, सस्कृत नाटको मे हुआ है। ग्रीक राजाओ ने अपने सिक्को पर जो ग्रीक और खरोष्ठी दोनो लिपियो के दुभाषी प्रयोग किये[६] उनसे प्रमाणित है कि देश के कम से कम उस भाग मे दोनो लिपिया समझी जाती थी।

गार्गी सहिता मे जिन "दुष्टविक्रात यवनो" का सविस्तर वर्णन हुआ है उनके सर्वथा यवन, यवनप्रधान और यवन-मुहल्लो वाले अनेक नगर—जैसे युथिदेमिया, पत्तन, दत्तामित्री, उक्रेतीदिया, तक्षशिला, शाकल—भारत मे बस गये थे। कहना न होगा कि इन नगरों मे यवन अपने जीवनाचार के अनुसार अपने प्रख्यात नाट्यकारो—

[१] पतंजलि का 'महाभाष्य', ३, २, १११। [२] देखिए डब्लू. डब्लू. टार्न, ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया, पृ. १६५-६७—देमित्रियस का प्रसंग; प्लूतार्क, जीवन-वृत्त, देमित्रियस। [३] देखिए, विक्रमस्मृति-ग्रंथ के पहले लेख का परिशिष्ट। [४] काशीप्रसाद जायसवाल का पाठ। [५] कीथ, हिस्ट्री., पृ. २५ (भूमिका)। [६] त्रिपाठी, हिस्ट्री., पृ. २०६।

ईस्किलस, सोफ़ोक्लीज़, युरिपीदिज़, अरिस्तोफ़ानीज़ आदि—के नाटक खेलते थे, यवन कला, साहित्य आदि की साधना करते थे। ई. पू. के ग्रीक संत क्रिसोस्तोम ने जो लिखा है कि 'भारतीयों ने होमर को अपनी विविध भाषाओ में अनूदित कर लिया है और उन्हे वे प्रायः गाया करते है,'[1] और जिसे प्लूतार्क ने दुहराया है, सभव है सर्वथा सही न हो और रामायण तथा ईलियद की समानताएं नगण्य हो, इसमे सन्देह नही कि निकट स्थानीयता के सपर्क के कारण ग्रीक और भारतीय भाषाओ की एक-दूसरी के प्रति प्रतिक्रिया हुई। यह प्रतिक्रिया कितनी गहरी हुई यह कह सकना तो कठिन है पर अपने साहित्य मे जो अनेकश सकेत मिलते है उनसे लगता है कि भाषा और साहित्य के क्षेत्र पर भी यूनानी प्रभाव पडे बिना नही रह सका।

नाटक और रगमच की दिशा मे भारतीय नाटको मे 'यवनी' पात्र के निर्बन्ध उपयोग का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ड्रापसीन के परदे के लिए एक मात्र यूनानी शब्द 'यवनिका' या 'जवनिका' का उपयोग उसी परस्पर सपर्क के प्रभाव की ओर सकेत करता है। नि सदेह वह केवल यूनानी पट का द्योतक नही, जैसा जब तब उसका अर्थ करने का प्रयास हुआ है, बल्कि वह भारतीय रग-व्यवस्था का एक अग है। इसी प्रकार, लगता है, हास्यप्रधान ग्रीक कोमेदी ने भी ३०० ईसवी के लगभग लिखे शूद्रक के नाटक मृच्छकटिक पर अपनी छाप छोडी है। सस्कृत साहित्य मे ग्रीक कोमेदी के निकटतम यही नाट्यकृति आती है। इसके अतिरिक्त भी दूसरी-पहली सदी ई. पू के लगभग सरगुजा के पास खुदी रगमचीय गुहा के अन्तरंग पर भी ग्रीक प्रभाव देखा गया है (ब्लाख)।[2] वैसे तो साधारणत माना जाता है कि ग्रीस और भारत के दर्शन और कथा साहित्य अपनी-अपनी भूमि पर स्वतत्र रूप से विकसित हुए, उनकी परस्पर अनेकार्थ मे समता भी दृष्टिगोचर होती है, विशेष कर ईसप की कहानियो और जातक तथा पचतत्र की कथाओ मे सर्वथा विरोध हो, ऐसा नही कहा जा सकता।[3]

ज्योतिष

ग्रीको का गहरा और दूरगामी प्रभाव भारतीय वैज्ञानिक साहित्य ज्योतिष पर पडा, यह निर्विवाद है। क्योकि ऐसा न केवल देशी-विदेशी विद्वानो का मत है बल्कि उन प्राचीन भारतीय ज्योतिषाचार्यों की अपनी मान्यता भी यही है; प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थ गर्गसंहिता ने स्वीकार किया है कि यवन यद्यपि म्लेच्छ हैं परन्तु चूकि ज्योतिष

[1] त्रिपाठी, हिस्ट्री; पृ. २०६। [2] रामगढ, सरगुजा के पास गुफा सीता बेंगरा।
[3] देखिए कीथ, हिस्ट्री., पृ. ३५२ मे आगे।

शास्त्र का आरम्भ उन्होने ही किया है, इससे वे ऋषिवत् पूज्य है। वराहमिहिर (५०५-८७ ई.) ने अपनी 'पञ्चसिद्धान्तिका' मे जिन पांच सिद्धातो की चर्चा की है उनमे एक 'पैतामह' को छोड शेष सभी चार यवन आचार्यों—सिद्धातो से संबधित है। रोमक और पौलस मिस्र के यवनप्रधान सिकन्दरिया के यूनानी सिद्धातो से अनुप्राणित है। पौलस अलेग्जाद्रिनस, जिसका एक ज्योतिष ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है, प्राचीन आचार्यों मे गिना जाता है। वराहमिहिर द्वारा गिनाये गये आचार्यों मे तीन विदेशी नाम मय, मणित्थ और यवनाचार्य के हैं। वास्तु ग्रथों मे मय का उल्लेख असुरी शिल्पी—स्थपति के रूप में हुआ है। सूर्यसिद्धात के अनुसार उसे सूर्य ने रोमक नगर में असुर मय को सिखाया। मणित्थ वह ग्रीक आचार्य है जिसने, मिस्री इतिहास के पडितो के अनुसार, मिस्री फराऊनो का वशवृक्ष 'मानेत्थो' नाम से बनाया था। रोमक सिद्धात भारतीय युगविधान को नही मानता और मध्याह्न की गणना यवनपुर (सिकन्दरिया) से करता है। पौलस सिद्धांत यवनपुर और उज्जयिनी की दूरी देशातर में देता है। भविष्य कथन और प्राचीन भारतीय राजदरबारो मे दैवचिंतको का उपयोग बाबुली परम्परा थी जहा से ग्रीको के माध्यम से वह भारत को मिली, जैसे उसी का राशिचक्र यहा उसी साधन से आया। सूर्यसिद्धांत, रोमक और पौलस से पूर्ण, मभवत दोनो के सिद्धांत स्वायत्त कर उनके भारतीकरण का उदाहरण प्रस्तुत करता है। क्रातिवृत्त का नाक्षत्रिक विभाजन होते ही ग्रीको का राशिचक्र, उनके नाम के साथ, ले लिया जाता है। अब तक उपेक्षित ग्रहो की गति परिचक्रो के सिद्धात द्वारा निर्दिष्ट होने लगती है। 'अक्षाशभेदाश' (लबन) के सिद्धात और उसकी गणना की विधियो का आरभ हो जाता है। ग्रहणो की गणना की नयी विधिया स्वीकृत होती है। नक्षत्रो का, सौर उदयास्त का, मानव-प्रारब्ध पर उनके फल के साथ अध्ययन प्रारम्भ हो जाता है। दिन-रात का सही मान और वर्ष का नया परिमाण प्रस्तुत होता है। ग्रहो के नामो पर सप्ताह के दिनों के नाम रख लिये जाते हैं। पौलस सिद्धात के आधार पर ही भारतीय त्रिकोणमिति (ग्रीक त्रिगोनोमेत्री) का उदय होता है। तोलेमी की तनुपीठिका से उसकी अपनी चिह्नपीठिका प्रस्तुत होती है पर व्यास आदि को ६० भागो मे न बांटकर १२० भागो मे बाटते है जिससे वे चिह्न आधे-आधे कोण के हो जाते है।[1]

ज्योतिष के ग्रन्थ यवनजातक के एक टूटे अश से स्पष्ट है कि यवनेश्वर नाम के किसी व्यक्ति ने अपनी भाषा से उसका सम्कृत मे अनुवाद किसी अज्ञात सवत् के वर्ष ९१ मे किया, यवनजातक के एक पिछले पाठ का रचयिता भी कोई मीनराज यवनाचार्य ही है। सूर्य

[1] कीथ, हिस्ट्री, पृ. ५१६ से आगे।

से वराहमिहिर की ग्रहगणना का आरंभ प्रमाणित करता है कि प्रायः तभी भारत ने यहूदी-ईसाई साप्ताहिक तिथिचक्र (कैलेंडर) स्वीकार किया था। ईसाई रोमन सम्राट् कोंस्तान्तीन ने ४३४ ईसवी में इन ग्रहों के नामो वाले सप्ताह को प्रचलित किया और रविवार को आराम का दिन माना था।[1]

अनेक ज्योतिषपरक यूनानी शब्दो का प्रयोग भी सस्कृत मे प्रचलित हो गया था, जिनसे उस दिशा मे भारत की भाषाओ पर ग्रीक प्रभाव प्रकट होता है। जन्मपत्रियो के लिए सस्कृत में अपना शब्द नही है, उसके लिए सदा ग्रीक पारिभाषिक शब्द होराचक्र का प्रयोग होता आया है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के एक खंड का नाम तो 'होरा'[2] रखा ही था, ७५ छन्दो के एक पृथक् होराशास्त्र की भी रचना की थी। इसी प्रकार उसके पुत्र पृथुयशा ने भी होरा-षट्पञ्चाशिका नाम का ज्योतिष ग्रथ रचा। होरा शब्द 'होरस' (ग्रीक सूर्य) से बना है, जिससे अग्रेजी का घटा अर्थ में 'आवर' शब्द भी बना है। 'होरापाठक' नक्षत्र या जन्मपत्रियो को पढने वाला है। इसी प्रकार ग्रीक ज्योतिष के परिचय के लिए सस्कृत मे कुछ और लाक्षणिक शब्दो का उपयोग हुआ है। जैसे पणफर (एपाना-फ़ोरा), आपोक्लिम (अपोक्लिम), हिबुक (हिपोगियोन), त्रिकोण, जामित्र। जामित्र लग्न विवाह के लिए भारत मे अत्यन्त शुभ माना जाता है। कालिदास ने कुमारसभव मे अपने इष्टदेव शिव और उमा को विवाहसूत्र मे बाधने के लिए यही लग्न चुना है। इसका ग्रीक मूल द्यामितर (द्यामित्रान) है। इसी प्रकार मेषूरण का मूल ग्रीक शब्द 'मेसूरनिओस' है। भारतीय ज्योतिष के राशिचक्र के भी सस्कृत नाम ग्रीक मूल या अनूदित रूप मे ही व्यवहृत होते हैं, जैसे क्रिय (क्रियोस, मेष), तावुरि अथवा तौरुरि (ग्रीक तौरस, वृषभ), जितुम (दिदिमस्), लेय (लियो, सिंह), पाथोन (पाथेन, कन्या, ग्रीक पार्थेनस्), जूक (जुगोन्), कौर्प्य (स्कोर्पियस्, वृश्चिक), तौक्षिक (धनुर्धर), आनोकेरो (ऐगोकेरस्) आदि। इसी प्रकार ग्रीक हिद्रोखूस का सस्कृत हृद्रोग और इख्थिस् का सस्कृत इत्थ, इन्थ्य, इथुसि आदि के रूप मे प्रयोग हुआ है।[3] अधिकतर ये शब्द सिकन्दरिया (मिस्र के ग्रीक नगर अलेक्ज़ाद्रिया) से आये थे जिसे भारतीय यवन-पुर कहते थे।[4] भारतीय ज्योतिष के पाच सिद्धातो मे एक रोमक, अपना मध्याह्न (खमध्य, याम्योत्तरवृत्त) इसी नगर से गिनता था।[5]

व्यापारिक सम्बन्ध

हिन्दू-यवन राजाओ के भारतीय सीमाप्रांत और बाहर के देशो के अधिपति हो

[1]कीथ, हिस्ट्री.। [2]वही, पृ. ५३०। [3]वही, पृ. ५३०। [4]वही, पृ. ५३०-३१। [5]वही।

जाने से भारतीय व्यापार को बडा बल मिला। यवन उत्तर और दूर पश्चिम, सीरिया, बाख्त्री आदि के विदेशी थे और उन्होंने अपने उन विदेशों तथा मूल स्वदेश से भारत में रहकर भी संपर्क बनाये रखा। इससे भारतीय व्यापारियों का उनके सरक्षण में विदेशो मे घूमना स्वाभाविक ही था। सिक्कों का एक विशेष तौल और आकार का हो जाना भी व्यापार के क्षेत्र मे लाभकर सिद्ध हुआ, जिससे विनिमय और क्रय-विक्रय मे आसानी हुई। महत्त्व की बात है कि १६६ ई. पू. मे दाफ्ने नामक स्थान पर अतिओकस् चतुर्थ ने भारतीय हाथी-दांत की बनी वस्तुओ और गरम मसालो का बृहत् प्रदर्शन किया। उसके कुछ ही काल बाद एक अज्ञातनामा यवन (ग्रीक) ने जो भारत और पश्चिमी देशो के बीच व्यापार के विषय मे अपनी पुस्तक 'इरिथ्रियन सी की पेरिप्लस' लिखी, उसमे भारत आने और यहा से बाहर जानेवाली वस्तुओ की एक लबी सूची दी हुई है। उनमे दासी बनाकर लायी जाने और इस देश मे बेची जाने वाली यवन कुमारियो का भी उल्लेख है। यवनिया अनेक श्रीमानो के अन्त पुर में विशिष्ट दासियो और उपपत्नियो के रूप मे रहती थी। राजा तो इस देश मे उस समय सभवत· ऐसा कोई न था जिसके 'अवरोध' की रक्षक यवनिया नियुक्त न होती हों। प्रायः इसी काल (मौर्य-ग्रीक) के 'अर्थशास्त्र' मे कौटिल्य ने लिखा है कि यवनियो का दर्शन राजा के लिए शुभ होता है, इससे प्रात. सोकर उठने के समय उसे यवनियो का मुह देखना चाहिए।[१] परम्परया वे आखेट के समय राजा को घेरकर चलती थी। नाटको मे सर्वत्र उन्हें पुष्पहारो से सुसज्जित अपने विशेष वेश मे राजा की शस्त्रधारिणियो के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। कालिदास के समय तक, अर्थात् गुप्त सम्राटो के आवासो मे भी उन्हे रखने का प्रचलन था, जिसकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने तो एक यवन राजकुमारी से विवाह भी किया था।[२] एक विद्वान् ने तो यहा तक लिखा है कि वह्लीक के यवन राजा देमित्रियस ने जो पाटलिपुत्र पर अतिम मौर्य सम्राट् के शासन काल मे आक्रमण किया था, वह उसी सबध के अधिकार से।[3] बृहत्कथामजरी की अनेक कथाओ मे यवनो को दक्ष शिल्पी माना गया है। उडाकू यन्त्रचालित घोडो के निर्माता के रूप मे उनका वहा विशेष उल्लेख हुआ है।[४] नि सदेह इस देश के समाज, कला, विज्ञान, साहित्य आदि के विकास मे यवनो का घना योग रहा है।

[१] कीथ, हिस्टरी, पृ. १, २१। [२] त्रिपाठी, हिस्ट्री., पृ. १५०। [3] टार्न, ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया, देमित्रियस के प्रसंग में। [४] कीथ, हिस्ट्री., पूर्व-पश्चिम की कथाओं का संबंध।

पह्लव प्रभाव

अधिकतर भारतीय प्राचीन साहित्य मे अन्य विदेशियों, विशेष कर यवनो के साथ ही पह्लवो (हिन्दू पार्थवो) का भी उल्लेख हुआ है। पह्लव ईरानी थे, पूर्वी ईरान के स्वामी थे, जिन्होंने पहली सदी ई पू और पहली सदी ईसवी के बीच भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो पर प्राय. सौ वर्ष राज्य किया था।[१] भारतीय शक राजा उन्हे अपना स्वामी मानते थे। उनका अपने को क्षत्रप अथवा महाक्षत्रप कहना उसी सम्राट्-सामन्त सबध को प्रकट करता है।[२] इस अपने राज्य काल के बीच पह्लवो ने भी भारतीय जन-मानस को स्वाभाविक ही प्रभावित किया। इस प्रभाव के लिए भूमि उस दारा के साम्राज्य ने ही तैयार कर दी थी जिसका सिन्धुवर्ती भारत कभी एक अग रहा था।[3] उसके द्वारा ईरान के भारतीय कला सबंधी प्रभाव का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वह ईरानी साम्राज्य चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए आदर्श बना, साथ ही उनकी राजनीतिक सावधानी का सकेत भी, क्योकि चाणक्य (कौटिल्य) ने देखा कि दूर के ढीले प्रात साम्राज्य को दुर्बल कर देते है और उसने अपने भारतीय प्रातो को शासनकेन्द्रो द्वारा जकड दिया। साम्राज्य, प्रात-वितरण, शासन-केन्द्रीयता आदि मौर्य शासको को ईरानी राजनीति से मिले। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य ने ईरानी दरबार की अनेक रीतिया अपने दरबार मे प्रचलित की जिनमे एक सभाभवन मे केशसिचन की थी।[४]

इस ईरानी प्रभाव को पह्लव प्रभाव अथवा ईरान के दोबारा प्रभाव की पृष्ठ-भूमि मे तनिक विस्तार मे समझ लेना उचित होगा। अत्यन्त प्राचीन काल (सिन्धु-सभ्यता, ३२५०–२७५० ई पू) के अतिरिक्त अशोक (ई पू २७२–२३२) से पहले प्राय हजार वर्ष तक भारत मे खुदे लेखो के प्रमाण नही मिलते। उससे तीन सौ वर्ष पहले के लेख तो मिलते ही नही, और इन तीन सौ वर्षो के भीतर भी अभिलेखो की सख्या कुल दो-चार ही है और कम से कम इबारत के साथ लबा अभिलेख तो बिलकुल ही नही मिलता। यह कहना तो, जब तक कि ब्राह्मी लिपि के मूल का पता नही लग जाता, कठिन है कि भारत मे लिखने की परिपाटी नही थी (और ब्राह्मी का आरभ न तो अशोक ने किया और न ही वह ईरानी आधार से उठी, यह निश्चित है), परन्तु यह भी कुछ कम कुतूहल की बात नही कि अशोक से पूर्व या कम से कम ईरानी सबध से पूर्व के सस्कृत साहित्य मे 'लिपि' अथवा इसके किसी निश्चित पर्याय (अष्टाध्यायी[५] को छोड कर) का व्यापक

[१] उपाध्याय, प्राचीन भारत का इतिहास, ग्रीक प्रसग। [२] वही, देखिए, शकपह्लव प्रसंग का आरम्भ। [3] वही। [४] बेहिस्तून और नक्शए-रुस्तम के अभिलेख। [५] 'यवनानी', ४, १, ४९।

रूप से प्रचलन नही मिलता। स्वय अशोक ने जिन 'लिबि' (लेखन), 'लिबिर' (लेखक), 'दिबि' (लेखन), 'दिबिर' (लेखक) शब्दों का उल्लेख किया है वे संभवत. उस काल की पह्लवी (ईरानी, फारसी) के हैं। (संस्कृत मे 'लिख','लेखन','लेखक' आदि शब्दो का प्रयोग बहुत पीछे हुआ।) अशोक ने अपने कुछ अभिलेख (पाकिस्तान के सीमाप्रात, काबुल घाटी के) दाहिनी ओर से बायी ओर को लिखी जानेवाली खरोष्ठी लिपि मे लिखवाये जो अरमई (ईरानी) का ही एक रूप है। इसके अतिरिक्त उसके एकाध लेख अरमई भाषा में भी लिखे मिले है, जिससे सिद्ध है कि उसके साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी प्रातो मे अरमई लिखी-पढी जाती थी, जहा की प्राकृतो (जनबोलियों) और साहित्य पर उस काल की फारसी का खासा प्रभाव पडा था। इस देश में साधारणत अभिलेखो का तो प्राय सर्वथा अभाव था ही, अशोक से पहले की राजनीति के क्षेत्र मे तो उनका कभी उपयोग ही नही हुआ था। उधर ईरान, असुर, बाबुल, सुमेर और मिस्र मे हजारो वर्षों से चट्टानो, स्तंभों और ईंटो पर विजय-प्रशस्तिया लिखाने की प्रथा चली आयी थी। अशोक से प्राय डेढ सौ साल पहले के दारा के बेहिस्तून, पर्सिपोलिस और नक्श-ए-रुस्तम के प्रशस्त अभिलेख इसी प्रकार की प्रशस्तिया है। सो अशोक ने न केवल अपने पडोसी शासन से अभिलेखों की प्रथा ली वरन् उसके अभिलेखो के आद्य शब्द 'थात्तिय दारायवोष क्षयाथिय . .' को भी प्रमाण मान अपने अभिलेखो का प्रारभ प्राय उन्ही शब्दो से किया—'देवानं पियो पियदसि राजा (लाजा) एव (हेव) आह (आहा)'।[1]

पह्लव, जिन्होंने भारत के प्राय. उन्ही प्रातो पर राज्य किया जो ईरानी साम्राज्य के कुछ ही काल पहले प्रात रहे थे, उसी सास्कृतिक भूमि मे स्वाभाविक ही उठे। संस्कृत मे 'मुद्रा','क्षत्रप', 'बहादुर','शाह','शाही', 'मिहिर' आदि शब्दो का जो उपयोग हुआ है वह निश्चय इन उत्तरकालीन ईरानी पह्लवो के ही प्रभाव से हुआ है।[2] वस्तुत उस प्रदेश मे कुरूष (साइरस) और दारयवौष (डारायस) आदि पाचवी सदी ई पू. के ईरानी सम्राटो के समय से ही अरमई भाषा और खरोष्ठी लिपि का व्यवहार चला आता था और कुषाणो के अन्तिम काल (तीसरी सदी ईसवी) तक चलता रहा था। और यह संदिग्ध है कि काल के प्रभाव से बदलती भाषा और लिपि के अतिरिक्त उनके व्यवहार का वहा कभी भी अन्त हुआ। (भारत के दकन मे भी राजनीतिक शासन का भाषा और लिपि पर यह प्रभाव हैदराबाद के निजाम के शासन मे जाना हुआ है जहां कुछ काल मे ही द्रविड, तेलुगु के हृदय मे उर्दू की पौध लगकर अश्वत्थ हो गयी।) अन्य भाषाभाषी होते हुए भी यवनो (ग्रीको) तक को, अशोक की ही भाति (अभिलेखो मे), वहा चलने वाले अपने सिक्को पर ग्रीकाक्षरो

[1] उपाध्याय, भारतीय कला., पृ. १८७। [2] कीथ, हिस्ट्री (भूमिका), पृ. २५।

के अतिरिक्त खरोष्ठी लिपि खुदवानी पड़ी थी। आज की वहा की कबीली भाषा पश्तो भी ईरानी से घनी प्रभावित है। फिर उस दिशा में पह्लवों का प्रभाव कुछ कम न रहा होगा। बहुत कुछ उस प्रभाव का प्रसार और वितरण तो उन शकों के माध्यम से ही, पह्लवों के इस देश से लुप्त हो जाने के प्रभूत काल बाद तक, होता रहा था, जो न केवल ईरान होकर आये थे वरन् पूर्वी ईरान के स्वामी पार्थव-पह्लव नरेशों को अपना प्रभु मानते और ईरानी शब्द 'क्षत्रप' के व्यवहार से अपने को उनका प्रातीय शासक अथवा प्रतिनिधि सामत स्वीकार करते थे। भारत पहुचते-पहुंचते स्वय शको की वेषभूषा भी प्रायः पूर्णतः ईरानी हो गयी थी, और जिस अचकन, सलवार, पगड़ी, अथवा जगी टोप का उन्होंने इस देश मे प्रचार किया[१] वह वस्तुत. ईरानी ही थी। सूर्य की कुषाण कालीन पहली भारतीय मूर्ति की वेष-भूषा भी वही है और उसी काल की स्तूप-रेलिग-स्तभ में की दीपवाहिका की भी, जो छीटदार लबी आस्तीनो वाली कुर्ती, घाघरा और हलकी पगड़ी पहने हुए है।[२] उत्तर-पश्चिमी प्रातो का वही संभवत. उस काल का नारीवेष था, जिसका विशेष प्रसार, यदि हुआ तो, पह्लवो के ही समय हुआ होगा।[३]

ईसाई परम्परा मे पह्लवो के अंतिम राजा गुदफर (गुदह्वर, विंदफर्ण) का नाम ईसा के शिष्य संत तोमस से सबधित है। कहते हैं कि पहली सदी ईसवी मे जब ईसाई धर्म के प्रचार के लिए ईसा के शिष्यो मे विविध देश बटे तब भारत सत तोमस के हिस्से पडा। वह भारत आया भी और मद्रास मे उसकी कब्र भी दिखायी जाती है। नही कहा जा सकता यह अनुश्रुति कहा तक सही है, पर यदि यह सही हुई तो इस देश मे पहले ईसाई को प्रवेश कराने का श्रेय पह्लव नरेश गुदफर को होगा जिसने दूसरी सदी ईसवी मे राज्य किया।[४]

रोमन प्रभाव

इसी सिलसिले मे रोमन प्रभाव की चर्चा कर देना भी उचित होगा। रोमक सिद्धात का उल्लेख पहले किया जा चुका है। रोम नगर ने ज्योतिष का विशेष सबंध न था, किंतु चूकि यवनपुर (सिकन्दरिया) तक रोम के ही अधिकार मे था और रोम का सर्वत्र बोल-बाला था, उस सिद्धात का नाम रोमक पड गया। भारत का रोम से संबंध तो नि संदेह घना था। कनिष्क ने पहली सदी में अपने दूत रोम भेजे। पहले जिस 'पेरिप्लस' का उल्लेख हुआ है वह पहली सदी के ही पहले-पीछे के भारत और पश्चिम के व्यापार पर प्रकाश डालता

[१] देखिए मथुरा संग्रहालय की कनिष्क आदि की मूर्तियां। [२] लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित। [३] देखिए मथुरा संग्रहालय की 'कंबोजिका' मूर्ति। [४] स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ. २४५-५०।

है। इतिहासकार प्लिनी ने भारतीय विलास वस्तुओं—मोती, मलमल और गरम मसालों—के विरुद्ध अपने इतिहास में उस काल बड़ा जहर उगला था और रोम की सिनेट ने उन वस्तुओं पर शत-प्रतिशत कर भी लगा दिया था। पर वहां के श्रीमानों ने भारतीय माल खरीदने से हाथ न रोका। कुछ ही सदियो बाद विजिगोष अलारिक जब रोम जीतने और उसका विध्वंस करने पर तुला तब उसकी मुक्ति के बदले रोम के शासको के अनुनय पर उसने उनसे प्राय ३७½ मन (३००० पाउण्ड) काली मिर्च मांगी।[1] इन वस्तुओं के बदले भारत की भूमि पर धारासार सोना बरसता था। भारत के पश्चिमी तट पर हजारो की सख्या मे जो विदेशी सिक्के मिले हैं[2] वे सब इसी व्यापार के बदले आते थे। उसी व्यापार के फलस्वरूप उज्जैन इतना सपन्न और धनाढ्य नगर हो गया था। 'दीनार' शब्द रोमन भाषा का है जो वहां के सोने के सिक्के का भारतीय नाम था। उसका प्रयोग सस्कृत भाषा मे भी होने लगा था। जान पड़ता है कि व्यापार के जरिये आकर वह इस देश का सिक्का न होकर भी यहा चलने लगा था। उसकी अगणित संख्या होने के कारण ही उसका यहा प्रचलन सभव हो सका होगा। पहली सदी के आसपास के बौद्ध ग्रन्थ 'दिव्यावदान' मे दीनार शब्द का उल्लेख हुआ है।[3] बौद्धविरोधी ब्राह्मण सम्राट पुष्यमित्र ने शुग संबधी उसकी एक कथा में प्रत्येक श्रमण सिर के ऊपर सौ दीनारो का पुरस्कार घोषित किया था। स्वयं अपनी मुद्राएँ उसकी थी ही, पर उनको छोड रोमन दीनारो (दिनारियस) मे उसका पुरस्कार घोषित करना अवदान-कार को अस्वाभाविक नही लगता। और यह घोषणा मगध का सम्राट् साकल (स्यालकोट) में करता है। निष्कर्ष स्वाभाविक है कि रोमन दीनार मगध और पजाब दोनो प्रदेशों मे चलते थे। पंचतत्र, कथासरित्सागर, नारदस्मृति, गुप्त-लेख[4] आदि सभी इस शब्द को जानते हैं। संभवत देशी-विदेशी दोनो प्रकार के दीनार चलते थे। शुद्ध देशी रूप मे तो स्वर्ण का सिक्का 'स्वर्ण' कहलाता था, परन्तु स्वर्णमुद्राओ का साधारण रूप से दूसरा रोमन नाम दीनार भी चल पडा था। वैसे इसका भी प्रमाण मिलता है कि इस देश में पहली सदी के बाद दीनार नाम का 'स्वर्ण' के मान-तौल से भिन्न सिक्का भी बनने लगा था। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि दीनार मूल रूप मे रोमन था पर रोम के साथ व्यापार इस मात्रा मे इस देश पर छा गया था कि उसका सिक्का और उस सिक्के का नाम दोनों यहा प्रचलित हो गये।[5]

कल्याण, शूर्पारिक (सोपारा), भरुकच्छ (भड़ोच) तथा अन्य पश्चिमी सागर-

[1] गिबन डिक्लाइन एण्ड फॉल ऑव द रोमन एम्पायर, विजिगोष अलारिक का प्रसंग। [2] देखिए स्मिथ, क्वाइन्स इन द इण्डियन म्यूजियम। [3] कावेल एण्ड नील, पृ. ४३३-३४। [4] भारतीय कला., पृ. २०७। [5] भारतीय कला., पृ. २०७-८।

तट के पत्तनों में सभवतः रोमन सौदागरो की बस्तियां बस गयी थी। रोमन सौदागरो का आना-जाना उज्जैन में भी लगा रहता था। इसी घनिष्ठ सपर्क से ईसाई रोमन सम्राट् द्वारा प्रचलित यहूदी-ईसाई ग्रह-परक सप्ताह इस देश मे मान्य हुआ होगा। कहते हैं कि पश्चिमी समुद्रतट के एकाध नगरो मे तो रोमन सम्राट् ओगुस्तस की मूर्ति की पूजा भी होती थी। निःसन्देह रोमन सम्राटो की मूर्तियो की पूजा उनके साम्राज्य के नगरो में तो होती थी, किंतु उसी रूप में यहा ओगुस्तस का मंदिर होने की संभावना तो नही है, पर यह हो सकता है कि व्यापार के लिए बडी सख्या में आनेवाले या बन्दरो मे बस्तियां बना कर रहने वाले रोमनों को यह संमत रहा हो और ओगुस्तस के मंदिर उन्होंने वहा अपने लिए बना लिये हो। जानी हुई बात है कि कगनूर के स्थान पर पहले मुजिरिस बसा था जहां रोमन बसे थे। उसी के एक भाग मे यहूदियो की भी एक बस्ती थी जिन्हे चेरराज भास्कर रविवर्मा ने दसवी सदी मे कुछ अधिकार भी दे दिये थे।[१]

इसके भी प्रमाण मिलते है कि देश मे रोमनों की सख्या पर्याप्त थी। पाडय राजा अपनी अगरक्षक सेना मे रोमन सैनिको को भरती करते थे। उनकी देखादेखी दूसरे राजा और श्रीमान् भी यदि उन्हे अपने अगरक्षक बनाते रहे हो तो कुछ आश्चर्य नही। एक प्रकार की सेना का उल्लेख कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी मे 'कम्पन'[२] नाम से किया है। इस शब्द का सस्कृत साहित्य मे इस अर्थ मे कभी प्रयोग नही हुआ। रोमनों की सैन्य-शब्दावली का एक शब्द 'कम्पस' है जिससे यह बना हुआ जान पडता है। रोम की सीमाएँ अब तक अरब और फारस (पार्थिया) तक आ पहुची थी।[3]

शक-कुषाण प्रभाव

यवनो (ग्रीको) का प्रभाव तो भारतीय सस्कृति, विशेष कर गुप्तकालीन सस्कृति की सामाजिक पृष्ठभूमि पर गहरा पडा ही, शक-कुषाणो का प्रभाव भी इस दिशा मे स्मरणीय-उल्लेखनीय है। यहा हम पहले शको के भारतीय निवास और भारतीय सस्कृति में उनके योगदान की चर्चा करेंगे। सीरदरिया के उत्तरी काठे मे शक नाम की एक वीर जाति का निवास था। जब चीनी युएह्-ची उनसे आ टकराये तब अपनी भूमि से उखडकर शक पार्थव और बाख्त्री राज्यो पर इस तरह टूट गिरे कि उनकी चोट से दानो राज्यो के मेरुदण्ड टूट गये। बाख्त्री पर अधिकार कर शक दक्षिण-पश्चिम चले, पर जब ईरानी मज्ददात ने ईरान में उनके पाव टिकने न दिये, तब वे भारत की ओर चले। राह मे काबुल

[१] भारतीय कला, पृ. २०८। [२] कीथ, हिस्ट्री. (भूमिका), पृ. २७, पादटिप्पणी।
[3] भारतीय कला., पृ. २०९।

के यवन राज्य का पञ्जर गड़ा था, उसे बगली देते वे सिन्ध पहुचे जहां उनके बसने से वह स्थान शकद्वीप कहलाया। भारत मे, विशेष कर उसके मालवा आदि पश्चिमी प्रदेशो मे राजनीति अस्थिर हो उठी थी। उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल के अनाचार से पीडित होकर जैनाचार्य कालक पहले ही सीस्तान (शकस्थान) जाकर उन्हे देश पर आक्रमण करने के लिए बुला लाया था।

शकों का आगमन

पहली धारा मे शको के ६१ मुख्य कुल सिन्ध मे आ बसे। धीरे ही धीरे भारत मे पाच स्थानो मे उनके पांच राजकुल राज्य करने लगे। सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन और महाराष्ट्र में उनके शासन के केन्द्र स्थापित हुए। सारे उत्तरी और पश्चिमी प्रदेश उनके अधिकार में आ गये। भारतीय राजनीति ने करवट ली। रावी तट की वीर मालव जाति, जो सिकन्दर के हमले, चाणक्य-चन्द्रगुप्त की गणतन्त्रविरोधी नीति और यवनो की चोट से उखडकर पूर्वी राजस्थान की राह मालवा की ओर सक्रमण कर रही थी, शको से टकरा गयी। कुछ काल के लिए शको को सभवत उज्जैन की राज्यलक्ष्मी मालवो को सौप देनी पडी। अपनी विजय के उपलक्ष्य मे मालववीर विक्रमादित्य ने ५७-५६ ई. पू. मे पीछे विक्रम सवत् के नाम से प्रसिद्ध अपना मालव सवत् चलाया।[1] पर शको की धारा पर धारा जब ईरान और सिन्ध की दिशा से आती और देश को आप्लावित करती गयी तब सदियो के लिए शको की शक्ति इस देश मे सुरक्षित हो गयी। पहले उन्होने अपने को ईरानी पार्थव सम्राटो का 'क्षत्रप' (प्रातशासक) कहा, फिर वे 'महाक्षत्रप' कहलाये, और अन्त मे 'शाहिशाहानुशाही,[2] परन्तु एक दिन के लिए भी वास्तव मे उनकी सत्ता ईरानी सम्राटों के अधीन नही रही, आदि से ही वे भारत मे स्वतन्त्र शासन करने लगे थे।[3]

सामाजिक क्रान्ति

पहले के यवनो और पीछे के कुषाणो और हूणो की ही भाति शक भी इस देश मे बसने आये थे और सदियो भारत की राजनीति किसी न किसी मात्रा मे उनसे सबधित रही। इस दीर्घकाल में अनेक प्रकार से उन्होने यहा की राजनीति, समाज और साहित्य को प्रभावित कर भर-पुरा। पहले उन्ही से टक्कर लेने के कारण इस देश मे विक्रमादित्यो की परम्परा चली। एक ओर तो वे सातवाहन सम्राटो के साथ भूमि के लिए जूझते थे,

[1] भारतीय कला; पृ. २११, पूरे तर्क के लिए देखिए, विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, पहला लेख।
[2] समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तंभ-लेख। [3] भारतीय कला., पृ. २११।

दूसरी ओर भारत की सस्कृति को सवारते थे। यह अद्‌भुत सामाजिक द्वन्द्ववाद था कि शक एक ओर तो स्वय विदेशी कहलाते थे, दूसरी ओर वे अपने को स्वदेशी मान विदेशी आभीरों से लडते और देववाणी सस्कृत को अपने अभिलेखों से समृद्ध करते थे। भारतीय साहित्य और विज्ञान को शको की सरक्षा से कितना आश्रय मिला इसका हम शीघ्र उल्लेख करेंगे।

पर साहित्य आदि का व्यसन अधिकतर शान्त राजनीतिक वातावरण का ही परिणाम है। निश्चय सारा पश्चिम, सिन्ध-पजाब से प्राय. काठियावाड-महाराष्ट्र तक, शकों के अधिकार मे आ गया था और मध्य देश पर भी उत्तर और पश्चिम से उनकी चोटे पड़ने लगी थी। उत्तर-पश्चिम से उनके आक्रमण मगध तक हुए। हमारे सस्कृत साहित्य की अनेक कृतियो में उनके कृत्यो की प्रतिध्वनि उठी। गार्गी सहिता के युगपुराण के वर्णन के अनुसार, जब राजाओ को नष्ट कर यवनो ने प्रात बिखेर दिये (नश्येरन् च पार्थिवाः) तब शकों के ही सेनापति अम्लाट ने पाटलिपुत्र पर भीषण आक्रमण किया।[१] मगध पर शुगो के बाद काण्वायनो ने शासन किया था, फिर उनके हाथ से दक्षिण के आध्र सातवाहनो ने तलवार छीन ली थी। किंतु जब पश्चिमी भारत पर शको के अधिकार कर लेने पर आंध्रो को उस नयी विपत्ति का अपने ही घर मे सामना करना पड़ा तब उत्तर का अधिकार-दण्ड उनके हाथ से सरक पडा। तभी शक अम्लाट ने मगध पर भीषण आक्रमण किया और मध्य देश को रौंदता पाटलिपुत्र तक जा पहुचा। वहा उसने इतनी मारकाट की कि नगर और जनपद पुरुषविहीन हो गये।[२] और यदि हम युगपुराण को प्रमाण मानें तो, उस नरसहार के कारण पुरुष धरा से सर्वथा विलुप्त ही हो गये। सारे कार्य तब स्त्रियो को ही करने पडे। तलवार से लेकर हल की मूठ तक उन्ही के हाथों मे आ गयी। समाज मे पुरुषो के अभाव के कारण बीस-बीस, पचीस-पचीस स्त्रियो को एक ही पुरुष से विवाह करना पडा। पुरुष यदा-कदा ही दिख जाते और जब वे दिखते तब स्त्रिया चिल्ला उठती— आश्चर्य! आश्चर्य![३]

इससे राजनीतिक उथल-पुथल का पता तो चलता ही है, इसका समाज पर क्या प्रभाव पडा होगा, इसकी भी अटकल लगायी जा सकती है। पहले यवनो ने ही राजाओ को नष्ट और प्रांतो को छिन्न-भिन्न कर दिया था और अब जो अम्लाट के नेतृत्व मे शक आये तो स्थिति और भी दयनीय हो उठी। नारीजगत् पर उसके रक्षक पुरुषो के अभाव मे जो अत्याचार हुआ होगा उसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। लाखो की सख्या मे सकट उत्पन्न हुए होगे और वर्णधर्म सर्वथा बिखर गया होगा। युगपुराण मे जो

[१] जे. बी. ओ. आर. एस., १६, ३; वही, १४, ३; विक्रम-स्मृतिग्रन्थ, लेखक का पाठ।
[२] वही, देखिए, भारतीय कला., पृ. २१२। [३] वही।

लिखा है कि ब्राह्मण अपने आचार की रक्षा न कर सके, शूद्रता को प्राप्त हुए और शूद्र तथा अस्पृश्य ब्राह्मणों का आचरण करने लगे,[1] वह उस काल की सामाजिक वस्तु-स्थिति प्रकट करता है। स्वाभाविक है कि वर्णव्यवस्था टूट गयी होगी और म्लेच्छ कहे जाने के बावजूद विजयी होने के कारण शकों को समाज मे निम्न स्थान स्वीकार नही हो सका होगा, जिनको वर्णों के ऊपरले स्तर मे कहीं रखना पडा होगा। जो भी हो, भारतीय सामाजिक स्थिति पर राजनीतिक स्थिति की ही भांति यवनो की ही तरह शकों का गहरा प्रभाव पडा। समाज मे संकटों की बाढ का आ जाना स्वयं पुष्यमित्र शुग के प्राय. शासन-काल में बनी मनुस्मृति प्रतिबिम्बित करती है, जिसके समसामयिक यवन-आक्रमणो का ही संभवत. वह परिणाम हुआ था।

व्यापार

शकों का उत्कर्षकाल पश्चिम में तीसरी सदी ईसवी के अन्त तक माना जाता है, यद्यपि उनका वहा राज्य पाचवी सदी के आरम्भ तक बना रहा। दूसरी सदी के रुद्र-दामा के शासन काल मे शकों की शक्ति सूर्य की भांति तप उठी। सारे पश्चिमी जगत् का भारतीय व्यापार उनके हाथ लग गया और उनकी सजायी नगरी उज्जयिनी व्यापार और धन का केन्द्र बन गयी। दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व से उत्तर जानेवाले प्रशस्त वणिक्पथ उज्जयिनी में ही मिलते थे। पूर्वी यूरोप, इस्रायल-मिस्र-सीरिया से दक्षिण भारत आनेवाले वणिक्पथ भी उज्जयिनी मे मिलते थे। दक्षिण भारत और पूर्वी यूरोप तक के व्यावसायिक राजमार्ग पर उज्जयिनी व्यापार की प्रधान मडी बन गयी।

भाषा और साहित्य

इस समृद्ध वातावरण मे शक नृपतियो ने कला और साहित्य को अपनी सरक्षा दी। अनेक अभिलेख उन्होंने सस्कृत मे लिखवाये। प्राय सारे सास्कृतिक व्यसनो पर वे छा गये, परन्तु सस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति जो निष्ठा और अनुराग विदेशी और विजातीय होकर भी उन्होंने दिखाया, वह स्वदेशी ब्राह्मण नृपति भी न दिखा सके। जहा ब्राह्मण-देववाणी सस्कृत को तज सातवाहनो ने अपने अभिलेख प्राकृत मे खुदवाये, वहा शक राजाओ ने अपने लेख सस्कृत मे लिखवाये। इस दिशा में शक-महाक्षत्रप रुद्रदामा की सस्कृत की सेवा तो असाधारण थी। उसने जिस पूतशुद्ध संस्कृत मे गिरनार पर्वत पर १५० ईसवी मे अपनी प्रशस्ति खुदवायी वह सस्कृत गद्य के लिए तत्कालीन जगत् मे प्रमाण तो

[1] भारतीय कला.।

बन ही गयी, ब्राह्मण-आरण्यक ग्रंथों के बाद, क्लासिकल संस्कृत गद्य की वह पहली अभिराम शैली भी बनी।[1]

ज्योतिष

शक राजाओ की सरक्षा साहित्य से भी अधिक विज्ञान, विशेष कर ज्योतिष को मिली। उज्जयिनी उस काल की 'ग्रीनविच' बनी और वही नक्षत्रविद्या और गणित का केन्द्र स्थापित हुआ, जो प्राय· अभी हाल तक किसी न किसी रूप में बना ही रहा है— जयपुर के जयसिंह का १८वी सदी में वहा नक्षत्रो के अध्ययन के अर्थ मानमंदिर बनवाना इसका प्रमाण है। भारतीय ज्योतिष पर यवनो के प्रभाव का सविस्तर उल्लेख पहले किया जा चुका है। वह प्रभाव यवनों के इस देश पर प्रभुत्व रहते उतना नही पड़ा जितना शककाल मे पड़ा, क्योकि उनके शासनकाल मे यवनो के पश्चिमी जगत् मे ज्योतिष के सिद्धांत अभी बन ही रहे थे और उनका इस देश मे आगमन प्राय. पहली सदी ईसवी के आरम्भ मे हुआ। वस्तुतः यवन ज्योतिष का वह भारतोन्मुख संक्रमण शकशासन के मध्याह्न में पहली और तीसरी ई. सदियो के बीच हुआ। शीघ्र ही बाद, गुप्तकाल मे वराहमिहिर ने देशी-विदेशी ज्योतिष के प्रचलित पाच सिद्धातो को अपने प्रसिद्ध ग्रथ पञ्चसिद्धान्तिका में सगृहीत किया। इसके अतिरिक्त उसने अपनी बृहत्सहिता और होराशास्त्र मे भी गणित और फलित ज्योतिष के अध्ययन प्रस्तुत किये। स्वय वराहमिहिर को, उसके नाम मे फारसी शब्द 'मिहिर' संयुक्त होने के कारण, कुछ विद्वानो ने मूल ईरानी होने का सदेह किया है। कुछ आश्चर्य नही जो उनका अनुमान सत्य हो।[2]

परिधान

आज के हमारे राष्ट्रीय परिधान—अचकन और पाजामा—का मूल अविकसित रूप पहले पहल इस देश मे शको ने ही प्रस्तुत किया। यह सच है कि यह परिधान उस काल देश में प्रचलित न हो सका, पर उसका आरभ निश्चय, चाहे फिर विलुप्त हो जाने के लिए ही, तभी हुआ। शक भीतर लबा कुरता, ऊपर कसीदाकढा लंबा भारचोगा, नीचे सलवार और घुटनों तक ऊंचे मध्यएशियाई बूट पहनते थे। शको और कुषाणो की पोशाक समान थी, प्राय· ईरानियो की तरह की, जो उनके सैनिको और कुषाण राजाओं की मूर्तियों पर कोरी मिलती है। मथुरा सग्रहालय की कडफीजिस्, कनिष्क (मस्तकहीन), चष्टन और सूर्य की मूर्तियों पर शोभायमान यह पोशाक आज भी देखी जा सकती है। इसी परि-

[1] भारतीय कला., पृ. २१४-१५। [2] वही, पृ. २१५।

धान को बहुत पीछे अपने मध्यएशियाई-ईरानी संपर्क से प्रभावित मुगलों और अवध के नवाबों ने परिष्कृत कर प्रचलित किया जो इस देश का अब राष्ट्रीय लिबास बना।[1]

सूर्यपूजा तथा सूर्य प्रतिमा

धर्म के क्षेत्र में भी शकों का योगदान अनजाना नहीं। इस दिशा में सूर्यपूजा में सूर्यप्रतिमा का उल्लेख महत्त्व का होगा। वस्तुत सूर्य की प्रतिमा का संदर्भ एक समस्या उपस्थित करता है। मथुरा के संग्रहालय मे सूर्य की एक मूर्ति प्रदर्शित है जो कुषाणकालीन, प्राय: पहली सदी ईसवी की है और जो शकों और कुषाणों की ही भांति कुरता, चोगा, सलवार, पगड़ी और घुटनों तक ऊंचे बूट पहने हुए है, एक हाथ मे खंजर, दूसरे मे कमल की कली धारण किये हुए है। प्रतिमा सूर्य की है। इस प्रकार का परिधान कोई भारतीय देवता नही पहनता, पगड़ी और जूते तो कभी नहीं। सूर्य की प्रतिमा कभी खंजर नही धारण करती, और यदि दूसरे हाथ मे कमलदण्ड न हो तो मूर्ति से भ्रमवश किसी शक या कुषाण नृपति अथवा सामंत की प्रतिकृति का धोखा हो जाना अस्वाभाविक न होता और एक विद्वान् को ऐसा भ्रम हो भी गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि सूर्य की पूजा शक-कुषाणों ने यहां प्रचलित की या वह भारत की अपनी है? नि:सन्देह वैदिक काल मे सूर्य की सविता, विष्णु, प्रजापति आदि के रूप मे पूजा होती थी, पर वह पूजा सूर्य के प्रज्वलित बिम्ब की अलक्षित शक्ति की थी, मूर्ति रूप मे नही। यह भूलना नही चाहिए कि मथुरा वाली मूर्ति सूर्य की पहली प्रतिमा है और कुषाण काल से पहले की कोई सूर्य-प्रतिमा आज तक नही मिली। धोती, उत्तरीय और मुकुट पहने सूर्य की खडी मूर्तियां तो अनेक मिली हैं, पर वे मध्यकालीन है, छठी सदी ईसवी के बाद की, प्राय नवीं-दसवी सदियों की। सूर्य के मंदिर भी इस देश मे इने गिने ही हैं, जैसे कश्मीर मे मार्त्तण्ड का, उडीसा मे कोणार्क का, बहराइच (उत्तर प्रदेश) मे बह्लचि बालादित्य का, जोधपुर मे ओसिया का, और राजस्थान मे एकाध और, पर ये सबके सब, बिना एक अपवाद के, मध्यकालीन, अधिकतर उत्तर-मध्यकालीन हैं। फिर सूर्य की मूर्तिरूप मे पूजा किसने इस देश मे प्रचलित की? नि:सन्देह उन्होने ही जिन्होने अपने परिधान से सुसज्जित यह सूर्य की प्रतिमा हमे दी।[2]

पुराणों मे प्रथम भारतीय सूर्यमंदिर के निर्माण का सम्बन्ध सिन्ध (शकद्वीप) के मुलतान से दिखाया गया है जहां शकों ने भारत मे पहले प्रवेश किया था, और अपनी पहली बस्तियां बसायी थीं। यह पौराणिक परम्परा लगभग गुप्तकाल की है। यह भी अकारण नही कि अधिकतर सूर्यमंदिर पश्चिमी भारत मे, विशेष कर राजस्थान मे मिले हैं। पौरा-

[1] भारतीय कला., पृ. २१५–१६। [2] वही, पृ. २१७

णिक परम्परा के अनुसार, कृष्ण के पुत्र (या पौत्र) साब ने सूर्य का पहला मंदिर मुलतान में बनवाया, पर मंदिर बनवा चुकने पर मूर्ति पधराने और उसकी पूजा के लिए उसे उचित कर्मकाण्डी ब्राह्मण न मिला, क्योकि पूजा का विषय नवीन होने से अधिकारी व्यक्ति क्रिया जानने वाला उपलब्ध न हो सका। तब उसने शक ब्राह्मणो को उस विदेश से बुलवाया जहां सूर्य की मूर्ति की पूजा प्रचलित थी। यह घटना वैसे ही घटी जैसे शतपथब्राह्मण के अनुसार मनु के साथ घटी थी। जलप्रलय के पश्चात् मनु ने जब कृतज्ञता प्रकाशन के निमित्त यज्ञ करना चाहा तब उस सबध की क्रिया का जानकार पुरोहित न मिला और उन्हें असुर ब्राह्मण (कर्मकाण्डी) असुर देश से बुलाने पडे (किलाताकुली असुरब्राह्मण इति आहूत:)[1] कारण कि जलप्रलय वाली घटना वस्तुत सुमेर मे ही घटी थी जहा मीलों तक खोदकर डा. लियोनार्ड वूली ने उस रहस्य का उद्घाटन किया है[2] और जो तब निवेवे के असुर सम्राटों के अधीन था जब भारतीय साहित्य मे शतपथब्राह्मण में प्राय आठवी सदी ई पू इस घटना का वृत्तात लिखा गया। कुछ आश्चर्य नही जो इस प्रकार बुलाये शाकद्वीपी ब्राह्मणों को वर्णेतर मानकर उत्तर भारत के धर्मभीरु ब्राह्मण आज भी उनका छुआ खाने-पीने मे आपत्ति करते हैं। ये ब्राह्मण अपने को 'मग' कहते भी है। इन शक पुरोहितो के आने से शको की ही भाति ब्राह्मण वर्ग मे एक इकाई और आ मिली। प्रसग उल्लेखनीय है कि शक और कुषाण दोनो ही सूर्योपासक थे और कि कनिष्क के सिक्को पर सूर्य की आकृति खुदी मिलती है।[3] यह भी उल्लेख कर देना यहा अप्रासगिक न होगा कि प्राय बीसवी सदी ईसवी पूर्व से ही मध्य और पश्चिमी एशिया मे सूर्य की पूजा चली आती थी। ससार का पहला विधि-(कानूनी) विधान प्रस्तुत करने वाला बाबुली सम्राट् हम्मुराबी, जिसका शासन काल उन्नीसवी और सोलहवी सदी ईसवी पूर्व के बीच कूता गया है, अपना विधान, उसके खडे किये स्तम्भ के उत्खचन के अनुसार सूर्यदेव से लेता है।[4] चीनी सम्राटो का अपने को सूर्य की सन्तान कहना इतिहास प्रसिद्ध है। उसी परम्परा मे कनिष्क ने भी अपने को 'देवपुत्र' कहा। इस प्रकार प्रमाणत शक-कुषाणो ने ही सूर्य की मूर्ति की पूजा इस देश मे प्रचलित की और अपने परिधान-अलकरण से उसे सजाया।[5]

शक संवत्

भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण सवत् (विक्रम सवत् से भिन्न) कुषाण कनिष्क का

[1] भारतीय कला, और देखिए शतपथ ब्राह्मण का जलप्रलय प्रसंग। [2] बहीड़ एम्पायर्स (पैट्रिक कार्लेटन), पृ. ६४–६७। [3] त्रिपाठी, हिस्ट्री., पृ. २२८। [4] वही—इ०, पृ. २३८ से आगे। [5] भारतीय कला., पृ. २१६।

७८ ईसवी मे चलाया 'शक' सवत् है। कहने की आवश्यकता नही कि 'शाके' का प्रयोग 'विक्रम' से भी अधिक हमारे निकट है, जो उससे कहीं अधिक पवित्र माना जाता है, और विक्रम संवत् से अधिक अनेक बार तो एक मात्र वही पचागों और जन्मपत्रो मे व्यवहृत होता है। वस्तुत: पचागो मे तो हजार-पन्द्रह सौ साल की अवधि मे विक्रम सवत् को वर्जित कर केवल शक संवत् का ही व्यवहार होता आया है। यह उचित ही है कि भारतीय राष्ट्रीय सरकार ने उसे अब राष्ट्रीय संवत् का पद दिया है। भारतीय सहिष्णुता का यह उदाहरण अनुपम शालीन है। शक सवत् को चलाया तो कनिष्क ने परन्तु शकों द्वारा उसके निरन्तर व्यवहार से उसका नाम शक संवत् पड़ गया।

कुषाण

भारतीय इतिहास मे शक काल की भाति ही कुषाण काल भी बड़े महत्त्व का है, विशेष कर इस कारण भी कि वह गुप्त काल का प्राय. शीघ्र पूर्ववर्ती है। वह गुप्त-संस्कृति की प्रकृत उदारता की समुचित पृष्ठभूमि बना। मध्य एशिया से भारत के मध्य देश तक एकतान राजसत्ता भोगने वाले कुषाण शासकोंने विभिन्न जातियो और धर्मों की सहिष्णुता गुप्तो की इहदैशिक स्वाभाविक सहिष्णुता को भेट की और कनिष्क ने भारतीय बौद्ध धर्म स्वीकार करके न केवल धर्म बल्कि कला के क्षेत्र मे भी एक क्रान्ति उपस्थित कर दी, जिसका उल्लेख हम नीचे करेगे। कनिष्क के अधिकार मे मध्य एशिया के अनेक प्रान्त, कुछ चीनी राज्य (काशगर, खुत्तन और यारकन्द), काबुल की घाटी, समूचा कश्मीर, सारा पजाब, सभवत. साकेत तक थे। धावे वह मगध तक मारता था। बौद्ध परम्परा के अनुसार उसने पाटलिपुत्र के प्रकाड बौद्ध दार्शनिक और कवि उस अश्वघोप का बलपूर्वक हरण कर लिया था जिसने गुप्त काल के मूर्धन्य कवि कालिदास को अपने काव्यों मे प्रभूत प्रभावित किया था।

सिक्के

इस देश की कला, धर्म आदि पर कुषाणो का असाधारण गहरा प्रभाव पडा। साधारणत भी इतनी विभिन्न जातियो पर शासन करने के नाते कनिष्क को विश्वास के सम्बन्ध मे सार्वभौम और उदार होना चाहिए था, और वह वैसा हुआ भी। इसी से उसके सिक्को पर उसकी सहिष्णुता और उदारता के प्रमाणस्वरूप एशियाई देवता सूर्य, चन्द्रमा और यूनानी देवताओ के साथ ही भारतीय बुद्ध की भी आकृति बनी है। ये सिक्के गुप्तो के सिक्को के लिए आदर्श बने थे। गुप्तो ने शको के चादी के सिक्को को भी, उनका मूल स्वरूप कायम रखते हुए, फिर से अंकित (टकित) शको द्वारा उनसे पहले

शासित होनेवाले मालवा, गुजरात, काठियावाड आदि मे चलाया था।

धर्म

बौद्ध धर्म के लिए जितना प्रयास कनिष्क ने किया उतना अशोक के सिवा और किसी ने इस देश मे नही किया। उसके शासनकाल में अनेक बौद्ध और जैन स्तूप बने, जिनकी प्राकार-वेष्टनियां (रेलिंगें) कला के प्रतीको की खान बन गयी। स्वयं उसने अनेक स्तूप बनवाये। उसका उस धर्म की सेवा मे किया एक विशेष कार्य कश्मीर में चौथी बौद्ध सगीति का अधिवेशन था।[1] इस अधिवेशन को सफल बनाने के लिए ही अधिकतर उसने अश्वघोष का बलत हरण किया था। उसी की संरक्षा मे सर्वास्तिवादी सप्रदाय के महान् दार्शनिक कश्मीर मे एकत्र हुए और पिटको पर विभाषाशास्त्र की गभीर व्याख्या प्रस्तुत कर उलझे और विवादग्रस्त सिद्धांतों को सुलझा दिया। उस विभाषाशास्त्र को ताम्रपत्रो पर खुदवाकर कनिष्क ने एक स्तूप बनवाकर पत्रों को उसमे बन्द कर दिया।[2] सभवत. उसी की सरक्षा मे महायान के प्रवर्तक नागार्जुन और भारतीय आयुर्वेद के महान् स्तभ चरक ने अपने वैज्ञानिक अध्यवसाय किये और कृतियां रची। इनमें से एक का परिणाम हुआ बुद्ध की पहली मूर्ति का यवनों द्वारा निर्माण और देवताओं की मूर्तियो का अनन्त रूपायन, और दूसरे का चिकित्सा के क्षेत्र में अनुसन्धान, जिसका ऋणी समूचा ससार है।

कनिष्क का चीनी संपर्क

कनिष्क ने ही पूर्वी पजाब मे चीनभुक्ति नाम की चीनियो की पहली बस्ती बसायी जहां उसने राजकुलीन चीनी बन्दी रखे।[3] इन्ही चीनी बन्दियो ने इस देश मे पहले-पहल चीन मे बहुतायत से होनेवाले आड़ू और नाशपाती के वृक्ष लगाये। लीची नाम का तीसरा फलवृक्ष इस देश मे किसने और कब लगाया इसका पता नही चलता, पर इसमें सन्देह नही कि आया वह चीन से ही था। यह महत्त्व की बात है कि कनिष्क जिन केदार कुषाणो मे उत्पन्न हुआ था वे तुर्की-चीनी जाति के युएह्-ची परिवार के थे और इस प्रकार मूल रूप मे चीन के निवासी थे, चीन के कान-सू प्रान्त मे बसने वाले घुमक्कड।[4] इससे यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि, चाहे परोक्ष रूप मे ही सही, चीनियो ने भी हमारी महान् सस्कृति के निर्माण मे पर्याप्त योग दिया। यह भी सकारण था कि कनिष्क ने चीनी

[1] त्रिपाठी, हिस्ट्री., पृ. २२६। [2] वही। [3] भारतीय कला., पृ. २२०, हुएन्त्सांग, वृत्तान्त, पृ. ४६–४८। [4] भारतीय कला., पृ. २२१।

सम्राटों का परम्परागत विरुद 'देवपुत्र' धारण किया था। फिर उसके सिक्कों के विविध देवताओं के आकृति-टंकन से धार्मिक क्षेत्र मे उसकी सहिष्णुता का परिचय मिलता है। उन पर ग्रीक, मिस्री, जरतुश्ती, बौद्ध और हिन्दू देवताओं (हेरेक्लीज, सेरापिज, उनके ग्रीक नामों हेलियोस और सेलिनी के साथ सूर्य और चन्द्र, मिहिरो, अथ्रो, अग्नि, देवी ननाइया, शिव आदि) की आकृतिया उभरी हुई हैं।[1]

महायान का उदय

कनिष्क के शासनकाल मे बौद्ध धर्म के विशिष्ट सप्रदाय का जन्म हुआ, जिसने भक्तिमार्ग के अनुकूल वैयक्तिक देवता का सर्जन किया और परिणाम मे ससार को बुद्ध की प्रतिमा मिली। तत्काल भारतीय—देशी, विदेशी—अगणित संख्या मे बुद्ध की मूर्ति कोरने लग गये। तथागत की तब अनन्त प्रतिमाए बनी और भक्तो के पूजन की परिधि में आयी। गाधार कला की वह परिणति थी। उसका आरम्भ तो यवनो के उत्कर्ष काल मे कनिष्क से पहले ही हो गया था, परन्तु उसका समुचित विकास, बुद्धप्रतिमा की अभिसृष्टि के साथ, कुषाणो, विशेष कर कनिष्क की ही सरक्षा मे हुआ। पेशावर उसकी राजधानी थी और उसी के गिर्द यूसुफजई, काबुल और तक्षशिला के इलाको मे ही वह शैली विशेष फूली-फली।[2]

कला

कुषाण कालीन कला के भारत के भीतर तीन विशिष्ट केन्द्र थे—मथुरा, सारनाथ और अमरावती। इनमे तीसरा अमरावती का केन्द्र आन्ध्र राजाओ के अधिकार मे था। कुषाण काल मे यद्यपि गान्धार शैली उत्तर-पश्चिम के नगरो मे विशेष जागृत थी, कला के भारतीकरण का भी भले प्रकार प्रारभ हो गया था। मथुरा केन्द्र मे भी गाधार शैली की कुछ मूर्तियां बनी, पर उनका अधिकाधिक झुकाव भारतीय शैली की ओर ही था। 'हेरैक्लीज और नेनियनसिंह', 'सिलेनस' आदि यवन मुद्रा मे, यवन परिधान से युक्त परिचारिकाओं द्वारा सेवित 'आसवयापी कुबेर' आदि की अनेक मूर्तिया निश्चय वहा भी यवन शैली मे प्रस्तुत हुईं, पर इस प्रकार की मूर्तिया प्राय मात्र ये ही हैं। वस्तुतः मथुरा की कुषाणसंरक्षित कला तो भारतीय सकेतो और प्रतीको मे विलास करती है।

[1] जे. आर. ए. एस. १९०३, पृ. १–६४; इण्डि. ए., पृ. ३७। [2] भारतीय कला., पृ. २२२–२३।

बोधिसत्त्व

महायान ने शरीरी बुद्ध की जो मूर्ति कला को प्रदान की उसके साथ ही बोधिसत्त्व नामक एक ऐसे प्राणी की भी कल्पना सजीव की जिसे एक दिन स्वय बुद्ध होना था। बोधिसत्त्व ने घोषणा की कि जब तक एक प्राणी भी अनिर्वाणित रह जायेगा तब तक वे स्वय निर्वाण मे प्रवेश नही करेंगे। प्रेम और दया का यह अवतार बुद्ध धर्म मे अजाना था। बोधिसत्त्व का महायान इस प्रकार वह 'महा-यान' बना जिस पर ससार के सारे प्राणी भवसागर पार हो सकते थे, उस 'हीन-यान' के विपरीत, जिसके अर्हत् जीवन मे केवल एक के ही पार कर सकने की संभावना थी, वह यान अब तक इतना क्षुद्र रहा था। न केवल भारत मे बल्कि जापान-चीन तक मे इन बोधिसत्त्व की अनन्त मूर्तिया बनी। तिब्बत मे तो पिछले काल मे बोधिसत्त्व ही उपास्य हो गये। मथुरा के कलाप्रतीको मे बुद्ध और बोधिसत्त्व, नाग और नागी, विविध प्रकार की रेलिंग-स्तभगत शालभजिकाएँ, यक्ष-यक्षिणिया, किन्नर-सुपर्णों की अमित सपदा उस युग मे प्रस्तुत हुई, जब कनिष्क और उसके वंशधरों—वाश्केष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि—ने मध्य-देश पर शासन किया।[1]

कुषाण कला की नयी भारतीय भूमि

कुषाणो ने गुप्तकालीन कला की पृष्ठभूमि और भारतीय कलादर्शन को एक नयी चेतना, एक नयी दिशा दी। भारतीय कला की मुद्रा अधिकतर मूक, गभीर और चिन्ता-प्रधान रही थी, पर इस विदेशी कुषाण भावसत्ता ने उसे अपनी प्रसन्न मुद्रा प्रदान की। छाया को धूप का योग मिला, भारतीय कला धूपछाह सी खिल उठी। बुद्ध के मूक और शात रूप पर बोधिसत्त्व की अभिराम प्रसन्न छटा छिटकी। अर्हतो, बुद्ध आदि की प्रतिमाएँ चाहे कुछ एकान्तिक बनी पर उनका परिवार, उनके पार्षद और उनके सबन्ध की अनत प्रतीकमाला तारुण्य, चापल्य, गति, क्रीडा, हास और उल्लास लिये पत्थर और मिट्टी की पृष्ठभूमि मे उठी और जीवन पर सर्वत्र छा गयी। उसने पहली बार साहित्य को कला के मानों-प्रतिमानो, व्यजनाओ से मुखर किया। कालिदास की कृतियो मे जो अनन्त मूर्तिराशि का उद्घाटन हुआ है उसकी प्रेरक भूमि यह कुषाणकालीन अटूट कला-कलन है। साहित्य मे कालिदास से पूर्व किसी कृतिकार ने मूर्तियों और चित्रो का इतना व्यापक (साधारण तक) वर्णन नही किया। कुषाणो की प्रसन्न व्यजना ने गुप्तकालीन साहित्य की कला-निष्ठा को अनुप्राणित किया। स्तूप निर्वाण—मृत्यु के प्रतीक थे, पर उन्हे घेरने वाली रेलिंगो पर उल्लसित अनियत्रित जीवन लहराता था, और जीवन के उस उल्लास

[1] भारतीय कला., पृ., २२२।

को गति दी महायान ने। ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि हीनयान वस्तुतः 'हीन' था, ओछा स्वार्थमय प्रयास, जिसमे अर्हत् स्वय अपने एकाकी निर्वाण का प्रयास करता था, जलधारा लाँघने वाली क्षुद्र नौका। उसके विपरीत महायान सागर तिरने वाला महा-पोत था, जिसमे अनन्त जीवों के निर्वाण की, 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' कल्याण की कल्पना थी, जिस 'महा'-यान पर चढ़कर सभी भवसागर के पार जा सकते थे। यह बोधिसत्त्व का उदार नया पथ था। हीनयान ने जीवन को बाध रखा था, महायान ने उस बाध को तोड़ उसे निर्बन्ध कर दिया और सहसा जीवन वेग से अनेक धाराओं मे झूमता उछलता ढुरता बह चला। स्तूपो के रेलिंग-(वेष्टनी, वेदिका) स्तभो के शिखर पर और सामने लंबायमान दडो पर, द्वारतोरणो पर जीवन उछल चढ़ा, उसके हसते प्रतीक (सिंबल) उत्कीर्ण हो गये। वृक्ष की डाल पकडे झुकी, डाल को झुकाये शालभजिकाएँ, अल्हण नग्न वृक्षिकाएँ-यक्षिया अनन्त रूपो मे तक्षक की छेनी से अभिव्यक्त हुई। उनके ऊपर, झरोखो में स्नेहभरी गृहिणी अन्नपूर्णा-सी अकित हुई, लाजवन्ती तरुणी नूपुर-झकृत पदो से अशोक-दोहद सपन्न करने लगी। रक्ताशोक मानो अगार की लाल कलियो से झुक पड़ा, आसव के कुल्ले से बकुल हस्तलभ्य स्तबको से झूम उठा। आकर्षक ईरानी परिधान से समूची ढकी अनवगुठिता दीपवाहिका निर्वात लौ लिये वेदिकाओ को उजागर कर चली। कन्दुक उछालती, स्नान करती, प्रसाधन करती, अजन, पुष्प चयन करती, वीणावादिनी नारी अपनी अगणित मुद्राओ मे उन पर उभर आयी, स्तूप के अन्तर्मुखकलेवर उनके माध्यम से पुलक उठे। कुषाणो ने भारतीय भावसत्ता को कला की जिह्वा देकर मुखर कर दिया। प्रतीको मे उभारी आकृतिया और उनके मुग्ध दर्शक एकप्राण हो नाच उठे।[1]

भारतीय सस्कृति को शको-कुषाणो ने सस्कृत की गद्यशैली दी, ज्योतिष दिया, सूर्य और बुद्ध की (बुद्ध की यवनो वाली कुषाणकालीन) प्रतिमाएँ दी, शक-सवत् दिया, राष्ट्रीय परिधान की एक पूर्ववर्ती झलक दी और अन्तत इस देश के इतिहास के स्वर्णयुग की गुप्त-शालीनता के अवतरण के लिए नयी भूमि प्रस्तुत कर दी। स्वय उन्होंने अपनी यशस्विनी सतति उस धरा को समर्पित कर दी जिसने उसे निर्वासित कर दिया था। पीछे उनके वशधर साहिय देश के सिंहद्वार के काबुल मे रक्षक हुए। इन्ही साहियो ने सुबुक्तगीन और उसके बेटे महमूद के मरणातक आघातो से भारत की रक्षा करते हुए परस्पर लडती बिखरी देश की शक्ति को सर्वत्र से खीचकर एकत्रित किया।[2] इस प्रकार भारत की आधारभूत सास्कृतिक एकता और समान रक्षा की आवश्यकता घोषित करते हुए उन्होंने भारतीय इतिहास के मध्ययुग मे भी राष्ट्रीयता का अलख जगाया।

[1] भारतीय कला, पृ. २२२-२३। [2] वही, पृ. २२४।

भारतीय संस्कृति के विवरण में आभीरों और गुर्जरों के योग का साक्षीकरण कम हुआ है। यहां उसका भी संक्षेप से उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा। आभीर (अहीर) और गुर्जर (गूजर, बडगूजर) भी यवनों और शकों की ही भांति भारत में उत्तर की राह से घुसे। इन दोनों जातियों का प्रवेश शक-कुषाणों से पर्याप्त पहले, संभवतः १५० ई. पू. से भी पहले, हो चुका था परन्तु उनकी राजशक्ति इस देश में काफी देर बाद प्रतिष्ठित हुई। मौर्य साम्राज्य के पतनकाल मे उत्तरपश्चिमी सीमा अरक्षित हो गयी थी और यवनों (ग्रीकों) के साथ ही अन्य अनेक जातिया भारत के खुले द्वार से घुस आयी थीं। इन्हीं में आभीर और गुर्जर भी थे। वे कौन थे और कहा से आये, आज यह कह सकना तो कठिन है पर अनुमान किया गया है[१] कि वे सभवतः दरदों की कोई शाखा रहे हो; यह भी संभव है शको से ही उनका दूर का कोई नाता रहा हो। यह भी सभव है कि वे उत्तर भारत की ही जातिया रही हो।

आभीरो और गुर्जरों का देशगत प्रसार

वैयाकरण पतजलि ने अपने 'महाभाष्य' (लगभग १५० ई. पू.) मे आभीरो का उल्लेख किया है।[२] भारत मे इनका मूल निवास पेशावर जिले के सिन्धु देश में था। गुर्जर[3] उनके पूरबी पड़ोसी थे। सभवत उन्ही के सबंध से पंजाब के जिलो और स्थानो के गुजरात और गुजरानवाला जैसे नाम पडे थे। आभीर और गुर्जर दोनो साथ ही साथ पूर्वी भारत मे फैले, पर उनका विस्तृत प्रसार पश्चिमी भारत मे हुआ। गुर्जर, गूजर और बड़गूजर फिर उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भागो मे बडी सख्या मे बस गये, जैसे वे आज भी बसे हैं। पर अधिकतर वे दक्षिण चले गये और लाट मे बसकर उसे अपना नाम देकर नये नाम गुजरात (गुर्जरात्रा) से प्रसिद्ध किया।

आभीर

महाभारत मे आभीरो के पजाब मे होने का उल्लेख हुआ है[४], पीछे उनके कुरुक्षेत्र, शूरसेन (व्रज) आदि मे बसने का भी उल्लेख होने लगा। उनके वंशधर आज अहीर नाम से पूर्वी बिहार तक फैले हुए हैं। उनकी एक शाखा गुर्जरो के साथ ही दक्षिण जाकर गुजरात के पश्चिम समुद्रतट पर काठियावाड आदि मे जा बसी और अति प्रबल बन गयी। फिर तो सातवाहननरेश यज्ञश्री शातकर्णि के उत्तराधिकारियो के दुर्बल होते ही आभीरों

[१] भारतीय कला., पृ. २२५–२६। [२] कीथ : हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर, पृ. ३३।
[3] वही। [४] वही।

के राजा ईश्वरसेन ने तीसरी सदी के अन्त में उनसे महाराष्ट्र छीन लिया। साथ ही शक क्षत्रपों को भी उसने निःशक्त कर दिया। क्षत्रपो के अभिलेखो मे उनका उल्लेख प्रायः हुआ है।[१] आभीरों की एक शाखा गणतांत्रिक भी थी। ऐसी जातियो की गणना करते समय, जिन्होंने समुद्रगुप्त के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया था, प्रयागस्तंभ के प्रशस्तिलेख मे हरिषेण ने आभीरो को भी गिनाया है। ये आभीर सभवत. मध्यभारत में पार्वती और बेतवा के द्वाब मे भी जा बसे थे जो उन्ही के सबन्ध के कारण अहीरवाड़ कहलाया। अहीर और गूजर दोनों अपने विशिष्ट यष्टिकाय और विविध सामाजिक रीतियों से स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। अहीर बालकृष्ण की बड़े मनोयोग से पूजा करते है। पिछले काल में तो व्रज की अहीरिनें ग्वालिनों और प्राचीन गोपियो का पर्याय मान ली गयी और हिन्दी के अनेक रीतिकालीन कवियो ने उनको उस पर्याय के रूप मे ही व्यवहृत किया है। अहीरो और गूजरों को वर्ण-व्यवस्था के स्तरो में सही सही नही रखा जा सकता। वैसे अहीरो ने यादवो से अपना सपर्क स्थापित कर अपने वर्णविचार मे पर्याप्त जटिलता उत्पन्न कर दी है। शूरसेन प्रदेश का सौराष्ट्र से सबध और अहीरो का दोनों स्थानों मे सख्या-प्राबल्य वह समस्या और उलझा देता है।[२]

गुर्जर

इसी प्रकार गुर्जरो ने भी अपना प्राधान्य कालान्तर मे स्थापित कर लिया था। सातवी सदी के बाण ने अपने हर्षचरित मे प्रभाकरवर्धन द्वारा उनकी विजय का उल्लेख किया है।[3] हर्ष के बाद राजस्थान मे वे विशेष प्रबल हो गये और एक बार अवंती (मालवा) पर अधिकार कर लिया। उनका एक केन्द्र, जैसा ऊपर सकेत किया जा चुका है, जोधपुर के निकट मंदौर भी था,[४] जहा से बढ़कर उन्होंने कन्नौज पर अधिकार कर लिया और मध्य-देश के एक बड़े भाग पर गुर्जर-प्रतीहार नाम से अपना साम्राज्य स्थापित किया।

प्राकृतों-अपभ्रंशों का प्रभाव

आभीरों–गुर्जरों दोनो ने प्रारभ से ही भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया।

[१] त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑव ऐं. इं., पृ. २४५, टिप्पणी। [२] उपाध्याय : भारतीय कला. सं. की भूमिका, पृ. २२६–२७। [3] गुर्जरप्रजागरः, टामस का अनुवाद, पृ. १०१, कलकत्ता संस्करण, पृ. २४३–४४। [४] त्रिपाठी : पूर्व निर्दिष्ट, पृ. ३१९।

प्राकृतों-अपभ्रंशो पर उनका प्रभाव विशेष पड़ा। गुजराती पर गूजरी का और कुछ मात्रा मे आभीरी का भी प्रभाव है। शौरसेनी और महाराष्ट्री को भी आभीरों ने प्रभावित किया। दडी का तो कहना है कि अपभ्रश आभीरी शब्दो के प्रभाव से बनी पद्यगत भाषा को कहते हैं।[1] लगता है कि प्राकृत मे आभीरी बोली के प्राधान्य (अथवा मिश्रण) मे ही अपभ्रश का निर्माण हुआ।

अपभ्रंश

इस प्रकार संभवत आभीरों ने अपनी बोली को साहित्यिक रूप देकर उसे अपभ्रश कहा। आभीर और गुर्जर राजाओ का प्रभाव जैसे-जैसे बढा वैसे ही वैसे अपभ्रश लोकप्रिय हुई और वह शैली के रूप मे मूल पश्चिम से पूर्व और उत्तर की ओर फैली। फिर धीरे-धीरे स्थानीय अपभ्रश खडी हो गयी। सिंघ की व्राचट (व्राजड) की तो आभीरी प्राय. पर्याय है।[2] इस प्रकार आभीरो और गुर्जरो का देश की भाषा और सस्कृति पर खासा प्रभाव पडा, विशेष कर जब हूणो के आने के समय भारत मे आभीरो और गुर्जरो की बाढ़ सी आ गयी।

जाट

जाट भी संभवत. इन्ही के साथ आये। कुछ आश्चर्य नही, जो वे गूजरो की ही प्रारभ मे कोई शाखा रहे हो। कुछ विद्वानो ने तो गुप्त सम्राटो को कारस्कर गोत्र के जाट ही माना है।[3] इस सिद्धात को स्वीकार करने मे अनेक कठिनाइया है।

२. गुप्तयुगीन वातावरण की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

गुप्तयुगीन वातावरण की सास्कृतिक-सामाजिक पीठिका को प्रकट करने के लिए गत पृष्ठों में उन देशी-विदेशी जातीय तत्त्वो के प्रभाव पर विचार किया गया है जिनके परिणामस्वरूप तीसरी से छठी सदी ईसवी तक का जीवन---गुप्तकालीन समाज--संभव हो सका। जब भारत पर सिकन्दर का आक्रमण हुआ था तब रावी तट की दो दुर्धर्ष जातियो, मालवो और क्षुद्रको मे कट्टर शत्रुता थी। तब समान शत्रु का सामना करने के अर्थ उनके गुरुजनो ने परस्पर एकता स्थापित करने के लिए जो उपाय सोचा वह यह था कि सारे अविवाहित मालव सारी अविवाहिता क्षुद्रक कन्याओ से और सारे अविवाहित

[1] काव्यादर्श, १,३२। [2] कीथ : हिस्ट्री., पृ. ३३-३४। [3] जायसवाल, जर्नल, बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, मार्च-जून, १६३३।

क्षुद्रक अविवाहिता मालव कन्याओ से विवाह कर लें। ऐसा इस अर्थ किया जाय कि विवाह संबंध स्थापित हो जाने से परस्पर स्पर्धा मिट जाने पर सौहार्द हो जायेगा और उनकी मैत्री और वैर समान हो जायेंगे।

जातिसम्मिश्रण का प्रभाव

यवन-पह्लव-शक-कुषाण-आभीर-गुर्जर तत्त्वो के अपनी-अपनी विशेषताओ के साथ भारतीय समाज मे आ मिलने से देश की सामाजिक स्थिति बहुत कुछ वैसी ही हो गयी जैसी मालव-क्षुद्रकों की एकता से अपेक्षित हुई थी। न केवल उनकी विविध सास्कृतिक धाराओ के भारतीय जीवन मे आ मिलने से वह ऋद्ध और बहु-विध हो गया वरन् उसकी नयी व्यापक सत्ता मे असाधारण सहिष्णुता और उदारता आयी। इसमे सन्देह नही कि इनमे से अनेक जातिया दीर्घ काल तक भारतीय साहित्य मे विजाति-विदेशी भी समझी जाती रही पर वह केवल उनकी कायिक स्थिति के सबंध की बात थी। उनके आचार-व्यवहार, शिल्प-कला आदि तो सर्वथा भारतीय सस्कृति के अगागो मे समाकर लुप्त हो गये। ऊपर निर्दिष्ट गार्गीसहिता ने जैसे यवनो को म्लेच्छ मानकर भी उनको ज्योतिष के आचार्य कहकर पूजा था और उनके उस विज्ञान को सागोपाग आत्मसात् कर लिया था वैसे ही चाहे उन जातियो को वर्णविहीन मान उन्हे वर्णाश्रमधर्म मे भारत ने स्वीकार न किया हो पर उनके ज्ञान-विज्ञान और नव चेतना को उसने कभी अस्वीकार नही किया। वस्तुत प्रमाण तो इस तथ्य के भी उपलब्ध है कि वर्णो और वर्गों ने उन्हे वर्णान्वित तक किया और उनके जरिये अपनी सामाजिक और राजनीतिक लडाइया लडी। राजपूतो की क्षत्रिय-राजन्य-पदीयता बहुत कुछ इसी प्रक्रिया का परिणाम थी। और वास्तविक बात तो यह है कि विदेशी तत्त्वो के कुछ अश भारतीय समाज मे जहा-तहा चाहे दीख जाय पर निःसदेह उनकी आज पृथक् स्थिति नही है, उन्हें इस समाजव्यवस्था मे आज खोज पाना असम्भव है कम से कम उनकी जनता तो निश्चय इस समाज की बुनावट मे शीघ्र बुन गयी।

फिर जो विदेशी जातिया विदेशो से यहा आयी थी उनमे से किसी के पास—ईरानियो और यवनो की कला को और ज्योतिषविज्ञान को छोड—देने को कुछ विशेष था भी नही। फिर भी इनमे विशेष उत्साह और क्रियाशक्ति थी जिसमे भारतीय समाज की जर्जर काया एक बार नये प्राण पाकर फिर जी उठी। मुख्य उल्लेखनीय बात इनके सबध मे यह है कि ये लौटने के लिए नही आयी थी, इससे अपनी क्रियावान् शक्ति, अनन्त जातियो के बीच से लायी विविध सास्कृतिक विरासत इन्होने इस देश को दी और इसके विवेक, इसकी सहिष्णुता, उदारता को स्वीकार कर उसको ही अपनी क्रियाशीलता से सजीवित कर उसका प्रसार किया और उसे भोगा।

उस काल के इतिहास को देखने से लगता है कि भारत के आकर्षक भागवत, शैव, बौद्ध व्यक्ति-देवपरक धर्मों मे दल के दल विदेशी दीक्षित होते गये। कहा गया है कि शक-कुषाणो के पास अपना देने को चाहे कुछ न रहा हो ग्रीकों के पास तो अपना दर्शन था, अपनी कला थी, अपना साहित्य और विज्ञान था, निःसदेह। पर ग्रीकों का धर्म शुद्ध पौराणिक था, उसमे दार्शनिक तत्त्व नाम मात्र को न था। उनके पास दर्शन था, पर दार्शनिक धर्म न था जिससे उनके धर्म को शक्ति और स्थायित्व न मिल सका। और उनका दर्शन उनके जनसाधारण की सपदा न था, मेधावी विभूतियों का अलकरण था। सो जैसे ही अनुकूल वातावरण मिला यवनादि सभी भारतीय धर्मों की शरण आने लगे। साकल (स्यालकोट) के यवनराज स्वयं मिनान्दर (मिलिन्द) ने बौद्ध धर्म मे दीक्षा ली और आचार्य नागसेन का शिष्यत्व स्वीकार किया। इसी के परिणामस्वरूप नागसेन की दार्शनिक कृति 'मिलिन्द पञ्ह' पालिभाषा मे प्रस्तुत हुई। यवनराज में यह निष्ठा इस मात्रा मे बढ़ी कि बौद्धो की सहायता के लिए उसने मगध के ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र शुग से वैर तक ठाना, जिसके परिणाम मे उसे राज्य और प्राण दोनो से हाथ धोना पड़ा।

इसी प्रकार थियोदोर और हेलियोदोर नाम के दो ग्रीको के भारतीय धर्मों मे दीक्षित होने की बात ऊपर लिख आये है। इनमे से पहला बौद्ध हो गया था दूसरा वैष्णव। सातवाहन-शक काल की अगली सदी मे भी, कार्ले अभिलेख के अनुसार, दो यवनो ने न केवल भारतीय धर्म बल्कि भारतीय नाम तक अगीकार कर लिये थे, उनमे से एक का नाम 'सिहध्वज' था दूसरे का 'धर्म'[1] प्रमाणित है कि साधारण असैनिक यवन जनता द्रुत गति से भारतीय होती जा रही थी, और जहा मिनान्दर की भाति स्वय राजा ही स्थानीय धर्म स्वीकार कर लेता था वहा, इतिहास के साधारण प्रमाण के अनुसार, उसकी जनता की गति वह धर्म स्वीकार करते नि.संदेह द्रुततर हो जाती थी।

शक राजा रुद्रदामा का हिन्दू नाम तो प्रसिद्ध ही है, शक सामंत उषवदात (ऋषभदत्त) ने भी अपना हिन्दू नाम रख, सभवत भारतीय धर्म स्वीकार कर, नहपान (शकराज) की पुत्री दक्षमित्रा से विवाह किया था।[2] कहा नही जा सकता कि पत्नी को दक्षमित्रा नाम पति ने दिया या पुत्री को पिता ने। शक, लगता है, आम तौर से भारतीय जनता से विवाह आदि सम्बन्ध करने लगे थे, जिससे उनका समाज मे घुल-मिल जाना स्वाभाविक था। सातवाहन ब्राह्मणनरेश शातकर्णि ने स्वय प्रसिद्ध सस्कृत शैलीकार शकनृपति रुद्रदामा की कन्या से विवाह किया था।[3]

[1] उपाध्याय : प्राचीन भा. का. इ., पृ. १७७।　　[2] वही, पृ. २०९।　　[3] वही।

भारतीकरण

गुप्तकाल के पहले की दो सदिया—वैसे तो जातीय समिश्रण सदा ही होता रहा था—विशेषकर भारतीकरण की दिशा में सलग्न हुईं। स्वय कुषाणकालीन कलाकार ने कला में विदेशी प्रभाव का भारतीकरण करते समय यवन परिधान की चुन्नटों को, लहराते वस्त्र की ऊची लहरियो को नीची कर दिया, जिससे गुप्त कलाकार ने संकेत लिया और उन ऊर्मियो से परिधान को लाछित मात्र कर शरीर के अगांगो में उन्हें विलुप्त कर दिया। यवन चुन्नटें शरीर में खोकर उसका अलकरण मात्र बन गयीं। आश्चर्य होता है कि पत्थर मे सुईकारी और ध्वनि का स्रष्टा, गुप्तकालीन सुरुचिविधायक शिष्ट कलावत क्या कर पाता यदि कुषाणो द्वारा प्रस्तुत अनन्त प्रतीक उसको उपलब्ध न होते। गुप्तकाल की कला, जैसा हम यथास्थान देखेंगे, चयनप्रधान थी—पुष्पलावी; मंडित अभिराम वाटिका, कुषाणकाल की प्रकृतिप्रधान थी, वसन्त में सहसा फूल उठने वाली वनातव्यापिनी उपत्यका।[1]

भारतीयता का उदय

इस विभिन्नजातीय समाज का उदय वस्तुत एक नयी भारतीयता का उदय था, एक असाधारण स्वर्णिम प्रभात, सत्य ही स्वर्णयुग का उदय। शक-कुषाणो के बाद—भारतीय भारशिव नागो के बाद गुप्त सम्राटो का युग भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहलाया। वह काल पिछले विदेशी जातियो-प्रधान और अगले नवोदित समाज के युगों की संधि पर खड़ा हुआ। इतिहास और विशेषत संस्कृति के एक छोर का वह अत है, दूसरे का आरभ। उस काल जैसे भारतीय सस्कृति का फिर से लेखा-जोखा लिया गया। विदेशी जातियों के कमजोर होते ही जब पहले सबल भारशिव नागो, पीछे गुप्तो का प्रताप बढ़ा तब उनमे से अनेक शूद्र और अस्पृश्य तक मान ली गयी। पौराणिक परम्परा का विकास हुआ और देवताओं और उनकी प्रतिमाओं की देश मे बाढ़ सी आ गयी। पुराणों का साहित्य प्रस्तुत हुआ। बुद्धो की स्वाभाविक उदारता उसमे प्रतिबिम्बित हुई और यद्यपि धर्मशास्त्रो में शूद्र के प्रति कठोरता का विधान हुआ, पौराणिक परम्परा मे वे भी आदर के पात्र समझे गये। वैष्णवों और शैवो मे जो वे भी भक्त बनकर प्रविष्ट हुए तो यहा तक कहा गया कि राम का नाम जपने से कसाई, गणिका और चाण्डाल तक स्वर्ग पहुच गये।[2]

भारतीयता का उदय एक प्रकार की नयी राष्ट्रीयता का उदय था। जहा विविध जातियो की अनेकता की एकता भारत को मिली, वहा सस्कृति से भिन्न, राजनीति के क्षेत्र

[1] वही, पृ. २२४। [2] वही, पृ. २२६।

मे एक नया उन्मेष भी देश में डग भर चला था। पिछली सदियों के दौरान जो विदेशियों की सत्ता की देश मे प्रतिष्ठा हुई वह विदेशी आक्रमणों का परिणाम थी, यह राजनीतिक क्षेत्रो मे अनजाना न था। इससे विदेशियो के प्रति एक विरोध की भावना का जाग्रत होना या जाग्रत किया जाना अनिवार्य था। वह भावना नि:सदेह जगी, अशतः जाग्रत की गयी, जिसमे उन विदेशियो का प्रतिकार उस काल का नारा बन गया। उससे चिर-प्रतिष्ठित भारतीय राजनीतिक समाज को एकता मिली और 'शकारि', 'विक्रमादित्य', 'शक्रादित्य' आदि विरुद उसके परिणाम मे ही राजाओ ने धारण किये। यह भारतीय राष्ट्रीयता भारशिव नागो और गुप्तो के शासनकाल मे जैसे विशेष आग्रह से प्रकट हुई।

आक्रमणहीन शाति

नयी सतुलित सस्कृति के बहुमुखी और सर्वांगीण विकास के लिए राजनीतिक शाति का होना आवश्यक है। वह शाति गुप्त सम्राटो ने देश को प्रधानतः प्रदान की। और वह शाति प्राय: भय की शाति थी जो उन सम्राटो ने अपने देश के भीतरी और बाहरी शत्रुओ मे उत्पन्न करके सभव की। अपने आक्रमणो और विजयो द्वारा बाहरी शत्रुओ को आतकित कर उन्होने देश के भीतर शान्ति स्थापित की। बाहरी आक्रमणो की आशका जब सर्वत्र मिट गयी तब सस्कृति की शान्तिमयी चादनी भी वातावरण पर छिटकी। वह आक्रमणहीन शान्ति देश मे कैसे कायम की जा सकी यह भारतीय नागों की, कुषाणो और गुप्तो की शको पर विजयो की कहानी है, जिसकी चर्चा आगे आवश्यक हो जायगी।

चौमुखी समृद्धि

आक्रमणहीन शान्ति का परिणाम हुआ धन-धान्य का बाहुल्य, निरापद वाणिज्य की अभिवृद्धि, अर्जित की रक्षा की सुगमता, आहार की अनायासता और वृत्तिया चुनने की स्वतत्रता। यह तो निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि गुप्त साम्राज्य ने यह स्थिति सभी रूपो, दिशाओ और क्षेत्रों मे उत्पन्न कर ही दी, परन्तु साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि अपेक्षाकृत, और युगो से सर्वथा भिन्न, गुप्तयुग मे सुख-समृद्धि का विकास हुआ। और जिस पैमाने पर इतिहासकार सामती युग को जनता के एकाश के उपेक्षित होने के बावजूद सुखी और समृद्ध मानते है वह नि.सदेह गुप्तशासन मे उपलब्ध था। देश के अभिजात वर्ग को, कहा जा सकता है, चौमुखी समृद्धि उपलब्ध थी। और निश्चय यही अभिजात वर्ग अपने अनुयायी वर्गों के साथ समाज में कला-साहित्य आदि के क्षेत्र मे अर्थ भी रखता था। बोधिसत्त्व की कल्याण-समग्रता, जिसकी शपथ कुषाणकाल ने ली थी, तो

गुप्तकाल का पुरुषार्थ न बन सकी पर उस पक्ष के अतिरिक्त भी अनेक योगो को साधने का इस युग को अवसर और संयोग मिला।

अपनी राजनीतिक सत्ता एक बार तलवार के बल पर स्थापित कर लेने के बाद कनिष्क को फिर लड़ाइयां नही लड़नी पड़ी। चीनी सीमा पर निश्चय उसे सावधान रहकर कुछ अभियान करने पडे, परन्तु जाब, काबुल, कश्मीर और मध्यदेश युद्ध की भयानक 'ईतियो' से मुक्त थे। कनिष्क के वंशधरो को भी कुछ काल तक तलवार हाथ मे नही लेनी पडी, सिवा साम्राज्य के पतनोन्मुख होते समय, जब भारतीय राष्ट्रीय चोट से आहत उन्हें भारशिव नागों मे आत्मरक्षा के लिए धीरे-धीरे मथुरा से पश्चिम पजाब और गन्धार की ओर हट जाना पड़ा। पर तब तक अपने शान्तिमय जीवन मे उन्होने कला और धर्म-दर्शन को ही साधा। कनिष्क आदि ने बौद्ध धर्म के लिए पराक्रम किये और बासुदेव ने माहेश्वर धर्म या शैव सप्रदाय के लिए, जिसने शक उषवदात और रुद्रदामा की ही भांति अपना नाम भी बदलकर भारतीय कर लिया था। गुप्त साम्राज्य के उदय और कुषाण साम्राज्य के पतन के बीचभार शिव नागों का राजनीतिक उत्कर्ष भारतीय राजनीति की रोमाचक कहानी है जिसको बताये बिना गुप्तकालीन आक्रमणहीन शान्ति का रहस्य भेद पाना सभव न होगा। इससे आगे पहले उसी की चर्चा करेगे।

अध्याय ३

राजनीतिक पृष्ठभूमि

१. भारशिव नाग

कुषाणो के पतन और गुप्तों के उदय के बीच की तीसरी और चौथी ईसवी सदियों का अन्तराल भारतीय इतिहास मे पहले अन्धयुग कहलाता था। परन्तु इधर की ऐतिहासिक खोजो[१] से प्रमाणित हुआ है कि यह अन्तराल अन्धयुग तो नही था बल्कि भारशिव नाग नाम के एक यशस्वी क्षत्रियकुल के पराक्रम से आलोकित था। कुषाणों के हाथ से भारशिव नागों ने तलवार छीन ली और उत्तर भारत से, कम से कम मथुरा और साकल से दूर पश्चिम उन्हे भगा दिया था। जिस प्रकार पुष्यमित्र शुग के अश्वमेघ के समय उसके पौत्र वसुमित्र ने यज्ञ के अश्व की रक्षा करते हुए यवन-ग्रीको को सिन्धु नद के पार शरण लेने को बाध्य किया था, उसी प्रकार भारशिव नागो ने भी अपने निरन्तर के आक्रमणो से कुषाणो को पश्चिमी पजाब मे भगा दिया था, और देखते ही देखते कुषाणों का शासन पूर्व मे प्राय कबीली इलाको और पजाब की पश्चिमी नदियो तक ही सीमित रह गया था।

कुषाणो का निष्कासन

कुषाणो का भारशिव नागो द्वारा यह निष्कासन बहुत कुछ उसी प्रकार का था जैसा शुंगों द्वारा यवनो अथवा पीछे गुप्तो द्वारा शकों या और भी पीछे यशोधर्मन द्वारा हूणों का रहा था। और यह निष्कासन-प्रयत्न कुछ शुद्ध राजनीतिक राज्यारोहण अथवा प्रसरण का ही केवल परिणाम न था बल्कि इसमे एक प्रकार की सुचिंतित राष्ट्रीय नीति भी संनिहित थी। उस राष्ट्रीयता के प्रतीक नागों के आराध्य शिव और अश्वमेघ थे। शिव नागों की शपथ थे और अश्वमेघ उनकी अभियान-प्रक्रिया के आलोकस्तभ थे।

भारशिवों की राष्ट्रीयता और आंदोलन

इस दिशा मे भारशिव नागों के इस अ-साधारण भारत मे प्रायः पहले प्रयत्न के

[१]जायसवाल: हिस्ट्री ऑव इंडिया—१५० ए. डी. टु ३५० ए. डी.; ऐन इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इंडिया।

बावजूद, और एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रयत्न[1] के बावजूद, अध्यवसाय को यथोचित महत्त्व और सम्मान नहीं मिला है। नाग शिव के परम भक्त थे और उनके अनुचर के रूप में शिवलिंग का 'भार' वहन करते थे।[2] पीठ पर शिवलिंग धारण करना नागों की अपने आराध्य के प्रति घनी निष्ठा के अतिरिक्त शत्रु से अविजित-पराक्रम होने की एक शपथ भी था। पीठ पर इष्टदेव शिव को धारण करना इस बात की जैसे प्रतिज्ञा थी कि वे कभी युद्ध मे पीठ दिखाकर अपने देवता को शत्रु के शस्त्रों का लक्ष्य बनाकर अपमानित नहीं करेंगे। इसका निश्चय परिणाम यह हुआ कि उन्होने न केवल समर में शत्रु से विपरीत-मुख हो पराजय नहीं पायी बल्कि जैसा वे मानते थे, देश को विजातीय शत्रुओं से मुक्त कर उत्तर भारत मे कई शताब्दियों की विदेशी राजसत्ता को उखाड़ हिन्दू साम्राज्य की नींव डाली।

अश्वमेध

इनकी एक विशेषता यह भी थी कि जब-जब इन्होंने कुषाणो का दलन किया तब-तब अश्वमेध यज्ञ किया और प्रत्येक अश्वमेध के बाद उसके सबध का अवभृथ स्नान इन्होंने अपने इष्टदेव-विश्वनाथ शिव के काशी में निवास के निकट चरणस्पर्शिनी गंगा मे किया।[3] इस प्रकार दस-दस अश्वमेध कर इन्होने इस राष्ट्रीय मेध की परम्परा बांध दी। और जिस घाट पर इन्होने अपने उन अश्वमेधो के स्नान किये उसका नाम ही परिणामतः 'दशाश्वमेध' पड़ गया।[4] अश्वमेध सर्वथा भारतीय अनुष्ठान था जो अथर्ववेद के युग से इस देश मे होता चला आया था। उसका उपयोग जैसे पुष्यमित्र शुंग ने विदेशियों के विरुद्ध किया था, भारशिव नागों ने भी किया।

नागों का उत्कर्ष

भारशिव नाग झांसी की तहसील ललितपुर के इलाके में नरवर के समाप पद्मावती (पदमपवाय) के निवासी थे और उसी को केन्द्र बनाकर इन्होंने अपने साम्राज्य का निर्माण किया। पुराणों के अनुसार समृद्धिकाल में नागो के चार प्रधान केन्द्र थे—विदिशा (मध्य प्रदेश मे आधुनिक भेलसा, पद्मावती (पदमपवाय), कान्तिपुरी (जिला

[1]जायसवाल : हि. आव इं.। [2]जायसवाल : जे. बी. ओ. आर. एस. मार्च—जून, १९३३, पृ. ३ से आगे। [3]"पराक्रमाधिगतभागीरथ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानांदशाश्वमेधावभृथस्नातानां भारशिवानाम्", सी. आई. ई., भाग ३, पृ. २३७, २४१, २४५, २४८।
[4]उपाध्याय : प्रा. भा. का इ., पृ. २२६।

मिर्जापुर मे कल्तित) और मथुरा।[1] भारशिव नागो के उत्कर्ष का प्रधान नायक वीरसेन था, उसने अपने अश्वमेधो से बड़ी ख्याति अर्जित की और कुषाणो की सत्ता से मध्य देश को सर्वथा मुक्त कर दिया। वीरसेन ने कुषाणों के पूर्वी केन्द्र मथुरा पर अन्तत. प्रबल धावा किया। सारनाथ-काशी आदि से तो उनका अधिकार पहले के ही हमलों ने उठा दिया था, अब उन्हें अपने प्रधान केन्द्र मथुरा से भी हाथ धोना पडा और नागों की सम्राट् सत्ता उत्तर भारत पर स्थापित हो गयी।

क्षत्रिय-ब्राह्मण विवाह-सम्बन्ध

नागो के उत्कर्ष का एक परिणाम यह भी हुआ कि देश मे उनका साका चल गया और उनसे मित्रता और विवाह सबध स्थापित करने के लिए राजकुल लालायित हो उठे। मध्य भारत मे तब एक उदीयमान ब्राह्मण राजकुल वाकाटको का था। उनके राजा प्रवरसेन के पुत्र से भारशिवराज भवनाग की पुत्री का विवाह हुआ। यह विवाह इतना महत्त्वपूर्ण समझा गया कि इसका उल्लेख सारे वाकाटक अभिलेखो मे हुआ।[2] इन दोनो भिन्नवर्णीय ब्राह्मण-क्षत्रिय राजकुलो का परस्पर विवाह संबध उल्लेखनीय है। इस प्रकार के सबध राजकुलो मे पहले भी अनजाने न थे, परन्तु साधारण जनता की ही भाति तब के राजकुल भी धीरे धीरे स्मृतियो के अनुशासन से बधते जा रहे थे, जिन्होने असवर्ण विवाहो का वर्जन किया था। विदेशी जातियो के सपर्क से जो वर्णधर्म उत्तर भारत मे शिथिल हो गया था उसी का विशेषत यह विवाह संबध परिणाम था।

कुषाणो के पतन के प्राय सदी भर बाद तक भारतीय आकाश मे भारशिव नागो का सूर्य तपता रहा। इनका अन्त कब हुआ यह ठीक-ठीक कह सकना तो आज कठिन है पर इसमे सन्देह नही कि बाद की सदियो मे भी इनके जहा तहा प्रभुत्व का उल्लेख अभिलेखो मे मिलता रहा। गुप्तवशीय सम्राट् समुद्रगुप्त की जो विजय-प्रशस्ति प्रयाग के अशोक स्तभ पर खुदी है उसमे नाग राजाओ—गणपति नाग, नागदत्त, नागसेन, नन्दी—की पराजय का उल्लेख हुआ है।[3]

कला

भारशिव नाग कला के भी उपासक थे और मध्य तथा उत्तर भारत मे उन्होने शिव के अनेक सुन्दर मन्दिर बनवाये। इनके बनवाये नचना और खोह के मन्दिर निःसंदेह दर्शनीय रहे होंगे। मन्दिरो की निर्माणशैली मे नागों ने एक नयी पद्धति का

[1] त्रिपाठी : हिस्ट्री.,। [2] वही,। [3] उपाध्याय : प्रा. भा. इ., पृ. २२७।

आविष्कार किया। काल और मनुष्य की क्रूरता ने उनके बनवाये मन्दिरो को नष्ट कर दिया पर उनके भग्नावशेषो में सास लेती मूर्तियां जो मिल जाती हैं वे कला की दृष्टि से अनुपम सिद्ध होती हैं। उनके शिवमन्दिर खोह, से उपलब्ध शिव का अद्भुत मस्तक और गणो की अनेक मूर्तिया प्रयाग के म्युनिसिपल संग्रहालय मे सुरक्षित है जो तत्कालीन नागकला के विस्मयकारक प्रतीक हैं। शिव का रूप तो समूचे भारतीय कलासंग्रह मे अतुलनीय सुन्दर है, और गण भी अपनी अनेकता, विभिन्नता और हास्यकारिता मे अनन्य हैं। समूची भारतीय कला मे, मूर्तन अथवा चित्रण मे कभी और कही शिव के गणों का इतनी बड़ी सख्या और विविधता मे रूपायन नही हुआ।

२. वाकाटक

उदय

कुषाणो के पतन और गुप्तो के उदय के बीच के जिस काल को 'अन्धकार युग' [१] कहा गया है उसमे भारशिव नागो के अतिरिक्त जिस राजकुल ने तब के अनेक राज्यो पर अपनी प्रभुसत्ता कायम की वह वाकाटको का था। वाकाटको का उदय गुप्तो से कुछ पहले अथवा प्रायः साथ ही साथ हुआ था। कम से कम उनके अनेक अभिलेख गुप्तो के समकालीन ही मिले है। ओरछा का वर्तमान 'बागाट' वाकाटको के प्राचीन मूल स्थान 'वाकाट' (बुन्देलखण्ड) का आधुनिक प्रतिनिधि है।[२] पुराणो और वाकाटको के अभिलेखो दोनों से प्रमाणित है कि वाकाटको ने आज के प्राय. समूचे मध्य प्रदेश, दोनो बरार[३] और उत्तरी दकन के समुद्र तट तक, के राज्यों पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली थी। अजन्ता के एक लेख मे वाकाटक राजकुल के प्रतिष्ठाता विन्ध्यशक्ति को 'द्विज' कहा गया है जिससे प्रमाणित है कि वे ब्राह्मण थे। दक्षिण के ब्राह्मण पल्लव राजा भी इन्ही की एक शाखा माने जाते है।[४] इससे भी वाकाटको का ब्राह्मण होना सिद्ध है। इनके अनेक अभिलेख अजन्ता मे मिले है।[५]

[१]त्रिपाठी : हिस्ट्री., पृ. २३४–३५। [२]जायसवाल : जे. बी. ओ. आर. एस., मार्च–जून, १९३३, पृ. ६७। [३]गोविन्द पाई : ज. इ. हि., जिनिआलोजी एण्ड क्रानालोजी ऑव दि वाकाटकाज, १४ (१९३५), पृ. १–२६, १६५–२०४। [४]जायसवाल : जे. बी. ओ. आर. एस., मार्च–जून, १९३३, पृ. १८०–८३। [५]स्मिथ : जे. आर. ए. एस. १९१४, पृ. ३१७–३८।

प्रसार

वाकाटकों की शक्ति का प्रतिष्ठाता 'विन्ध्यशक्ति' था जिसने तीसरी सदी के संभवतः अन्तिम चरण में अपनी शक्ति का विस्तार किया। उसका नाम विरुद मात्र लगता है। यदि ऐसा हुआ (हमे उसका प्रकृत नाम उपलब्ध नही) तो, उसके इस विरुद की ध्वनि के अनुसार, उसके केन्द्र की स्थापना कही विन्ध्य पर्वत की शृखला मे ही हुई होगी। लगता है बरार से उत्तर पजाब तक की भूमि दो साम्राज्यो मे बंट गयी। इनमें उत्तरी भाग के स्वामी भारशिव नाग थे और दक्षिणी भाग के वाकाटक।

अश्वमेध

विन्ध्यशक्ति का पुत्र प्रवरसेन प्रथम हुआ जो इस कुल का प्रधान राजा था, जिसके प्रताप का आतक शत्रुओ पर छा गया। उसे पुराणो ने 'प्रवीर'[1] कहा है। प्रवरसेन की विजयो ने पिता के साम्राज्य की सीमाए और बढ़ा दी। उसने ब्राह्मण धर्म, विशेषतः भारतीय आधिराज्य के प्रतीक अश्वमेध यज्ञ के चार चार बार अनुष्ठान किये। इनके अतिरिक्त भी उसने 'वाजपेय' और 'बृहस्पतिसव' नाम के दो-दो यज्ञानुष्ठान किये।[2]

अब तक गुप्तो का उदय हो चुका था और शीघ्र ही उनका दबदबा वाकाटको पर भी जमा, जैसा समुद्रगुप्त की प्रयागस्तंभ की प्रशस्ति से रुद्रसेन वाकाटक (प्रशस्ति के रुद्रदेव) की पराजय से प्रमाणित है। पर निश्चय इससे वाकाटको का विनाश न हो सका, केवल उनके राज्य की धुरी दकन की ओर सरक गयी। रुद्रसेन के पुत्र पृथ्वीसेन ने पिता के समुद्रगुप्त द्वारा पराभव के बावजूद कुन्तल (उत्तर कनाडा) को जीतकर उस पर अधिकार कर लिया। वाकाटको की शक्ति बनी रहने का दूसरा प्रमाण यह है कि पृथ्वी-सेन के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय को गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) ने अपनी कन्या प्रभावती गुप्ता ब्याह दी। इसी गुप्त-वाकाटक संबध मे चन्द्रगुप्त को मालवा के शको को परास्त करने में सुविधा मिली। पति की मृत्यु के बाद प्रभावती गुप्ता ने अपने नाबालिग पुत्र के नाम पर कुछ काल शासन किया। पिछले दिनो मे इस कुल के राजा हरिषेण वाकाटक ने पाचवी सदी के अन्त मे—गुप्तो के उत्कर्ष काल मे—अपनी विजयों का ताता बाध दिया। उसके अभिलेख से प्रकट है कि उसने कुन्तल, मालवा (?), कलिंग, कोशल (पूर्वी मध्य प्रदेश), त्रिकूट (सभवत. कोंकण), लाट (दक्षिणी गुजरात), आन्ध्र (गोदावरी और कृष्णा के द्वाब) आदि को जीतकर वाकाटक साम्राज्य मे मिला लिया।[3]

[1] त्रिपाठी : हिस्ट्री, पृ. २७८। [2] उपाध्याय : प्रा. भा. इ., पृ. २२८। [3] त्रिपाठी : हिस्ट्री., पृ. २७९।

इसमे सन्देह नही कि इस प्रशस्ति में अत्युक्ति है, क्योकि निश्चय मालवा और लाट पर अभी तक शको का प्रभाव था जिन्हें जीतकर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपना 'शकारि' नाम सार्थक किया। फिर भी इन प्रदेशों का हरिषेण की प्रशस्ति मे परिगणन निश्चय उसकी विजयो की ओर सकेत करता है। भारतीय कटिबन्ध के मध्यवर्ती देश समुद्र तक कुछ काल के लिए वाकाटको के अधिकार मे आ गये थे, यद्यपि उनकी विजय चिरस्थायी न हो सकी, क्योंकि शीघ्र ही छठी सदी के दूसरे चरण में कलचुरियों के उदय ने वाकाटक शक्ति की रीढ़ तोड दी।

जाति-बन्धन की शिथिलता

वाकाटको, भारशिव नागो और गुप्तों के परस्पर ब्राह्मण-क्षत्रिय विवाह-सबध तब के वर्णधर्म की शिथिलता के प्रमाणस्वरूप उल्लेखनीय है। भारशिवराज भवनाग की पुत्री के वाकाटकराज प्रवरसेन के पुत्र के साथ विवाह की बात ऊपर यथा-स्थान कही जा चुकी है। यह विवाह इतना महत्त्वपूर्ण समझा गया था कि इसका उल्लेख सारे वाकाटक अभिलेखों मे हुआ। इसी प्रकार गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती का वाकाटक राजकुमार से विवाह भी सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन का परिचायक है।

कला

प्रकट है कि उस काल के भारतीय सम्राटो द्वारा कला की साधना उनके शासन का आचार बन गयी थी, जो, जैसा मौर्यों-शुगो के दृष्टात से प्रमाणित है, केवल विदेशी यवन-शक-कुषाणो की देन न थी। भारशिव नागों की नचना और खोह की कला का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, गुप्तो की कलाप्रियता का नीचे वर्णन है। इस प्रसंग मे वाकाटको की कला-साधना की ओर सकेत कर देना भी उचित होगा। अजन्ता के जो दरीमन्दिर गुप्तो और चालुक्यो के यश के आधार बने, उनमे से अनेक वाकाटको की कला-नीति के भी प्रमाण है। उनमे से अनेकों की दीवारो पर वाकाटकों के जो अभिलेख खुदे है उनसे एक ओर तो उन पर बने चित्रों के आलेखन-काल पर प्रकाश पडता है,[1] दूसरी ओर वाकाटको की कला और कलाकारो की संरक्षा भी प्रमाणित होती है। प्रकट है कि अनेक गुहाओ के चित्र इस काल वाकाटको की संरक्षा मे ही बने।

[1]वी. ए. स्मिथ : जे. आर. ए. एस., १९१४, पृ. ३१७–३८।

३. गुप्त सम्राट्

राष्ट्र की एक सत्ता, भारतीय एकता

गुप्त साम्राज्य जहां दकन पर्यंत भारतीय एकता का प्रतीक है वहा वह भारतीय वर्चस्व और अन्योन्याश्रित अन्तरावलबित समन्वित सस्कृति का भी प्रतीक है। पहली बार, रामायण-महाभारत-पुराणो से भिन्न, ऐतिहासिक युगो मे दूरगामी दक्षिण विजय का सूत्रपात होता है, जिसका पूर्ववर्ती उदाहरण मात्र मौर्यों की विजय है। पर जिस एकीभूत राष्ट्रीयता की भावना देश मे, मौर्यों के विस्तृत साम्राज्य—मैसूर से हिन्दूकुश तक—की अपेक्षा न्यूनतर साम्राज्य के स्वामी होकर भी, गुप्तो ने फैलायी, वह मौर्यों का सर्वथा अनजाना था। समुद्रगुप्त ने, जैसा हम शीघ्र ही बतायेंगे, एक ओर दक्षिण तक अपने साम्राज्य की सीमा बढाकर पश्चिम मे (चन्द्रगुप्त ने) समुद्र तक, उत्तर-पश्चिम में शक-मुरुण्डो-शाहिशाहानुशाहियो के काबुल तक और पूरब मे समतट-डवाक (ढाका, पूर्व पाकिस्तान) तक फैला दी[१] और भावुक कवि उस राष्ट्रीय उत्कर्ष को अभिनव भावना और अश्वमेध की वीर परम्परा के गायन से मुखर कर चले।

कविकल्पना की भारतीय एकता

समसामयिक कवि कालिदास ने उस भौतिक विजय को काल्पनिक भौगोलिक महिमा दी जिसके लिए भारती मे शस्त्र-पराक्रम की अपेक्षा न थी। उस कवि के रघु पूरब में डवाक से भी पूर्व लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) पर प्राग्ज्योतिष (गोहाटी) तक जा पहुचे और गगा के डेल्टा मे विजयस्तभ गाडते, सुह्मो का पराभव करते, उडीसा के सागर-तीर-तीर चल, कावेरी[२]-ताम्रपर्णी नदियो को लाघ, सागरवर्ती ताल-पूगीफल-नारिकेल तरुओं की सीमा से पश्चिमसागर वर्ती केरल-अपरात का पराभव कर, मरुभूमि की दु:साध्य कठिनाइयो को सर कर, कोजक-अमरान पहाडियो को बगली दे, आमू दरिया की घाटी के बाख्त्री-वह्लीक मे हूणो को धूल चटा, केसर की क्यारियो मे अपने घोडो को रमा, हिमालय लाघ स्वदेश लौटे।[३] और दिल्ली के पास मेहरौली के लौहस्तभ (पाचवी सदी) के अभिलेख मे कवि ने गाया—

> यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्
> वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।

[१]फ्लीट : सी. आई. आई., ३, न. १, पृ. १–१७। [२]तांबरवरी। [३]रघुवंश, ४, २५–८५।

तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥[1]

काव्य और अभिलेख (चन्द्र = चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य) का यह भारतीय विजय—सागर से आमू दरिया तक—का सहोच्चारण निश्चय गुप्तकालीन राष्ट्रीय भावना का ही परिणाम है, जब उस राष्ट्रीयता को देशप्रेम के स्वर मे भरकर कुमारगुप्त द्वितीय का राजकवि ऐतिहासिक अभिलेख के माध्यम से गा उठा था—

चतुःसमुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम् ।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥

'भारत की वह पृथ्वी ! चारो ओर चार समुद्रो की जिसकी मेखला (करधनी) है, सुमेरु और कैलास उत्तर मे जिसके विशाल पयोधर हैं (फिर मस्तक कहा होगा ? कालिदास के वक्षुतीर के वह्लीकों मे ?), और बीच की जिसकी उपत्यकाए वनान्त तक फैली अपनी विविध कुसुमावलियो से चारु हसती हैं। कुमारगुप्त के शासन की उस धरा की कथा है यह—।'

हिन्दूकुश पार—हिमालय पार, फारस और आमू दरिया की घाटी के उत्तरी छोर कैलास पर्यंत, असम-किरातो की सीमा पार, शेष तीनो ओर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम जिस देश की नयी सीमाए गुप्त सम्राटो ने अपनी विजयो से, कालिदास जैसे कवियो के नव-काव्यो से, मेहरौली के लौहस्तम्भ-वत्सभट्टी आदि के अभिलेखगीतो से खीची, उसकी अखण्डनीय एकता राजनीति से भिन्न सास्कृतिक संदर्भ मे सदा बनी रही, प्रायः आज तक बनी हुई है।

विजातियों की विरासत

इस सीमासदर्भ को केवल गुप्तो की विजयो अथवा कवियो की भावव्यजनाओं ने ही नही जन्म दिया। इसका सबन्ध उन सारी यवन-पल्लव-शक-कुषाण-आभीर-गुर्जर आदि जातियो से भी रहा था, जो कभी इन भौगोलिक प्रदेशो मे बसी थी और भारत मे आने पर उसके हिमालयवर्ती, सागरवर्ती, मरुवर्ती प्रातो पर राज किया था। उन सभी का दाय गुप्तो को मिला था, कवियो के कल्पनाप्रान्तर उन सबकी यशगन्ध से सुरभित हुए थे। उनकी समस्त जातियो की विरासत की गुप्त भारतीयता धनी थी। उन सबका वर्चस्व, उनकी सामाजिक क्राति का लाभ, उनकी कला-साधना की अनन्त विविधता गुप्तकालीन भारतीयो को मिली, उस भारत-सीमान्तक एकता के साथ जो गुप्त सम्राटो

[1] फ्लीट : सी. आई. आई., इ. नं. ३२, पृ. १४१, छन्द १।

ने अपने देश और समाज को दी। वह एकता किस तरह संपन्न हुई यह इस नवयुग-नवराज-कुल के नवोदय की कथा है, उन गुप्त सम्राटो की विजयो, उनके उत्कर्ष की कथा, जिनकी क्षत्रछाया मे भारत की यह सहिष्णु, उदार, ऋद्ध संस्कृति पली और बढ़ी। आगे उसी गुप्तकाल के रघुवशियो सरीखे 'आसमुद्र क्षितीशो, आफलोदय कर्मियों, भीमकात गुणो' वाले सम्राटो की कथा है।

गुप्त कुल के सम्राटों की असाधारणता और उनका वर्ण

गुप्त सम्राटो का शासन काल भारतीय इतिहास मे असाधारण है। इनके-से वीरकर्मा और साहित्य-कला के पोषक एक ही राजकुल मे, सिवा मुगल सम्राटो के, नही मिलते। कालिदास ने जैसा राजा दिलीप के सबंध मे कहा है, इन सम्राटों का निर्माण भी 'महाभूत समाधियों' से हुआ था। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त, शक्रादित्य, स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य एक साथ अन्यत्र दुर्लभ थे। अपनी विजयो, विदेशियो से सघर्ष के पराक्रम और शान्ति काल मे अपनी उदार नीति से इन्होने स्वकालीन भारतीय सस्कृति की काया को सिरजा और उसका अभिराम अलकरण किया। गुप्तो की असाधारणता केवल उनके वृत्त मे ही नही उनके वर्ण मे भी है। अभी तक यह निश्चयपूर्वक नही जाना जा सका कि गुप्त सम्राट् किस वर्ण के थे, अन्तर्वर्णीय थे अथवा किसी एक वर्ण के। इस अनिश्चय ने उनके सीमित वर्ण का परिमाण निर्बंधित कर इतिहास का लाभ ही किया है। कुछ लोगो ने उनके नाम के अन्त मे 'गुप्त' लगे होने से गुप्त सम्राटो को वैश्य माना है, कुछ ने कारस्कर गोत्र के जाट[1] (कक्कड़ जाट)। पर इन दोनों के प्रमाण अकाट्य न होने से और विपरीत प्रमाण महत्त्व के न होने से उन्हें प्राचीन अनुश्रुतियों के अनुसार क्षत्रिय मानना ही उचित होगा। यह निःसदेह सही है, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है कि उनके विवाह सबध ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनो राजकुलों मे हुए थे।

आरभ

गुप्त अभिलेखो मे इन सम्राटो की वशतालिका दी हुई है, जिससे इनके प्रारभिक राजाओ के नाम श्रीगुप्त, श्री घटोत्कचगुप्त और श्री चन्द्रगुप्त मिलते है। इनमे से पहले दो केवल 'महाराज' कहे गये है और तीसरा 'महाराजाधिराज' उपाधि से अभिव्यक्त हुआ है। इससे प्रकट है कि पहले दोनों से तीसरे नृपति का पद ऊचा था।

[1]जायसवाल : जे. बी. ओ. आर. एस., १६, १६३३, पृ. ११३।

श्रीगुप्त

सातवीं सदी के अन्त के चीनी भिक्षु ईत्सिंग ने श्रीगुप्त (चे-लि-कि-तो) को चीनी यात्रियों के लिए 'मृगशिखा वन' नामक विहार बनवा देने का श्रेय दिया है। श्रीगुप्त कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है। ईत्सिंग (६७३-६९५ ई.) के अनुसार वह उसके समय से ५०० वर्ष पूर्व हुआ था। पर उस पर भी पूर्णतया इस कारण विश्वास नहीं किया जा सकता कि उसने यह तिथि 'प्राचीन स्थविरों द्वारा सुनी अनुश्रुति' मात्र से प्रभावित होकर लिखी थी। विद्वानों ने इस कारण इस तिथि पर शब्दश: विश्वास करने में आपत्ति की है। उनके अनुसार श्रीगुप्त का शासनकाल २७५ और ३०० ईसवी के बीच रखना उचित होगा। इस राजा के संबंध में सिवा इसके और कुछ ज्ञात नहीं कि वह मगध में प्रतिष्ठित था और उसकी उपाधि 'महाराज' थी। साधारण राजाओं की यह उपाधि संभवत: उसका किसी सम्राट्-पदीय राजा का करदायी सामन्त होना प्रकट करती है, यद्यपि इस उपाधि को स्वतंत्र राजाओं ने भी धारण किया है। तब कोई सम्राट्-पदीय शक्ति भी आसपास न थी जिससे श्रीगुप्त के स्वतंत्र न होने में कोई आग्रह नहीं हो सकता।

घटोत्कचगुप्त

श्रीगुप्त के पुत्र महाराज घटोत्कचगुप्त के विषय में भी ऐतिहासिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। नाम के साथ मात्र 'महाराज' जुड़े होने से स्वाभाविक ही अनुमान किया गया है कि पुत्र की राजकीय महिमा पिता से भिन्न न थी और उसने विजय आदि द्वारा अपने यश अथवा राज्य का विस्तार नहीं किया।

चन्द्रगुप्त प्रथम (ल० ३२०-३३५ ई०)

पर यही स्थिति उसके पुत्र श्री चन्द्रगुप्त के साथ न रही क्योंकि उसके नाम के पूर्व गुप्त अभिलेखों में 'महाराजाधिराज' जुड़ा मिलता है। यदि गुप्त नृपति अब तक परतंत्र रहे थे तो नि:संदेह चन्द्रगुप्त ने, जिसे उसके यशस्वी पौत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से पृथक् करने के लिए 'प्रथम' कहा जाता है, अपने को करमुक्त कर लिया और अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित की। और यदि उसके पूर्व ही उसका राजकुल स्वतंत्र हो चुका था तब उसने अपने राज्य का विस्तार किया और उसे गौरव दिया। इतिहास उसकी विशेष महिमा का आधार उसका लिच्छवि संबंध मानता है। लिच्छवियों का गणतंत्र उत्तर बिहार में वैशाली में कायम था, जिसने सदियों उधर की राजनीति में अपना साका चलाया था। उनसे विवाह संबंध स्थापित कर राजकुल अपने को धन्य मानते थे। चन्द्रगुप्त ने भी कुमार-

देवी नाम की लिच्छवियो की एक राजकुमारी से विवाह कर अपने नवोदित राजकुल को गौरवान्वित किया। राजनीतिक दृष्टि से स्वयं उसने इन सम्बन्ध को इतना महत्त्वपूर्ण समझा कि अपने एक प्रकार के सोने के सिक्को पर इस प्रसंग को उत्कीर्ण कराया।[1] उन पर सामने की ओर रानी को मुद्रिका प्रदान करते हुए राजा की आकृति खुदी है और दाहिने भाग पर 'चन्द्र' अथवा 'चन्द्रगुप्त' अंकित है और बाये भाग पर 'कुमारदेवी' अथवा 'श्रीकुमारदेवी'। इन सिक्को पर पीछे की ओर 'लिच्छवय.' लिखावट के साथ सिंहवाहिनी दुर्गा की आकृति खुदी है। गुप्त प्रशस्तियों में जो समुद्रगुप्त के नाम के साथ 'लिच्छविदौहित्र' जुडा मिलता है उससे भी प्रकट है कि राजकुल अपने को इस सबंध से गौरवान्वित मानता था और समुद्रगुप्त इसे लिखना यशवर्धक समझता था। वस्तुतः समुद्रगुप्त ने ही अपने पिता की उस घटना के स्मारकरूप इन तमगो को ढलवाया।[2]

चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमाए पुराण के एक श्लोक मे जो दी हुई हैं उनसे जान पडता है कि मगध (दक्षिण बिहार), प्रयाग, साकेत (अयोध्या) और निकटवर्ती इलाके उनके अन्तर्गत थे।[3] चन्द्रगुप्त ने 'गुप्त सवत्' नाम से एक साका भी चलाया था जिसका आरंभ उसके राज्य काल के प्रथम वर्ष से होता है और जिसके पहले साल का दौरान ईसवी सन् की २६ फरवरी ३२० से १५ मार्च ३२१ तक है। चन्द्रगुप्त प्रथम ने सभवत १५ वर्ष राज किया।

समुद्रगुप्त (ल० ३३५-७५)

चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद उसका पुत्र समुद्रगुप्त राजा हुआ। एक गुप्त अभिलेख से पता चलता है कि समुद्रगुप्त के अनेक भाई थे (तुल्यकुलजा) जिनमे स्वय वह सबसे बड़ा न था। उसके पिता ने उसके गुणो से प्रसन्न होकर उसे युवराज बना दिया और अपने बाद गुप्त राज्य का राजा मनोनीत किया। जब उसने वाष्पपूरित नेत्रो से देखते हुए इस गुणी पुत्र को हृदय से लगाकर उसे अपनी पृथ्वी के पालन का भार सौंपा, तब भाइयो के मुख मलिन हो गये। पिता ने पुत्र को बडी आशाओ से राज्य सौंपा था और पुत्र ने उसकी सारी आशाए पूरी कर दी।

[1] जे. ए. एस. बी. न्यू मिस्मेटिक सप्लिमेंट, नं. ४७, खण्ड १, १९३७, पृ. १०५–११

[2] सी. सी. जी. डी., भूमिका, पृ. १८।

[3] अनुगङ्गं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

पराक्रमी, गुणी, कवि

समुद्रगुप्त व्यक्तिगत गुणो मे गुप्त सम्राटों की शृखला मे अद्वितीय था। शक्ति, प्रताप और पराक्रम में उसकी समता न थी। कुछ पीढ़ियों से अश्वमेधो की परम्परा जो लुप्त हो गयी थी, उसका उसने पुनरुद्धार किया। दिग्विजय के बाद अश्वमेध कर उसने उसके स्मारक एक प्रकार के सोने के सिक्के चलाये, जिनके मुखभाग पर यज्ञ का अश्व यूप (बलिस्तभ) के सामने खड़ा है और उसके पृष्ठभाग पर सम्राज्ञी की आकृति और सम्राट् का विरुद 'अश्वमेध पराक्रम.' खुदा है। समुद्रगुप्त शस्त्र के संचालन में तो असाधारण था ही क्योकि युद्धो मे अग्रणी होने के कारण उसके शरीर पर चोटो के अनेक चिह्न बन गये थे, शास्त्र के अनुशीलन मे भी उसकी मति प्रखर थी। शास्त्रविदों और गुणी जनो का वह आदर और उनकी सगति करता था। कविता के क्षेत्र मे भी 'अनेक काव्य-क्रियाओ' द्वारा 'कविराज' के विरुद से वह विभूषित हुआ था। वह मधुर गायक और वीणा वादक भी था। प्रयाग वाली उसकी प्रशस्ति मे लिखा है कि अपनी बुद्धि की प्रखरता से उसने देवताओं के गुरु बृहस्पति को और गायन-वादन से तुम्बुरु और नारद को लज्जित कर दिया था। इस कथन की सत्यता इससे भी प्रमाणित है कि उसके एक प्रकार के सिक्को पर वीणा वादन करते हुए उसकी आकृति उत्कीर्ण है। समुद्रगुप्त योद्धा, शास्त्रविद्, कवि, गायक और वीणा वादक था। सभवत वह वैष्णव धर्म का अनुयायी था। उसके प्रशस्तिलेख मे एक सकेत है कि उसके सामन्त-राजा अपने राज्यों की मुक्ति के लिए गरुड की आकृति वाली उसकी मुहर से मुद्रित उसके शासनो (फ़रमानो) की याचना करते थे। गरुड विष्णु का वाहन है। पश्चात्कालीन गुप्त सम्राटो मे से कुछ ने 'परम भागवत' (परम वैष्णव) का विरुद भी धारण किया था।

इस प्रकार समुद्रगुप्त ने अपने व्यक्तिगत गुणो से ही साहित्य, कला आदि की साधना आदि मे रत उस गुप्तकालिक सस्कृति के आगमन की सूचना दे दी थी और अपनी विजयो द्वारा शत्रुओ के अनाक्रमण से आगे उसने देश मे ऐसी शान्ति उत्पन्न कर दी जिसके वातावरण मे अजर साहित्य और अमर कला का प्रादुर्भाव हो सका। उसकी भूमिकास्वरूप समुद्रगुप्त की विजयो का संक्षेप मे सिहावलोकन यहा अनुचित न होगा। उससे प्रकट हो जायगा कि किस विधि से गुप्त सम्राट् पराक्रम और साधना द्वारा अपने 'भीमकान्त' गुणो से प्रजा का अभिमत प्रस्तुत करते थे।

दिग्विजय

समुद्रगुप्त की विजयो की तालिका प्रयाग के किले मे खडे अशोक के स्तभ पर खुदी है। उसकी यह प्रशस्ति कवि हरिषेण ने रची थी। यह प्रशस्ति सभवत ३६० ई.

के लगभग दिग्विजय के पश्चात् और अश्वमेघ यज्ञ के पूर्व खुदी थी। इस प्रशस्ति में मात्रा के अनुसार उसकी छ: प्रकार की विजयों का वर्णन हुआ है—(१) उन्मीलित राज्य जिनको उसने उखाड़ फेंका, (२) आटविक राज्य जिनके अधिपतियों को उसने अपने सेवक बनने को बाध्य किया; (३) दक्षिण के राज्य जिनके नरेशों को परास्त कर उसने श्रीविहीन तो कर दिया परन्तु उनके राज्य उन्हे लौटा दिये (श्रियं जहार न तु मेदिनीम्, कालिदास); (४) प्रत्यन्त तथा (५) गणराज्य जिन्होंने उसके पराक्रम से हतप्रभ होकर स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया; (६) सीमा पर की अथवा कुछ विदेशी शक्तियां जिन्होंने समुद्रगुप्त के प्रति भेंट आदि देकर आत्मनिवेदन किया।

इन राज्यो की पहचान साधारणत: इस प्रकार की गयी है—पहले प्रकार के नष्ट किये राजाओ मे थे वाकाटकराज रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपति नाग, नागसेन, नन्दी, अच्युत और आसम (कामरूम) के राजा बलवर्मा। ये आर्यावर्त के राजा कहे गये हैं। दूसरे प्रकार के राज्य 'आटविक' कहलाते थे क्योकि वे संभवत भारत की मध्यमेखला के वनो मे पड़ते थे। दक्षिणापथ के राजाओ मे एक कोशल का महेन्द्र था, दूसरा महाकान्तार का व्याघ्रराज, तीसरा कोराल का मन्तराज, पीठापुरम् का महेन्द्र, कोट्टूरगिरि का स्वामिदत्त, एरण्डपल्ली का दमन, काची का विष्णुगोप, अवमुक्त का नील-राज, वेंगी का हस्तिवर्मा, पालक्क का उग्रसेन, देवराष्ट्र का कुबेर और कुस्थलपुर का धनजय। सीमा के प्रत्यन्त राज्यो मे समतट (दक्षिण-पूर्वी बंगाल), डवाक (आसाम की कोपिली घाटी), कामरूप (आसाम), नेपाल, कर्तृपुर (कुमायू, गढ़वाल और रुहेलखण्ड के जिले) थे। गणराज्यो मे जिनकी गणना हुई है उनमे से मालव मालवा मे, आर्जुनायन जयपुर-अलवर मे, यौधेय उत्तरी राजस्थान के जोहियावाड मे, मद्रक यौधेयों के उत्तर मे, आभीर पार्वती और बेतवा के बीच अहीरवाड मे, प्रार्जुन आभीरो के पड़ोस में, सनकानीक भिलसा के समीप, काक सनकानीको के पड़ोस मे और खरपरिक मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ मे बसे थे।[1]

इनके अतिरिक्त भी कुछ विदेशी राज्य थे जिनकी सत्ता को समुद्रगुप्त की विजयो से गहरी ठेस लगी और उन्होने भी अपनी वैदेशिक नीति में गुप्त सम्राट् के प्रति मित्र भाव प्रकट किये। प्रशस्ति के शब्दो से ज्ञात होता है कि प्रत्यन्त नृपतियों की ही भाति आतंकित होकर उन्होंने भी आत्मसमर्पण कर दिया और वे भी कर, भेंट, कन्योपायन (लड़कियो की भेंट) आदि से समुद्रगुप्त को सन्तुष्ट करने लगे। उल्लेख तो उसमे इनके प्रति यहा तक है कि अपने राज्यो के भोग के अर्थ वे गुप्त साम्राज्य के गरुडाक से मुद्रित

[1]विस्तृत पहचान के लिए देखिए, उपाध्याय : प्रा. भा. इ., पृ. ३५–४१।

फ़रमान भी प्राप्त करने लगे। इससे तो उनकी आधिपत्य-स्वीकृति की ध्वनि निकलती है। संभव है प्रशस्ति के इस वाक्य मे कुछ अतिरंजन हो, पर इसमे सन्देह नही कि समुद्रगुप्त की इस विजय-यात्रा से उसके अनेक स्वतंत्र पड़ोसी सशक और सत्रस्त हो उठे हो और उन्होंने उससे बंधुत्व स्थापित करने मे ही अपनी कुशल समझी हो। जिन राज्यो ने समुद्रगुप्त का प्रसाद चाहा, अपने राज्य भोग के लिए 'गरुड़ की मुहर' से मुद्रित उसके साम्राज्य के शासन प्राप्त किये अथवा 'आत्मनिवेदन' और 'कन्योपायन' से उसे सन्तुष्ट किया, ऐसों के प्रयाग का अभिलेख तीन वर्ग गिनाता है—देवपुत्र शाहिशाहानुशाही, शक-मुरुंड और सिंहल तथा अन्य द्वीपों के निवासी। इनमें से पहले संभवतः कुषाणों के वशज थे, जिन्होंने साहिय नाम से दीर्घ काल तक पंजाब-अफ़ग़ानिस्तान पर शासन किया, शक आदि भी सीमा पर ही जा बसे थे, सिंहल का तात्पर्य लका से है और अन्य द्वीपो का शायद अंडमन, मलय, जावा आदि से।

साम्राज्य विस्तार

इस विजय का परिणाम यह हुआ कि गुप्त साम्राज्य की सीमाए देश मे दूर दूर तक फैल गयी। चन्द्रगुप्त प्रथम के समय गुप्त राज्य मगध, प्रयाग और अयोध्या तक ही सीमित रहा था, अब नया साम्राज्य पश्चिम, उत्तर, पूरब, दक्षिण सभी ओर बढा और उत्तर प्रदेश, समूचे बिहार, पश्चिमी बगाल आदि के मध्य देश पर तो समुद्र-गुप्त का शासन था ही, मध्य प्रदेश के वनराज्यो, दक्षिणापथ के राज्यो, सीमाप्रात के प्रत्यतों, पजाब, राजस्थान आदि पर भी उसकी प्रभुता स्थापित हो गयी। सीधा शासन चाहे जितने प्रदेशो पर रहा हो, दोनों समुद्रो के बीच की अधिकतर भूमि भी समुद्रगुप्त का आधिपत्य मानने लगी। आर्यावर्तप्रधान भारत की धरा पर प्रायः ४० वर्ष समुद्रगुप्त ने उदारतापूर्वक शासन किया।

रामगुप्त

समुद्रगुप्त के बाद यशस्वी शासन उसके कनिष्ठ पुत्र चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का हुआ जो साधारणतः विक्रमादित्य के विरुद से प्रख्यात है, परन्तु पिता-पुत्र के शासन के बीच जो रामगुप्त का व्यवधान पड़ जाता है उसका उल्लेख कर देना भी यहा आवश्यक है, जिसके समय गुप्तो के साम्राज्य पर क्षण भर शकों का ग्रहण सा लग गया था और जिसके विवरण से गुप्तों की सामाजिक स्थिति पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। जैसा अभिलेख के 'तत्परिगृहीत·' (उसके द्वारा चुना हुआ) अर्थवाक्य से प्रकट है, चन्द्रगुप्त पिता द्वारा

राज्यपद के लिए चुना तो गया था पर रामगुप्त नाम के बड़े भाई के रहते उसका पिता के बाद ही गद्दी पर बैठना संभव न हो सका।[1]

शकों का आतंक और चन्द्रगुप्त द्वारा कुलप्रतिष्ठा की रक्षा

उससे कुछ ही काल बाद रचे 'देवीचन्द्रगुप्तम्' और 'नाट्यदर्पण' से ज्ञात होता है कि रामगुप्त मन और शरीर दोनो से कमजोर था, जिसकी मानसिक दुर्बलता का लाभ उठाकर समुद्रगुप्त के मरने के बाद किसी शकराज ने उस पर आक्रमण कर उसे आतंकित कर दिया और सन्धि की शर्तों के अनुसार उसने अपनी सुन्दर रानी ध्रुवदेवी को शकराज को सौप देना स्वीकार कर लिया। चन्द्रगुप्त ने कुलगौरव की रक्षा ध्रुवदेवी की प्रार्थना पर की। वह सुन्दर और युवा था। उसने नारी रूप मे ध्रुवदेवी के बदले रक्षकों के साथ स्वय शक स्कन्धावार मे प्रवेश कर ध्रुवदेवी के स्वागत के लिए नाचरग मे डूबे शकराज का वध कर दिया और ध्रुवदेवी के साथ ही गुप्त सिंहासन पर अधिकार भी कर लिया।[2] भाई की विधवा (अथवा सधवा, यदि रामगुप्त बाद मे भी जीवित रहा जिसका कोई प्रमाण नही) से विवाह गुप्तकालीन समाज की उदारता का परिचायक है। रामगुप्त का नाम वशावलियो मे नही मिलता जिससे विद्वानो मे इस विषय पर काफ़ी मतभेद है। पर लगता है कि रामगुप्त का गुप्त राजवश की उज्ज्वल परम्परा मे कालिमा स्वरूप होना ही उसके वहा उल्लेख न होने का कारण हुआ। इस प्रकार की घटनाओ का भारतीय इतिहास की राजवशावलियों मे अभाव नही है।[3] रामगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय समुद्रगुप्त के सिंहासन पर बैठा और विक्रमादित्य के विरुद से इतिहास मे विख्यात हुआ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (ल० ३७५-४१४)

जब चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्त सिंहासन पर बैठा तब निश्चय रामगुप्त की कमजोरी से साम्राज्य की स्थिति कुछ डावाडोल हो गयी थी। शक फिर प्रबल हो उठे थे, सीमाप्रात, अफगानिस्तान, मालवा और पश्चिमी भारत मे उनका अब भी दबदबा था, और जैसा मेहरौली (दिल्ली) के लौहस्तम्भ के चन्द्रलेख से विदित है, शत्रुओ ने सघ बनाकर बगाल में विद्रोह कर दिया था। चन्द्रगुप्त शको और अन्य शत्रुओ की विजय करने को शीघ्र कटिबद्ध हुआ।

[1] विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, उपाध्याय : प्रा. भा. इ., पृ. २४३–४४। [2] वही।
[3] वही।

शकों का पराभव

मालवा और पश्चिमी भारत के शकों से निपटने के लिए पहले यह आवश्यक था कि उनके और अपने बीच बसने वाले वाकाटको को मित्र बना लिया जाय क्योंकि पश्चिम की राह उन्ही के राज्य से होकर गयी थी। इससे चन्द्रगुप्त ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक नरेश पृथ्वीसेन प्रथम के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय से कर वाकाटको को मित्र बना, उनकी राह मालवा पहुंच शकों का घोर पराभव किया। इसके स्मारक में उसके सन्धि और युद्ध के मत्री शाब वीरसेन ने भेलसा के पास उदयगिरि मे अभिलेख लिखवाया कि सारे जगत की विजय की इच्छा करनेवाले राजा ने उधर यात्रा की थी।[1] मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र का शक क्षत्रप तब रुद्रसिंह तृतीय था जिसके सिक्को की नकल पर ही वहा चलाने के लिए चन्द्रगुप्त ने सिक्के ढलवाये। इस प्रकार ३९५ और ४०० ई. के बीच कभी इस विजय के परिणामस्वरूप मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र भी अब गुप्त साम्राज्य के अग बन गये।

बंगाल, शक-मुरुडो आदि की विजय

मेहरौली के लौहस्तम्भ से प्रकट है कि वहां शत्रुओ ने सघ बनाकर विद्रोह का झडा खडा किया था। कुछ अजब नही जो मालवा-गुजरात-सौराष्ट्र के मारे-बिखरे शको ने साम्राज्य के अन्य शत्रुओ से एका कर वह विद्रोह किया हो। चन्द्रगुप्त मध्य प्रदेश से शीघ्र बगाल पहुचा और उनकी शक्ति तोड बिजली की तेजी से पजाब की ओर बढा, क्योकि सीमाप्रात के शुक-मुरुडो—शाहिशाहानुशाहियो ने, जो समुद्रगुप्त का आतंक मान उत्तर-पश्चिम मे परे सरक गये थे, अब फिर सिर उठाया था। लौहस्तभ का उल्लेख है कि चन्द्र ने वग मे सघ बनाकर आये शत्रुओ का विनाश कर तलवार से कीर्ति लिखी। फिर सिन्ध की सातों धाराओं (पजाब की नदियो) को लाघ वाह्लीको को जीता। उसके इस पराक्रम के पवन से समुद्र आज भी सुवासित है।[2] इससे तो लगता है कि चन्द्रगुप्त ने पश्चिम की राह भारत से बाहर जा आमू दरिया की घाटी के (वह्लीक के) विदेशियों को भी परास्त किया।[3] कालिदास के समकालीन काव्य 'रघुवश' मे भी रघु की दिग्विजय के वर्णन मे पारसीको को जीतने के बाद वक्षुतीर (आमू दरिया) के वाह्लीको को जीतने का उल्लेख हुआ है। लौहस्तभ के अभिलेख और कालिदास के काव्य[4] का यह प्रसग एक ही दिशा की ओर सकेत करता है कि गुप्तराज ने पजाब और सीमाप्रात जीत, फारस की राह जा बलख-बदख्शा

[1] सी. आई. आई. ३, पृ. ३५, ३६। [2] वही, नं. ३२, पृ. १४१, श्लोक १। [3] वही। [4] रघुवंश, सर्ग ४।

तक अपना पराक्रम प्रदर्शित किया।[1] इसमे ऐतिहासिक सचाई चाहे जितनी हो, इसमें सन्देह नही कि पजाब, मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र भी बगाल के साथ गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत चिरकालिक रूप से समा गये। कुछ काल के लिए गुप्त साम्राज्य निष्कटक हो गया।

शको के दमन का परिणाम और चन्द्रगुप्त के विरुद

शको का पराभव नि सदेह महत्त्व की घटना थी क्योकि सदियों भारत पर शासन करते रहने के कारण देश की भूमि मे उनकी जड़े लग गयी थी जिनको उखाड़ फेंकना कुछ आसान न था। तत्कालीन राजनीति मे वह घटना बडे महत्त्व की मानी गयी। उदयगिरि वाले शाब वीरसेन के अभिलेख मे, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, वराहावतार का एक चित्र खुदा है जिसमे वराह-विष्णु धरा को असुर से रक्षा कर रहे है। यह नि सदेह चन्द्रगुप्त द्वारा शको से भारत वसुन्धरा और गुप्त-कुललक्ष्मी ध्रुवदेवी की रक्षा का प्रतीक है, इस विजय से गुप्त सम्राट् का 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' के विरुद धारण करना स्वाभाविक था। 'विक्रमादित्य' का विरुद भारतीय इतिहास और सस्कृति मे विशेष अर्थ रखता है। इसे मालव विक्रमादित्य से हेमू तक के, विदेशियो से भारत की रक्षा का बीडा उठानेवाले सभी देशभक्तो ने धारण किया है। इन दो विरुदो के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त के उसके अन्य भी विरुद अभिलेखो मे मिलते हैं, जैसे 'विक्रमाक', 'नरेन्द्रचन्द्र', 'सिहविक्रम', 'सिहचन्द्र' आदि। परम वैष्णव होने के नाते वह 'परम भागवत' तो कहलाता ही था।

विजयो का परिणाम

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की विजयो का देश पर दूरगामी प्रभाव पडा। एक तो गुप्त साम्राज्य के शत्रुओ से उसकी मुक्ति हो गयी। समुद्रगुप्त की विजय से जो शकादि शत्रु खिन्न अवसर की ताक मे बैठे थे उनका उन्मूलन कर चन्द्रगुप्त ने देश मे चिर-कालिक शान्ति स्थापित कर दी, जो हूण-आक्रमणो के पहले कभी विशेष भग नही हुई। दूसरे, मालवा, गुजरात आदि की विजय से सामुद्रिक व्यापार की राह खुल गयी, देश मे धारासार धन बरसने लगा। चिरकाल से विदेशो से सामुद्रिक व्यापार भारत के पश्चिमी तट की राह होता आया था जिसके स्वामी अब तक शक रहे थे, उनका बल टूट जाने और उस प्रदेश पर गुप्तों का अधिकार हो जाने से उस दिशा के व्यापार का लाभ गुप्तों को होने लगा। मालवा अन्न का खलिहान होने के अतिरिक्त उसकी प्राचीन नगरी उज्जयिनी सदा

[1] विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, उपाध्याय : प्रा. भा. इ. पृ. २४८-५२।

से उस पश्चिमी समुद्रतट से उत्तर भारत और पश्चिमी एशिया को जानेवाले स्थलमार्ग का केन्द्र और व्यापारिक वस्तुओं की मडी रही थी, अब वह गुप्त सम्राट् की दूसरी राजधानी थी। इस देशव्यापी शाति और धन-धान्य की वृद्धि से सास्कृतिक आयोजन होने लगे। काव्य, शास्त्र की रचना, कलाओ की साधना, विज्ञानो की खोज, सब इसी शाति और समृद्धि के परिणाम थे जो समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त की विजयो से ही सभव हो सके।

फाह्यान

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल की एक विशिष्ट घटना चीनी यात्री फाह्यान का भारतभ्रमण है। यह यात्री भारत मे प्राय १४ वर्ष तक फिरता, बौद्ध आचार्यों से मिलता और बौद्ध कृतियों का सग्रह तथा अध्ययन करता रहा था। उसके इस दीर्घकालिक भ्रमण मे एक बार भी ऐसी घटना नही घटी जिससे सडको की सुरक्षा के अभाव का सकेत मिले। यह भी गुप्तो के देश के 'गोप्ता' (रक्षक) होने की सार्थकता पर्याप्त रूप से प्रकट करता है। फाह्यान ने अपने भ्रमण की अवधि में देश की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति पर काफी विवरण लिखे जिन पर विचार यहा न कर सामाजिक आदि प्रसगो मे करेंगे।

कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य (४१४-५५)

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र कुमारगुप्त 'महेन्द्रादित्य' अथवा 'शक्रादित्य' का विरुद धारण कर पिता की गद्दी पर बैठा। कुमारगुप्त का शासनकाल वास्तव मे समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजयो के परिणाम की परिणति का युग है। गुप्तकालीन सस्कृति मे स्वर्णयुगीन उपलब्धियो की बात जो कही जाती है वह अधिकतर विक्रमादित्य के अतिम दिनो और महेन्द्रादित्य के शासनकाल मे ही सपन्न हुई। समुद्रगुप्त का शासनकाल प्रताप का, चन्द्रगुप्त का यश और समृद्धि का और कुमारगुप्त का परिणति का (और आशिक ह्रास का भी) था। कुमारगुप्त के शासन मे कला आदि की सर्वांगीण उन्नति पराकाष्ठा को पहुंच गयी। गुप्त शक्ति और प्रताप का सूर्य आकाश की चोटी पर था, अब वह केवल पश्चिमी क्षिजित की ओर ही उतर सकता था।

साम्राज्य की सीमा, अश्वमेध

कुमारगुप्त का साम्राज्य हिमालय से नर्मदा तक उत्तर से दक्षिण और बगाल से सौराष्ट्र (काठियावाड) तक पूरब से पश्चिम फैला हुआ था। उसके सबंधी और सामन्त साम्राज्य के अनेक प्रान्तो पर शासन करते थे। बन्धुवर्मा दशपुर (पश्चिमी मालवा)

का माडलिक नृपति था। घटोत्कचगुप्त एरिकिण (सागर जिले) का शासक था, सम्राट् का अनुज गोविन्दगुप्त तीरभुक्ति (तिरहुत, उत्तर बिहार) का वैशाली मे शासक था। यह तो पितामह और पिता की विजयो से उपलब्ध साम्राज्य था जिसे, जैसा उसके सिक्कों की विविधता और बहुलता तथा अभिलेखो के वितरण से प्रमाणित है, उसने आमरण अक्षुण्ण रखा। उसके जीवन की सन्ध्या मे साम्राज्य पर जो कुछ चोटें पडी भी उन्हे उसके सुयोग्य पुत्र स्कन्दगुप्त ने स्वय झेलकर व्यर्थ कर दिया। इसके अतिरिक्त भी निश्चय कुमारगुप्त ने कुछ प्रदेश विजय किये होगे, क्योकि उसने अश्वमेध यज्ञ किया था और अश्वमेध का विजयो से नित्य सबध है। उसके एक प्रकार के सोने के सिक्के इस अश्वमेध के स्मारक स्वरूप ही ढाले गये थे।

पुष्यमित्रों के साथ युद्ध

कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य के जीवनकाल की एक महत्त्वपूर्ण घटना नर्मदा तीर के पुष्यमित्रो का साम्राज्य पर आक्रमण था। पुष्यमित्रों का सभवत कोई गणराज्य था जिसने अपनी सेना और धनकोष पर्याप्त मात्रा मे बढा लिया था[१] और कुमारगुप्त की वृद्धावस्था मे उन्होने अपनी शक्ति को प्रबल मान गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। स्कन्दगुप्त ने इस युद्ध का सकटकाल बडी साधना से झेला। साधारण सैनिको की तरह रूखी भूमि पर सोकर उसने अपनी रातें बितायी[२] और इस प्रकार उस युद्ध को जीत और पुष्यमित्रो से गुप्त साम्राज्य की रक्षा कर विचलित कुललक्ष्मी की फिर से प्रतिष्ठा की।[3] यह विजय सपन्न होते-होते सभवत कुमारगुप्त की मृत्यु हो गयी थी[४] क्योकि इसका समाचार स्कन्दगुप्त ने पिता के मरने पर अपनी माता को वैसे ही सुनाया था जैसे कृष्ण ने शत्रुओ का नाश कर उसकी सूचना अपनी माता देवकी को दी थी।[५] प्राय ४० वर्षों के लम्बे शासन के बाद कुमारगुप्त की मृत्यु संभवत ४५५ ई मे हुई।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५-६७)

स्कन्दगुप्त सभवत ४५५ ई मे ही पिता की गद्दी पर बैठा। पुष्यमित्रो का दलन उसने पहले ही कर लिया था, इससे आरम्भकाल मे उसे किसी शत्रु की आशका नही हुई। गुप्त साम्राज्य की सीमाएँ पूर्ववत् बनी थी। अब भी बगाल और सौराष्ट्र के छोरो पर

[१]'समुदित बलकोषान्पुष्यमित्रान्'—सी. आई. आई. ३, पृ. ५४, ५५। [२]'क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा', वही। [3]'विचलितकुललक्ष्मी—स्तंभनायोद्यतेन, क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः', वही। [४]'पितरि दिवमुपेते', वही। [५]वही, आगे।

सम्राट् के गोप्ता (प्रान्तीय राज्यपाल) शासन करते थे, अब भी सम्राट् (स्कन्दगुप्त) सैकड़ो राजाओं का अधिराट् (क्षितिपशतपति) था।[1] उसके सिक्को और अभिलेखो के प्रसार से प्रकट है कि कठिनाइयो के बावजूद उसने पूर्वजो के साम्राज्य को पूर्ववत् खडा रखा। उसके जूनागढ़ वाले लेख से प्रमाणित है कि किस प्रकार उसने पश्चिमी सीमा के सौराष्ट्र प्रान्त का 'गोप्ता' (शासक) नियत करने के लिए विविध सभावित शासको का गुण-दोष-विवेचन करते दिन-रात एक कर दिये थे। मालवा का सामत राज्य अब भी उसके माडलिक राजकुल के अधिकार में था और अब भी उज्जयिनी साम्राज्य की दूसरी राजधानी की भाति मानी जाती थी।

हूणों का आक्रमण

फिर भी साम्राज्य की चूले ढीली पड गयी थी। कुमारगुप्त के विलासी जीवन ने सीमा के शत्रुओ को सजग कर दिया और वे सजग हो उठे। यद्यपि स्कन्दगुप्त ने अपने पराक्रम और अध्यवसाय से उनका सामना किया, अनेक बार उनको परास्त भी किया पर पतनाभिमुख साम्राज्य अब सभल न सका। पुष्यमित्रो की विजय के बाद ही स्कन्दगुप्त को हूणो के उस प्रबल झझावात का सामना करना पड़ा था जिन्होंने अनेक साम्राज्यों की रीढ़ तोड दी थी। हूणो के अन्य कबीले अनन्त धाराओ मे मध्य एशिया–वाख्त्री (आमू दरिया की घाटी) से भारत की ओर बढ़े। सामने १४,००० फुट ऊँची हिमालय की बर्फीली दीवार खडी थी, उसे वे अविलम्ब लाघ गये। इस काल उनका आधार पामीर मे वक्षु नद का कांठा रहा था जहा से टिड्डीदल की भाति उठ-उठ वे भारत की उत्तरी सीमा पर गिरने लगे। पर उनके घोडों की बागडोर स्कन्दगुप्त के रिसालो से टकराकर रुक गयी। यशस्वी तपोनिष्ठ स्कन्दगुप्त की 'भुजाओ के हूणो से टकरा जाने से भयकर आवर्त बन गया, धरा काप उठी'।[2] वह झझावात एक बार तो रुका पर उसके निरन्तर गिरते आते वेगवान् थपेटे स्कन्दगुप्त के रोके भी नही रुक सके, हूणो की अनवरत धाराओ ने साम्राज्य की जडों में पैठ उसे ढीला कर दिया और साम्राज्य की वह विशाल अट्टालिका गिरकर अपनी ही विशालता के खडहरो मे खो गयी। स्कन्दगुप्त स्वय सभवत. इन्ही आक्रमणो मे से किसी एक मे लडता हुआ मारा गया।

पुरगुप्त प्रकाशादित्य

स्कन्दगुप्त के बाद उसका सौतेला भाई पुरगुप्त 'प्रकाशादित्य' और 'विक्रम' का

[1] काहौम–अभिलेख, सी, आई. आई. १५, पृ. ६५, ६८। [2] 'हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता भीमावर्तकरस्य–', सी. आई. आई. ३, पृ. ५४, ५५।

विरुद धारण कर गुप्त-सिंहासन पर बैठा। उसके सिक्कों पर ये दोनों ही विरुद खुदे मिलते हैं। वह ४६७ ई. मे राज्यारूढ हुआ पर कब तक उसने राज्य किया इसका पता नही चलता। स्कन्दगुप्त ने संभवत विवाह नही किया था जिससे उसके कोई सन्तान न होने से पुरगुप्त के कुल मे ही गुप्त साम्राज्य का उत्तराधिकार चला गया। सैदपुर भीतरी मे जहां स्कन्दगुप्त का स्तभ खडा था वही एक मुहर मिली है जिसमे पुरगुप्त के उत्तराधिकारियों के नाम दिये हुए है--नरसिहगुप्त, कुमारगुप्त (द्वितीय)। इनके अतिरिक्त बुधगुप्त, भानु-गुप्त, विष्णुगुप्त, वैंण्यगुप्त ने भी राज किया।

नरसिंहगुप्त बालादित्य

पुरगुप्त का उसकी रानी वत्सदेवी से पुत्र नरसिंहगुप्त बालादित्य पिता की मृत्यु पर राजा हुआ। चीनी यात्री हुएन्त्साग ने लिखा है कि बालादित्य ने हूण मिहिरकुल को परास्त किया और नालन्द मे ३०० फुट ऊँचा एक दर्शनीय मदिर बनवाया, जो स्वर्णखचित था। पर वह बालादित्य नि सन्देह नरसिहगुप्त बालादित्य नही, कोई अन्य नृपति था। कारण कि नरसिंहगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय की एक जानी हुई तिथि ४७३ ई. है जिसके पूर्व ही उसके पिता की मृत्यु हो चुकी होगी, जिसमे वह इस तिथि से पर्याप्त आगे होनेवाले मिहिरकुल का समकालीन नही हो सकता।

कुमारगुप्त-द्वितीय

नरसिंहगुप्त बालादित्य का रानी महालक्ष्मी से उत्पन्न पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय पिता के मरने पर गुप्त-सिंहासन पर बैठा। सारनाथ मे मिले एक लेख से प्रकट है कि वह ४७३-७४ मे राज्य कर रहा था। मन्दसोर का वत्सभट्टी का रचा प्रसिद्ध काव्य-लेख इसी राजा के शासनकाल (४७२-७३) का है। रेशम के जुलाहो की एक श्रेणी ने दशपुर (मन्दसोर) के सूर्यमदिर का जीर्णोद्धार कराया था। मूल मदिर कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल (४३६-३७) मे बना था।[1]

बुधगुप्त

भीतरी मे मिली मुहर के तीनो राजाओ का शासनकाल स्वल्प था, कुल ८ वर्ष। कुमारगुप्त द्वितीय के बाद गुप्तवंश का राजा बुधगुप्त हुआ। सारनाथ के एक लेख से पता चलता है कि बुधगुप्त ४७६-७७ ई. मे राज्य कर रहा था। उसका कुमारगुप्त द्वितीय से

[1]मन्दसोर का प्रस्तर लेख, सी. आई. आई., न. १८, पृ. ७९-८८।

क्या संबन्ध था यह कह सकना कठिन है। हुएन्त्सांग उसे शक्रादित्य (कुमारगुप्त के दादा पुर-गुप्त के पिता) का पुत्र बताता है। शक्रादित्य (महेन्द्रादित्य) कुमारगुप्त प्रथम का विरुद था जिससे सभव हो सकता है कि चीनी यात्री ने वह विरुद कुमारगुप्त द्वितीय के साथ नामों की समानता के कारण जोड दिया हो, और बुधगुप्त कुमारगुप्त द्वितीय का पुत्र रहा हो। बुध-गप्त के प्रातो के शासनादेश और अभिलेखो के प्राप्तिस्थानो से प्रकट होता है कि हूणो के आक्रमणों के बावजूद गुप्त साम्राज्य अभी बना हुआ था और अपने दूरवर्ती प्रांतो पर भी वे शासन कर रहे थे। स्वय बुधगुप्त के शासनकाल मे बगाल मे उसका गोप्ता पहले ब्रह्म-दत्त, पीछे जयदत्त हुआ, पूर्वी मालवा का शासक उसका माडलिक नृपति महाराज मातृ-विष्णु था और कालिन्दी (यमुना) तथा नर्मदा के बीच की भूमि पर उसके अन्य सामन्त महाराज सुरश्मिचन्द्र का आधिपत्य था। बुधगुप्त के अभिलेख (पूर्वी पाकिस्तान के) दीनाजपुर जिले के दामोदरपुर, उत्तर प्रदेश के सारनाथ और मध्य प्रदेश के सागर जिले के एरण नामक स्थानो से मिले हैं, जिससे बगाल, मालवा, मध्य प्रदेश आदि पर उसका शासन होना निश्चित है, पाटलिपुत्र उसकी राजधानी थी। पर गुजरात और सौराष्ट्र के सबध में नही कहा जा सकता कि अब भी वे गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत थे या उससे निकल गये थे।

भानुगुप्त

भानुगुप्त ही सभवत बुधगुप्त के बाद गुप्तो मे राजा हुआ। भानुगुप्त और बुध-गुप्त का परस्पर क्या सबध था यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। इस नृपति के शासन काल मे जो विशेषघटना घटी वह थी मालवा का गुप्तो के साम्राज्य से निकल जाना। उस पर हूणो का अधिकार हो गया था, यह इससे प्रमाणित है कि जहा मातृविष्णु बुधगुप्त का सामत शासक था, उसका छोटा भाई धन्यविष्णु हूणराज तोरमाण का माड-लिक था। ५१० ई. के एरण-लेख से विदित होता है कि 'अर्जुन के समान पराक्रमी श्री भानु-गुप्त के साथ उसका सेनापति गोपराज एरण आया और शत्रु से लडकर उसने वीरगति लाभ की।'[1] यह प्रसिद्ध युद्ध जिसमे गोपराज मारा गया था, प्रमाणत हूणो के विरुद्ध लडा गया था। इससे प्रकट है कि मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र आदि से गुप्तो का अधिकार पहले-पहल भानुगुप्त के शासनकाल मे उठा और वहा के स्वामी, कम से कम कुछ काल तक के लिए हूण हो गये। बुधगुप्त के सिक्को से विदित होता है कि ४९४–९५ ई उसके जीवन का अन्तिम वर्ष रहा था। इस अटकल से भानुगुप्त का शासनकाल ल ४९५ ई. मे ५१० ई तक रहा होगा।

[1]सी. आई. आई., ३, न. २०, पृ. ९१–९३।

भानुगुप्त के बाद निश्चय गुप्त साम्राज्य के दूरवर्ती प्रान्त बिखर गये। कुछ सिक्कों मे एकाध और नाम मिलते है, जैसे विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य और वैण्यगुप्त द्वादशादित्य। इनमे से पहले का नाम नालन्दा की एक मुहर पर अंकित मिला है जिसमें वह 'कुमार' का पुत्र कहा गया है, संभव है यह कुमार कुमारगुप्त द्वितीय हो। इन राजाओ का शासन बगाल, बिहार और समवत उत्तर प्रदेश के कुछ पूर्वी भागो तक सीमित था। बाद मे अवश्य एक गुप्तकुल मगध और मालवा में उठ खडा हुआ। सम्राटों वाले मूल गुप्तकुल से भिन्न करने के लिए इस मागध-मालव कुल को उत्तर गुप्तकुल कहते है।

४. उत्तर गुप्तकुल

पहले मगध फिर मालवा मे जिस उत्तर गुप्तकुल का आधिपत्य हुआ वह छठी सदी के अन्त तक शासन करता रहा। सभवत वे मगध के गुप्त सम्राटो के ही वशज थे, यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। इस कुल के दो राजाओ, आदित्यसेन और जीवितगुप्त के लेख गया जिले के अफसाड और शाहाबाद जिले के देव-बरणार्क नामक स्थानो से मिले हैं।

कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त, जीवितगुप्त प्रथम

इस वश का प्रतिष्ठाता कृष्णगुप्त था। हर्षगुप्त और जीवितगुप्त प्रथम उसके उत्तराधिकारी थे। सभवत गुप्त सम्राटो के अन्तिम दिनो मे ही इस राजकुल की प्रतिष्ठा हो गयी थी। इसमे और कन्नौज के मौखरि राजवश मे मरणान्तक सघर्ष चला। इन्होंने मौखरियो का उन्मूलन किया और मौखरियो के सबधी थानेश्वर के वर्धनो ने स्वय इनका। इस वश के कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त और जीवितगुप्त प्रथम ने सभवत ५१० ई. और ५५४ ई. के बीच राज किया। अर्थात् इन तीनो का शासनकाल गुप्तसम्राट् भानुगुप्त की मृत्यु और कुमारगुप्त तृतीय के राज्यारभ के बीच कभी होना चाहिए।

कुमारगुप्त तृतीय, दामोदरगुप्त

इनके बाद मगध के सिहासन पर कुमारगुप्त तृतीय बैठा जिसने अपने समकालीन मौखरि नृपति ईशानवर्मा को परास्त कर उसके राज्य का कुछ भाग स्वायत्त कर लिया। मरने पर इस गुप्तराज की अन्त्येष्टि प्रयाग मे हुई जो मौखरियो के अधिकार मे था। उसका उत्तराधिकारी दामोदरगुप्त मौखरियो से हारकर युद्ध मे मारा गया। मौखरिराज ने मगध का एक बडा भाग अपने राज्य मे मिला लिया। फिर तो गुप्तो ने मगध छोड़ मालवा की शरण ली।

महासेनगुप्त, देवगुप्त

महासेनगुप्त (दामोदर गुप्त के पुत्र) ने मालवा में अपने नये गुप्त राजकुल की नीव डाली और शीघ्र ही प्रसार की नीति अपनायी। उसने कामरूप (आसाम) तक युद्धयात्रा की और वहा के राजा सुस्थितवर्मा के विरुद्ध लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) तक बढ़ता चला गया था। देवगुप्त उसका पुत्र था। पुत्र ने पिता की प्रसार नीति जारी रखी और कन्नौज पर आक्रमण कर मौखरिराज ग्रहवर्मा को मार डाला। स्वयं उसका और मालव राजकुल का अन्त थानेश्वर के राज्यवर्धन के हाथो हुआ।

५. मालवा के हूण और यशोवर्मा

तोरमाण

४५५ ई. मे गुप्त साम्राज्य पर प्रलयकर चोट करने के लगभग ३० वर्ष बाद हूणों के हमले फिर भारत पर हुए। ४८४–८५ के हमलो का हूण नेता तोरमाण था। उसने पश्चिमी भारत से गुप्त साम्राज्य का शासन उठा दिया। मध्य प्रदेश के अनेक भाग उसके राज्य मे समा गये। मालवा के नरेश धन्यविष्णु ने जो वराहमूर्ति की प्रतिष्ठा की, उसके अभिलेख मे अपने को तोरमाण का मांडलिक घोषित किया। ५१० ई मे तोरमाण के साथ ही युद्ध मे गुप्त सम्राट् भानुगुप्त का सेनापति गोपराज मारा गया।

मिहिरगुल

तोरमाण के बाद उसका पुत्र मिहिरगुल पिता की गद्दी पर बैठा। वह अपने पिता से भी अधिक क्रूर था। उमकी क्रूरता का वर्णन हुएन्त्साग और कल्हण दोनो ने किया है। चीनी यात्री लिखता है कि मिहिरगुल बौद्धो का वध कराता और उनके विहारो को जलवा देता था। कल्हण लिखता है कि उसे हाथियो का वध कराने का व्यसन था। हाथी पहाड की चोटी पर चढाकर नीचे गिरा दिये जाते थे। गिरते हाथियो की कातर चिग्घाड उसे बडी प्रिय लगती थी। यात्री का वक्तव्य है कि उसने मगध के राजा बालादित्य पर आक्रमण किया पर हराकर वह बन्दी बना लिया गया। बालादित्य ने उस पर दया कर उसे मुक्त कर दिया। तब मिहिरगुल कश्मीर के दरबार मे पहुचा जहा कश्मीरी नृपति ने उसका बडा सत्कार किया, पर उस कृतघ्न हूण ने धूर्तता से उसे मारकर उसका राज हडप लिया। फिर भी वर्ष भर ही वह राज कर सका क्योंकि शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी। किस बालादित्य ने मिहिरगुल को परास्त किया, यह कह

सकना कठिन है, सिवा इसके कि तिथियो की पारस्परिक असभावना से उसका विजेता मगध का नरसिंह बालादित्य नही हो सकता ।

यशोधर्मा

मालवा के राजा यशोधर्मा के मन्दसोर के प्रसिद्ध स्तभलेख में भी मिहिरगुल का उल्लेख हुआ है। उसमे लिखा है कि उसने फूल चढ़ाकर जनेन्द्र यशोधर्मा के चरण पूजे। प्रमाणित है कि बालादित्य के अतिरिक्त यशोधर्मा ने भी मिहिरगुल को परास्त किया हो। यह यशोधर्मा किस कुल का नृपति था, यह कहना तो कठिन है पर इसमे सन्देह नही कि उसने मध्य भारत के अनेक भागो पर गुप्त सम्राटो के बाद एकच्छत्र शासन स्थापित कर लिया था। उसका विरुद भी 'विक्रमादित्य' था। अपने उस अभिलेख मे वह कहता है कि उसने उन देशो को भी जीता जो गुप्तो के शासन से परे थे और जिनमे हूण तक प्रवेश न पा सके थे। ब्रह्मपुत्र से उडीसा और हिमालय से पश्चिमी सागर के बीच के सभी राजा उसकी अभ्यर्थना करते थे। प्रमाणित है कि यह सम्राट् मालवा का था और इसके प्रताप और शासन का अधिकतर प्रसार हूणो की मालवा-भूमि पर ही हुआ था। उसकी प्रशस्ति अतिरजित होती हुई भी सिद्ध करती है कि उसने हूणो की शक्ति मालवा मे तोड दी। सभवत उनको मालवा मे निकाल बाहर करने के उपलक्ष्य में ही उसने चन्द्रगुप्त द्वितीय की भाति 'विक्रमादित्य' विरुद धारण किया। उसका एक और लेख ५३३–३४ ई का मन्दसोर मे मिला है।

६. उत्तर के अन्य राजवंश

गुप्त सम्राटो के वैभवकाल मे उत्तर भारत मे स्वतत्र राजकुलो का समुद्रगुप्त की विजयो के बाद प्राय अभाव था। कुछ उनमे से निश्चय ऐसे थे जो उनके पूर्व काल या उत्तर काल मे समकालीन थे। इनमे से भारशिव नागो और वाकाटको का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे राज्य थे जिनका शासनकाल गुप्तो के उत्तर काल के आसपास ही पडता है। इनमे से भी उत्तर-गुप्तो और मौखरियों का सक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है। यहा नेपाल, गुर्जरो और वलभी का उल्लेख कर देना युक्ति-युक्त होगा, क्योकि इनके प्राचीनतम राजकुल छठी सदी मे जाने हुए थे।

नेपाल

'वशावलियो' के अनुसार गोपालो, आभीरो और किरातो के बाद सूर्यवशी और चन्द्रवशी राजाओ ने, फिर लिच्छवियों ने नेपाल मे राज किया। सुपुष्प लिच्छवि के बाद

२३ अन्य राजाओ के, फिर जयदेव और ११ अन्य राजाओं के बाद वृषदेव का उल्लेख मिलता है। वृषदेव और उसके पुत्र शकरदेव के कार्यों के विवरण अभिलेखो मे भी मिलते हैं। धर्मदेव के पुत्र मानदेव ने ४६० और ५०५ ई के बीच नेपाल पर शासन किया और उसने पूरब मे अपने पिता के राज्य का विस्तार भी किया। वह बीसवां लिच्छवि राजा था, उसने मानगृह नाम का राजप्रासाद और मानविहार बनवाया। उसके पुत्र महीदेव के अल्पकालिक शासन के बाद वसन्तदेव ने २६ वर्ष (५३२ तक) राज किया। कुछ काल बाद आभीरो ने नेपाल को जीत लिया जिन्हें लिच्छवि शिवदेव ने नेपाल से बाहर निकाल कर छठी सदी के उत्तरार्ध या अन्त मे अपना शासन स्थापित किया।

गुर्जर

प्राचीन गुर्जरो का उल्लेख किया जा चुका है। छठी सदी के मध्य हरिचन्द्र ने उनका राज्य जोधपुर मे प्रतिष्ठित किया। हरिचन्द्र वेदों और शास्त्रो मे निष्णात ब्राह्मण कहा गया है। उसकी ब्राह्मण पत्नी से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण हुए और क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न पुत्रो ने प्रतीहार राजकुल की नीव डाली। समाज मे नये ब्राह्मण बनने और एक ही पिता से उत्पन्न पुत्रो मे कुछ के ब्राह्मण कुछ के क्षत्रिय होने का यह सुन्दर प्रमाण है। हरिचन्द्र की क्षत्रिय पत्नी भद्रा को ही 'देवी' होने का अधिकार मिला। उसके चार पुत्रो, भोगभट, कक्क, रज्जिल और दद्द ने गुप्त साम्राज्य और मिहिरगुल और यशोधर्मा के बाद माण्डव्यपुर (मण्डोर, जोधपुर से ५ मील उत्तर) जीतकर वहा दुर्ग बनाया। हरिचन्द्र के बाद माण्डव्यपुर मे उसके पुत्र रज्जिल और नरभट ने शासन किया। छठी सदी के बाद उनकी राजधानी मेडता (मेडन्तक) हुई।

वलभी

गुप्तो के मैत्रक परिवार के सेनापति भटार्क (जो पहले सौराष्ट्र का गोप्ता रहा था) के वशधर पाचवी सदी के अन्त मे गुप्त साम्राज्य के टूटते ही वलभी मे स्वतन्त्र और शक्तिमान् हो गये। सेनापति भटार्क और सेनापति धरसेन के बाद के नृपतियो ने महाराज और महासामन्त महाराज की उपाधि धारण की। वंश का तीसरा राजा द्रोणसेन, धरसेन का भ्राता, सभवत बुधगुप्त का सामन्त नृपति था। राज्य का आरम्भ सभवत ४६५ और ४७५ ई. के बीच कभी हुआ और उसकी सत्ता शीघ्र ही समूचे सौराष्ट्र पर छा गयी। द्रोणसेन के बाद ध्रुवसेन, फिर धरपट्ट ने वलभी मे राज किया। दूसरे राजा गुहसेन (ल. ५५०-५७० ई) ने गुप्तप्रभुता तज दी जिससे उसकी वशावली उसी के नाम से चलती है। उसके बाद उसके पुत्र धरसेन द्वितीय ने छठी सदी के प्राय अन्त तक राज किया।

७. दकन के गुप्तकालीन राज्य

गुप्त साम्राज्य के समकालीन और उत्तर कालीन समवर्ती कुछ राजकुलो ने दकन (दक्षिणी मध्य भारत) मे राज किया था। इनमे से प्रधान वाकाटको का सक्षिप्त विवरण पहले दिया जा चुका है, शेष नलों, भोजो, त्रैकूट के कलचुरियों, आन्ध्रों, गगो आदि का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

नल

नलों का उदय बरार अथवा वाकाटको के दक्षिणी प्रांतों मे हुआ। छठी सदी के पूर्वार्ध के नल-महाराज भवत्त-वर्मा का दानपत्र जाना हुआ है। भवत्त अथवा भवदत्त वर्मा का पुत्र स्कन्द वर्मा हुआ जिसने कुल की प्रतिष्ठा बढ़ायी और नलो की राजधानी पुष्करी (पोडागढ के इलाके मे) को फिर से बसाया। सभवत. उसने चालुक्यराज कीर्ति-वर्मा (५६७-९७ ई) के आक्रमण को व्यर्थ भी कर दिया। नलो का राज्य बस्तर के आस पास के प्रदेश पर फैला था और छठी सदी के आरम्भ मे वाकाटको के साम्राज्य के कुछ प्रात छीनकर बना था, जिसका अन्त कोशल के पाण्डुवशी राजाओ ने शीघ्र कर दिया।

भोज

यदुवशी हैहयो की एक शाखा भोज मथुरा से जाकर बरार मे बसी। कालि-दास ने इन्ही भोजों का उल्लेख रघुवश के छठे सर्ग मे किया है। यही भोज कालान्तर में अशोक और खारवेल के अभिलेखो मे भोजक कहलाये। इन्ही की एक शाखा कोंकण के गोआ प्रदेश मे जा बसी जो महाभोज कहलायी और जिसका सबध कुन्तल के चुटु-शातकर्णियो से था। उनकी राजधानी गोआ मे चन्द्रपुर (चन्दौर) थी। ताम्रपत्रो मे भोजो के राजा देवराज और चन्द्रवर्मा के नाम आये है जिन्होंने पाचवी सदी मे राज किया था।

त्रैकूटक

आभीरो के प्राचीन राज्य के प्रान्तो पर त्रैकूटक राजकुल का उदय हुआ जो सभवत आभीरो की ही कोई शाखा थी, जिसने आभीरो के सवत् का भी उपयोग किया। त्रैकूटको का उल्लेख कदम्बराज मयूरशर्मा के चौथी सदी के मध्य के चन्द्रवल्ली अभिलेख मे हुआ है। पाचवी सदी के उत्तरार्ध तक त्रैकूटको ने अपने राज्य की सीमाएँ उत्तरी महाराष्ट्र और गुजरात तक बढा ली थी। अभिलेखो मे पाचवी सदी

के तीन पिता-पुत्र त्रैकूटक राजाओं—इन्द्रदत्त, धरसेन और व्याघ्रसेन—का उल्लेख अभिलेखो मे हुआ है । इनमे से पहले ने कुल की प्रतिष्ठा स्थापित की, दूसरे ने अश्वमेध किया और तीसरे ने ४९३ ई मे कन्हेरी मे एक महाविहार चैत्य बनवाया ।

कलचुरी

कलचुरियो की शक्ति छठी सदी के उत्तरार्ध में बढी जब उन्होने महाराष्ट्र, गुजरात और मालवा पर अधिकार कर लिया। राजकुल के गौरव के प्रतिष्ठाता कृष्ण-राज के पुत्र शकरगण ने उज्जयिनी जीत ली और इस प्रकार अपने राज्य की सीमाएँ नासिक से पूर्वी मालवा तक बढ़ा ली। उसकी प्रशस्ति समुद्रगुप्त की प्रशस्ति की अनेक रूप से नकल करती है। चालुक्यो ने कलचुरियो का अन्त किया।

आध्र आनन्द

प्राय इसी काल (चौथी-पांचवी) सदी मे आनन्द राजकुल ने पल्लवो के अधिकार से आध्र प्रदेश को मुक्त कर दिया। आनन्द राजाओ की राजधानी कन्हरपुर को उनके राजा कन्हर (स कृष्ण) ने बसाया। दामोदरवर्मा और अत्तिवर्मा ने फिर राज किया और शैव मदिर बनवाये। आनन्द कुल शिव का उपासक था जो पल्लवो के साथ सघर्ष करता समाप्त हो गया।

विष्णुकुण्डिन

कृष्णा और गोदावरी के काठे मे शालंकायनो के बाद विष्णुकुण्डी राजकुल की प्रतिष्ठा हुई। राजकुल का प्रतिष्ठाता विक्रमेन्द्र (ल. ५०० ई.) था, पर राजवश के गौरव की स्थापना गोविन्दविक्रम जनाश्रय के पुत्र माधव वर्मा प्रथम जनाश्रय (५३५–८५ ई) ने की। सभवत माधव वर्मा ने गोदावरी लाघ उत्तर की ओर आक्रमण किया और मौखरिराज ईशानवर्मा द्वारा ५५३ ई मे वह परास्त हुआ। इस राजा का यश साहित्य मे भी प्रकट हुआ और अनेक पडितो को इसकी सरक्षा मिली। दक्षिण की पडित-परम्परा मे इसका उल्लेख बार बार हुआ है।

कलिंग मे दक्षिण की ओर कोट्टूर, एरडपल्ल, पिष्टपुर और देवराष्ट्र का वल समुद्रगुप्त द्वारा टूट जाने के बाद छठी सदी के आरभ मे माठरो और वासिष्ठो के नाम मात्र सुने जाते है, यहा पर वहा के पूर्वी गगो और दक्षिण कोशल के शरभपुरियो और पाण्डुवशियो का उल्लेख किया जा सकता है।

पूर्वी गंग

पूर्वी गंग मैसूर से आये थे और उनकी राजधानी कलिंगनगर (गजाम जिले में मुखलिंगम्) थी। वे शैव थे और उनके राजकुल का प्रतिष्ठाता इन्द्रवर्मा पाचवी सदी के अन्त मे हुआ। सभवत इन्द्रवर्मा ने ४९६ से ५३५ ई. तक राज किया। उसके बाद हस्तिवर्मा और इन्द्रवर्मा द्वितीय सिंहासनारूढ हुए जब छठी सदी का प्रायः अन्त हो गया।

शरभपुरीय, पाण्डुवंशीय

गुप्त सम्राट् भानुगुप्त के सामन्त सेनापति गोपराज के मामा (ल. ५१० ई.) शरभराज ने शरभपुर का निर्माण कर अपने शरभपुरीय राजकुल की नीव मध्य प्रदेश के रायपुर जिले मे डाली। उसने और उसके पुत्र महाराज नरेन्द्र ने पाचवी सदी के अन्त मे राज किया। छठी सदी के राजाओ मे प्रसन्नमात्र, जयराज, मानमात्र, दुर्गराज, सुदेवराज और प्रवरराज हुए। प्रवरराज के समय छठी सदी के मध्य के लगभग पाडुवशियो ने शरभपुरीयो का अन्त कर दिया। पाण्डुवशीयो के प्रारभिक राजाओ मे प्रधान उदयन पाचवी सदी के अन्त मे हुआ। उसका पुत्र इन्द्रबल था, इन्द्रबल का नन्न और नन्न का पुत्र तीवर था जिसने शरभपुरीयो का अन्त कर उनके राज्य पर अपनी प्रभुसत्ता प्रतिष्ठित की।

बादामी के चालुक्य

छठी सदी के मध्य मे गुप्तो के पतन के बाद ही दकन मे बादामी (बीजापुर जिले) के चालुक्यो का उदय हुआ, जिनकी कई शाखाओं ने कई स्थानो पर राज किया। ये अपने को क्षत्रिय कहते थे। कुछ विद्वानो ने इन्हे कन्नड, कुछ ने गुर्जर, कुछ ने उत्तरापथ के चूलिक माना है। इस वश के पहले राजा पिता-पुत्र जयसिंह और रणराग थे जो छठी सदी के पूर्वार्ध मे हुए। वश का प्रसिद्ध नृपति रणराज का पुत्र पुलकेशी प्रथम (ल ५३५-६६) हुआ जिसने अश्वमेध का अनुष्ठान किया। इससे प्रकट है कि उसने पडोसियो की विजय की। उसके पुत्र कीर्तिवर्मा (५६६-६८ ई) ने भी कुल के प्रताप का विस्तार किया, वातापी (बादामी) मे विष्णु के मदिर बनवाये और राजधानी के पास वैष्णव गुहामदिर खुदवाया।

८ दक्षिण के राज्य

पल्लव

दक्षिण के राज्यो मे प्रधान पल्लव, पाड्य, चोल, कदंब आदि थे। पल्लवों ने प्राकृत

और सस्कृत दोनों भाषाओ मे शासनादेश घोषित किये जिनसे उनके शासन पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। उनका आरभ गुप्तो से पूर्व ही हो गया था और उनका राजकुल उनके बाद तक दक्षिण मे प्रबल बना रहा। उनकी प्राकृत घोषणाओं का काल २५० ई.–३५० ई. अनुमान किया गया है। उनके सस्कृत ताम्रपत्र ३५०–६०० ई के हैं। हम यहाँ केवल तीसरी-चौथी सदी से छठी सदी के अन्त तक के काल का संक्षिप्त विवरण देगे।

प्रारभिक पल्लव राजाओ मे सबसे महान् शिवस्कन्द वर्मा था जो चौथी सदी के आरम्भ मे काची की पल्लव गद्दी पर बैठा। उसके बाद ३५०–७५ ई. में विष्णुगोप ने शासन किया। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति मे दक्षिणापथ के परास्त राजाओ मे इसका नाम भी गिनाया गया है। इसी के समय से पल्लव राजाओ की घोषणाए सस्कृत मे जारी होने लगती है। यह क्या उत्तर का प्रभाव था ? इन घोषणाओ से ३५० और ५७५ ई. के बीच सोलह राजाओ के राज करने का पता चलता है। इनमे वीरकूर्च, स्कन्दशिष्य, सिंहवर्मा प्रथम, कुमारविष्णु, सिंहवर्मा द्वितीय और सिंहविष्णु उल्लेखनीय है। सिंह-वर्मा के समय संभवत चोलो ने काची पर अधिकार कर लिया था। उसके भाई कुमार विष्णु ने फिर से उस पर अधिकार किया। सिंहवर्मा प्रथम और द्वितीय के बीच के काल पर सामग्री उपलब्ध नही। इस बीच कलभ्रो ने आक्रमण कर तमिल देश पर अधिकार कर लिया था। सिंहवर्मा द्वितीय के पुत्र सिंहविष्णु अवनिसिंह (छठी सदी के अन्तिम चरण मे) ने पल्लवो के उस उत्कर्ष का आरभ किया जिसकी परिणति साम्राज्य मे हुई।

कलभ्र

उरैयुर के चोलो का इतिहास चौथी सदी से नवी सदी तक अन्धकार मे है। कलभ्रों के आक्रमण और तमिल देश पर उनके अधिकार ने चोलो को कुछ काल के लिए ग्रस लिया था। पीछे के चोल गुप्तो के बाद सम्राट् हुए जो हमारे अध्ययन के बाहर हैं। इससे यहा अब हम कलभ्रो और पाण्ड्यो का उल्लेख करेगे। कलभ्र सभवत तिरुपति के कडवर थे जिन्होंने सातवाहनों के पतन और पल्लवो के उदय के समय शक्ति अर्जित की और अपने आधार से विचलित हुए और उन्होने पल्लव, चोल और पाण्ड्य तीनो को अपनी चोट से जर्जर कर दिया। अच्युतविक्रात ने चोलो को कुछ काल के लिए उखाड दिया। उनके लिए ब्राह्मणो-त्तर संपत्ति भी अहार्य न थी। अन्त में उनकी शक्ति कडुगोण पाण्ड्य और सिंहविष्णु पल्लव ने तोड़ दी।

पाण्ड्यो का उल्लेख कालिदास ने भी अपने रघुवश में किया है कि उनके प्रताप से दक्षिण जाते सूर्य तक का प्रताप क्षीण हो जाता है। इस काल का उनका इतिहास सिवा

इसके विशेष महत्त्वपूर्ण नही कि छठी सदी के अन्त मे (ल. ५६०–६२०) राज करने वाले कडुगोण पाड्य ने कलभ्रों का पराभव कर उनका बल तोड दिया।

पश्चिमी गंग

पूर्वी गगो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। जिस प्रधान गंग कुल से पूर्वी गंगों (कलिंगनगर) का उदय हुआ था वे मैसूर (कोलार) के पश्चिमी गगों की ही एक शाखा थे। कोलार के इस प्रधान राजकुल का प्रारभ कोगुनिवर्मा (माधव प्रथम) ने किया, जिसने ३५० ई से ४०० ई. तक राज किया। माधव द्वितीय (ल ४००–३५ ई.) नीतिशास्त्र और उपनिषदो मे पारगत था और उसने वात्स्यायन के पूर्वगामी दत्तक के (गणिका) 'सूत्रों' पर व्याख्या लिखी। माधव तृतीय (ल. ४६०–५०० ई.) इस जैन कुलीय राजवश का शैव राजा था जिसने जैनो, बौद्धो और ब्राह्मणो तीनो को ग्राम दान दिये। अविनीत (ल ५००–५४० ई.) के बाद दुर्विनीत (ल. ५४०–६००) ने दक्षिण मैसूर और कोगुदेश जीते। वह इस राजकुल का सबसे महान् राजा था, स्वय कन्नड और सस्कृत का पडित तथा विद्वानो का सरक्षक था। किरातार्जुनीय का कवि भारवि उसी की संरक्षा मे था।

कदम्ब, मयूरशर्मा

दक्षिण मे कदम्बो का ब्राह्मण कुल भी गुप्तो का समकालीन था। मानव्य गोत्रीय मयूर शर्मा ने वनवासी (कुन्तल, पश्चिमी दकन और उत्तरी मैसूर) मे कदम्ब राजकुल की प्रतिष्ठा की। उसने पल्लवो से श्रीपर्वत (कुर्नूल जिला) छीन लिया। एक अभिलेख (सभवत २५०–३०० के बीच का) उसे १८ अश्वमेधो का अनुष्ठाता और विभिन्न जातियो का विजेता कहता है। उसका ठीक राज्यकाल तो नही बताया जा सकता पर सभवत वह समुद्रगुप्त के आक्रमण काल मे ही दक्षिण मे कभी उठा। इससे उसके शासन-काल का अनुमान विद्वानो ने ल. ३४० और ३७० ई. के बीच किया है।

मयूरशर्मा के बाद उसके पुत्र कगवर्मा (स्कन्दवर्मा) ने सभवत ३७० ई. से ३९५ ई तक राज किया। उसने अपनी उपाधि 'धर्ममहाराजाधिराज' धारण कर कुल नाम शर्मा से वर्मा कर दिया। वाकाटक विन्ध्यसेन द्वारा पराभव के बाद उसका पुत्र भगीरथ (ल ३९५–४२० ई) गद्दी पर बैठा। सभवत इसी राजा के यहा चन्द्रगुप्त द्वितीय का राजदूत बनकर कालिदास गया था और परिणामस्वरूप अपना आज अप्राप्य काव्य 'कुन्तलेश्वर दौत्य' रचा था। उसके पुत्र काकुत्स्थवर्मा (ल ४३०–५० ई.) का विवाह गुप्तकुल मे हुआ था। सभवत इसी विवाह का दौत्य कालिदास ने किया था। उसके पूर्व उसके भाई

रघु ने प्राय दस वर्ष कुन्तल पर शासन किया था। काकुत्स्थवर्मा के बाद उसके दो पुत्रों शांतिवर्मा (ल. ४५०–४७५ ई.) और कृष्णवर्मा ने पिता का राज्य बांट लिया। बाद के मृगेशवर्मा (ल ४७५–९० ई.), कुमारवर्मा और मान्धातृवर्मा (ल ४९०–९७) दुर्बल नरेश हुए परन्तु मृगेशवर्मा के पुत्र रविवर्मा ने पश्चिमी गंगों से सफल लोहा लिया, पर उसके पुत्र हरिवर्मा (ल ५३७–४७) के समय उसके सामंत पुलकेशी प्रथम चालुक्य ने बादामी में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। हरिवर्मा कृष्णवर्मा द्वारा स्थापित दूसरी कदम्ब शाखा के नृपति कृष्णवर्मा द्वितीय से लडता मारा गया और उसका राज्य उस दूसरी शाखा की भुक्ति बन गया। दूसरी शाखा मे अश्वमेधयाजी कृष्णवर्मा प्रथम (ल. ४७५–८५) के बाद त्रिपर्वत (सभवत हलेबिड) मे विष्णुवर्मा (ल ४८५–९७), सिहवर्मा (ल ४९७–५४०) और कृष्णवर्मा द्वितीय हुए। कृष्णवर्मा द्वितीय (ल. ५४०–६५ ई.) ने अश्वमेध किया और गगराज से बहिन का विवाह कर अपनी शक्ति बढा दूसरी सगोत्री शाखा का अन्त कर दिया। उसका पुत्र अजवर्मा (ल. ५६५–६०६) कीर्तिवर्मा चालुक्य की प्रभुसत्ता मे समा गया और शीघ्र ही बाद वनवासी के कदम्ब कुल का सर्वथा अन्त हो गया।

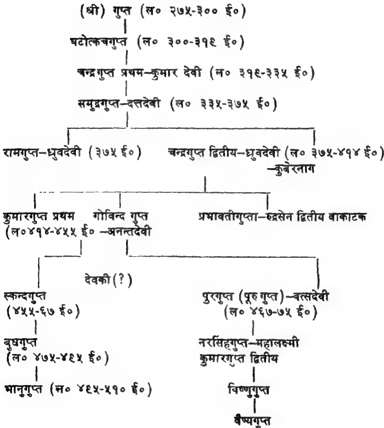
इस प्रकार उत्तर और दक्षिण भारत की राजनीति प्राय २०० ई. से ६०० ई तक विविध राजकुलो के उदयावसान मे उद्वेलित रही। उत्तर की राजनीति पर भारशिवो के बाद जो गुप्तो की प्रभुता हुई तो, उनके युद्धो और आक्रमणो के बावजूद देश मे शाति कायम रही और साहित्य-कला के क्षेत्र मे प्रतिमान प्रस्तुत होते रहे। दक्षिण के इतिहास मे भी, यद्यपि महान् चोलो का अभी उदय नही हुआ था, यह युग कुछ कम महत्त्व का नही। वहा के राजाओ ने भी शैव, वैष्णव, जैन होते हुए भी विविध धर्मावलम्बियो के साथ सहिष्णुता और उदारता का व्यवहार किया। साहित्य के अनेकानेक ग्रथ लिखे गये, मदिर और दरीगृहो का निर्माण हुआ। भित्तियो पर चित्र लिखे गये। इस युग मे क्षत्रिय कुलो के अतिरिक्त वाकाटक, कदम्ब आदि ब्राह्मण कुलो का उद्भव और उनके द्वारा क्षात्र धर्म का निर्वाह यद्यपि शुग, काण्वायन और सातवाहन राजकुलो के उदाहरण से सर्वथा अभिन्न नही, फिर भी अपनी विशेषता रखता है। आगे के अध्यायो मे इसी युग की भारतीय सस्कृति का इतिहास उद्घाटित होगा। यह युग प्रतीकत गुप्तयुग—भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग—कहलाता है। प्रतीकत क्योकि गुप्तो के अतिरिक्त इस काल अन्य भी स्वतन्त्र राजकुल थे, फिर भी गुप्तो के बल और सास्कृतिक अभ्युदय का प्रभाव समूचे भारत पर, हिन्दूकुश से सिंहल तक, दोनों समुद्रो के बीच और उनके पार द्वीपसमूहो तक पडा। यह युग मोटे तौर से २०० ई से ६०० ई तक माना जाना चाहिए। कुषाणो का अन्त और हर्ष तथा राजपूतो का उदय उसकी सीमारेखाए हैं।

३१६ से ४१४ ई० के बीच का भारत

समुद्रगुप्त का साम्राज्य
समुद्रगुप्त के प्रत्यन्त राज्य
चन्द्रगुप्त द्वितीय की साधारण सीमा
समुद्रगुप्त का आक्रमण मार्ग
फाहिएन का यात्रा मार्ग

परिशिष्ट

गुप्त सम्राटों का वंशवृक्ष



अध्याय ४

साहित्य

गुप्त राजकुल का उदय भारतीय सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक समुदय का भी कारण हुआ। जिस शान्ति और समृद्धि का वातावरण उस युग मे भारतीय धरा पर उतरा वह उस राजकुल के राजनीतिक अभ्युदय के अभिमत का परिचायक है। राजमार्ग वाणिज्य और यात्रा के लिए सर्वथा सुरक्षित थे, शासन ने नगर-जनपद को चोर-साहसिकों के भय से नि:शंक कर दिया था। समकालीन कवि कालिदास ने समुचित ही कहा था कि रघु (समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के सम्मिलित तेज-पुज) के शासन मे विहार के लिए जाती, राह मे मदाधिक्य मे निद्रागत नर्तकियो (वेश्याओ) के वस्त्र तक जब वायु भी छूने का साहस नही करता, फिर चोरी के लिए हाथ कौन बढ़ाता—

यस्मिन् महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥

(रघुवंश ६, ७५)

इतिहास प्रसिद्ध है कि चीनी यात्री फाह्यान चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल मे चौदह वर्ष तक नगरो, जनपदो और वनो मे दौडती सडको पर चलता रहा था और एक बार भी उसे चोर-डाकुओ का सामना नही करना पडा। साहित्य रचना के लिए यह काल निश्चय आदर्श था और आदर्श साहित्य का सर्जन तब अविरल हुआ भी। सामाजिक और धार्मिक, ललित और वैज्ञानिक, सभी प्रकार का साहित्य उस काल संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और द्रविड-तमिल आदि भाषाओ मे रचा गया, जो किसी युग के लिए गौरव और अभिमान का विषय हो सकता है। हम नीचे इसी सर्वतोमुखी साहित्य की संक्षेप मे चर्चा करेंगे।

गुप्तो का यह स्वर्णयुग साधारणत ईसा की तीसरी सदी से छठी सदी के अन्त तक माना जाता है। उस राजकुल का उदय तीसरी सदी के उत्तर काल मे हुआ और छठी सदी के अन्त तक उसके प्रधान तथा गौण कुल भारत के विविध प्रदेशों पर राज करते रहे। इसके अतिरिक्त अन्य राजकुलो के शासकीय वातावरण पर भी गुप्तो का गहरा प्रभाव पडा था और उनकी राजसभा और शासन उन राजकुलो के आचरण के लिए प्रमाण बन गये थे। मोटे तौर पर इस युग के उदय और अन्त की सीमाए लगभग २५० ई.

और ६००-६५० ई. के बीच खींचनी होंगी। इस युग का साहित्यिक आरंभ प्रायः अवदानों के रचनाकाल से ही हो जाता है और हर्ष—पुलकेशी के समय तक, प्राय· भारवि और दण्डी के सर्जन काल तक चलता रहता है। साहित्य के अनन्त सूरियों और साधकों ने इस बीच ललित कथाओं, प्रशस्तियों, काव्यों और नाटकों का विरचन किया जो भारतीय भारती के भाल का तिलक बन गया।

१. संस्कृत

सस्कृत के क्षेत्र मे तब का साहित्य मौलिक सर्जन की दिशा मे अपना सानी नहीं रखता। यहा हम पहले ललित साहित्य पर विचार करेंगे। इस युग का हृदय कालिदास का साहित्य है, पर उसके आरंभ के पहले उसके पूर्ववर्ती अथवा शीघ्र-पूर्वगामी साहित्य की ओर सकेत कर देना यहा उचित होगा, जो उस महाकवि के भी उद्गम और विकास की पृष्ठभूमि सिद्ध हुआ।

(क) ललित साहित्य

इस युग से शीघ्र-पूर्व का युग धर्मों के उदय और विकास का रहा था और धर्म के आग्रह और उसके प्रचार के लिए उसने विशेषत सस्कृत के ललित रचनाविधान का आश्रय लिया था। महायान ने जो व्यक्तिगत देवाराधन बुद्ध और बोधिसत्त्वो के माध्यम से देश मे प्रचलित कर दिया था, तो देवचरितो के साहि[illegible]त सर्जन की तत्काल आवश्यकता समझी गयी और इस रचनाविधान मे जिस साहित्य के मान और रूप को प्रमाण माना गया वह धर्म से स्वतत्र सर्वथा सामाजिक था, न हिन्दू था, न बौद्ध, न जैन। रस उसका रक्त-प्रवाह बना और प्रबन्ध-कथाए कलेवर बनी, जिससे यद्यपि परिणाम में गृहत्याग को पोषण मिला, गृहस्थ का जीवन भरा-पुरा और भारती मुखर हुई।

अवदान

इसी परम्परा मे अश्वघोष को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' के प्रबन्ध काव्य लिखने पडे, जिनके अन्तरग जीवन के रससिक्त प्रकरणों से चमत्कृत हुए। चरित-कथाओ की यह साहित्यिक प्रक्रिया विशेष कर बौद्ध साहित्यकारो के रससिक्त 'अवदानो' (कथाओ) मे विन्यस्त हुई। बौद्ध कृतिकारो ने माना कि बुद्ध और अर्हतो के जीवन का प्रभाव सद्गृहस्थ के जीवन पर पडेगा और उसे सभी रूपो से ऋद्ध करने के लिए उन्होने अपने अवदान रचे। इन अवदानो में प्राचीनतम 'अवदान-शतक' सभवत: अश्वघोष के शीघ्र ही बाद १०० और २०० ई. के बीच कभी रचा

गया, क्योंकि इसका चीनी अनुवाद तीसरी सदी ईसवी में प्रस्तुत हो गया था। अवदानशतक में इस प्रकार सौ महिमावानो की 'दृष्टान्त' परक कथाएं सर्वास्तिवादी बौद्धों के 'विनयपिटक' के आधार पर निर्मित है। इससे भी अधिक महत्त्व के अवदान उसी 'विनयपिटक' की पृष्ठ-भूमि से उठे और 'दिव्यावदान' मे सगृहीत हुए। इस रचना का एक अश चीनी भाषा मे २६५ ई मे अनूदित हुआ था, जिससे प्रकट है कि यह ग्रंथ दूसरी-तीसरी ईसवी तक प्रस्तुत हो चुका था। इसी ग्रथ मे अशोक के पुत्र कुणाल की प्रसिद्ध कथा दी हुई है कि किस योजना से उसके रूप की प्यासी विमाता तिष्यरक्षिता ने कुणाल की आखे निकलवा ली थी। इसी रचना का एक विशिष्ट भाग अशोकावदान भी है जिसमे अशोक के उपगुप्त द्वारा सद्धर्म में दीक्षित होने की कथा सगृहीत है। 'दिव्यावदान' अनेक अद्भुत और ललित कथाओं का सरल सग्रह है।

अवदानो की भाषा सरल संस्कृत है—गद्य और पद्यमयी। गद्य में कथाए विकसित होती है और छन्द मे गाथाएं कही जाती है। अनेक स्थलो पर उनसे काव्य का रस चू पड़ता है। एक स्थल इस प्रकार है जिसका छन्द और अर्थ दोनो 'बुद्धचरित' से प्रभावित है—

तृष्णानिलैः शोकशिखाप्रचण्डैश्चित्तानि दग्धानि बहुप्रकारम् ।
आशावतां सप्रणयाभिरामैर्दानाम्बुवेकैः शमयाम्बभूव ॥

(दिव्यावदान, ३८)

उसके प्रणय से अभिराम दान की जलधारा से आशावन्तो के मन मे अवसाद से धधकती तृष्णा की ज्वाला शान्त हो गयी।

मातृचेट

इसी कालातर का कवि मातृचेट है जिसकी अनेक कृतियो का उल्लेख साहित्य मे मिलता है। उसका कोई समूचा काव्यग्रथ तो आज उपलब्ध नही है पर उसकी रचना 'शतपञ्चाशतिक स्तोत्र' के अनेक खडित अश मिलते है, जिनसे इस कवि की रचनाशक्ति का परिचय मिलता है। यह महत्त्व की बात है कि सस्कृत मे देवस्तुतियो की जो परम्परा चली उसके शिखर पर यह कवि खडा है। मातृचेट को हम स्तोत्र साहित्य का प्रवर्तक मान सकते हैं।

आर्यशूर, जातकमाला

शीघ्र ही बाद तीसरी सदी ईसवी में अश्वघोष के पश्चात् बौद्धों के महान् संस्कृत कवि आर्यशूर ने अपनी 'जातकमाला' रची। इससे प्रकट है कि संस्कृत काव्यधारा ब्राह्मण

धर्म से भिन्न बौद्ध धर्मावलम्बियों को भी स्वीकृत हो चुकी थी। इस काव्य की सारी कथाएं पालि भाषा में लिखे प्रसिद्ध 'जातकों' में पहले से ही उपलब्ध थी, बारह कथाएं (पालि) 'चरियापिटक' मे भी मिलती हैं, पर संस्कृत की काव्यशैली में लिखी जाने वाली इन कथाओ का आदिम विस्तार निश्चय आर्यशूर ने किया। बुद्ध के उदार शील का उद्‌घाटन इन कथाओ मे अपरिमित रस के अभिसिंचन के साथ हुआ है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ईत्सिंग के उल्लेख से प्रकट है कि जातकमाला बहुत लोकप्रिय हो गयी थी। इसकी लोकप्रियता का सबसे विशिष्ट प्रमाण तो यह है कि अजन्ता के भित्तिचित्रों मे इसके छन्दो और दृश्यों का अकन हुआ है। कब यह ग्रंथ रचा गया, यह निश्चयपूर्वक तो नही कहा जा सकता पर चूंकि आर्यशूर के एक अन्य ग्रंथ का अनुवाद चीनी भाषा मे ४३४ ई. मे हुआ, इस कवि का तीसरी सदी ईसवी में गुप्त शासनकाल के आरंभ मे कभी प्रादुर्भाव मानना युक्तिसगत होगा।

आर्यशूर के गद्य और पद्य दोनों मधुर और सयत हैं। उनमे सुरुचि और सौंदर्य है। पिता द्वारा पत्नी और बाल-परिवार के दान मे विसर्जित कर दिये जाने पर बालक करुण स्वर मे कहता है—

> नैवेदं मे तथा दुःखं यदयं हन्ति मां द्विजः।
> नापश्यमम्बां यत्त्वद्य तद्विदारयतीव माम्॥
> रोदिष्यति चिरं नूनमम्बा शून्ये तपोवने।
> पुत्रशोकेन कृपणा हतशावेव चातकी॥
> अस्मदर्थे समाहृत्य वनान्मूलफलं बहु।
> भविष्यति कथं न्वम्बा दृष्ट्वा शून्यं तपोवनम्॥
> इमे नावश्वकास्तात हस्तिका रथकाश्च ये।
> अतोऽर्धं देयमम्बायै शोकं तेन विनेष्यति॥[1]

'दुःख इसका नही कि ब्राह्मण मुझे पीटता है, शूल की भांति हिये मे जो बात चुभ जाती है, वह मा को न देख पाना है। मा अकेली तपोवन मे चिर काल तक पुत्रशोक मे रोयेगी जैसे मेरे बच्चे के शोक से चातकी रोती है। हमारे लिए वन मे उसने अनेक फल-मूल सजो लिये हैं, पर जो वह तपोवन को हमसे शून्य पायेगी तब उसका मन कैसा हो उठेगा? पिता, ये रहे हमारे खिलौने—घोडे, हाथी, रथ—आधे इनमे से मा को दे आओ जिससे वह दुःख-कातरा मां अपना अवसाद मिटाये।' प्राचीन साहित्य मे इतनी करुण वाणी बालक ने कहां बोली?

[1]कीथ: हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर, पृ. ६८-६९।

आर्यदेव, चन्द्रगोमी, शान्तिदेव

आर्यशूर की 'जातकमाला', 'पञ्चतन्त्र' अथवा 'तन्त्राख्यायिका' की ही भाति संस्कृत काव्य की उस शैली मे, जिसमे गद्य की कथा मे पद्य का लालित्य गुथा होता है, प्रथम है। काव्यशैली के विधान मे ही ल० २५० ई के बौद्ध पडित आर्यदेव ने अपनी 'चतु:शतिका' मे गगास्नान से पाप के विनाश और पुण्य के सचय के ब्राह्मण विधान पर घनी चोट की और उसका मजाक उडाया। 'शिष्यलेख धर्मकाव्य' इसी शैली मे लिखकर इस काल के प्रसिद्ध वैयाकरण चन्द्रगोमी ने शिष्यो को बौद्ध धर्म की शिक्षा दी। बाद, इसी परम्परा मे शान्तिदेव ने महायान की महिमा 'बोधिचर्यावतार' मे गायी जिसकी भाषा और भक्ति का सौदर्य असाधारण ललित और आकर्षक है।

अभिलेख (हरिषेण)

गुप्तकालीन साहित्य का एक विशिष्ट रूप गुप्त सम्राटो के शिलाओं और स्तंभों पर खुदे अभिलेख हैं जो ओज, माधुर्य और पदलालित्य मे ग्रथरचित साहित्य मे घटकर नही। अधिकतर प्रशस्तिया होने से वे प्रभावशक्ति मे तो विशेष स्तुत्य हैं। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, कुमारगुप्त प्रथम, स्कन्दगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय आदि सभी ने अपने शासन और विजयो के अभिलेख खुदवाये, जिनकी विपुल सपदा आज हमे उपलब्ध है। वह युग काव्य की दृष्टि से इतना सपन्न था कि गुप्त सम्राटो के सिक्कों पर जो लेख खुदे मिलते है वे भी लगते है जैसे छन्दखण्ड हो। कुछ उदाहरण इस प्रकार है—**समरशतविततविजयो जितरिपुरजितो दिवं जयति**[1], **राजाधिराजः पृथिवीविजित्वा दिवं जयत्याहृतवाजिमेधः**[2], **क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः**[3]। नीचे गुप्त सम्राटो के कुछ अभिलेखो के उदाहरण दिये जाते हैं।

वैसे तो गद्य होते हुए भी ललित काव्यशैली मे लिखा पहला अभिलेख शक-महाक्षत्रप रुद्रदामा का १५० ई. का गिरनार का है, पर है वह विशुद्ध गद्य ही। गद्य-पद्य शैली मे समसामयिक काव्य-गाथाकाल का समवर्ती अभिलेख समुद्रगुप्त का राजकवि हरिषेण प्रस्तुत करता है। यह अभिलेख उस नृपति की विजयो का प्रशसात्मक निरूपण है जो इलाहाबाद के किले मे खडे अशोक के स्तम्भ पर ही खुदा है। इसका गद्य समस्तपदीय और ललित है जो इस दृष्टि से आगे की सदियो मे होनेवाले गद्य काव्य के कवि सुबन्धु और

[1]समुद्रगुप्त के ध्वजाधारी सिक्को पर, सामने की ओर। [2]चन्द्रगुप्त द्वितीय की अश्वमेध-मुद्राओं पर, सामने की ओर। [3]उसी राजा की छत्रमुद्रा पर, सामने की ओर।

बाण के लिए 'माडल' प्रस्तुत करता है। समूचा काव्य —जिसे हरिषेण ने स्वयं काव्य कहा भी है—गद्य-पद्य की संयुक्त रचना है और एक ही वाक्य में प्रस्तुत है। कवि की काव्यशक्ति राजा की कठिन आत्मसत्ता और कठिनतर शस्त्रास्त्रों और समरांगणों के अनुकूल उठ आती है। विजयी की काव्यप्रियता का वर्णन इस प्रकार है—**विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य**। उसका गायन-वादन प्रेम नीचे के ललित गद्यखण्ड मे निर्दशित है—**निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेः**। वैसे ही सम्राट् के प्रचण्ड प्रताप का वर्णन इस वाक्यखण्ड मे हुआ है—**सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य**—जैसे निम्नलिखित मे भी—**दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य**[1] आदि।

हरिषेण अपने छन्द मधुर लघुपदीय शैली मे लिखता है। वृत्ति उसकी वैदर्भी है, नितान्त ललित। समुद्रगुप्त भरे सभास्थल पर चन्द्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी भरे कण्ठ और भरी आखो से उसे गले लगाकर 'आर्य' कहकर चुनता है, आदेश करता है—इस समूची धरा का पालन करो!—सभ्य सतोष की सास लेते हैं, तुल्य कुलजो (भाइयो) के चेहरे मुरझा जाते है—

> **आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः**
> **सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।**
> **स्नेहव्यालुलितेन बाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा**
> **यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति॥**[2]

और यह कवि सम्राट् का केवल राजकवि ही नही उसका सान्धिविग्रहिक (परराष्ट्र सचिव) भी है। उसका सरक्षक सम्राट् स्वय 'अनेक काव्यक्रियाओ' द्वारा 'कविराज' विरुद से विभूषित है, स्वय मधुर गायक और वीणावादक है (वीणावादन करती उसकी आकृति उसके एक प्रकार के सिक्को पर उत्कीर्ण है), जो अपनी बुद्धि की प्रखरता से देवताओ के गुरु बृहस्पति और गायन-वादन मे तुम्बुरु और नारद को लज्जित कर देता है। अभिलेख तत्कालीन काव्यकारता का स्वय कीर्तिबन्ध है। यह अभिलेख ३८५ ई. का है।

अगले ही शासन मे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (चन्द्र) ने उस लोहे के स्तभ पर अपनी प्रशस्ति खुदवायी जो मेहरौली के पास कुतुबमीनार के आगन मे खडा है। इसका कवि कौन है यह कह सकना प्रमाणाभाव मे सभव नही, पर नि सदेह काव्य समकालीन

[1] **प्रयाग स्तंभलेख, फ्लीट, सी. आई. आई., भाग ३।** [2] **वही।**

शैली का, गुप्त लिपि में खुदा, प्रतिबिम्ब है। चन्द्रगुप्त मालवा-गुजरात में जब शकों को परास्त करता है तब वे अन्यों के साथ सघ बना बगाल में उसको चुनौती देते हैं। चन्द्र तब विद्युत्-गति से बंगाल पहुच युद्ध मे उनका सघ तोड देता है, फिर पच्छिम की ओर घूम पंजाब की सातो नदियो को लाघ वह्लीक (आमू दरिया की घाटी) मे हूणों को धूल चटा केसर की क्यारियो में अपने घोडे फिराता है, उसके पराक्रम की गन्ध से सागर सुवासित हो उठते हैं—

यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्
वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे ।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥[१]

पिता कुमारगुप्त की अधिकतर लड़ाइया वीरवर स्कन्दगुप्त ने लिखीं। उसके दो अभिलेख, एक गिरनार पर्वत पर, दूसरा सैदपुर भीतरी के स्तभ पर, खुदे मिले हैं जो काव्य-बद्ध हैं और जिनकी भारती अपनी गेयता और शक्ति मे असामान्य है। एक उदाहरण लें—

पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्
भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः ।
जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्राम्
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ॥[२]

मन्दसोर का प्रसिद्ध सूर्यमन्दिर का अभिलेख कुमारगुप्त द्वितीय के शासनकाल मे ४७३-७४ ई. मे खुदा वत्सभट्टी का कविकार्य है। कालिदास का परवर्ती और उसके काव्य से प्रभावित, जो स्वय कालिदास के मेघदूत का अनुसरण करता है, वत्सभट्टी है। वह हरिषेण की भाति राजकवि नही, राजा का मन्त्री नही, सभवत गाव का, दशपुर के जनपद का कवि है, जो सभवत शुल्क लेकर सूर्यमन्दिर का जीर्णोद्धार कराने वाले रेशम के जुलाहो के लिए काव्य रच देता है। कितनी अद्भुत गेयता है उसके छन्द मे—

चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम् ।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥[३]

इसी अभिलेख मे कवि ने उस तन्तवायु-सघ (जुलाहो के सघ) का परिचय देकर उसके बनाये कपडे का जो परिचय दिया है, निश्चय विज्ञापन के इतिहास मे वह पहला उदाहरण है—

[१]सी. आई. आई., ३, नं. ३२, पृ. १४१, श्लोक १। [२]वही, पृ. ५३–५५। [३]पीछे देखें, अन्यत्र उद्धृत।

'कोई स्त्री चाहे जितना भी शृंगार करे, पान रचाये, तेल-फुलेल लगाये, परिधान पहने और आभूषण धारण करे, पर उसका पति तब तक उसे अंगीकार नही करेगा जब तक कि वह दशपुर के इस तन्तुवाय-संघ के बनाये वस्त्रों का जोड़ा नही धारण करती।'

पुलकेशी द्वितीय[1] का ऐहोल का अभिलेख कवि रविकीर्ति ने काव्यबद्ध किया। वह कालिदास और भारवि के समान ही अपने को भी महान् मानता है। निःसंदेह उसके काव्य में शक्ति है। अपने संरक्षक पुलकेशी द्वारा उत्तरापथ के राजा हर्ष की पराजय पर वह कहता है कि रण मे विजेता ने शत्रु के इतने गजों का संहार किया कि दृश्य बीभत्स हो गया, स्वयं वह तो हर्षित हुआ और हर्ष भय-विगलित हो उठा—

युधि पतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो
भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः।[2]

लेख कुछ बाद का है ६३४ ई का, हमारी अवधि की बाहरी सीमा का, पर गुप्त-युगीन अभिलेखों की परम्परा यह जीवित रखता है।

कालिदास

जन्मस्थान

गुप्तयुगीन ही कालिदास है जो न केवल भारत और संस्कृत साहित्य का मूर्धन्य कवि है बल्कि संसार के प्रधान कवियो मे जिसकी गणना है। कवि के जन्मस्थान और रचना-काल के संबध मे यद्यपि विद्वानो के भिन्न मत हैं, उसका रचनाकाल गुप्तयुग साधारणतः माना जाने लगा है और प्रमाणतः यही सही भी प्रतीत होता है। कवि के जन्मस्थान के संबंध मे गोदावरी से कराकोरम तक कल्पना की गयी है। पर वास्तव मे दो ही स्थानों की इस संबंध मे विशेष चर्चा की जा सकती है; मालवा और कश्मीर की। हिमालय से कवि को विशेष प्रेम है। कुमारसंभव की समूची कथा और मेघदूत के समूचे उत्तर भाग की भूमि हिमालय ही है; विक्रमोर्वशीय का चौथा अंक और शाकुन्तल का सातवा अंक भी उसी से संबधित है। इसी प्रकार रघुवंश के पहले और चौथे सर्ग भी हिमालय के दृश्य ही प्रस्तुत करते है। यदि मेघदूत के यक्ष की विरह-तडपन किसी अंश मे भी आत्मानुभूति है तो निश्चय कालिदास का सहज संबंध हिमालय की अंचलीय भूमि अलका से हो जाता है। लक्ष्मीधर कल्ला ने अनेक प्रमाणो से कवि का जन्मस्थान कश्मीर सिद्ध किया है।[3] यदि

[1]कुमारगुप्त द्वितीय का मन्दसोर का अभिलेख। [2]एपि. इण्डिका, ६, पृ. ६, १०, श्लोक २३। [3]बर्थ प्लेस ऑव कालिदास।

उसके विपरीत प्रमाण है तो यही कि कल्हण ने जहां अपनी 'राजतरंगिणी' में साधारण से साधारण कश्मीरी कवि का भी उल्लेख किया है, भला यह कैसे सभव था कि यदि कालिदास वहा का होता तो वह इतिहासकार उसका उल्लेख करने से चूक जाता। इस स्थिति मे कुछ आश्चर्य नही जो कवि का मालवा का होना प्रमाणित हो जाय। उसके वहा का निवासी होने मे तो किसी को सन्देह नही, क्योकि 'मेघदूत' मे जो उसने उज्जयिनी के प्रति विशेष आदर और आत्मीयता दिखायी है उसके अतिरिक्त भी उसका मध्य प्रदेश की छोटी से छोटी नदियो, पर्वतो, स्थलों और ऋतुओ से इतना घना परिचय है कि कवि को वहा का होना मानने मे अधिक तर्क की आवश्यकता नही होती। फिर परम्परया कवि का मालवा के ही किसी विक्रमादित्य की सभा का नवरत्न होना भी इस धारणा की पुष्टि करता है। चाहे जन्म कालिदास का जहा भी हुआ हो, इसमे सन्देह नही कि उसका गहरा सबध मालवा से दीर्घ काल तक बना रहा था।

रचनाकाल

कवि की गुप्तकालीन संस्कृति के साथ इतनी घनी एकता है कि उसका चौथी-पांचवी सदी का होना निश्चित लगता है। उसके काव्य पर अश्वघोष का प्रभाव, गुप्तकालीन पौराणिक-धार्मिक परम्परा, देवी-देवताओं और मूर्ति-चित्रकलाओ की गुप्तकालिक समानान्तरता, विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त) की सरक्षा, गुप्तयुगीन उदार सहिष्णुता और सामाजिक शान्ति तथा समृद्धि सभी कुछ कवि को भारतीय इतिहास के इस स्वर्ण-युग का ही अप्रतिम नक्षत्र प्रमाणित करते है। सभवत कालिदास का जन्म समुद्रगुप्त के शासनकाल (ल० ३३५-७५ ई.) में कभी हुआ और उसने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समूचे और कुमारगुप्त शक्रादित्य के अधिकतर राज्यकाल में लिखते रहकर स्कन्दगुप्त के जन्म के बाद और पुष्यमित्रो तथा हूणो के आक्रमण से पहले अपनी इह-लीला समाप्त की। पुष्यमित्रो के युद्ध की तिथि ४५० ई. है। इस दृष्टि से कवि का जन्मकाल ३६५ ई के लगभग और मृत्युकाल ४४५ ई. के लगभग रखा जा सकता है। यदि उसने २५ वर्ष की आयु मे काव्य रचना आरभ की, जैसा उसकी कृतियो मे से अनुमान किया जा सकता है, तो उसका कार्य काल पर्याप्त व्यापक, प्राय ४४५ ई. तक रहा होगा।[1]

जीवन

कवि के जीवन की घटनाओ के विषय मे हमारा ज्ञान नही के बराबर है, क्योकि

[1]कालिदास के रचनाकाल के संबंध में आगे का परिशिष्ट देखिए।

भारतीय लेखन परम्परा के अनुसार ही, उसने लिखा बहुत, पर अपना परिचय तनिक भी नही दिया। उस सबध मे किंवदन्तिया अनेक हैं—पहले मूर्ख होना और जिस डाल पर बैठना उसी को काटना, विदुषी पत्नी से विवाह होना, फिर काली की कृपा से ज्ञान प्राप्त होना, लका के राजा कवि कुमारदास की मित्रता के कारण वेश्या द्वारा मारा जाना, आदि—पर उनकी ऐतिहासिकता पर तनिक भी विश्वास नही किया जा सकता। कुन्तल के राजा के यहां कवि के दूत बनकर जाने की बात कही जाती है, पर उसके जिस काव्य 'कुन्तलेश्वरदौत्य' के आधार पर वह विश्वास अवलम्बित है उसके अप्राप्य होने से इस सबध मे भी अभी कुछ अतिम निर्णय नही लिया जा सकता। कालिदास के जीवन सबधी ज्ञान के न होने पर भी जिस जनप्रवाह का उस कवि ने अपने जीवित वातावरण मे वर्णन-चित्रण किया है, वह उस काल के भारत का सर्वांगीण रूप खीचने मे प्रभूत समर्थ है।

कालिदास का साहित्य

कालिदास की कृतिया सात है, तीन नाटक और चार काव्य। मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक है और ऋतुसहार, मेघदूत, रघुवश और कुमारसम्भव काव्य हैं। कश्मीरी पडित क्षेमेन्द्र ने कालिदास को एक और काव्य 'कुन्तलेश्वरदौत्य' के कवि होने का भी श्रेय दिया है, पर वह कृति उपलब्ध नही है। ऋतुसहार की सरलता के कारण कुछ विद्वानो ने उसे कालिदास की रचना मानने मे आपत्ति की है। पर इसका अर्थ केवल इतना ही है कि वह कवि की प्रारभिक और प्रौढ कृति है। वैसे उसमे भी अनेक चमत्कारी स्थल हैं और उसकी अनेक पद-शब्दावलिया कालिदास की प्रौढतम कृतियो मे भी कवि की आत्मीय वरीयताओ की सी प्रयुक्त हुई है। फिर कवि के प्रौढतर काव्यो के मुकाबिले 'ऋतुसंहार' यदि हलका पडता है तो उसी तरह जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की अपेक्षा 'मालविकाग्निमित्र' हलका है, पर जैसे यह नाटक, कालिदास का इसमे नाम लिखा होने से भी, सर्वसम्मति से कवि का लिखा माना जाता है, 'ऋतुसहार' को भी कालिदास की रचना मानने मे आपत्ति नही होनी चाहिए। फिर उसकी अदम्य मानवीयता, प्रकृति के साथ मानव का विलास, ऋतुओ के बदलते स्वरूप का शक्तिम वर्णन साधारण कवि के बस की बात न थी। 'कुमारसम्भव' की बात और है। वह आठवें सर्ग तक ही प्रामाणिक है, शेष ग्यारह सर्ग उसमे पीछे से जोड दिये गये है। ये ग्यारह सर्ग काव्य की प्राचीन हस्तलिपियो मे नही मिलते, इसी से मेधावी टीकाकार मल्लिनाथ ने उनकी उपेक्षा कर केवल आठ सर्गों पर ही व्याख्या लिखी है। कवि की रचनाओ का कालक्रम सभवत इस प्रकार है—काव्यो मे ऋतुसहार, मेघदूत, रघुवश और कुमारसम्भव, और—नाटको मे—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल।

कुमारसम्भव को कवि समाप्त न कर सका। वह अपने नाम के विपरीत 'कुमार' के 'संभव' होने के पूर्व ही समाप्त हो जाता है।[1]

'ऋतुसंहार' छः सर्गों मे समाप्त अत्यन्त छोटा और सादा काव्य है। जैसा नाम से प्रकट है, उसमे छहों ऋतुओ का, उनकी गर्मी-सर्दी का, उनमें फूलने वाले पौधों-पेड़ों का, विचरने वाले जीव-जन्तुओ का, मौसम के साथ निरन्तर बदलते जानेवाले मनुष्य और दूसरे प्राणियों की मानसिक प्रवृत्तियो का बड़ा भावुक और मधुर वर्णन है। मनुष्य और वन के प्राणी, फूल-पौधे और पशु-पक्षी, कोयल, भौंरे, बीरबहूटियां तक, सभी एक साथ जैसे सांस लेते हैं।

'मेघदूत' खण्डकाव्य प्राचीन काल से सहृदयो को बहुत प्रिय रहा है। उसकी कथा पूर्व और उत्तर दो भागो मे बंटी है। पहले मे यक्ष अपने कर्तव्य मे आलस्य करने से स्वामी धनराज कुबेर द्वारा अलका से निर्वासित होता है और वर्षा काल आने पर राम-गिरि से मेघ को दूत बनाकर अलका की राह बताता उसे वहा भेजता है। दूसरे मे उसकी प्रोषितपतिका विरहिणी यक्षिणी के विरह मे कटे दिनो का करुण वर्णन और यक्ष के भेजे सदेश का उल्लेख है। समूचा काव्य एक छन्द मन्दाक्रान्ता मे रचा गया है। 'मेघदूत' इतना लोकप्रिय हुआ कि देश-विदेश मे उसका अनुसरण हुआ। सस्कृत के अनेकानेक कवियो ने उसकी अनुकृति मे काव्य रचे, जर्मनी के रोमान्टिक कवि शिलर ने अपने 'मारिया स्टुअर्ट' मे मेघ को ही दूत बनाकर उसके देश स्काटलैण्ड भेजा।

'रघुवंश' सूर्यवश का काव्यमय इतिहास प्रबन्धरूप मे १९ सर्गों मे रचा गया है और शास्त्रीय महाकाव्य के सभी लक्षणो से युक्त है। पहले सर्ग मे पुत्रहीन राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा का वर्णन है और दूसरे मे उनके द्वारा पुत्र प्राप्ति के लिए धेनु सेवा का। तीसरे मे रघुजन्म और चौथे में रघु द्वारा दिग्विजय का सफल वर्णन है। पाचवे सर्ग मे वरतन्तु के शिष्य को कुबेर को डराकर रघु उससे अनन्त धन दिलवाता है। छठे और सातवे सर्गों में इन्दुमती के स्वयवर और अज के साथ विवाह का वर्णन है। आठवें मे इन्दुमती की मृत्यु पर अज का विलाप और नवें मे दशरथ के आखेट के दृश्य हैं। दसवे और ग्यारहवें सर्गों मे राम के जन्म और विवाह का वर्णन है ओर बारहवे में रावणवध और अगले सर्ग में राम-सीता का अयोध्या-आगमन। चौदहवें सर्ग मे सीता-परित्याग और अगले मे लव-कुश जन्म और सीता का पृथ्वी-प्रवेश और राम का स्वर्गारोहण वर्णित हैं। अगले दो सर्गों में कुश द्वारा कुशावती के त्याग और अयोध्या के जीर्णोद्धार का अकन है। अगले सर्ग मे शेष राजाओं का सक्षिप्त उल्लेख है और अंतिम उन्नीसवें में

[1] उपाध्याय : कालिदास के सुभाषित, भूमिका।

अतिम विलासी राजा अग्निवर्ण का प्राणवान् अकन हुआ है जिसकी क्षयरोग से मृत्यु के बाद महाकाव्य समाप्त हो जाता है।[1]

अनेक लोगो ने 'कुमारसम्भव' को कवि का सुन्दरतम काव्य माना है। इसके पहले सर्ग मे हिमालय और किन्नर-किन्नरियों के हास-विलास का वर्णन है। दूसरे में तारक से हारे देवता ब्रह्मा से रक्षा की प्रार्थना करते हैं, तीसरे मे कामदेव का संहार और चौथे मे रतिविलाप है। पाचवे मे पार्वती तपस्वियो को लजा देनेवाला तप करती हैं और शिव प्रकट होकर पार्वती को स्वीकार करते हैं। छठे और सातवे सर्ग विवाह के हैं और आठवें अतिम सर्ग मे शिव-पार्वती का वनविहार है। महाकाव्य अत्यन्त प्रौढ कृति है।

कालिदास के नाटको मे पहला 'मालविकाग्निमित्र' है जिसके पाच अको मे दूसरी शती ईसवी पूर्व के पुष्यमित्र शुग के पुत्र अग्निमित्र का प्रेम-कलह उद्घाटित हुआ है। उसकी नायिका मालविका है। इस नाटक की एक महत्त्व की घटना ग्रीकों का अश्वमेध यज्ञ द्वारा भारत से निष्कासन है।

'विक्रमोर्वशीय' पाच अंकों मे समाप्त, शास्त्र की दृष्टि से त्रोटक है। उसमें प्रतिष्ठान के ऐल राजा पुरूरवा और उर्वशी के प्रणय का वर्णन हुआ है। चौथे अक मे राजा विक्षिप्त-सा फिरता लताभूत उर्वशी का पेड़-पौधो से करुण गायन द्वारा पता पूछता है, फिर सगमनीय मणि की सहायता से दोनो का सयोग होता है। आयु नाम का पुत्र पुरूरवा को देकर उर्वशी स्वर्ग लौट जाती है पर देवकार्य करने से राजा को वह फिर मिल जाती है। इस नाटक मे पहली बार अपभ्रंश के छन्दो का उपयोग हुआ है।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' सात अको मे समाप्त कालिदास की सर्वांगसुन्दर कोमल कृति है, भारतीय नाट्य साहित्य की मुकुटमणि। कवि ने इसमे महाभारत की प्रसिद्ध दुष्यन्त-शकुन्तला की कथा के आधार पर अपनी कथा का नाटकीय विकास किया है। पश्चिमी ससार के विद्वानो को यह नाटक बडा प्रिय है। प्रसिद्ध जर्मन कवि गोएथे ने इसकी भूरि-भूरि प्रशसा की है। उसकी अपनी कृति 'फाउस्ट' पर इस नाटक का प्रभाव पडा।

परिशिष्ट

कालिदास का समय

कालिदास के रचनाकाल की दो सीमाएं सरलता से निर्धारित हो जाती हैं। प्राचीनतम सीमा तो स्वय कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' से स्थिर हो जाती है,

[1] उपाध्याय : कालिदास के सुभाषित, भूमिका।

क्योकि उसमे शुग वंश के प्रतिष्ठाता सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र और उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा के शासक अग्निमित्र का वर्णन है । पुष्यमित्र का शासनकाल सभवतः ई. पू. १४८ तक समाप्त हो चुका था। इस कारण चूकि कालिदास ने उसके बेटे अग्निमित्र के रनिवास का अकन किया है, वह ई. पू. १४८ से पूर्व नही रखा जा सकता। इसी प्रकार उसकी निचली सीमा सन् ६३४ ई. के ऐहोल लेख से परिमित हो जाती है, क्योंकि इस अभिलेख मे कवि के नाम का उल्लेख है।[१]

ई पू. दूसरी सदी के पक्ष मे प्रमाण पुष्ट नही हैं। फिर हमे इस बात का भी विचार रखना होगा कि कालिदास महर्षि पतजलि का समकालीन नही हो सकता क्योंकि उसके ग्रथो मे 'योगसूत्रो' का प्रचुर ज्ञान प्रमाणित है। कालिदास के समय तक इन सूत्रो की परम्परा सी बन गयी थी, जिससे वह अवगत था। इस परम्परा के निर्माण मे समय लगा होगा, शताब्दिया बीती होगी। और पतजलि का काल निश्चित हो चुका है, यदि 'योगसूत्रो' और 'महाभाष्य' के रचयिता एक ही व्यक्ति थे। कम से कम वैयाकरण पतजलि पुष्यमित्र शुग के समकालीन थे। उन्होने उस राजा का अश्वमेध कराया था, जैसा 'महाभाष्य' के एक उदाहरण--इह पुष्यमित्र याजयाम --से सिद्ध है। यदि सूत्रकार पतजलि भाष्यकार पतजलि से भिन्न हुए तब कठिनाई और बढ जाती है क्योकि उस स्थिति मे सूत्रकार पतजलि को ई. पू. द्वितीय शती वाले कवि कालिदास से पीछे रखना होगा। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि ख्याति के अनुसार कवि को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिए, परन्तु शुग वश के किसी राजा की उपाधि 'विक्रमादित्य' न थी।

कवि का काल सबधी एक सिद्धात ५७-५६ ई पू का है। इसके समर्थक अनेक विद्वान् हैं। परन्तु इसे स्वीकार करने मे भी कई कठिनाइया है जिनका समाधान सभव नही जान पडता। यह सिद्धात बहुत कुछ इस बात पर निर्भर रहता है कि ५७-५६ ई. पू मे विक्रम-सवत् ऐसे किसी विक्रमादित्य द्वारा चलाया गया जो कालिदास का सरक्षक भी था। पर ई पू प्रथम शती मे होनेवाले विक्रमादित्य नामक किसी ऐसे राजा को हम नही जानते जो प्रतापी हुआ हो और जो शको को देश से निकाल कर 'शकारि' विरुद धारण करे और सवत् भी चला सके। कुछ विद्वानो ने तो इस पर भी सन्देह किया है कि यह सवत् ई पू पहली सदी मे चलाया गया। वास्तव मे इस सवत् का पहले-पहल प्रयोग (जाने हुए आकडो से) इसके चलाये जाने के समय (प्रथम शती ई पू. के मध्य) से प्राय हजार वर्ष बाद के एक अभिलेख मे हुआ है। प्रथम शती ई. पू. वाले सिद्धात के

[१]उपाध्याय : इण्डिया इन कालिदास, देखिए परिशिष्ट, कालिदास की तिथि।

दो प्रबल समर्थक हैं—रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य और प्रोफ़ेसर क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय। रायबहादुर के प्रमाणो[१] का पूर्णतया खंडन श्री के० जी० शंकर[२] ने कर दिया है। प्रोफ़ेसर चट्टोपाध्याय के प्रमाणो का निचोड़ यह है कि पहली सदी ईसवी के कुषाण सम्राट् कनिष्क के समकालीन दार्शनिक और कवि अश्वघोष की कृतियो और कालिदास के वक्तव्यो मे काफी समानता है, जिससे सिद्ध है कि इनमें से किसी एक ने दूसरे की नकल की है। इस संबंध में वे कालिदास का प्रभाव अश्वघोष पर बताते हुए कहते है कि चूंकि अश्वघोष ईसा की पहली सदी मे हुआ, कालिदास ई पू. पहली सदी में हुआ होगा। परन्तु इस विचार के विरोध में अनेक प्रमाण पर्वत की तरह अचल है जिन पर यहा विचार करना होगा।

प्रोफ़ेसर चट्टोपाध्याय का विचार है कि जब कोई दार्शनिक कविता लिखने पर बाध्य होगा तब वह निश्चय किसी कवि की नकल करेगा।[३] परन्तु इसका ही क्या प्रमाण है कि अश्वघोष ने बाध्य होकर कविता लिखी? उसने स्वेच्छा से अपनी काव्यप्रतिभा के प्रतीक 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' विद्वान् समीक्षको के सामने प्रस्तुत कर दिये है। जो भी समीक्षक उन पर नज़र डालेगा उसे यह मानना होगा कि चाहे यह दार्शनकि कवि शैली की प्रौढता, भाषा के माधुर्य और वस्तुकार्य के निर्माण मे अमुक कवि से उत्कृष्ट न निकले, उपर्युक्त दोनो काव्य किसी प्रकार भी निम्न कोटि के नही ठहरेंगे और प्रोफेसर चट्टोपाध्याय तो स्वय इस बात को स्वीकार करते है कि अश्वघोष प्रथम श्रेणी का कवि है।[४] शंकर का उद्धरण देते हुए आप कहते हैं कि अश्वघोष मे अनेक पुनरुक्तिया है जिनसे उसका 'नौसिखिया' होना जाहिर है[५] परन्तु कालिदास की कृतियो मे भी अनेक पुनरुक्तिया हैं फिर भी उमका अपूर्व मेधा का कवि होना सर्वमान्य है। 'कुमारसभव' के सातवे सर्ग मे 'रघुवश' के सातवे सर्ग के अनेक श्लोक कवि ने जैसे के तैसे रख लिये हैं।[६] वास्तव मे सभी साहित्यकारो के कुछ न कुछ ऐसे पद और भाव होते है जिनके प्रति उनका विशेष झुकाव होता है। उन्हे वे बार बार प्रयुक्त भी करते है। प्रोफेसर का विचार है कि कालिदास के श्लोक (कुमार०, ७, ६२, रघु०, ७, ११) का व्यवहार दो बार अश्वघोष ने किया है। वे पूछते है—"क्या इससे साफ जाहिर नही होता कि चोर कौन है?" फिर वे कहते हैं कि "आचारवादी भिक्षु (कालिदास के) 'मद्य की सुरभि' को यत्नपूर्वक (मतलब से) भुला देता है।"[७] प्रोफेसर ने अर्थवशात् एक ही तर्क का दो विरोधी विचारो के अर्थ प्रयोग

[१]एनाल्स ऑव भण्डारकर इन्स्टिट्यूट, जुलाई, १९२०, पृ. ६३—६८। [२]वही, अगला अंक, पृ. १८९ से आगे। [३]द डेट ऑव कालिदास, पृ. ८३। [४]वही, पृ. १०६। [५]वही, पृ. ८७। [६]रघु., ५—११; कुमार., ५६—६२; रघु., १९, कुमार., ७३। [७]द डेट ऑव कालिदास, पृ. ८८।

किया है। प्रसन्नतापूर्वक वे यहां शारदारजन राय का उद्धरण देते है—"इस विचार से प्रबलतया अनुमान यह होता है कि कालिदास ही इन समान विचारों के कर्ता है। यदि ऐसा न होता तो वे इस प्रकार इन तुल्यात्मक भावो और पदो का प्रदर्शन न करते। चोर कभी चुरायी वस्तुओ का प्रदर्शन नहीं करता।"[1] परन्तु प्रश्न तो यह है कि चोर है कौन—कालिदास या अश्वघोष ? वह, जो अपनी चोरी छिपा लेता है या वह, जो उसका प्रदर्शन करता है ? यदि अश्वघोष ने कालिदास के पद चुराये होते तो क्या वह बार बार उनका प्रयोग कर उन्हें प्रदर्शित करता ? और क्या इसी तर्क के सहारे यह नही कहा जा सकता कि चोर वास्तव मे चुराये हुए पदो का बार बार प्रयोग करेगा, जिससे ससार को विदित हो जाय कि वे उसी के है किसी और के नही। वे उसके आवश्यक परिधान है जिन्हे वह प्राय धारण करता है। बाकी 'मद्य की सुरभि' 'आचारवादी भिक्षु' जान-बूझकर भुला नही देता, वरन् वह उसकी भावना ही नही कर सकता। उधर कालिदास पर अपने युग की छाप है। अपने समय को भूल पाना किसी कवि के लिए भी कठिन होता है, कालिदास भी अपनी भावनाओ मे समकालीनता को प्रत्यक्ष करता है। मद्यपान उसके समय मे एक साधारण बात थी। इस प्रकार वास्तव मे अश्वघोष वक्तव्य के अश को छिपाता नही वरन् स्वय उसके पदो को अपने देश-काल की कमजोरियो के साथ जोड उनमे अपनी समसामयिक प्रवृत्तियो को झलका देता है।

प्रोफेसर चट्टोपाध्याय यह भी कहते हैं कि "चूकि 'सौन्दरनन्द' उसकी प्रथम कृति है इसलिए अश्वघोष ने उस काव्य के अन्त में क्षमा-प्रार्थना में कुछ पक्तिया कही हैं। 'बुद्ध-चरित' लिखते समय कवि का यश प्रतिष्ठित हो चुका था, इसलिए उसे फिर क्षमा याचना की आवश्यकता न पडी।"[2] परन्तु क्षमा याचना क्या सस्कृत कवि के प्रत्येक काव्यारभ मे एक आवश्यक परम्परा नही बन गयी है ? और क्या यश प्राप्त कर लेने के बाद संस्कृत का कवि इस पद्धति का सर्वथा परित्याग कर देता है ? क्या स्वय कालिदास अपनी पूर्ण विकसित प्रज्ञा के प्रतीक 'रघुवश' के प्रारभ मे[3] उसी पद्धति का प्रयोग नही करता और क्या नौसिखुए कवि के सबध मे ही यह प्रणाली आवश्यक रही है? इसके उत्तर के लिए भी हम कालिदास पर ही निर्भर रहेगे। 'मालविकाग्निमित्र' नाटको मे कालिदास का प्रथम प्रयास है, परन्तु उसके प्रारभ मे क्या वह समीक्षा के साधारण आकडो को चुनौती नही दे देता ? और क्या हम उस मनस्वी कवि भवभूति के दृप्त शब्दो मे समालोचको के प्रति चुनौती नही पढते—**तान्प्रति नैव यत्नः। उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।**[4] विद्वान् लेखक फिर यह कहता है कि अश्व-

[1]द डेट आव कालिदास, पृ.८४। [2]वही, पृ.९०। [3]देखिए, पृ.१,२,३। [4]मालतीमाधव, १,८।

घोष ने अपने काव्यों में जो शाक्यों के पूर्वेतिहास और नन्द के जन्म तथा उसके पूर्वजों का उल्लेख किया है, वह आवश्यक है। वह रघुवंश की नकल में ऐसा करना है।[1] परन्तु इसके उत्तर मे यह पूछा जा सकता है कि किसी ऐतिहासिक काव्य की पूर्व स्थिति मात्र क्या दूसरे कवि को (पहले की नकल में) अपने काव्य मे वंशावली देने को बाध्य कर देगी? और चरित के आरंभ मे वंशावली देने की यह परम्परा संस्कृत साहित्य मे अनजानी है? क्या बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' के आरंभ मे उसी पद्धति का अनुसरण नही किया है? इसी प्रकार प्रोफेसर चट्टोपाध्याय ने अश्वघोष की एक त्रुटि से भी अपना पक्ष पुष्ट करना चाहा है। वे कहते है—"उपमा वृषभ के स्कंध से दी जाती है न कि सिंह के स्कंध से। अश्वघोष ने नन्द को कन्धे सिंह के और नेत्र वृषभ के दे दिये हैं। कालिदास दिलीप के नेत्रों का वर्णन नही करता, परन्तु उसके कन्धो की समता वृषभ के स्कन्धो से करता है। अश्वघोष ने (अपनी चोरी मे) भिन्नता लाने का प्रयत्न किया परन्तु उलटे उससे उसने अपनी साहित्यिक चोरी स्पष्ट कर दी।"[2] आगे वे लिखते है—"अथवा हम यह समझ ले कि अश्वघोष की यह 'भिन्नता' उसकी दुर्बल स्मरणशक्ति से उत्पन्न हुई है?"[3] इस वक्तव्य मे पहले तो बिना किसी प्रमाण के अश्वघोष का कालिदास से 'लेना' मान लिया गया है, फिर उस दोषपूर्ण प्रतिज्ञा पर यह कल्पित निष्कर्ष रखा गया है जो दूसरी गलती है। यदि वास्तव मे इस तुलनात्मक प्रसंग मे कोई त्रुटि है तो उसे कवि का सहज दोष मान लेने मे कौन सी रुकावट है? और यदि सच पूछे तो सिंह के कन्धे कटि की अपेक्षा इतने चौडे होते है कि उनकी समता वीर के कन्धो से की जा सके, और वृषभ के नेत्र तो सचमुच ही बहुत बडे होते है जिनका प्रयोग गावो की भाषा मे अद्यावधि होता है। 'ग्राम्य'-दोष परम्परा से वर्जित है, परन्तु इस परम्परा के बनने मे भी समय लगता है। जो 'ग्राम्य' होकर भी अश्वघोष के समय मे निंद्य न था, वही कालिदास के समय तक काव्यशैली और संस्कृति के विकास के कारण दोष हो गया। कालिदास के समय तक इसकी पारम्परिक स्थिति सपन्न हो गयी। विद्वान् प्रोफेसर के उस वक्तव्य पर कि 'शायद भिन्नता का कारण अश्वघोष की विस्मृति रहा हो' विचार करने से निःसंदेह उसकी सारी 'प्रतिज्ञा' ही गिर जाती है। क्या यह सोचना कुछ अजब न होगा कि अश्वघोष के सामने कालिदास की कृतियो की एक हस्तलिपि भी न थी? आखिर यह भी तो स्वाभाविक ही है कि जब कोई किसी कवि की कृतियो से उसके कुछ पदो को 'उडा' लेता है और उन्हे पचा जाने के लिए उनमे आवश्यक परिवर्तन करता है, तब उसके पास कम से कम उस कवि की कृतियों की एक प्रति होनी चाहिए। फिर इतनी चोरी कर लेने के बाद तो कम

[1] द डेट ऑव कालिदास, प. ६२। [2] वही, पृ. ६४, नोट। [3] वही, पृ. ६४।

से कम उसे उसकी शैली में ऐसा सिद्धहस्त हो जाना चाहिए और उसकी स्मरणशक्ति उन कृतियों के सबंध मे तो ऐसी तीव्र हो जानी चाहिए कि उससे अपने 'माडल' के प्रति ऐसी भद्दी भूल न हो जाय, जैसी प्रोफेसर ने बतायी है।

उनका कहना है कि अश्वघोष द्वारा वर्णित मारविजय कालिदास के 'कुमार-संभव' के कामवर्णन पर अवलंबित है।[1] परन्तु सत्य इसके ठीक विपरीत भी हो सकता है क्योकि यह घटना बुद्ध के जीवन मे विशिष्ट स्थान रखती है। विद्वान् प्रोफेसर की यह युक्ति विशेष कुतूहल पैदा करती है जब वे कहते हैं कि कालिदास मे काम द्वारा रति के चरणों का आलक्तक से रगा जाना देखकर ही अश्वघोष मे सुन्दरी को अपने गालो को चित्रित करने की कल्पना उठती है। इतना जरूर है, वे कहते है कि उन्हें किसी और से (नन्द से) न रगवाकर वह स्वय रंगती है। यह अश्वघोष का कालिदास के ऊपर एक सुधार है।[2] इस सबध मे विद्वान् लेखक ने जयदेव का निम्नलिखित उद्धरण दिया है—**स्मरगरल-खण्डनं मम शिरसि मण्डनं वेहि पदपल्लवमुदारम्**।[3] परन्तु यह अश्वघोष का कालिदास के ऊपर सुधार तो नही, वरन् यह तो कालिदास और जयदेव दोनो मे इस कारण मिलता है कि दोनो ही वात्स्यायन के बाद हुए है। बाकी शिव और उमा के विवाह की नारद द्वारा, और बुद्ध की महानता[4] की असित द्वारा भविष्यवाणी के सबध मे सीधा समाधान यह है कि बुद्ध की कथा मे इस घटना का स्थान पिछले साहित्य मे प्रचुर रहा है और यह सीधे बौद्ध कथाओं से ली जा सकी होगी। प्रोफेसर फिर कहते है कि "अन्तत और भी बाद का 'सूत्रालकार' (दिव्यावदान में सुरक्षित उसके तीनो प्रसगो, पृ ३५७–६४, ३८२–८४, ४३०–३३ से पता चलता है) प्रथम श्रेणी का एक ग्रथ है जिस पर कालिदास का प्रभाव बिलकुल ही नहीं है।"[5] इसी स्वीकृति से वास्तव में उनकी सारी युक्तिया मिट्टी हो गयी, क्योकि यदि अश्वघोष कालिदास के प्रभाव बिना सर्वांगसुन्दर और प्रथम श्रेणी का काव्य प्रस्तुत कर सका, तब क्या वही बिना उसके प्रभाव के अपने अपेक्षाकृत असुन्दर काव्यो को स्वय नही रच सकता था? अपनी आखिरी दलील के दौरान और सभवत अपने स्वीकरण से उत्पन्न समस्या से बचने के लिए विद्वान् लेखक एक नोट[6] में कहते हैं कि "तीसरे प्रसग की संघ के प्रति अशोक के दान की कहानी 'रघुवश' के पाचवें सर्ग मे वर्णित रघु के विसर्जन की कथा से प्रभावित हुई होगी।" इस वक्तव्य से श्री चट्टोपाध्याय का तर्क और भी अयुक्त हो जाता है। श्रद्धालु बौद्ध के लिए उदाहरणार्थ अशोक का त्याग क्या अधिक निकट और 'अशोकावदान' का कथाविस्तार क्या प्रचुर न था? और बौद्ध

[1] द डेट आव कालिदास, पृ. ९७। [2] वही, नोट। [3] वही। [4] वही, पृ. १००।
[5] वही, पृ. १०६। [6] वही।

पंडित होने के नाते अश्वघोष स्वय क्या उनका पडित न था ? इस प्रकार विद्वान् प्रोफेसर के शब्दो का सहारा लेते हुए यह कहा जा सकता है कि "इस प्रकार की समताएँ स्वाभाविक ही होती है, जब दो कथा–प्रसगो मे समता होती है और उन समताओ का आधार निश्चय करके प्रभाव ही नही होता ।"[1]

उसी लेख मे उठाये कुछ प्रश्नो का यहा हवाला दे देना श्रेयस्कर होगा । ऐतिहासिको के समान दोष से श्री चट्टोपाध्याय भी मुक्त न रह सके । उन्ही की भाति वे भी कहते हैं कि खारवेल ने पुष्यमित्र के साम्राज्य मे बड़ा उपद्रव मचा रखा था ।[2] खारवेल के अभिलेख मे 'बहसतिमित्र' नाम आया है, और चूकि पहले केवल इस दूसरे राजा के नाम के सिक्के मिले थे, 'बहसति' (बृहस्पति) को 'पुष्य' मानकर बहसतिमित्र को पुष्यमित्र मान लिया गया था । परन्तु अब चूकि पुष्यमित्र के नाम के सिक्के भी उपलब्ध हो गये है, सो अब इस राजा को खारवेल के हाथीगुफा के अभिलेख वाला बहसतिमित्र मानना युक्तिसगत नही, क्योकि कम से कम इस प्रमाण के आधार पर तो पुष्यमित्र और खारवेल समकालीन नही हो सकते, बाकी रहा चन्द्रगुप्त द्वितीय को उज्जयिनी का राजा[3] समझने का विरोध सो वह तो आसानी से सिद्ध किया जा सकता है, क्योकि चन्द्रगुप्त अवन्ति और सौराष्ट्र जीतकर वहा का राजा हो गया था । शिलालेखो[4] से प्रमाणित है कि स्कन्दगुप्त तक गुप्तो का आधिपत्य उस प्रात पर बना रहा । प्रो चट्टोपाध्याय ने एक बात और कही है कि "कालिदास ने ज्योतिष सबधी अपना ज्ञान विशेष रूप से प्रदर्शित किया है, जिसमे उस प्रात मे उस विद्या का विशेष प्रचार ज्ञात होता है और साथ ही उसका वहा हाल ही का प्रसार भी ।"[5] इसका उत्तर साधारण है । यदि ज्योतिष के वे लाक्षणिक शब्द प्रथम शती ई पू मे जाने गये तो हमे एक लबा काल बीच मे इसलिए छोडना होगा जिसमे प्रथम प्रचार के बाद वे इतने जनप्रिय हो सकें कि काव्यप्रसगो मे प्रयुक्त होने पर जनसाधारण द्वारा समझे जा सके । इस कारण भी कालिदास पहली सदी ईसवी पूर्व का नही हो सकता । इस तिथि के विरुद्ध कुछ और प्रमाण भी नीचे दिये जाते है—

(१) अपने ग्रथो के लम्बे प्रसार मे कालिदास कही भी शको का उल्लेख नही करता। यदि वह ई पू प्रथम शती मे हुआ होता तो 'गार्गी सहिता' के युगपुराण[6] वाले स्कध मे वर्णित उस शक-आक्रमण का उल्लेख अवश्य करता जो मगध पर ई पू ३५ के लगभग हुआ था । सीमाप्रान्त की ओर से आनेवाला यह आक्रमण अत्यन्त प्रबल और भयानक

[1] द डेट आव कालिदास, पृ. ६२। [2] वही, पृ. ११७ । [3] वही, पृ. १४३ ।
[4] जूनागढ़ और मन्दसोर के अभिलेख । [5] डेट ऑव कालिदास, पृ. १६२। [6] ज. बी. ओ. आर. एस. १६, १, पृ. २१, पं. ५१ और पश्चात्; वही पृ. ४१ ।

था। इसमे इतनी सख्या मे मागध पुरुष मारे गये थे कि रक्षा करने और हल चलाने तक के लिए पुरुष न रह गये थे। ये कार्य स्त्रिया ही करने लगी थी और उन्हें अनेक के लिए एक पुरुष पतिरूप मे वरण करना पडा था। यह आक्रमण अम्लाट[१] के नेतृत्व मे हुआ था जो कदाचित् शकराज अय (ऐजेस्, ई पू. ५८–ई पू ११) का प्रातीय शासक था।

(२) कालिदास के ग्रथो से जो देश मे पूर्ण शाति और समृद्धि का पता चलता है वह प्रथम शती ई पू. की राजनीतिक अशाति मे कभी संभव न था। प्रथम शती ई. पू. हिन्दू-ग्रीक और शक राजाओ का पजाब मे शासन था।

(३) उस कवि के ग्रथो मे पौराणिक सदर्भो की अनन्त सख्या सुरक्षित है जो पुराणों के सहिता रूप मे स्थिर किये जाने के बाद ही सभव थी। और इन पुराणो के अधिकतर सस्करण गुप्तकाल मे ही सकलित हुए। ई पू. प्रथम शती मे कालिदास के ग्रथों वाला उनका रूप अभी नही बन पाया था।

(४) देवी-देवताओ की अनन्त मूर्तियों और उनके मदिरो का जो अथक वर्णन कालिदास ने अपने ग्रथो मे किया है वे मूर्तिया प्रथम शती ई. पू की न होकर गुप्तकालीन ही हो सकती है। प्रतिमा पूजन तो नि सन्देह बहुत पूर्व काल मे चल पडा था परन्तु हिन्दू देवी-देवताओ का इस सख्या मे निर्माण कुषाणकाल मे और उसके पश्चात् ही सभव हो सका। इसका प्रधान कारण यह था कि मूर्तियो की सख्या का यह परिमाण बौद्धो के महायान सप्रदाय के प्रवर्तन के बाद ही सभव हो सका। महायान भक्तिमार्ग था जिसका प्रवर्तन सभवत कुषाणराज कनिष्क के समय मे हुआ। इसी कारण कनिष्क से पहले की यानी ईसवी पहली सदी के पहले की हिन्दू मूर्तिया भारत भर मे एकाध ही उपलब्ध है। गुप्तकाल के पूर्व प्राय यक्ष-देवताओ की प्रतिमाओ की ही पूजा होती थी। यही कारण इस बात का भी है कि अश्वघोष के काव्यो मे देवमूर्तियो का इतना प्रचुर वर्णन नही मिलता जितना कालिदास के ग्रथो मे मिलता है। इससे भी कालिदास की अश्वघोष से उत्तरकालीनता सिद्ध होती है, और हमे ज्ञात है कि अश्वघोष पहली सदी ईसवी मे हुआ।

इन विपरीत प्रमाणो के कारण हमे कालिदास को ई पू प्रथम शती मे रखने का विचार छोड देना पडेगा। इसी प्रकार श्री होर्न्ले,[२] महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री[३] और डा. देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर[४] का ईसा की छठी सदी वाला विचार भी—जिसके अनुसार कालिदास यशोधर्मा के समकालीन हो जाता है—ए बी कीथ[५] और

[१]जे. बी. ओ. आर. एस., पृ. २१, पंक्ति ५८। [२]जे. आर. ए. एस. १९०९, पृ. १०९ से आगे। [३]जे. बी. ओ. आर. एस., १९१६ पृ. ३१ आदि। [४]एनाल्स. इन्स्टि., १९२७, ८, पृ. २००–२०४। [५]जे. आर. ए. एस. १९०९, पृ. ४३३ आदि।

बी सी. मजुमदार[1] द्वारा पूर्णतया असिद्ध किया जा चुका है और उसे हमे तज देना होगा। होर्न्ले और पाठक द्वारा प्रस्तुत 'कुंकुम' वाला प्रमाण भी सर्वथा खडित हो जाता है, जब हम 'रघुवश' के चौथे सर्ग मे 'सिन्धु' के स्थान में 'वंक्षु'[2] का पाठ स्वीकार कर लेते है। हूणो ने ४२५ ई. में वक्षु नद पार कर लिया था और वे उसकी घाटी मे बस चुके थे। तभी वे ईरान के राजा बहराम गौर द्वारा पराजित हुए थे और उनके और भारत के बीच की सीमा वक्षु नदी निर्धारित कर दी गयी थी। इससे पहले ३५० ई. मे ही हूणो ने फारस पर आक्रमण किया था, जब शापूर महान्[3] ने उन्हें भगा दिया था। इस कारण इसकी बिलकुल ही आवश्यकता नही कि कालिदास को इसलिए छठी सदी मे घसीटा जाय जिससे हूणो को भारत पर आक्रमण करने और कश्मीर में बसने का अवकाश मिल जाय। तब वे ठीक वहा बसे थे जहा कालिदास के रघु और मेहरौली लौहस्तभ के 'चन्द्र' ने उन्हें पराजित किया था। और चूकि मन्दसोर अभिलेख के कवि वत्सभट्टि[4] ने कालिदास की नकल की है, कालिदास को कम से कम ४७२ ई. से पूर्व तो रखना ही होगा, क्योकि यह लेख इसी सन् मे लिखवाया गया था।

कालिदास ने कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल मे होनेवाले हूणों और पुष्यमित्रों के आक्रमणों का उल्लेख नही किया है, इस कारण श्री मनमोहन चक्रवर्ती[5] की पाचवी सदी के अन्त वाली तिथि भी छोड देनी पडेगी। इस प्रकार कालिदास का समय खिचकर ४०० ई. के आसपास ही रह जाता है और चूकि उस कवि ने अनेक प्रसगों मे वात्स्यायन के भावों का अनुकरण किया है, वह वात्स्यायन के पश्चात् ही रखा जा सकता है। वात्स्यायन का काल सामान्यतया तीसरी सदी ईसवी मे माना जाता है, इस कारण उसके बाद का हमारा कवि लगभग ४०० ई. मे हुआ। इस निष्कर्ष से भण्डारकर,[6] कीथ[7] और स्मिथ[8] भी सहमत है।

नीचे कुछ ऐसे प्रमाणो का उल्लेख किया जा रहा है जिनसे कवि की गुप्तकालीनता प्रमाणित होती है।

कालिदास की भाषा और भावो तथा गुप्तकाल के अभिलेखो मे आश्चर्यजनक समता है, जो केवल प्रासगिक नही हो सकती। कभी कभी तो ऐसे पद-पदात मिलते हैं जो

[1]जे आर. ए. एस., पृ. ७३ आदि, जे. बी. ओ. आर. एस. १९१६, पृ. ३८९। [2]मेघदूत की भूमिका; जे. बी. आर. ए. एस. १९, पृ. ३५–४३। [3]इंडि. ऐंष्टि. १९१९, पृ. ६६। [4]मन्दसोर का लेख, पृ. ३१, और ऋतुसंहार, २, ३। [5]जे. आर. ए. एस. १९०३, पृ. १८३; वही, पृ. १५८। [6]जे. बी. बी. आर. ए. एस., २०, पृ. ३९९। [7]हिस्ट्री., पृ. ८२। [8]अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, चतुर्थ सं. पृ. ३२१।

सर्वथा समान रूप से दोनो में व्यवहृत हुए हैं। चक्रवर्ती[१] और बसाक[२] ने दोनों की समानता भली भांति दिखला दी है। इसी प्रकार एफ डब्लू. टामस ने भी कालिदास के कितने ही ऐसे पदो का उल्लेख किया है जो 'गुप्' धातु से बनते हैं।[३] और यद्यपि टामस और हमारे मत मे थोडा अतर है, फिर भी उनके प्रयास से एक बात तो हमारे पक्ष मे सिद्ध हो ही जाती है। वह यह कि कालिदास को उन पदो के प्रयोग से स्नेह था जो 'गुप्' धातु से बनते हैं। यह गुप्तो की संरक्षकता के कारण भी हो सकता है। कालिदास के काव्यो मे निर्दिष्ट गुप्तकालीन सामाजिक, धार्मिक, ललितकला सबंधी समानताएँ तो अनत है।[४] यहा हम इस प्रकार की केवल तीन समानताओं का उल्लेख करेंगे। गुप्त मुद्राओं के ऊपर छपे लेख—"समरशतवितनविजयो जितरिपुरजितो दिव जयति,"[५] "राजाधिराजः पृथिवीविजित्वा दिव जयत्याहृतवाजिमेधः[६]", "क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिव जयति विक्रमादित्य"[७] आदि कालिदास के "पुरा सप्तद्वीपो जयति वसुधामप्रतिरथ"[८] से बहुत कुछ मिलते है। गुप्त मुद्राओं के ऊपर खचित मयूरारोही कार्त्तिकेय[९] शायद गुप्त सम्राटों के कुलदेवता थे। कालिदास ने कुमार और स्कन्द[१०] का कई बार उल्लेख किया है और उसके 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन'[११] मे तो मानो गुप्त सिक्को का कार्त्तिकेय वाला अभिप्राय (मोटिफ) अनूदित हो गया है।

कालिदास के ग्रथो मे देश और समाज की राजनीतिक शांति और आर्थिक समृद्धि पूर्णतया दृष्टिगोचर होती है। वैभव का जीवन, ललित कलाओ और साहित्य का व्यसन पूर्णतया सुरक्षित शासन मे ही सभव है। और इसमे सन्देह नही कि कालिदास का काल विभूतिजनक और समृद्ध शासन का है। यह अवस्था उस काल गुप्त काल की ही थी।

धार्मिक सहिष्णुता जो गुप्त सम्राटों के अभिलेखो मे मिलती है और जो चीनी यात्री फाह्यान द्वारा सपुष्ट होती है, वह कालिदास के ग्रथो द्वारा भी पूर्णतया समर्थित है। वे पौराणिक ख्याते और जनविश्वास जो कालिदास मे भरे पडे है, गुप्तकाल मे ही अधिकतर सकलित हुए थे। हिन्दू देवप्रतिमाओ का अनत विस्तार गुप्तकाल और कालिदास के ग्रथो मे समान वस्तु है। प्राग्-गुप्तकाल मे यक्षो और बोधिसत्त्वो की प्रतिमाओं का

[१] जे. आर. ए. एस. १९०३, पृ. १८३; १९०४, पृ. १५८। [२] प्रो. सेकड ओरि. का., पृ. ३२५। [३] जे. आर. ए. एस., १९०९, पृ. ७४०। [४] उपाध्याय : इण्डिया., परिशिष्ट। [५] समुद्रगुप्त, ध्वजाधारी, सामने। [६] चन्द्रगुप्त द्वितीय, अश्वमेध, सामने। [७] वही, छत्रमुद्रा, सामने। [८] शाकुन्तल, ७, ३७। [९] कुमारगुप्त, मयूरमुद्रा पीछे। [१०] रघु., २, ३, ३७, ७५; ३, १६, २३, ५५; ५, ३६ आदि। [११] वही ६, ४।

ही आधिक्य था। कालिदास ने कुषाणकालीन शालभंजिका-यक्षी-मूर्तियों से संयुक्त रेलिंगों का उल्लेख[1] किया है जो मथुरा की कुषाणकालीन रेलिंगो को देखे बगैर सभव न था।

कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने कालिदास कृत 'कौन्तलेश्वर दौत्य' नामक नाटक का उल्लेख किया है।[2] इसमे कालिदास का विक्रमादित्य द्वारा कुन्तल (दक्षिण महाराष्ट्र) के राजा के पास दूत बनाकर भेजा जाना लिखा है। लौटकर कालिदास ने जो कुछ एक श्लोक के द्वारा बताया वह श्लोक राजशेखर की 'काव्यमीमासा', भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'श्रृगारप्रकाश' मे भी मिलता है।[3] यह 'कौन्तलेश्वरदौत्य' आज उपलब्ध नही। 'भरतचरित' के अनुसार[4] 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत काव्य की रचना कुन्तलेश ने की।[5] इसकी 'रामसेतुप्रदीप' नाम की टीका से प्रमाणित है कि 'सेतुबन्ध' का रचयिता प्रवरसेन था, जिसके काव्य को विक्रमादित्य ने कालिदास द्वारा शुद्ध कराया। कुन्तल पर तब ब्राह्मण वाकाटक कुल का शासन था। उसी वंश का 'सेतुबन्ध' का रचियता प्रवरसेन चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता और उसके दामाद वाकाटकराज रुद्रसेन का पुत्र और कुन्तल का राजा था। इसलिए कुन्तलेश प्रवरसेन, कालिदास और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य तीनो समकालीन हुए।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हमारा कवि वात्स्यायन के बाद हुआ होगा क्योंकि उसने उसके श्रृंगारिक प्रसगो का उपयोग किया है। वात्स्यायन का काल विद्वानो ने ईसा की तीसरी सदी मे रखा है। इधर ख्यात-परम्परा से कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिए। परन्तु ईसा की तीसरी सदी के बाद और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के पहले चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिवा दूसरा कोई विक्रमादित्य नही। अत कालिदास को चन्द्रगुप्त के समय ४०० ई. के लगभग होना चाहिए।

कालिदास को ग्रीक ज्योतिष के लाक्षणिक शब्द जामित्र[6] (दियोमेत्रान) आदि का ज्ञान है। इसलिए इस कवि को गुप्तकाल मे ही होना चाहिए, जिससे ग्रीक ज्योतिष-शब्दो के देश मे प्रथम परिचित और पूर्णतया प्रचारित होने के अर्थ पूरा समय मिल सके।

[1]स्तंभेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्। स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥ रघु १६, १७। [2]देखिए, 'औचित्यविचारचर्चा'। [3]असकलहसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि। पिबति मुख-सगंधीन्याननानि प्रियाणां त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥ [4]जड़ाशयस्यान्तरगाधमार्गमलब्धरन्ध्र गिरिचौर्यवृत्त्या। लोकेष्वलंकान्तमपूर्वसेतुं बबन्ध कीर्त्या सह कुन्तलेशः॥ सर्ग १। [5]कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्वला। सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥ हर्षचरित, ४७, १६। [6]कुमार., ७, १।

हूणो को रघु ने उनके स्वदेश मे, वक्षुतीर पर, पराजित किया। उस घाटी मे हूण ल० ४२५ ई. मे बसे थे। जब बहराम गौर के उन पर विजय प्राप्त करने पर हूणो की सीमा वक्षु नदी बनी थी। बाल्ख्री की विजय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने की थी, जैसा चन्द्र के मेहरौली-लौहस्तंभ से ध्वनित है। जान पडता है, 'रघुवश' ४२५ ई. के तुरन्त बाद लगभग ४३० ई. के रचा गया और पूर्ण विकसित मेधा की कृति होने से कदाचित् वह काव्य कालिदास की अन्तिम रचना थी।

नीचे तक्षण (भास्कर्य) सबधी कुछ प्रमाण दिय जाते हैं।

कालिदास ने 'शाकुन्तल' मे भरत की जलपक्षियो की तरह की गुथी उंगलियो वाले हाथ (जालग्रथितांगुलि कर) का उल्लेख किया है। जालग्रथितागुलि करो वाली मानवप्रतिमाएँ नितान्त न्यून है और जो एकाध है भी वे केवल गुप्तकाल की हैं। लखनऊ सग्रहालय मे सुरक्षित मानकुवर का बुद्ध इस प्रसग मे उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है। इसकी उगलिया जालग्रथित है। इससे भी स्पष्ट उसी सग्रहालय की अनेक अन्य (जैसे न. बी १०, दूसरी, फुट भर उची, अभय मुद्रा मे सिंहासनासीन) प्रतिमाएँ हैं। और साहित्य मे केवल कालिदास ऐसी उगलियो का वर्णन करता है और भास्कर्य मे केवल गुप्तकाल मे ऐसी प्रतिमाएँ कोरी गयी, दोनो गुप्तकालीन ही है।

कालिदास ने चमरधारिणी[1] गगा और यमुना का उल्लेख किया है। इन नदियो का यह चमरवाही प्रतिमारूप कुषाणकाल के अन्त और गुप्तकाल के आरम्भ मे प्रकट हुआ। ये मूर्तियां मथुरा[2] और लखनऊ[3] के सग्रहालयों मे सुरक्षित है। समुद्रगुप्त के सिह-प्रतीक सिक्को पर पीछे की ओर गगा की मूर्ति उत्खचित है।[4]

प्राक्-कुषाणकालीन मूर्तियो के छत्र पश्चात्काल मे पृष्ठ भाग से उठते हुए प्रभा-मण्डलो के रूप मे बदल गये, शायद रिलीफ की असुविधा के कारण। कुषाणकालीन प्रभामण्डल सादे या कभी कभी किनारे पर तरगित रेखाओ के साथ प्रस्तुत होते थे। बाद, गुप्तकाल में इन प्रभामण्डलो पर विशेष ध्यान देकर इन्हे अनेक अभिप्रायो (मोटिफ) मे भर दिया गया। इनमे प्रकाश (किरण) की लहरे विशेष उल्लेखनीय हैं। मूर्तिकला के इस विशेष विकास और प्रभामण्डल की ज्वालामयी स्फुरित रेखाओ ने कालिदास को खास तौर पर आकर्षित किया। इस काल के छायामण्डल या प्रभामण्डल को कालिदास ने एक सांकेतिक नाम, 'स्फुरत्प्रभामण्डल'[५], दिया, जो पहले प्राप्य न था। इस प्रकार के

[1]कुमार., ७, ४२।　[2]न. १५०७, महोली से प्राप्त गंगा की मूर्ति और नं. २६५६, कटरा केशवदेव से प्राप्त यमुना की।　[3]यमुना, नं. ५५६३।　[4]देखिए, एलेन, पृ. ७४ (भूमिका)।　[५]रघु., ३, ६०. ५, ५१; १४, १४; कुमार., १, २४।

प्रभामण्डलों पर बनी, तम को दूर करने वाली बाणरूपिणी रश्मिराशिया लखनऊ सग्रहालय की अनेक मूर्तियों मे देखी जा सकती है। न बी. १०, जे १०४, जे ११७, और बी ३५६ पर तो मानो कवि का वर्णन सजीव हो उठा है।

'कुमारसभव' मे वर्णित[१] शिव की समाधि तथा कुषाणकालीन वीरासन मुद्रा मे बैठी बुद्ध और बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं मे अद्‌भुत समानता है।

ऊपर दिये प्रमाणो मे यह सर्वथा सिद्ध हो जायेगा कि कालिदास गुप्तयुगीन कवि था। जो शांति उसके काव्यो मे दर्शित है वह कवि को स्कन्दगुप्त के राज्यकाल और कुमारगुप्त के शासनकाल से विलग कर देती है, क्योकि तब पुष्यमित्रों और हूणो के आक्रमण प्रारभ हो गये थे। इस कारण कालिदास के समय की पिछली अन्तिम सीमा ४४९ ई मे निर्धारित की जा सकती है, क्योकि पुष्यमित्रो का युद्ध सभवत. ४५० ई मे लडा गया था।[२] परन्तु कवि ने यदि कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनो की ओर अस्पष्ट रूप से सकेत किया है तो सभव है कि वह स्कन्दगुप्त के जन्म तक जीवित रहा हो। कवि ने काफी लिखा है, और यदि हम मानें कि वह वृद्धावस्था तक जीवित रहा, सभवत सत्तर साल तक, तो ४४५ ई. के लगभग उसकी मृत्यु मानते हुए उसका जन्म हम ३७५ ई के लगभग रख सकते हैं। इस प्रकार यदि यह तर्क सही है तो कालिदास समुद्रगुप्त के शासनकाल मे जन्म लेकर सभवत चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासन काल के पूरे दौरान और कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य के राज्यकाल के एक बडे भाग तक जीवित रहा। तब उसने स्कन्दगुप्त का जन्म भी देखा होगा, क्योकि पुष्यमित्रो को पराजित करते समय स्कन्दगुप्त की आयु कम से कम बीस वर्ष की तो अवश्य रही होगी। और यदि कालिदास ने अपना कवि-जीवन पचीसवे वर्ष की आयु से आरम्भ किया तो उसका 'ऋतुसहार' सभवतः ४०० ई के लगभग लिखा गया होगा और उसका क्रियात्मक काल उस लबे समय से सबद्ध रहा होगा, इतिहासकार जिसे भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण युग' कहते हैं।[३]

भारवि

सस्कृत काव्य का दूसरा महान् कवि भारवि हुआ। चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीय के ऐहोल के अभिलेख (६३४ ई) मे कालिदास के साथ ही उसका भी उल्लेख हुआ है जिसमे प्रकट है कि तब तक इस महाकवि की ख्याति कालिदास की ही भाति देश मे फैल चुकी थी। 'काशिकावृत्ति' मे भी उसका उलेल्ख हुआ और दण्डी ने अपनी 'अवन्तिसुन्दरी

[१] ३, ४४-५०। [२] स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री., चतुर्थ संस्करण, पृ. ३२६। [३] उपाध्याय : इण्डिया इन कालिदास, परिशिष्ट– द डेट ऑव कालिदास।

कथा' में अपने प्रपितामह अथवा उसके मित्र के रूप मे भारवि का उल्लेख किया है। भारवि कालिदास से प्रभावित हुआ था और स्वय उसने महाकवि माघ को प्रभावित किया था। हम भारवि का रचनाकाल ५०० ई. और ५५० ई के बीच मान सकते हैं। भारवि अपने काव्य के 'अर्थगौरव' के लिए प्रसिद्ध है। जिस महाकाव्य ने उसे यश दिया वह 'किराता-र्जुनीय' है।

किरातार्जुनीय प्रबन्धकाव्य का कथानक महाभारत की एक कथा पर अव-लबित है। किरातार्जुनीय महाकाव्य है जो १८ सर्गों मे अद्भुत कविमेधा से सपन्न हुआ है। जुए मे कौरवो से हारकर युधिष्ठिर भाइयो के साथ वन मे रहने लगे थे। उनके भेजे चर ने लौटकर दुर्योधन के सफल शासन की चर्चा की। द्रौपदी ने तब पाडवो को धिक्कार कर उन्हे कौरवों से युद्ध करने को ललकारा। वेदव्यास ने आकर अर्जुन को इन्द्रकील पर्वत पर तप कर शिव से पाशुपत-अस्त्र पाने की सलाह दी। अर्जुन ने घोर तपस्या कर शिव को प्रसन्न किया। पर शिव ने उसकी परीक्षा करनी चाही इससे किरात का रूप धारण कर उन्होने अर्जुन की ओर बनैला सुअर भेजा। अर्जुन ने शिव के साथ ही सुअर पर बाण छोडा और दोनो बाणो ने लक्ष्य को एक साथ वेध दिया। इससे शिकार किसका है इस पर विवाद छिड गया जिससे अर्जुन और किरातरूपी शिव मे युद्ध ठन गया। अर्जुन की शक्ति से प्रसन्न होकर अन्त मे शिव ने उसे अपना पाशुपत-अस्त्र प्रदान कर दिया।

महाकाव्य मे काव्यानुशासन की रीति के अनुसार ही ऋतुओ, पर्वतो, वनो, जल-क्रीडा आदि का विशद वर्णन हुआ है। यह काव्य मुख्यत वीर रस और राजनीति का है। इसका आरम्भ ही राजनीतिक कथोपकथनो से होता है। काव्य अलकारो से भरा है, उपमा, श्लेष आदि का भरपूर उपयोग हुआ है। चित्रकाव्य तक के उदाहरण उसमें मिलते है। एक श्लोक मे तो केवल 'न' अक्षर ही प्रयुक्त है—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्[1] ॥ (१५,१४)

पर निश्चय कवि काव्यगौरव मे इस चतुर प्रदर्शन से ऊपर उठ गया है और उसके अनेक स्थल सौंदर्य और माधुर्य मे दृष्टान्त बन गये है। उनमे गभीर शालीनता के साथ प्रकृति के सूक्ष्म और आकर्षक रूप का उद्घाटन हुआ है। वर्णन की शक्ति कवि मे अपूर्व है।

[1]इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—वह मनुष्य नहीं जिसे नीच मनुष्य ने आहत किया; मनुष्य मनुष्य नहीं जिसने नीच मनुष्य को आहत किया। आहत आहत नहीं जिसका स्वामी आहत नहीं हुआ; निश्चय वह निष्पाप नहीं जिसने आहत (घायल) को आहत किया ।

परन्तु निश्चय कालिदास की सुरुचि भारवि में नही। कालिदास ने केवल काव्यशक्ति का प्रदर्शन करने के लिए एकाक्षरी छन्द नही लिखे। 'किरातार्जुनीय' के कुछ सुन्दर स्थलो का परिचय लें।

शरद् की सुहावनी ऋतु मे हरे तोतों की पक्ति मूंगिया चोंचो मे धान की पीली बाले लिये आकाश मे उडी जा रही है, जैसे गगन मे इन्द्रधनु उदय होकर छा गया हो—

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः
शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती ।
शुकावलिर्व्यक्त शिरीषकोमला
धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥ (४, ३६)

चर युधिष्ठिर के सामने नतमस्तक हुआ पर उसने मन को प्रभावित न होने दिया, स्पष्ट कह दिया कि शत्रु ने राज्य पर अधिकार कर लिया है (सुरुचिपूर्वक प्रजारंजन के साथ धर्म से वह उस पर शासन कर रहा है), निश्चय जो स्वामी का हित चाहता है वह चाटुकारिता नही करता—

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे
जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः ।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं
प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥

दुर्योधन की सफल राजनीति का एक वर्णन इस प्रकार है—

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः
कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम् ।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते
नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥

उसने कभी धनुष नही ताना, रोष की रेखाओ ने कभी उसके चेहरे को विकृत नही किया। राजा उसके गुणो से ही प्रभावित होकर उसका शासन माला की भांति सिर पर धारण करते है।

भारवि दाक्षिणात्य ब्राह्मण था, सभवत: नासिक के आस-पास का निवासी था। कालिदास, माघ और श्रीहर्ष के साथ उसका नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

भट्टि

इस युग के महान् कवियो मे ही भट्टि और कुमारदास भी गिने जाते है। भट्टि का काव्य 'रावणवध' कवि के नाम से जुडा, 'भट्टिकाव्य' नाम से प्रसिद्ध है। कवि का कहना है

कि उसने वलभी मे राजा श्रीधरसेन की सरक्षा मे अपना काव्य लिखा। इस नाम के चार राजाओ ने ५०० ई. और ६४१ ई के बीच वलभी मे राज किया, पर इनमे से कौन भट्टि का संरक्षक था, यह कह सकना कठिन है। भट्टि नाम के ब्राह्मण को दिये दान के अभिलेख से लगता है, यदि यह दान कवि को ही दिया गया था, कि कवि संभवत छठी सदी ईसवी के उत्तरार्ध मे हुआ। यह भी कहा जाता है कि चूकि 'भट्टि' सस्कृत 'भतृ' का प्राकृत है, कुछ अजब नही जो प्रसिद्ध भर्तृहरि ही भट्टि हो। एक परम्परा के अनुसार वह भर्तृहरि का पुत्र या सौतेला भाई भी माना गया है, पर इन अटकलो पर निश्चय विश्वास नही किया जा सकता और न इस सुझाव पर ही कि कवि कुमारगुप्त द्वितीय के मन्दसोर अभिलेख का रचयिता वत्सभट्टि है। भामह ने भट्टि की कविता का उद्धरण दिया है और माघ ने व्याकरण के कौशल मे उसका अनुकरण किया है।

'भट्टिकाव्य' अथवा 'रावणवध' द्वयाश्रय काव्य है जिसमे राम की कथा के साथ-साथ व्याकरण के नियमों का उद्‌घाटन हुआ है। वस्तुत व्याकरण सिखाने के लिए ही इस काव्य की रचना हुई है। बाईस सर्गो का यह काव्य चार भागो मे विभक्त है। पहले (१ से ४) चार सर्गों में साधारण नियमो की व्याख्या है, अगले पाच में विशेष नियमो की, उनसे अगले चार सर्गों मे अलकारो का निरूपण है और शेष मे कालादि का। विषय की बाधा मार्ग मे होते हुए भी कवि ने काव्यरचना मे पर्याप्त सफलता पायी है, फलत भारतीय परम्परा ने भट्टि को भी महाकवि माना है। नि सन्देह कवि की भाषा मे प्रवाह है--

न तज्जलं यन्न सुचारुपकज
न पंकजं तद् यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं
न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥

वह जल नही जहा सुन्दर कमल न हो, वह कमल नही जिसमे भौरे अटे न हो, भौंरे भौरे नही जो गुज न रहे हो, और वह गुजन ही क्या जिसने मन को हर नही लिया ? वर्णन शरद् ऋतु का है जब सारे ताल-तलैया मनहर गूजते भ्रमरो से भरे कमलो से ढक जाते हैं। एक और दृष्टान्त प्रवाहमयी भाषा का निम्नलिखित है—

रामोऽपि दाराहरणेन तप्तो
वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः ।
तप्तेन तप्तस्य यथायसो नः
सन्धिः परेणास्तु विमुञ्च सीताम् ॥

राम पत्नी के अपहरण से जल उठे हैं, हम प्रिय बन्धुओ के निधन से; हम उनसे मेल कर लें, जैसे तपा लोहा तपे लोहे से करता है, सीता को मुक्त कर दो !

कुमारदास

इस काल के महाकवियो मे ही लका के नृपति कुमारदास की भी गणना है। कालिदास के प्रकरण मे हमने लंका के इस राजा से कालिदास की मैत्री की अनुश्रुति का उल्लेख किया है। निश्चय यह राजकवि कालिदास की कला से प्रभावित था। जैसे 'रघुवश' के सातवे सर्ग के पर्याप्त अनुकरण द्वारा उसका महाकाव्य 'जानकीहरण' प्रमाणित करता है। सिहल के इस राजा ने ५१७ ई. से ५२६ ई तक राज किया था। राजशेखर ने उसकी बडी प्रशसा की है।

'जानकीहरण' बीस सर्गों मे प्रस्तुत राम की कथा है, जो राम के जन्म से पहले आरम्भ होती और राम के राज्यारोहण तक चलती है। इस अर्थ मे नि सन्देह काव्य का नाम पाठको के मन मे केवल सीता के रावण द्वारा अपहरण मात्र का प्रसग प्रस्तुत करने का भ्रम उत्पन्न करता है। कवि वैदर्भी वृत्ति और अलकार का धनी है। एक उदाहरण ले—

अतनुनातनुना घनदारुभिः स्मरहितं रहितं प्रविधक्षुणा ।
रुचिरभाचिरभासितवर्त्मना प्रखचिता खचिता न न वीपिता ॥

आकाश चपला से चमत्कृत है, बादलो का ईंधन जल उठा है, प्रखर प्रणय विरहित-प्रणयियो को दग्ध कर चला है।

स्त्रिया बालक राम को खोजती हुई पूछती है—'अरे, राम यहा नही, भला गये कहा?' राम हाथो से आखे मूदे उनके साथ छिपने-खोजने का खेल खेल रहे है—

न स राम इह क्व यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः ।
निजहस्तपुटावृताननो विदधेऽलीकनिलीनमर्भकः ॥

अन्य कवि

इस युग मे कुछ और कवियो ने भी काव्य रचना की, जिनका उल्लेख कर देना यहा युक्तियुक्त होगा। इनमे पहला **मेण्ठ** अथवा **भर्तृमेण्ठ** कश्मीर का कवि था जिसका उल्लेख कल्हण ने अपनी 'राजतरगिणी' मे किया है। मेण्ठ का दूसरा नाम हस्तिपक था और वह राजा मातृगुप्त का सरक्षित कवि था। मातृगुप्त का राज्यकाल ठीक ठीक तो नही ज्ञात है पर वह कश्मीर के सिहासन का प्रवरसेन से पूर्वाधिकारी माना गया है। इस कारण मेण्ठ और मातृगुप्त का समय छठी सदी का उत्तरार्ध, कुमारदास से पूर्व, होना चाहिए। कल्हण कहता है[1] कि जब मेण्ठ ने अपना काव्य 'हयग्रीववध' सुनाया तब राजा इतना प्रसन्न हुआ कि कवि के ग्रथ को बाधते समय उसने बेठन के नीचे सोने का थाल

[1] **राजतरंगिणी, तृतीय तरंग, २६४-६६।**

रखवा दिया जिससे काव्य का रस चूकर नष्ट न हो जाय। कल्हण ने स्वय **राजा मातृगुप्त** को कवि बताया है और एक अनुश्रुति ने उसे कालिदास मान उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य द्वारा कश्मीर का राज्य भी सौप दिया है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर लिखी उसकी एक टीका के उद्धरण भी मिलते है। उसके दो छन्द कल्हण ने अपने ग्रंथ मे उद्धृत किये है।

बुद्धघोष सभवत मेण्ठ से पहले हुआ था। यह निश्चय इस नाम के प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक से भिन्न है। इसका दस सर्गों मे प्रस्तुत महाकाव्य 'पद्मचूडामणि' बुद्ध के जीवन पर अवलबित है। मेण्ठ के शीघ्र ही बाद सभवत कश्मीरी कवि **भौमक** ने २७ सर्गों मे अपना महाकाव्य 'रावणार्जुनीय' अथवा 'आर्जुनरावणीय' लिखकर न केवल रावण और कार्तवीर्य अर्जुन की कथा कही बल्कि उसके साथ ही 'भट्टिकाव्य' की ही भाति व्याकरण के नियमो का भी उद्घाटन किया।

शतककार कवि

इसी काल, युग के प्राय अन्त मे, कुछ शतककार हुए जिनका उल्लेख प्रासगिक होगा। इनमे प्रधान नीतिशतक, शृगारशतक और वैराग्यशतक का रचयिता भर्तृहरि है जिसे बार बार प्रव्रजित और गृहस्थ होने का श्रेय अनुश्रुतिया देती है। यदि वह 'वाक्यपदीय' के लेखक से अभिन्न है तो निश्चय वह ६५० ई. के लगभग मरा और उसका रचना-काल ६०० ई के शीघ्र ही बाद रहा होगा। उसके कुछ ही काल बाद 'अमरुशतक' का मधुर रचयिता अमरु अथवा अमरुक हुआ जिसने अपने रसमय छदो से शृगार की साधना की। मयूर, बाण और सिद्धदिवाकर राजा हर्ष के समकालीन थे। मयूर ने 'मयूरशतक' अथवा 'सूर्यशतक', बाण ने 'चण्डीशतक' अथवा 'देवीशतक' और मातग दिवाकर ने 'भक्तमारस्तोत्र' लिखा, यदि वह जैन लेखक मानतुग मे अभिन्न था। इसी काल सभवत 'कल्याणमदिरस्तोत्र' का रचयिता सिद्धसेन दिवाकर भी हुआ।

नाटक

सस्कृत मे अच्छे खेले जानेवाले नाटक भास ने दिये। भास का नामोल्लेख स्वय कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' मे सौमिल्ल और कविपुत्र के साथ किया है। सौमिल्ल और कविपुत्र के तो नाम मात्र जाने हुए है, उनकी कोई नाट्यरचना आज उपलब्ध नही। इस स्वर्ण युग और निचली सीमा पर होनेवाले सस्कृत नाटककारो की सख्या बहुत नही परन्तु उनका कृतित्व निश्चय बडा है। इनमे निश्चय महान् कालिदास हैं जिसका सविस्तर उल्लेख और उसके नाटको—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल—

का प्रसग ऊपर आ चुका है। कालिदास के नाटको के विषय मे यहां कुछ लिखना पुनरुक्ति मात्र होगी।

इस काल के अन्य प्रसिद्ध नाटककार शूद्रक, विशाखदत्त और राजा हर्ष हैं। कालिदास के शीघ्र बाद, कुछ लोगो की राय मे सभवत. कालिदास से भी पूर्व[1] अरालपुर का धीरनाग हुआ। उसका नाटक रामचरित के उत्तर प्रसंग पर छ अंको मे लिखा गया था। इस रूप में वह आठवी सदी के भवभूति के 'उत्तर रामचरित' का दिशासंकेतक था।

शूद्रक

शूद्रक का उल्लेख, प्रसंग होते हुए भी कालिदास ने नही किया यह महत्त्व की बात है। इससे कम से कम यह प्रकट है कि शूद्रक या उसकी प्रसिद्ध नाट्य कृति कालिदास के सामने न थी। क्योकि यदि वह वस्तुकथा कालिदास को अप्रिय भी रही होती तो वह उसका उल्लेख करने से चूकता नही। और उस नाटक का सौंदर्य तथा उसका वस्तुग्रथन इतने महत्त्व का है कि उसकी प्राणवान् नाट्यकार द्वारा उपेक्षा हो ही नही सकती थी। इससे लगता है कि शूद्रक कालिदास से पीछे हुआ। कुछ लोगो ने उसके ऐतिहासिक व्यक्ति होने मे भी सन्देह किया है, इससे कि उसका सबध काल्पनिक निबधो से है, पर यही लोकप्रियता के कारण उसकी ऐतिहासिकता का प्रमाण भी हो सकता है।

शूद्रक बाण की 'कादम्बरी' को आरभ करने वाली कथा का नायक है। मृच्छकटिक की भूमिका मे उसका कुछ परिचय दिया हुआ है। उसके अनुसार वह हस्तिशास्त्र का ज्ञाता था। उसने अश्वमेध यज्ञ किया और सौ वर्ष तक जीवित रहकर राजपाट अपने पुत्र को दे अग्नि मे समा गया। 'कादम्बरी' मे वह बेतवा तीर की विदिशा का, 'कथासरित्सागर' मे शोभावती का और 'वैतालपञ्चविंशति' मे वर्धमान का राजा कहा गया है। उसने दस अको मे प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाडी) की रचना की जो हास्यरस प्रधान क्रांतिकारी सामाजिक नाटक है, जिसका नायक ब्राह्मण और नायिका वेश्या है। उसमे ब्राह्मण ही (शर्विलक) चोर भी बनाया गया है जो यज्ञोपवीत का उपहास करता है। यह नाटक ग्रीक 'कोमेदी' का निकटतम भारतीय रूप है। उसमे एक सामाजिक और दूसरे राज्यविप्लव के 'प्लाट' एक साथ विकसित होते है। भारतीय नाटको मे यह इतना स्वच्छन्द और अभारतीय है कि अनेक विद्वानो ने इसे ग्रीक रगमच से प्रभावित भी माना है। ग्रीकों के प्राय दो सदियो भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग पर शासनकाल मे उनका भारतीय संस्कृति, विशेष कर ज्योतिष, पर गहरा प्रभाव पड़ा था, कुछ अजब नहीं

[1] द क्लासिकल एज, पृ. ३०९।

जो रंगमंच पर भी कुछ अंश मे पडा हो। आखिर रगमंच के परदे पर पडा ही जिससे उसका नाम ही 'यवनिका' अथवा 'जवनिका' पड गया। शूद्रक का समय निश्चय संदिग्ध है, यद्यपि अनेक लोगो की राय मे वह गुप्तकालीन ही कोई नृपति था।

विशाखदत्त

संस्कृत साहित्य मे विशाखदत्त का असाधारण स्थान है, कारण कि उसका प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' न केवल सस्कृत मे बल्कि ससार के नाट्यपरिवार मे वस्तुप्रथन की राजनीतिक पेचीदगी मे अपना सानी नही रखता। राजनीतिक दावपेच मे तो उस सा नाटक किसी भाषा मे नही लिखा गया। इस नाटक मे नन्दवश के चाणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा नाश के बाद मत्री चाणक्य और नन्दमत्री राक्षस के बीच राजनीतिक संघर्ष हुआ है। चाणक्य की कूटनीति सफल होती है और उसकी योजना के अनुसार अन्त में राक्षस चन्द्रगुप्त मौर्य का अमात्य बनना स्वीकार कर लेता है। 'मुद्राराक्षस' सात अको मे संपन्न हुआ है जो रंगमच के उपयुक्त तो है ही सत्-साहित्य की कृति की भाति केवल पढा भी जा सकता है।

विशाखदत्त के एक दूसरे नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का भी इधर हाल मे पता चला है। पूरा नाटक तो उपलब्ध नही पर उसके कुछ अश मिले है और नाटक के कृतित्व की सत्यता पश्चात्कालीन साहित्य और अभिलेखो मे आये उसके उद्धरणो तथा उसके प्रति सकेतो से भी प्रमाणित होती है। इसकी कथा के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय के पूर्व उसका बडा भाई और समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त मगध की गद्दी पर बैठा, पर शको से पराजित होकर उस क्लीब रामगुप्त ने अपनी रानी ध्रुवस्वामिनी को शकराज को दे देना स्वीकार कर लिया। चन्द्रगुप्त तब नवयुवक था और उसने ध्रुवस्वामिनी के रूप मे शक स्कधावार मे जाकर शकराज को मार मगध की गद्दी और रामगुप्त की पत्नी दोनो पर अधिकार कर लिया। रामगुप्त का नाम गुप्त राजवश की अभिलेखीय तालिका मे न मिलने से कुछ लोगो ने रामगुप्त के अस्तित्व मे ही सदेह किया है। पर नाटक के अनेक स्थलो की सपुष्टि अभिलेखो और इतिहास से भी होती है। जैसे मेहरौली के लौहस्तभ से शत्रुओ के विरुद्ध चन्द्रगुप्त के अभियान की बात और साथ ही अन्य अभिलेखो से उसके द्वारा भाई के वध की सत्यता भी सिद्ध हो जाती है। ध्रुवदेवी के चन्द्रगुप्त द्वितीय की पत्नी और उसके पुत्र तथा मगध के अगले सम्राट् कुमारगुप्त के होने की बात भी अभिलेखों से प्रकट है।

यह विशाखदत्त कौन था यह निश्चयपूर्वक कह सकना तो कठिन है, पर स्वयं उस नाटककार ने जो अपना परिचय 'मुद्राराक्षस' के आरम्भ मे दिया है, उससे प्रकट है कि वह किसी वटेश्वरदत्त अथवा वत्सराज नामक सामन्त का पौत्र और भास्करदत्त

अथवा पृथु का पुत्र था। इस भास्करदत्त ने 'महाराज' का विरुद धारण किया था। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि वह गुप्त सम्राटो का ही सभवत. माडलिक नृपति था। उसका समय छठी सदी ईसवी के बाद रखना युक्तिसंगत नही जचता।

हर्ष

हर्ष अथवा श्रीहर्ष के तीन प्रसिद्ध नाटक गुप्त सस्कृति की निचली सीमा साहित्य के परिमाण मे खीचते है। उसके ये नाटक—'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' और 'नागानन्द'—अनेक बार उसके सरक्षित साहित्यकार बाणभट्ट के लिखे भी कहे गये हैं, परन्तु उनके राजा द्वारा लिखे गये न होने का कोई विशेष प्रमाण नही। लोगो मे यह भ्राति उसके साहित्यकारो, विशेष कर असाधारण कृतिकार बाण की सरक्षा के कारण ही हुई है। बाण ने स्वय राजा मे काव्यप्रतिभा होना स्वीकार किया है और चीनी यात्री हुएन्त्साग के स्पष्ट तथा दामोदर गुप्त के साकेतिक सदर्भ से इन नाटको का हर्ष का ही होना प्रमाणित होता है।

'नागानन्द' पाच अको में है, जिसके आरम्भ मे बुद्ध की स्तुति है और जिसमे जीमूतवाहन के नाग के बदले गरुड के प्रति प्राण विसर्जन की कथावस्तु का विकास हुआ है। 'रत्नावली' के चार अको मे नाट्यकार ने रंगमचीय सौदर्य का बहुश उद्‌घाटन किया है। प्राचीन काल से ही यह अत्यन्त सफल 'रूपक' माना जाता रहा है। इसमे धीरललित नायक वत्सराज उदयन और सिहलेश्वर की पुत्री नायिका रत्नावली के प्रणय की कथा रगमच पर नाट्यबद्ध हुई है। 'प्रियदर्शिका' की कथावस्तु भी उदयन के चरित से ही सबंध रखती है। इस पर कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' का प्रभाव स्पष्ट है।

गुप्तकालीन सस्कृति के उदय और अवसान काल के ये नाटक साहित्यिक रमणीयता तथा रगमचीय नाटकीयता मे असामान्य है। विशेष कर विशाखदत्त के नाटको का अप्रतिम अन्तरग तो मौर्य और गुप्त इतिहास को समझने मे बडा सहायक होता है। इन दोनो विचक्षण नाटको की ऐतिहासिकता के अतिरिक्त भी इनकी एक विशेषता है। 'मुद्राराक्षस' मे कोई स्त्री पात्र नही है और 'देवीचन्द्रगुप्तम्' मे पुरुष का नारी बनकर राज्य के कटक दूर कर सिहासन और राजपत्नी दोनो पर अधिकार सरक्रन साहित्य मे अपूर्व कल्पना है। 'मृच्छकटिक' की सामाजिक क्रातिकारिता की ओर ऊपर सकेत किया जा चुका है।

ललित गद्य और कथा-साहित्य

ललित गद्य का आरम्भ सुष्ठ् और मुक्त शैली मे १५० ई. के शकक्षत्रप रुद्रदामा

के गिरनार के अभिलेख में मिलता है। सम्राट् समुद्रगुप्त की हरिषेण द्वारा रची प्रशस्ति के गद्य-पद्य के सम्मिलित प्रबन्ध को भी काव्य कहा गया है। वस्तुत: यही शैली दण्डी और बाणभट्ट की समस्तपदीय शैलियो का प्राय आदि बिन्दु है।

पंचतन्त्र

कथाओ का प्राकृतो मे आरम्भ तो पालि जातको और गुणाढय की पैशाची में लिखी 'बड कहा' (बृहत्कथा) में ही हो गया था, पर सस्कृत मे उसका विशुद्ध पहला रूप 'पञ्चतन्त्र' मे ही मिलता है। 'पञ्चतन्त्र' का मूल रूप तो सभवतः ईसा की प्रारभिक सदी मे ही खडा हो गया था, परन्तु इसके ५७० ई. से भी पहले के पह्लवी अनुवाद से प्रकट है कि इस पशु-पक्षी-कथा का वर्तमान रूप गुप्तकाल मे ही प्रस्तुत हुआ। इसका राजनीतिक सदर्भ, राजकुमारो का राजनीतिक शिक्षण, ब्राह्मण वैभव, वैष्णव प्राधान्य, सभी इसकी गुप्तकालीनता सिद्ध करते है। इसका रचयिता विष्णुशर्मा कौन था, इसको तो निश्चय-पूर्वक नही बताया जा सकता पर इसके राजा की दक्षिण के महिलारोप्य नगर मे राजधानी होने के कारण, लगता है, सभवत इसकी रचना दाक्षिणात्य प्रभाव से ही हुई। ससार के कथा–इतिहास और विकास पर पञ्चतन्त्र का प्रभूत प्रभाव सर्वमान्य है। यह महत्त्व की बात है कि जहा श्रीमद्भागवत तक मे 'राधा' का नाम नही मिलता, पञ्चतन्त्र मे पहली बार, सस्कृत साहित्य मे, उसका नामोल्लेख हुआ है (हाल के प्राकृत काव्य 'गाथा-सप्तशती'—गाहासतसई–मे राधा का वर्णन हुआ है)।

'पञ्चतन्त्र' का-सा सरल साहित्य दूसरा सस्कृत मे नही। इसकी स्वाभाविक नित्य बोली जानेवाली गद्य शैली मे कथा कही जाती है और गाथा-साहित्य की ही भाति नैतिक सदर्भ पद्यो मे व्यक्त किये जाते है। प्रसाद गुण का इसमें असाधारण उपयोग हुआ है।

दण्डी, सुबन्धु और बाणभट्ट गुप्त-युग की निचली परिधि प्रस्तुत करते है। इनका ललित गद्य निश्चय काव्यप्रवाह की दृष्टि से एक मान स्थापित करता है, विशेष कर दण्डी और बाण का, जिनकी प्रतिभा अपूर्व है। शैली के अतिरिक्त इन तीनो ने कथाओ की स्वतत्र कल्पना की है, विशेष कर इस दिशा मे दण्डी और बाण तो अत्यन्त मौलिक और अनुपम है।

दण्डी

इनमे सुबन्धु और बाण का समय तो प्राय निश्चित है पर दण्डी का समय कुछ विद्वानों ने बाण के बाद, कुछ ने उससे पहले रखा है। वह संभवत: बाण

से पहले हुआ था, जिसके पूर्वज नासिक की ओर से काची चले आये थे। उसके प्रपितामह और भारवि के सबंध का उल्लेख अन्यत्न किया जा चुका है। दण्डी सभवतः छठी सदी ईसवी के अन्त में कभी हुआ। दण्डी के तीन ग्रन्थ साधारणत बताये जाते है— 'काव्यादर्श', 'दशकुमारचरित' और 'अवन्तिसुन्दरी कथा'। इनमे से पहला ग्रथ काव्य-समीक्षा का है, तीसरे के दण्डी का होने मे सन्देह किया गया है। 'दशकुमारचरित' उस कृतिकार का निर्मल कथादर्श है, जिसमे दस कुमारों की काल्पनिक कथावस्तु गूथी गयी है। इसकी कुसुममजरी कथा का निश्चय फ्रेंच नोबुल पुरस्कारविजेता अनातोल फ्रास के विख्यात उपन्यास 'थेइस' (ताया) पर गहरा प्रभाव पडा है। 'दशकुमारचरित' कार ने समसामयिक भारतीय समाज का, उसके घिनौने आचार-व्यवहार का जो अपने इस गद्य काव्य मे प्रतिबिंबन किया है वह उसे सामाजिक इतिहास का पद प्रदान कर देता है। शैली उसकी लबे समासों से भरी है, पर वह बोझिल बिलकुल नही, उसका प्रवाह अविरल है। इसमे दस ललित कथाएँ है, अधिकतर चमत्कारी घटनाओ और रोमाचक प्रणय से भरी, जो राजकुमार राजवाहन और उसके साथी नौ राजपुत्नो की अनुभूति हैं।

सुबन्धु

सुबन्धु अपनी प्रसिद्ध काल्पनिक कथा 'वासवदत्ता' ६०८-९ ई में समाप्त कर चुका था, जैसा जिनभद्र के एक भाष्य के सदर्भ मे प्रकट है। वह भाष्य उसी वर्ष समाप्त हुआ था जिसमे प्रकट है कि सुबन्धु का रचनाकाल छठी सदी का उत्तरार्ध है। इस प्रकार वह बाण का अधिकाय समकालीन ठहरता है। सुबन्धु की 'वासवदत्ता' की कथा उसके मर्म से निकली हुई है, सर्वथा मौलिक। यद्यपि नाम इसकी नायिका का वही है जो उदयन की प्रिया और उज्जयिनीनरेश चण्डप्रद्योत महासेन की कन्या वासवदत्ता का है पर दोनो से इस नायिका का दूर का भी सबध नही। सुबन्धु के उपन्यास की नायिका पाटलिपुत्न के राजा की कन्या है जो कन्दर्पकेतु को स्वप्न मे देख उस पर रीझ जाती है। प्रणयकथा सुकुमार तन्तुओं मे जुडी मधुर विकसित होती है। सुबन्धु की शैली भी दण्डी और बाण की ही समस्तपदीया है और उनके गुण-दोष उसके भी है।

बाणभट्ट

बाणभट्ट का उल्लेख 'चण्डीशतक' के सबध मे पहले भी किया जा चुका है। उसकी गद्यशैली प्राचीन साहित्य मे प्रमाण मानी गयी है। उसके गद्य का प्रवाह तो अविच्छिन्न है ही, उसके सौंदर्य की अपनी मादकता है जो यूरोपीय विद्वानो को तो इतना नही प्रभावित करती पर सस्कृत मे इस क्षेत्न मे वह प्रमाण है। बार-बार भारतीय समीक्षक-चिन्तकों

ने उसे प्रमाण मानकर उसके उदाहरण दिये है, विशेष कर उसके आख्यायिका और कथा साहित्य के अन्तर पर समीक्षा-साहित्य मे काफी चर्चा हुई है। बाण ने अपने 'हर्षचरित' को आख्यायिका और 'कादम्बरी' को कथा कहा है। प्रकट है कि आख्यायिका का उसका तात्पर्य इतिहासमिश्रित साहित्य से है और कथा का सर्वथा काल्पनिक रोमांचक प्रणय-कहानी से। 'हर्षचरित' से तो भारतीय इतिहास का बडा लाभ हुआ है क्योकि उससे राजा हर्ष के इतिहास की घनी जानकारी हुई है। वस्तुत 'हर्षचरित' इतिहास का ग्रथ माना जाने लगा है, यद्यपि उसमे अतिरजन पर्याप्त है।

'कादम्बरी' न केवल बाण की रचनाओ में बल्कि समूचे भारतीय वाङ्मय में असाधारण कृति है। भाषा की दृष्टि मे इसमे उस विशिष्ट समस्तपदीय का विकास हुआ है जो बाण की अपनी मानी जाती है। कथा की दृष्टि से भी कृति अनुपम है। कल्पना का वैभव इतना इसमे अप्रतिम है कि पढते ही बनता है। जन्मान्तरो के सगति-सस्कार पात्रो को एक दूसरे की ओर आकृष्ट करते है। कादम्बरी का अभिराम व्यक्तित्व साहित्य का सौरभ है, महाश्वेता का व्यक्तित्व सर्वथा दुर्लभ। पत्नलेखा की याद कथा पढ लेने के बाद भी कालान्तर मे बनी रहती है। कवि रवीन्द्र ठाकुर का मत है कि जिन पात्रो की साहित्य मे उपेक्षा हुई है, 'कादम्बरी' की पत्रलेखा भी उन्ही मे मे है। सभवत इस कृति का प्रसिद्ध उपन्यासकार राइडर हैगर्ड की प्रसिद्ध कृति 'शी' और 'द रिटर्न ऑव शी' पर प्रभाव पडा है। 'कादम्बरी' की मनोरम कथा कल्पना की परिणति है। कथा को बाण पूरा नही कर सका था, केवल उसके तीन अंश ही उसने रचे, फिर उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र ने उसका अन्तिम अश पूरा किया। वैसे कथा की कमनीयता मे पूर्व और पर मे भेद नही पडता।

बाण सुबन्धु का कनिष्ठ समकालीन था, हर्ष का सरक्षित साहित्यकार। इसका समय सातवी सदी का पूर्वार्ध है। बाण ने स्वय अपने कुल का परिचय दिया है। उससे पता लगता है कि वह सोन नदी के तीर प्रीतिकूट नामक नगर मे एक समृद्ध वात्स्यायन गोत्रीय ब्राह्मण कुल मे जन्मा था। उसके प्रपितामह का नाम कुबेर, पितामह का अर्थपति और पिता का चित्रभानु था। पिता का उसके बालपन मे ही देहान्त हो जाने और घर मे धन की कमी न होने के कारण बाण को जीवन के साधनो की चिन्ता न हुई, और वह व्यसनो तथा देशाटन मे फस गया। एक दिन हर्ष के चचेरे भाई कृष्ण ने उसे राजा की अप्रसन्नता की सूचना देकर राजसभा मे बुलाया। बाण गया और धीरे-धीरे राजा को प्रसन्न कर उसका प्रिय सभासद बन गया। गाव लौटने और लोगो के हर्ष के विषय मे पूछने पर उसने 'हर्षचरित' लिखा, फिर अद्भुत मेधा की उडान ने शीघ्र ही उससे उसकी रोमाचक कृति 'कादम्बरी' की भी रचना करा दी। यह रचना इसी से विशेष अभिराम बन पडी कि बाण मे कल्पना और सूझ की अक्षय निधि थी, उसका स्वच्छन्द विचरण उस दिशा मे विशेष सहायक

हुआ, और भाषा तथा शैली पर जो उसका इतना अधिकार था उससे कृति को अनुपम वाणी मिली। भाषा की दृष्टि से तो इस कृतिकार ने अनेक नये प्रयोग किये हैं और कला आदि की दृष्टि से इसने वाङमय को सर्वथा नये लाक्षणिक शब्द दिये है। बाण की काव्यकृति का पहले उल्लेख किया जा चुका है। उसका व्यक्तित्व इतना प्रबल था कि उसका युग न केवल उससे प्रभावित है बल्कि इसी कारण राजा हर्ष की कृतियो के लिए उसके जनक होने का विद्वानो मे भ्रम फैल गया है।

(ख) साहित्यानुवर्ती रचना

अलकार शास्त्र

वैसे तो समीक्षाशास्त्र का उदय बीज रूप में कुछ पहले ही हो चुका था पर उसका शास्त्रीय विवेचन विस्तृत रूप से गुप्तकाल मे ही, विशेष कर उसके अतिम कालछोर पर होने लगा। छठी सदी के अन्त मे दण्डी ने अपना 'काव्यादर्श' और सातवी के अन्त मे भामह ने अपना 'काव्यालकारसूत्र' अलकारशास्त्र पर रचा। पर इनसे भी पहले 'भट्टिकाव्य' (रावणवध) के रचयिता ने अपने काव्य का एक समूचा सर्ग ही अलकारो के दृष्टात के लिए रचा। निश्चय शास्त्रीय दृष्टि से समीक्षा शास्त्र का आरभ करनेवाले तो दण्डी और भामह ही थे पर इनसे और भट्टि से भी पहले महान् ज्योतिर्विद् स्वय वराहमिहिर (मृत्यु ५८७ ई मे) ने पिंगल के छन्द शास्त्र का विस्तार किया। अपनी 'बृहत्सहिता' और 'बृहज्जातक' मे उसने विविध छन्दो का बडी सख्या मे उपयोग किया। 'बृहत्सहिता' का तो एक समूचा अध्याय[1] ही प्राय ६० छन्दो का निरूपण करता और उदाहरण देता है।

कोशकारिता

कोशकारिता साहित्य का आनुषगिक विषय है। कोश भाषा और साहित्यगत शब्दो का निरूपण कर भाषा को स्थायित्व देते है। साहित्य की व्याख्या और रचनाओ के सर्जन मे भी कोशो से सहायता मिलती है। यास्क के निघटु और निरुक्त से वैदिक अध्ययन मे बडी सहायता मिली थी। गुप्तकाल मे नये सिरे से शब्दो का अर्थ-मान स्थापित किया गया था। यह काल भारतीय 'क्लासिकल' कोशकारिता का आरभ करता है। कोश-कारिता के क्षेत्र मे निश्चय पहले भी कुछ कार्य हुआ था पर इस दिशा मे पहला स्तुत्य प्रयत्न अमर (अथवा अमरसिंह) का 'नामलिङ्गानुशासन' है जिसका दूसरा लोकप्रिय नाम

[1] अध्याय १०३।

'अमरकोश' है। इसके रचयिता अमरसिंह को अनुश्रुति चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों मे कालिदास के साथ ही गिनती है। इसमे सन्देह नही कि अमरसिंह गुप्तकालीन है। जैसा नाम से ही प्रकट है 'अमरकोश' मे सज्ञा शब्दो के नाम और लिंग दिये गये हैं। इससे पहले संभवत: इस विषय का अध्ययन धन्वन्तरि नामक कोशकार ने अपने 'निघंटु' मे किया था, परन्तु केवल इसके मूल रूप मे, जो आज प्राप्त नही; प्राप्त रूप तो 'अमरकोश' सेभी पीछे की रचना है।

व्याकरण

भाषा सबधी तीसरा लाक्षणिक साहित्य व्याकरण है। इस क्षेत्र मे अध्ययन तो सूत्रकाल मे सपन्न हो गया था क्योकि वेदाध्ययन मे यह सहायक विषय था, पर गुप्तकाल में भी इस दिशा मे कुछ प्रयत्न हुए। कालिदास, भट्टि, भौमक आदि सभी कृतिकार व्याकरण के निष्णात पडित हैं जो आगे-पीछे प्राय इसी गुप्तकाल मे हुए। इसी काल चन्द्र अथवा चन्द्रगोमी नाम का बौद्ध वैयाकरण हुआ जिसने ६०० ई. से पहले सभवत: छठी सदी मे ही अपनी व्याकरणपद्धति का प्रचार किया। उसका आचार्य रूप मे उल्लेख 'वाक्यपदीय' (व्याकरण) के प्रणेता भर्तृहरि (मृ० ६५० ई.) ने भक्तिपूर्वक किया है। चान्द्र व्याकरण के चार-चार प्रकरणो के छः अध्यायो मे ३१०० सूत्र प्रस्तुत हैं। 'काशिका-वृत्ति' (ल० ६५० ई.) ने भी इस व्याकरण से सहायता ली है। इस व्याकरण का व्यवहार कश्मीर, तिब्बत, नेपाल और सिंहल मे प्रभूत हुआ। इसके कुछ ही काल बाद (६७८ ई) पाणिनि के आधार पर पूज्यपाद देवनन्दी ने उस व्याकरण की नीव डाली जो जैनेन्द्र व्याकरण के नाम से पीछे प्रसिद्ध हुआ। इसका कर्ता जिनेन्द्र कहा गया है। वैयाकरण भर्तृहरि ने ६०० ई के बाद ही व्याकरण दर्शन पर अपना छन्दोबद्ध 'वाक्यपदीय' लिखा जिसमे तीन खण्ड हैं। भर्तृहरि की पतञ्जलि के 'महाभाष्य' पर लिखी व्याख्या आज प्राप्त नही। 'भट्टिकाव्य' (रावणवध) मे भट्टि ने और 'रावणार्जुनीय' मे भौमक ने व्याकरण के नियमो को काव्य द्वारा निरूपित किया, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प्रसिद्ध 'काशिकावृत्ति' की रचना ल० ६५० ई मे जयादित्य और वामन ने की जो 'अष्टाध्यायी' पर वृत्ति है।

(ग) पुराण

साहित्य और उसके सहायक लाक्षणिक साहित्य पर विचार कर लेने के बाद युक्तिसगत तो यह होता कि अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि पर उसी क्रम मे विचार कर लिया जाता। पर उससे पहले पुराणो का उल्लेख इसलिए करना अनि-

वार्य हो जाता है कि वे न केवल छन्दोबद्ध हैं बल्कि प्रायः उनका विषय ललित हो जाता है और उनका विन्यास अधिकतर साहित्यिक ही होता है।

साहित्य ने महाभारत की ही भांति पुराणो से भी अपनी आधारसामग्री ली है। भारतीय जीवन मे पुराणो और पुराणपरक वृत्तांतो का प्रभाव बहुत रहा है। यह प्रभाव गुप्तकालीन जीवन पर भी घना रहा। वस्तुत: गुप्तकालीन पौराणिक विश्वास ही आज के भी हिन्दू जीवन मे प्रतिबिम्बित हैं। उनका उल्लेख इससे यहा कुछ विस्तार से करना समीचीन होगा।

पुराण का मतलब है 'पुराना', पुरानी ख्यातो या अनुश्रुतियो-परम्पराओ का सग्रह। पुराण शब्द का प्राचीन साहित्य (वैदिक) मे उपयोग इतिहास के साथ ही हुआ है और प्राचीन विधान के अनुसार पुराणो के प्रणीत विषय पांच है—सर्ग (जगत की सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद फिर सृष्टि), वश (देवो, विशेषत ऋषियो के कुलों का वर्णन), मन्वन्तर (मनुओ के विविध युगों का वर्णन) और वशानुचरित (सूर्य-चन्द्र वश के राजकुलो का इतिहास)। पर नि सदेह पुराण इन्ही पाच लक्षणो से युक्त नही है, उनमे अनन्त विभिन्न प्रकार की सामग्री है। कइयों मे यह लक्षण नही मिलते। प्रकट है कि व्यासकृत मूल पुराण के विषय-प्रतिपादन के चाहे ये पाच लक्षण रहे हो, उपलब्ध पुराणों के नही हैं जिससे कहा जा सकता है कि मूल नष्ट हो जाने पर विविध पुराण अपनी स्वतत्र विधि से विकसित हुए और उनमे सभी प्रकार की धार्मिक-सामाजिक सामग्री एकत्र कर ली गयी जिसका प्राचीनता से सबध था। अनेक स्तोत्र भी इनमे समा गये। इस प्रकार पुराण भारतीय इतिहास और विशेषत गुप्तकालीन जनजीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालते है।

पुराणो की सख्या परम्परया १८ मानी जाती है। अधिकतर इनकी गणना इस प्रकार की हुई है—ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिव अथवा वायुपुराण, भागवत पुराण, नारदपुराण, मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, लिंगपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुड पुराण, और ब्रह्माण्ड पुराण। इनमे से प्रधानत विष्णुपुराण (तीसरी-चौथी सदी), मार्कण्डेय पुराण (तीसरी से पाचवी सदी), ब्रह्माण्ड और वायुपुराण (तीसरी से पाचवी सदी), भागवतपुराण (छठी सदी) और मत्स्यपुराण (छठी-सातवी सदी) अधिकतर गुप्तकालीन है।[1] इनमे से वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु और भागवत पुराणो ने तो गुप्त राजकुल का उल्लेख भी किया है। वायुपुराण का उल्लेख सातवी सदी के आरभ के बाण के 'हर्षचरित' मे भी

[1] डा. हाजरा : स्टडीज इन द पुराणिक रेकार्ड्स आन हिन्दू राइटर्स एण्ड कस्टम्स, पृ. १७४–८६।

हुआ है। गौतम और आपस्तब के धर्मसूत्रो और महाभारत मे पुराणो का उल्लेख मिलता है जिससे प्रकट है कि उनका कोई न कोई रूप ईसा पूर्व की शताब्दियों मे विद्यमान था। अथर्ववेद और बृहदारण्यक उपनिषद् पुराणो को दैवी मानते है।

कही कही तो इन पुराणो की समसामयिक राजकुलो के प्रति आलोचना उग्र हो उठी है जिससे उनके विचारस्वातत्व्य और समीक्षा की प्रखरता प्रकट है। समुद्रगुप्त की विजयो से सतप्त विष्णुपुराणकार कहता है—"इन राजाओ का इतिहास भविष्य में सन्देह और विवाद का विषय हो जायगा, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार राम और अन्य राजाओ का आज हो गया है। काल के स्रोत मे सम्राट् खो जाते है। उनकी स्मृति धुघली पड़ जाती है, जिन्होने कभी सोचा था—'भारत हमारा है'।"[1] इसके आगे टीकाकार कहता है—'राघव के साम्राज्य को धिक्कार! साम्राज्य को धिक्कार! ऐश्वर्य को धिक्कार!'[2]

सभावित गुप्तकालीन पुराणो का ही सक्षिप्त विवरण यहा दे देना उचित होता पर औरो का काल संदिग्ध होने से उनका परिचय भी नीचे दिया जा रहा है। ब्रह्मपुराण मे अधिकतर तीर्थ स्थानो, कृष्ण कथाओ, श्राद्धो, वर्णाश्रम धर्मों, पृथ्वी, नरक, सर्गों, मन्वन्तरो और राजकुलो का वर्णन है। इसका दूसरा नाम आदि पुराण है। इसकी कथा सूत ने नैमिषारण्य (नीमखार) मे ऋषियो से कही थी। पद्मपुराण मे ऊपर के गिनाये विषयो के अतिरिक्त पुरूरवा, शकुन्तला, ऋष्यशृङ्ग, राम, गणेश आदि की कथाए भी है। राजकुलो का वर्णन मत्स्य पुराण से मिलता है। अन्तिम अध्याय मे विष्णु के अवतारो का विवरण है। विष्णुपुराणकार की प्रखर आलोचना का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। साधारण विषयो के अतिरिक्त इसमे विष्णु को ससार का स्रष्टा और पालनहार माना है, और सागरमथन, ध्रुव, प्रह्लाद और कृष्णादि की कथा दी हुई है। वायु पुराण का दूसरा नाम, उसमे शिव का स्तवन होने से, शिव पुराण भी है। नारद पुराण मे वशावलिया नही, केवल विष्णु की महिमा का बखान और इहलौकिक सामग्री है। भागवत का कुछ ही भाग पुराना है, शेष पीछे का है। इसके दसवे भाग मे कृष्ण की लीलाओ का विस्तृत विवरण है। इसकी विशेषता इस कारण भी है कि इसके अवतारो की सख्या मे कपिल और बुद्ध की भी गणना हुई है।

मार्कण्डेय पुराण मे साप्रदायिक देवताओ की जगह वैदिक देवताओ —इन्द्र, अग्नि और सूर्य—की महिमा का वर्णन हुआ है, जिससे उसकी प्राचीनता और पुराणो की अपेक्षा स्पष्ट है। इसकी कथा मार्कण्डेय ऋषि ने कही है। अग्नि पुराण की कथा अग्निदेव ने कही है जिसमे शैव मत का प्रतिपादन हुआ है। यह सास्कृतिक विश्वकोश

[1]४, २४, श्लोक ६४–७७। [2]उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. २४३।

का सा ग्रथ है क्योकि इसमे विविध विषयों, अलंकारों से मूर्तिशास्त्र तक का प्रतिपादन हुआ है। इसमे गणित-फलित ज्योतिष, राजनीति और व्यवहार, आयुर्वेद और व्याकरण सभी है। भविष्य पुराण प्राचीनतम पुराणो मे से है। इसका आपस्तंब द्वारा उल्लेख होने से यह पाचवी सदी ई पू तक प्राचीन हो सकता है। मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणो ने जिस भविष्य पुराण से अपनी सामग्री ली वह सभवत तीसरी सदी ईसवी में प्रस्तुत हुआ था। इसमें सूर्य की पूजा के लिए शकद्वीप से भोजक और मग पुरोहित बुलाने की बात लिखी है। भारत मे सूर्यमूर्ति की पूजा शक-कुषाणो ने प्रचलित की थी, जिसके लिए आवश्यक था कि मध्य एशिया से पुरोहित बुलाये जाये जहा वह पूजा प्रचलित थी। तब के ब्राह्मणो के वशधर आज भी यहा शाकद्वीपी और 'मग' कहलाते है और रोटी-बेटी आपस मे ही करते है। उनका स्थानीय ब्राह्मणो से विवाह सबंध या उनके साथ खाना-पीना नही होता।

ब्रह्मवैवर्त पुराण मे ब्रह्म अथवा ब्रह्मा जगत् के स्रष्टा माने गये हैं और इसमे दी हुई कृष्ण की कथा मे पुराणो मे पहली बार राधा का नाम आया है। लिंगपुराण पर तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट है और उसमे शिव की लिंग रूप मे उपासना सम्मत मानी गयी है। यह विष्णु के उपासको का भी प्रधान ग्रथ है। स्कन्द पुराण का स्वरूप पुराणो जैसा नही है। इसमें खण्डो मे शिव और तीर्थादि का विवरण है। काशीखण्ड मे उस तीर्थ और उसके मन्दिरो का वर्णन है। इसकी एक प्रति गुप्तकालीन ब्राह्मी मे लिखी लगभग सातवी सदी की है। इसी की सहिताओ की तरह वामनपुराण की सहिताए भी हैं, पौराणिक परम्परा से भिन्न, जिनमे शिव के परिवार की प्रशसा है। कूर्मपुराण की चार सहिताओ मे से केवल एक उपलब्ध है जिसमे कूर्म रूपी विष्णु ने राजा इन्द्रद्युम्न से कथा कही है।

गरुडपुराण भी अग्निपुराण की ही भाति विविध विषयक सहिता है जिसमे उस पुराण मे गिनाये विषयो के अतिरिक्त रामायण, महाभारत, हरिवंश की कथाए, रत्नपरीक्षा, याज्ञवल्क्य-धर्मशास्त्र का एक भाग भी सम्मिलित है। ब्रह्माण्ड पुराण मे ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड की महिमा की घोषणा की। अध्यात्म रामायण इसी का अश है।

अठारह पुराणो के अतिरिक्त विविध सप्रदायो के मान्य अठारह ही उपपुराणों की भी सख्या है। इनमे विष्णुधर्मोत्तर, बृहद्धर्म और कल्कि पुराण उल्लेखनीय है। इनमें पहले मे ललित कलाओ का विशद वर्णन है, दूसरे मे कपिल और बुद्ध के अतिरिक्त वाल्मीकि और व्यास की भी अवतारो मे गणना हुई है। कल्कि मे कलियुग के अन्त मे कल्कि अवतार के कृत्यो का वर्णन है।

पुराणो के महत्त्व का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, इनके वाचने या कहने वाले लोमहर्षण या उनके पुत्र उग्रश्रवा (सौति) है जिन्होने व्यास से सुनकर कथाए कही।

(घ) आयुर्वेद

चरक और सुश्रुत की 'संहिताएं' नि सन्देह गुप्तकाल से पहले ही लिखी गयी थी। धन्वन्तरि का नाम परम्परा विक्रमादित्य के नवरत्नो में गिनती है पर निश्चय इस नाम का कोई व्यक्ति उस काल आयुर्वेद से सबंधित न था। १४६० ई मे बावर ने काशगर से एक हस्तलिपि प्राप्त की जिसे उसी के नाम पर बावर-मैनुस्क्रिप्ट कहते हैं। इसके अक्षरों और लिपि के अध्ययन से प्रकट होता है कि यह प्रति गुप्तकाल मे ही प्रस्तुत हुई थी और इसका समय चौथी सदी ईसवी से आगे नही हो सकता। इसके सात भाग हैं जिनमें से पहले तीन आयुर्वेद से सबधित है। इनमे से पहले में आयु बढ़ाने वाले लहसुन के गुणों की व्याख्या हुई है। उसी मे अन्यत्र हजार साल जीवित रखने वाले रस का उल्लेख है। उसी में नेत्र की ज्योति बढाने वाले 'लोशनों' की भी चर्चा है। एक स्थल पर शरीर के भीतरी और बाहरी प्रयोग के लिए चौदह नुस्खे बताये गये हैं। दूसरा भाग 'नावनीतक' कहा गया है जिसमे पहले की आयुर्वेदिक पुस्तको का निचोड संगृहीत है। इसके १६ अश हैं जिनमे रसो, चूर्णो, तेलो आदि का वर्णन है और उनको बनाने की विधिया दी हुई हैं। इसका एक अंश बच्चो की बीमारियो के निदान और चिकित्सा की व्यवस्था करता है। इसमें अनेक जीवनदायिनी सजीवनियो का भी उल्लेख हुआ है। ये विविध पुस्तिकाए छन्दोबद्ध हैं और इनमे औपच्छन्दसिक, मुवदना, पृथ्वी, वशस्थविल, मन्दाक्राता, प्रमाणिका, प्रमिताक्षरा, तोटक, स्रग्धरा, सुधा, मालिनी, शालिनी, मत्तमयूर, कुसुमितलतावेल्ल, श्लोक, आर्या, त्रिष्टुप् आदि का प्रयोग स्वच्छन्दता पूर्वक हुआ है।

इस हस्तलिपि मे आत्रेय, क्षीरपाणि, जातुकर्ण, पराशर, भेड और हारीत के नाम आचार्यों के रूप मे उद्धृत हैं। ये सभी पुनर्वसु आत्रेय के पुत्र है। आचार्यों मे सुश्रुत का भी उल्लेख है पर चरक का नही है। सभव है चरक के गुरु आत्रेय का नाम दिया होने के कारण ही चरक का नाम नही दिया गया। इसकी भाषा प्राकृत मिश्री सस्कृत है। पूर्वी तुर्किस्तान मे भी चिकित्सा सबधी कुछ फटे अश मिले थे पर उनकी भाषा सस्कृत के अतिरिक्त व्याख्या रूप मे ईरानी मिली थी। इनसे गुप्तकालीन आयुर्वेद की सक्रियता पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

प्राय इसी काल के, ७०० ई से पहले के, दोनों वाग्भटो की चर्चा यहां कर देना उचित होगा। वाग्भट का नाम निश्चय चरक और सुश्रुत के बाद की परम्परा का है। इनमे से एक वृद्ध वाग्भट और दूसरा केवल वाग्भट कहलाता है। उनको अलग करके पहचानने मे कठिनाई इस कारण हो जाती है कि दोनों अपने-अपने ग्रथो—अष्टांगसग्रह और अष्टागहृदय सहिता—मे समान पिताओ के नाम प्रयुक्त करते हैं। वृद्ध वाग्भट का पिता सिंहगुप्त और पितामह वाग्भट था और गुरु उसका बौद्ध अवलोकित था। इनमे

से पहला ईत्सिंग से पहले हुआ था और ६०० ई. के लगभग रखा जा सकता है, दूसरा वाग्भट इससे कुछ काल बाद हुआ। मथुरा संग्रहालय के एक मूर्त-चित्रण मे एक बन्दर दूसरे बन्दर की आख की शल्यचिकित्सा करता दिखाया गया है। मूर्तिखण्ड कुषाणकालीन है जिससे यह अनुमान आसानी से किया जा सकता है कि नेत्रो की चिकित्सा गुप्तकाल की सदियों में न केवल जीवित रही होगी बल्कि और विकसित भी हो गयी होगी। विशेष कर जब 'बावर-मैनुस्क्रिप्ट' मे, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, नेत्र-चिकित्सा का प्रसग सविस्तर दिया हुआ मिला है।

(ङ) गणित और ज्योतिष

भारतीय गणित और ज्योतिष के तीन प्रधान स्तभ है—१. आर्यभट २. वराह-मिहिर और ३. ब्रह्मगुप्त; तीनो गुप्तकालीन है और स्वर्णयुग को चरितार्थ करते हैं। इनमे से पहला शकाब्द ३६८ (४७६ ई.) मे जन्मा और उसने पांचवी सदी के अत और छठी के प्रारंभ मे लिखा, दूसरा शक ५०६ (५८७ ई) मे मरा और छठी में उसने अपने ग्रंथ लिखे, तीसरा सातवी सदी के आरभ मे था जब शकाब्द ५५० (६२८ ई) में उसने अपना प्रख्यात ग्रथ 'ब्रह्मसिद्धात' लिखा।

आर्यभट

वराहमिहिर ने प्राचीन आचार्यों—लाट, सिंह, प्रद्युम्न, विजय नन्दी—के साथ साथ आर्यभट का भी उल्लेख किया है। इससे प्रकट है कि अपने से कुछ ही दशक वर्ष पूर्व होनेवाले आर्यभट की ख्याति देश मे इतनी फैल गयी थी कि वराहमिहिर को उसका आचार्यों मे उल्लेख करना पडा। वास्तविकता तो यह है कि इन परिगणित आचार्यों मे किसी का ग्रथ उपलब्ध नही केवल आर्यभट की ही कृतिया आज प्राप्त हैं।

आर्यभट कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) का निवासी था। उसका प्रसिद्ध ग्रथ 'आर्यभटीय' ४६६ ई मे केवल २३ वर्ष की छोटी आयु मे समाप्त हुआ। उसने गणित को अन्य विषयो से मुक्त कर स्वतत्र रूप दिया। उसके अन्य ग्रथ 'दशगीतिकसूत्र' और 'आर्याष्टशत' हैं। उसने गणित में मूलक्रिया और घातक्रिया, क्षेत्रफल और आयतन, श्रेढी और बीजीय सर्व समिकाओ तथा अन्तर्वर्ती समीकरणो को खोज निकाला। आर्यभट पहला व्यक्ति था जिसने पृथ्वी को इस देश मे गोल माना और उसकी परिधि का माप प्रायः सही प्रस्तुत किया। उसने उसका अपनी धुरी पर घूमना भी सिद्ध किया। पहली बार उसने ग्रहण का राहु ग्रास वाला जनविश्वास निर्मूल कर प्रमाणित किया कि चन्द्रग्रहण सूर्य और चन्द्रमा के बीच मे पृथ्वी के आ जाने से उसकी चन्द्रमा पर छाया पड़ जाने के कारण लगता

है। उसके इन दोनो वैज्ञानिक तथ्यों का वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त ने खण्डन किया। उनका इस सबध का विश्वास जनविश्वास के अनुरूप ही था।

आर्यभट की एक गणित सबधी विशेषता उसकी अकनपद्धति (संकेतन) है। इसका आधार, अन्य प्राचीन सभ्यताओ का अनजाना, दशमलव स्थान-मूल्यन था, जो अब सारे ससार मे प्रयुक्त हो रहा है। यह कह सकना कठिन है कि आर्यभट ने इस पद्धति का आविष्कार किया कि पहले की पद्धति मे केवल सुधार किया। परन्तु 'बखशाली' हस्तलिपि (ल० २०० ई.) को छोड और कही इस पद्धति का प्रयोग नही हुआ, केवल 'आर्यभटीय' और फिर उससे बाद के ग्रथो मे ही हुआ। और चूकि इस हस्तलिपि का समय सदिग्ध है, कुछ अजब नही कि इसका आरंभयिता भी आर्यभट ही रहा हो। आर्यभट की कृतियो की अनेक टीकाए हुई और उसकी पद्धति का विज्ञान और गणित मे बहुशः उपयोग हुआ। भारतीय गणित के इतिहास मे उसका स्थान अद्वितीय है।

वराहमिहिर

आर्यभट के बाद दूसरा प्रधान गणित-ज्योतिषी वराहमिहिर हुआ। उसका काल छठी सदी है और उसके नाम के अत मे 'मिहिर' ईरानी शब्द लगा होने से कुछ लोगो ने उसे ईरानी तक कह डाला है। उसने प्रसिद्ध ग्रथ पचसिद्धातिका मे पाच प्राचीन सिद्धातो —पैतामह, रोमक, पौलिश, वासिष्ठ और सूर्य—का निरूपण किया है। इनमे पहला सिद्धात जनविश्वासी परम्परा का होने से स्वाभाविक ही अवैज्ञानिक है, पर शेष चार सिद्धात वैज्ञानिक आधार पर अवलबित है। इन चारो पर ग्रीक ज्योतिष का स्पष्ट प्रभाव माना जाता है। रोमक और पौलिश तो नाम से ही वह प्रभाव ध्वनित करते है। दोनो ही गणना के लिए केन्द्र (मेरिडियन) यवनपुर (मिस्र के सिकन्दरिया) को मानते हैं। पौलिश सिद्धात तो सभवत पौलुस (पालस) अलेग्ज़ान्द्रिनस से प्रादुर्भूत हुआ। सूर्यसिद्धात भी ग्रीक आधार को ही अपना उद्गम मानता है, यद्यपि उसमे भारतीय दृष्टि से सुधार किया गया है, क्योकि स्पष्ट लिखा है कि सूर्य ने इस सिद्धात का ज्ञान रोमक मे मय नामक असुर को दिया। इस सबध मे ग्रीक सिद्धातो और ज्योतिष के प्रति भारतीय ज्योतिष के ऋण का सविस्तर उल्लेख पहले किया जा चुका है। जिन मूल ग्रंथो का वराहमिहिर ने उल्लेख किया है उनका काल ३०० ई और ५०० ई के बीच माना गया है। वराहमिहिर ने शक सवत् ४२७ को अपनी गणनाओ का आधार-अब्द माना है।

वराहमिहिर ने ज्योतिष शास्त्र को तीन शाखाओं—तन्त्र (गणित और ज्योतिष), होरा (जन्मपत्र) और सहिता (फलित ज्योतिष)—मे विभक्त किया है। इन पर उसके प्राय छ ग्रथ है। इनमे गणित ज्योतिष के ग्रथ 'पञ्चसिद्धांतिका' का ऊपर उल्लेख

सविस्तर किया जा चुका है। होरा शास्त्र का संबंध जन्मकाल मे ग्रहों की स्थिति गिनकर जन्मपत्र तैयार करने और भविष्यादि बताने से था। वराहमिहिर के 'लघु' और 'बृहज्जातक' इसमें प्रमाण हैं। उसकी 'बृहत्संहिता' वस्तुत विश्वकोश है। उसमे ज्ञान के अनन्त विषयो की चर्चा हुई है। ग्रह-नक्षत्रों की गति, मनुष्य पर उसका प्रभाव, भूगोल, वास्तु, मूर्ति निर्माण, सरोवर और वाटिका निर्माण, नारियो और पशुओ के भिन्न भिन्न वर्ग, रत्नपरीक्षा, शुभाशुभ आदि विभिन्न विषयो पर उस ग्रंथ में विचार हुआ है। वस्तुत विवाह लग्नादि के विषय पर उसकी दो कृतिया हैं, 'बृहद्विवाहपटल' और 'स्वल्पविवाहपटल'। उसकी अन्य कृति 'योगयात्रा' मे राजाओ के अभियान सबधी शुभाशुभ पर गणना की गयी है। वराहमिहिर ने अपनी कृतियों मे सुन्दर काव्यशैली और अनेक छन्दों का उपयोग किया है। वराहमिहिर का पुत्र पृथुयशा भी ज्योतिषी था पर उसका कार्य अधिकतर फलित ज्योतिष पर ही हुआ। उसका प्रश्न और जातक सबधी ग्रथ 'होराषट्पञ्चाशिका' जाना हुआ है।

ब्रह्मगुप्त

गुप्तयुग का अन्तिम छोर का गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त था जिसके नाम से उसका 'ब्रह्मसिद्धात' प्रसिद्ध हुआ। यह शकाब्द ५५० (ल० ६२८ ई.) में लिखा गया। इसका जन्म ५९८ ई. मे ही हो चुका था। प्राय ३७ वर्ष बाद उसका विख्यात ग्रथ 'खण्डखाद्य' प्रस्तुत हुआ। ७२ आर्या छन्दो मे उसने 'ध्यानग्रह' लिखा। इस गणितज्ञ के सक्रिय विषय थे—वर्गमूल और घनमूल, त्रैराशिक, ब्याज, श्रेढी, ज्यामिति, परिमेय समकोणीय त्रिभुज, वृत्त के अवयव, ऋण और धन मात्राए, शून्य, धन, सरल बीजीय सर्व समिकाए, प्रथम-द्वितीय अशो के अन्तरवर्ती समीकरण। साधारण समीकरणों पर भी उसने काम किया पर उसके विशेष आकर्षण उसके चक्रीय चतुर्भुज थे।

लाट

जिन आचार्यों के नाम वराहमिहिर ने गिनाये हैं उनका, विशेष कर लाट का, समय गुप्तयुग का प्राय मध्यकाल, ३००-५०० ई था। लाट ने रोमक सिद्धात की व्याख्या की है। वह निश्चय ५०० ई के कुछ पूर्व हुआ होगा। अल्बेरूनी उसे सूर्यसिद्धात का रचयिता मानता है। प्रकट है कि लाट ने रोमक और पौलिश दृष्टियो मे कुछ सुधार किये जिससे वराहमिहिर का कार्य आसान हो गया। यह वह काल था जब अनेक क्षेत्रो मे गुप्त साम्राज्य और रोमन साम्राज्य एक दूसरे से सबध स्थापित कर रहे थे। ईरान के सस्सानी राजकुल ने इस सबध को और भी सफल बनाया होगा।

(च) अर्थ, धर्म और काम सम्बन्धी साहित्य

ब्राह्मण धर्म ने अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के चार पायों पर मानवीय प्रयत्न अवलंबित किये। इसी दृष्टि से कि मानवजीवन मे अर्थ और परमार्थ, लब्धि और त्याग, का संतुलन और सही अनुपात बना रहे, इन क्षेत्रो से सबंधित साहित्य की भारी रचना हुई। गुप्तकाल ने भी उस दिशा मे अपना योगदान दिया। परिणामस्वरूप अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्र का सर्जन हुआ। यहा उन पर ही विचार करेगे।

अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक अथवा राजकीय लाभ से है, धार्मिक कर्तव्य से नही। इसका उपयोग राजशास्त्र के रूप मे भी हुआ है। कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' और कामन्दकीय 'नीतिसार' दोनों इसी दृष्टि से लिखे गये हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र साधारणतः चौथी-तीसरी सदी ई. पू. का माना जाता है, यद्यपि कीथ ने उसे ल० ३०० ई.[1] का यानी गुप्तकालीन माना है। यह स्वीकार करना असभव है क्योंकि कालिदास ने उसका उपयोग किया है और वह उस कवि का समकालीन नही हो सकता।

गुप्तकालीन अथवा कुछ बाद का कामन्दकी का 'नीतिसार' है जिसे कुछ लोगो ने वराहमिहिर का समवर्ती माना है।[2] भवभूति ने कामन्दकी नाम की भिक्षुणी का उल्लेख किया है और बाली के 'कवि' साहित्य मे भी उसका उल्लेख हुआ है। कामन्दकी चाणक्य को अपना गुरु मानती है और 'नीतिसार' का अधिकाश 'अर्थशास्त्र' पर अवलबित है।

धर्मशास्त्र

सामाजिक परम्परा, वर्ण, जाति, राजधर्म, सस्कार, प्रायश्चित्त, दण्ड और न्यायादि के विषय धर्मशास्त्रो के रहे है। वैसे तो इस साहित्य का निर्माण सूत्रकाल मे ईसा से अनेक सदियो पूर्व ही आरभ हो गया था पर उनसे सबधित अथवा स्वतत्र स्मृतियो की रचना अधिकतर गुप्तकाल मे ही हुई। उनका सक्षिप्त उल्लेख यहा कर देना समीचीन होगा।

नारद, बृहस्पति, कात्यायन, याज्ञवल्क्य, व्यास, पराशर आदि की स्मृतियो का निर्माण प्राय इसी काल मे हुआ। नारद के अनुसार उनकी स्मृति मनु से भी प्राचीनतर है परन्तु इसमे 'दीनार' शब्द का उल्लेख होने से इसका दूसरी सदी ईसवी से पूर्व का मानना कठिन है। सातवी सदी के आरभ के बाणभट्ट ने इसका उल्लेख किया है। इसका व्याख्याता

[1] हिस्ट्री., पृ. ४६१। [2] वही, पृ. ४६३।

असहाय, स्मृतियों के व्याख्याताओं में संभवतः सबसे प्राचीन है जो ६०० ई. से ७०० ई. मे कभी हुआ।

व्यासस्मृति भी महत्त्व की है जिसके चार अध्यायो मे विभक्त लगभग २५० छन्दो का समय २०० ई. और ५०० ई. के बीच है। इसके विचार नारद, कात्यायन और बृहस्पति स्मृतियो से मिलते है। इसने भी व्यवहार को महत्त्व दिया है। कात्यायन और देवल सभवत. समकालीन थे, ४०० ई और ६०० ई. के बीच के। दोनो की स्मृतिया अप्राप्त हैं पर उनके सिद्धात सविस्तर अन्य स्मृतिकारो और भाष्यकारो द्वारा उद्धृत मिलते है। कात्यायन विधि और व्यवहार की दृष्टि से इन सबसे अधिक महत्त्व का है।

शुद्ध गुप्तकालीन और अत्यन्त महत्त्व की स्मृति याज्ञवल्क्य की है। इस स्मृति का रचनाकाल ३०० ई. के लगभग माना जाता है।[1] बहुत सीमा तक मनु पर अवलंबित होकर भी यह अपनी विषयव्यवस्था मे शायद उससे बेहतर है। आज भी अधिकतर यही व्यवहार मे आती है। इस पर अनेक व्याख्याए लिखी गयी, इनमे विज्ञानेश्वर की 'मिताक्षरा' प्रसिद्ध है।

पराशर प्राचीन आचार्य है जिनका नाम याज्ञवल्क्यस्मृति मे मिलता है, पर उनके नाम से जिस स्मृति का उल्लेख किया जाता है वह निश्चय पीछे की है। उसमे मनुस्मृति के अनेक श्लोक उद्धृत है। नवी सदी मे 'पराशरस्मृति' विशिष्ट प्रमाण बन गयी। इसका समय विद्वानो ने पाचवी सदी ई. के पूर्व माना है। धर्मशास्त्र सबधी विविध पुस्तको मे पता चलता है कि ईसवी ४०० और ७०० के बीच पुलस्त्य, पितामह और हारीत द्वारा भी अपनी-अपनी स्मृति प्रस्तुत हुई।

प्रकट है कि इस काल के राजाओ ने अधिकतर लिखित शास्त्र की विधि से प्रजा-पालन और राज्य का शासन किया, जिससे इन स्मृतियो की प्रमाण रूप मे आवश्यकता पडी और वे रची गयी। राजाओ का शास्त्र-दृष्टि रखना[2] और परिणामत शास्त्रो-स्मृतियो का अध्ययन उनके लिए अनिवार्य माना गया। इसी काल विधि और व्यवहार के प्रयोग के लिए भाष्यो की पहली और विशेष आवश्यकता पडी, जिनकी परम्परा का आरभ हुआ। असहाय ने तभी (६०० और ७०० ई के बीच) गौतम, नारद और मनु की स्मतियो पर भाष्य लिखे।

कामशास्त्र

धर्म और अर्थ की ही दिशा मे मनुष्य का तीसरा लक्ष्य भारतीय जीवन-शास्त्र ने

[1] हिस्ट्री., पृ. ४४६। [2] देखिए, समुद्रगुप्त का प्रयाग-स्तंभलेख।

'काम' माना है। धर्म और अर्थ की व्याख्या तो विशेषतः राजाओ और राजनीतिज्ञों के निमित्त हुई है, पर काम की व्याख्या सर्वजनीन है। सज्जनो के संपर्क मे आनेवाली नारियो के लिए भी, सज्जनों के अतिरिक्त, कामशास्त्र का पठन-पाठन आवश्यक माना गया है। वेश्याए, राजपुत्रियां, उच्च कर्मचारियों की वनिताएं और कन्याए, सभी प्रकार की नारियों का यह शास्त्र प्रयोग्य रहा है। पीछे तो वेश्याओ के ज्ञानवर्धन के लिए कश्मीरी पण्डितो—दामोदर गुप्त और क्षेमेन्द्र—ने क्रमश अपनी 'कुट्टनीमतम्' और 'समयमातृका' नाम की रचनाए प्रस्तुत कर दी। इस शास्त्र का अध्ययन भारत में पर्याप्त प्राचीन है।

कामशास्त्र के प्रधान सूत्र-व्याख्या ग्रंथ 'कामसूत्र' मे अनेक प्राचीन आचार्यों के नाम गिनाये गये हैं पर आज वे उपलब्ध नही हैं। इस प्रकार का वैज्ञानिक, ससार का पहला ग्रंथ वात्स्यायन मल्लनाग द्वारा रचा यह 'कामसूत्र' ही है। इससे नागरक-नागरिकाओं के सामाजिक चरित पर घना प्रकाश पडता है। इसमे नर-नारी के शरीर-मंडन और काय-प्रसाधन के सविस्तर प्रसगो से लेकर मित्र की पत्नी तक के आकर्षण का योग बताया गया है। प्रकट है कि इस शास्त्र की विशेष चर्चा समाज मे शाति और समृद्धि तथा अवकाश के कारण ही हुई होगी। वस्तुत यह चर्चा साहित्य और कला दोनों के इष्ट प्रसग की है और गुप्त साहित्य और कला-प्रतीको ने इसका भरपूर उपयोग किया है। यह समसामयिक समाज की भावपरिणति और उसके सांस्कृतिक आचारगत अवसान दोनो की परिचायक है। गुप्तकाल ने एक साथ ही सास्कृतिक, साहित्यिक और कला सबधी अभ्युत्थान की चोटी छू ली और सामाजिक पतन की ओर भी पदार्पण किया। वात्स्यायन का यह 'कामसूत्र' तभी का है, प्राय चौथी सदी ईसवी का, जिसका भरपूर उपयोग कालिदास ने किया है।

(छ) दर्शन

गुप्तकालीन साहित्य मे संस्कृत भाषा मे दर्शन की रचना ब्राह्मणो और बौद्धो ने की। उपनिषदो के बाद ही दर्शनों का विन्यास शुरू हो गया था। उनके बीज तो, कई अंश मे, पहले भी चिंतन की भूमि मे पड गये थे परन्तु उनका तर्कसम्मत विकास उपनिषदो के बाद हुआ। सूत्रो से दार्शनिक विस्तरण का विकास हुआ और उन पर लिखी सैद्धातिक व्याख्याओ ने विविध दार्शनिक दृष्टियो का प्रसार किया। अधिकतर दर्शनो का विकास द्वन्द्वात्मक रूप से प्राय शीघ्र क्रमिक, अनेक बार एक ही समय हुआ। याकोबी का तो मत है कि न्यायसूत्रों और ब्रह्मसूत्रो की रचना बौद्धों के शून्यवादी दर्शन के अनन्तर परन्तु विज्ञानवादी दृष्टिकोण से पूर्व ई. २०० और ४५० के बीच कभी हुई। इसी प्रकार पूर्व मीमासा और वैशेषिक सूत्रो का प्रणयन उनसे कुछ पहले हुआ होगा। याकोबी ने योगसूत्रों को विज्ञानवाद के पीछे और साख्यसूत्रो को और भी पीछे रखा। परन्तु शायद

विज्ञानवाद को ३०० ई. से और शून्यवाद को प्राय: १०० ई. से पीछे नहीं रखा जा सकता। समय यथार्थत इनका चाहे जो रहा हो, प्रधान उपनिषदों के निर्माण और तीसरी चौथी सदी ईसवी, विशेषतः गुप्तकाल में दार्शनिक चिन्तन का विशेष प्राधान्य रहा।

पूर्व और उत्तर मीमांसा

जैमिनि के पूर्व मीमांसा या कर्ममीमासा तथा बादरायण के उत्तर मीमांसा या ब्रह्ममीमांसा दर्शनों पर इस काल मे भाष्यो की रचना हुई। पूर्व मीमासा पर शबर स्वामी ने भाष्य लिखा, उत्तर मीमासा पर उपवर्ष ने भी भाष्य लिखा था। शबर स्वामी के भाष्य पर पूर्व मीमासा की दो दार्शनिक पद्धतिया चली। एक का प्रभाकर ने सिद्धांत निरूपित किया (छठी सदी के अन्त मे), दूसरी का कुमारिल भट्ट ने ल० ७०० ई. मे।

इसी युग के प्राय: अन्तिम चरण मे वेदान्त के मायावाद अथवा जगत् के मिथ्या स्वरूप का दर्शन मे उद्घाटन हुआ। मायावाद की चर्चा चाहे जब से चलती रही हो उसका सैद्धांतिक रूप 'गौडपादीय कारिकाओ' में स्थिर हुआ। गौडपाद शकर के गुरु गोविन्द के गुरु माने जाते हैं जिससे उनका समय सातवी सदी के अन्त मे हुआ। गौडपाद के ही मायावाद के दृष्टांत रज्जु-सर्प, बिम्ब-प्रतिबिम्ब, अलातशाति आदि के द्वारा पीछे शकर ने अद्वैतवाद का विस्तार किया।

न्याय

न्यायसूत्रो का कर्ता छठी सदी ई. पूर्व के गौतम को परम्परया माना जाता है पर वास्तविक न्यायदर्शन की मीमासा सभवतः अक्षपाद ने दूसरी सदी ईसवी मे की। न्याय-सूत्रो की विचारसरणि निश्चय प्राचीन है, ईसा पूर्व की सदियो की, पर उनका ग्रथन संभवतः ईसा के शीघ्र ही बाद की सदियो मे हुआ। इन सूत्रो पर भाष्य (न्याय भाष्य) पक्षिल स्वामी वात्स्यायन ने दिङ्नाग के कुछ ही पहले लिखा, सभवत: तीसरी सदी ईसवी मे। पाशुपत सप्रदाय के आचार्य उद्योतकर भारद्वाज ने अपने 'न्यायवार्तिक' मे वात्स्यायन की सपुष्टि की और सूत्रों तथा भाष्य की व्याख्या की। उद्योतकर का समय ६२० ई. के लगभग है। तर्क-न्याय का बौद्ध आचार्य दिङ्नाग संभवत ४०० ई. से कुछ पहले हुआ। उसने प्रायः चौथी सदी ईसवी के मध्य अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'प्रमाणसमुच्चय', 'न्यायप्रवेश' आदि लिखे। बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्त्ति सातवी सदी मे हुआ, जिसने दिङ्नाग की सपुष्टि में उद्योतकर पर प्रहार किया। उसका 'न्यायबिन्दु' आज भी सुरक्षित है। जैन आचार्यों मे प्रसिद्ध सिद्धसेन ने अपना 'न्यायावतार' सभवतः ५३३ ई. मे लिखा। प्रायः तभी माणिक्य नन्दी ने अपना 'परीक्षामख सूत्र' रचा।

वैशेषिक

वैशेषिक दर्शन का अणुवाद न्यायदर्शन का समसामयिक माना जाता है। कणाद कब हुए, यह कह सकना तो कठिन है पर इसमे सन्देह नही कि न्यायसूत्रों की ही भाति वैशेषिक सूत्रों में प्रकटित सिद्धांत प्राचीन है। वैशेषिक दृष्टि को प्रशस्तपाद ने अपने प्रसिद्ध भाष्यग्रंथ 'पदार्थधर्मसग्रह' मे नये रूप से संजीवित किया। यह सूत्रो पर भाष्य से भी बढकर वैशेषिक पक्ष का नयी सामग्री की सहायता से समर्थन है। प्रशस्तपाद का समय दिङ्नाग के कुछ ही बाद, शायद पाचवी सदी के आरम्भ मे है।

जिस प्रकार न्याय-वैशेषिक का विन्यास प्राय साथ-साथ हुआ, साख्य-योग के सिद्धातों का ग्रथन भी प्राय· एक साथ हुआ। दोनो का युगल रूप मे अन्योन्याश्रय सबध है। साख्य-योग भी दृष्टि रूप से पर्याप्त प्राचीन है पर उनका सविस्तर दार्शनिक निरूपण बाद का है जो प्राय. गुप्तकाल मे ही सपन्न हुआ।

साख्य

साख्यदर्शन के मूल का समय उसे बौद्ध धर्म का पूर्ववर्ती मानकर, ८०० और ५५० ई. पू. के बीच माना गया है जिसके लिए विशेष प्रमाण नही है। उस दर्शन के प्रधान प्रवर्तको—कपिल, आसुरि और पञ्चशिख—का समय अज्ञात और सन्दिग्ध है। अनीश्वरवादी त्रिगुणात्मक तथा सख्याविशेषक साख्य का, जिस रूप मे हम उसे आज जानते है उसका, प्रतिपादक गुप्तकालीन ईश्वर कृष्ण है। उसकी 'साख्यकारिका' इस विषय की विशिष्ट रचना है जिसका चीनी भाषा मे अनुवाद ५५७-६९ ई मे ही हो गया था। अनेक लोग विन्ध्यवास को ही ईश्वर कृष्ण मानते है।[1] विन्ध्यवास साख्य पर 'षष्टितन्त्र' के रचयिता वर्षगण्य का शिष्य था जिसने सत्तर छन्दो मे अपने गुरु की त्रुटिया शुद्ध की। विन्ध्यवास की इस कृति पर प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु ने अपने 'परमार्थसप्तति' मे प्रहार किया। वर्षगण्य वसुबन्धु से आयु मे बडा, समकालीन था। वसुबन्धु का समय ३२० ई. के लगभग है, ईश्वर कृष्ण भी इस प्रकार चौथी सदी के मध्य का हुआ।

योग

साख्य का समवर्ती योगदर्शन सभवत साख्य के ही प्रभाव मे विकसित हुआ। इसे पडितो ने आस्तिक अथवा 'ईश्वरवादी साख्य' कहा है। वैसे तो प्राणायाम बौद्धादि के चिन्तन का आधार होने से योग भी साख्य की ही भाति प्राचीन है और इसका उल्लेख

[1] कीथ, हिस्ट्री., पृ. ४८८।

भी सांख्य की भांति ही कम से कम दूसरी सदी ईसवी पूर्व की भगवद्गीता मे मिलता है, परन्तु संभवत उसका वर्तमान रूप इतना प्राचीन नही है। योगसूत्रो के रचयिता पतञ्जलि माने जाते हैं पर इन्हें वैयाकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि मानने मे आपत्ति की गयी है।[1] गुप्तकाल के अन्त मे अथवा कुछ और बाद सातवीं सदी में व्यास नाम से संबधित 'योगभाष्य' लिखा गया जिसकी सहायता से योगसूत्रो का अर्थ लगाया जाता है।

बौद्ध वाङमय

बुद्ध ने अपने प्रवचन पालि-प्राकृत मे किये, परन्तु कुछ तो अधिकतर बौद्ध दार्शनिकों के मूलत ब्राह्मण होने से, कुछ दार्शनिक चर्चा की परम्परा, लाक्षणिक शब्दावली आदि सस्कृत मे होने के कारण बौद्धो ने भी अपने दर्शन के विवेचन के लिए सस्कृत को ही अपनाया। मूल सर्वास्तिवादियो ने सस्कृत का पूर्णत उपयोग किया, जिनकी कृतियो का समय ईसा की प्राय आरंभिक सदियां हैं। महासांघिक लोकोत्तरवादियों का बौद्ध काव्य 'महावस्तु' तीसरी सदी ईसवी के आस-पास का है, निश्चय चौथी सदी से पहले का। उसकी भाषा गद्य-पद्य मिश्रित सस्कृत है जिसमे बुद्धो, बोधिसत्त्वो, उनके प्रति कहे स्तोत्रों, जातका आदि का भी समावेश है।

'ललितविस्तर' बुद्धचरित का विज्ञापन करने वाला संस्कृत काव्य है जिसका गद्य भाग शुद्ध सस्कृत है पर पद्य भाग मिश्रित है। इसका पद्य भाग इसके गद्य भाग का ही रूपान्तर है। इसका समय ठीक ठीक तो ज्ञात नही पर नवी सदी मे इसका तिब्बती मे अनुवाद प्रस्तुत हो जाने और जावा के बोरोबोदूर (८५०–९००) के कलावन्तो को इसके अश ज्ञात होने से इसका काल दूसरी सदी ईसवी से गुप्तकाल तक रखना युक्तियुक्त होगा। कुछ अजब नही जो इसके पिछले भागो का विस्तार तीसरी सदी के अन्त और चौथी सदी के आरम्भ तक होता रहा हो, जिससे गान्धार शैली के तक्षको को इसके स्थल कला मे मुकर लगे हो।

अश्वघोष के काव्यो का उल्लेख काव्यपक्ष मे पहले किया जा चुका है। उसके साथ ही उसकी अन्य कृतियों का उल्लेख यहा करना हमारी कालावधि की दृष्टि से समीचीन न होगा। प्राय दूसरी सदी ईसवी के अन्त मे ही शुद्ध सस्कृत गद्य और मिश्रित सस्कृत पद्य मे बुद्ध और बोधिसत्त्वो की प्रशसा मे प्रसिद्ध 'सद्धर्मपुण्डरीक' लिखा जा चुका था। उसका चीनी अनुवाद ३१६ ई के पहले ही प्रस्तुत हो चुका था। प्राय इसी काल का

[1] कीथ, हिस्ट्री., पृ. ४९०।

'अवलोकितेश्वरगुणकरण्डव्यूह' जो गद्य और पद्य रूपान्तर मे उपलब्ध है, चीनी मे २७० ई. में अनूदित हो गया था। 'अवतशक सूत्र' अथवा 'गण्डव्यूह' का चीनी अनुवाद ४२० ई. मे ही संपन्न हो गया था। इसमे मजुश्री का यश निरूपित है। पद्मोत्तर नामक स्वर्ग का बखान 'करुणापुण्डरीक' मे मधुर रीति से हुआ है। यह गुप्त कालीन कृति है जिसका अनुवाद चीनी मे ६०० ई. से पूर्व ही हो चुका था।

दार्शनिक ग्रथ 'लंकावतारसूत्र' की रचना निश्चय ४४३ ई. से पूर्व हो चुकी होगी क्योंकि उसका चीनी मे अनुवाद उस वर्ष ही हो चुका था। फिर भी उसमे गुप्तों और म्लेच्छो का जिक्र होने से स्पष्ट है कि उसके कुछ भागो का ग्रथन गुप्तकाल के अन्त मे प्रायः ६०० ई. से कुछ पूर्व हुआ होगा। 'म्लेच्छों' का उल्लेख स्कन्दगुप्त के गिरनार लेख मे भी हुआ है। 'दशभूमीश्वर महायानसूत्र', 'समाधिराज', 'सुवर्णप्रभास' और 'राष्ट्रपाल परिपृच्छा' नामकी बौद्ध दार्शनिक कृतिया भी गुप्तकालीन ही थी, जिनमे से पहली का चीनी अनुवाद ४०० ई. मे, तीसरी का छठी सदी मे और अन्तिम का ६१८ ई. से पूर्व हो चुका था। इनमें से अन्तिम समवर्ती बौद्ध आचरण का मखौल उडाता है। इसकी सस्कृत नितांत असस्कृत है।

असग और वसुबन्धु

प्रज्ञापारमिताओ अर्थात् बुद्ध की पूर्णताओ का बखान नागार्जुन ने किया था, पर उनका प्रसार गुप्तकाल के बहुत पीछे तक होता रहा। गुप्तकालीन बौद्ध दार्शनिको मे दिङ्नाग के बाद प्रधान तब के भारतीय सीमाप्रात के पठानबन्धु असग और वसुबन्धु थे। असग ने विज्ञानवाद का प्रतिनिधान अपनी कृतियो 'बोधिसत्त्वभूमि', 'योगाचार-भूमिशास्त्र' (केवल कुछ भागो मे) और पद्य मिश्रित भाष्य के साथ 'महायानसूत्रालकार' मे किया। उसका भाई वसुबन्धु पहले हीनयानी था, जब उसने 'गाथासग्रह' और 'अभिधर्मकोश' लिखे। अभिधर्मकोश हीनयान के सर्वास्तिवादी और अन्य सप्रदायो के सिद्धात निरूपित करता है। भाई असंग के प्रभाव से महायानी हो जाने के बाद उसने अनेक भाष्य लिखे। कारिकाओ मे लिखा उसका लघु काव्य तिब्बती से अनूदित हो चुका है। अपने 'परमार्थसप्तति' मे उसने साख्य दर्शन पर प्रहार किया। शातिदेव ने सातवी सदी मे पूर्व उद्धरणो से भरा अपना 'शिक्षासमुच्चय' लिखा जो उसके 'बोधिचर्यावतार' से कही घटिया था। स्तोत्रो का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। धरणियो अथवा बुद्ध के चमत्कारो का संग्रह 'मेघसूत्र' मे हुआ। दार्शनिक सिद्धातो का एक सक्षिप्त सग्रह पाचवी–छठी सदी मे 'प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र' मे हुआ जो ६०९ ई से ही जापान मे सुरक्षित है।

जैन साहित्य

जैन दर्शन का अधिकतर विकास प्राकृत में हुआ। आरम्भ मे वह प्राकृतो मे ही लिखा गया, पीछे भी उसका विन्यास प्राकृतों मे ही हुआ। पर गुप्तकाल के अवसान-युग मे जैन आचार्य भी संस्कृत भाषा के लाभ से वंचित न रह सके। उन्होंने भी उसका उपयोग किया।

न्याय दर्शन के प्रसंग में सिद्धसेन दिवाकर का उल्लेख किया जा चुका है। उमास्वाति ने पीछे सूत्रो और भाष्य की सस्कृत शैली में लिखे अपने 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' मे अपने धर्म के सिद्धात बड़ी सतर्कतापूर्वक निरूपित किये। सातवी सदी मे समन्तभद्र ने 'आप्तमीमासा' की रचना की जिस पर अकलक ने व्याख्या लिखी। कुमारिल ने दोनो पर आघात किये। ६६० ई. के लगभग रविषेण ने 'पद्मपुराण' लिखा। इसी दिशा मे प्रसिद्ध जैन पुराण 'हरिवशपुराण' ७८४ ई. मे जिनसेन ने लिखा। सभवत 'आदिपुराण' का रचयिता जिनसेन इस जिनसेन से भिन्न था। इस दूसरे के शिष्य गुणभद्र ने 'आदिपुराण' के ही क्रम मे अपना 'उत्तरपुराण' लिखा जिसमे ऋषभ के बाद के तीर्थंकरो के चरित प्रतिबिंबित हुए।

२. प्राकृत और अपभ्रंश

प्राकृतो का उदय जनबोलियो से हुआ और उन्ही के सस्कार से सस्कृत बनी। पर जिन प्राकृतो पर हम यहा विचार कर रहे हैं और जो प्राकृते गुप्तकाल मे प्रयुक्त हुई वे साहित्यगत प्राकृते थी। उनका उपयोग क्षेत्रीय साहित्य शैलियो की तरह हुआ। सर जार्ज ग्रियर्सन ने इनके तीन भेद किये—१. मूल प्राकृत, जिनके साहित्यिक रूप वैदिक भाषा और उसके बाद की सस्कृत है, २ मध्यवर्ती प्राकृत, जिनकी प्रतिनिधि पालि, वैयाकरणो की प्राकृते और नाटको आदि की प्राकृते है; ३. वैयाकरणो के अपभ्रश। इस विभाजन को स्वीकार करना कई कारणो से सभव नही, विशेष कर इस कारण भी कि इनका उत्तरोत्तर विकास एक के बाद एक नही हुआ।

अशोक के अभिलेखो मे वस्तुत पहली प्राकृतो के दर्शन होते है जिनके पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी तीन रूप मिलते है। इनके बाद की दूसरी प्राकृतो के स्वरूप हमे प्राय साढे तीन सदियो पीछे अश्वघोष के नाटको मे मिलते हैं जिन्हे उचित ही प्राचीन अर्ध-मागधी, प्राचीन शौरसेनी और प्राचीन मागधी कहा गया है। इनमे से पहली मे ही महावीर ने अपने जैन सिद्धात कहे। श्वेताबर जैनों की कृतिया महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित है और पिछले काल की जैन महाराष्ट्री में उपलब्ध है। मध्य (मध्यकालीन) अथवा वैयाकरणो की प्राकृत दूसरी सदी ईसवी के बाद प्रयुक्त होने लगी।

गुप्तकालीन प्राकृत का स्वरूप हम कालिदास के नाटकों में देख सकते हैं। महाराष्ट्री का प्रयोग गेय कविता में संभवतः कालिदास ने ही पहले पहल किया। शौरसेनी अधिकतर गद्य प्राकृत थी। शौरसेनी का सस्कृत से संबंध महाराष्ट्री की अपेक्षा घना बना रहा। शौरसेनी प्रतिष्ठित लोग और मागधी निम्नवर्गीय लोग नाटकों मे बोलते है।

इस युग के आरम्भ में धर्मदास और संघदास ने प्राकृत मे 'वसुदेवहिण्डी' लिखा जिस पर गुणाढ्य की 'बडकहा' (बृहत्कथा) का गहरा प्रभाव है। धार्मिक 'तरंगवती-कथा' की रचना काफी पहले हो गयी थी। इसका रचयिता पादलिप्त था जिसने 'ज्योतिष्करण्डक' (प्रकीर्ण) पर प्राकृत व्याख्या भी लिखी थी। सिद्धसेन का 'सम्मतितर्कसूत्र' प्राकृत मे प्रस्तुत जैन न्याय और दर्शन का ग्रथ है। यह तीन अध्यायो मे विभक्त १६७ गाथाओ का ग्रथ है।

सस्कृत की ही भाति प्राकृतों के व्याकरण भी लिखे गये। वररुचि का 'प्राकृत प्रकाश' और चण्ड का 'प्राकृतलक्षण' प्राचीनतम व्याकरण है जो लिखे सस्कृत मे ही गये। पालि भाषा का व्याकरण 'कात्यायन प्रकरण' पालि मे ही लिखा गया। पाचवी सदी के बुद्धघोष ने चूंकि इसका उल्लेख नही किया है इससे इसे पडितो ने काफी पीछे का बना माना है।

प्राकृतो मे काव्य भी लिखे गये जो प्रायः गुप्तकालीन है। दो का जिक्र कर देना यहा उचित होगा। इनमे मे एक महाराष्ट्री प्राकृत मे 'सेतुबन्ध' राजा प्रवरसेन का लिखा कहा जाता है। दूसरा 'गौडवहो' राजा यशोवर्मा के दरबारी कवि और भवभूति के शिष्य वाक्पतिराज का लिखा है। इसका रचनाकाल आठवी सदी है। 'सेतुबन्ध' जिसे 'रावण-वह' भी कहते है, राम के सेतु बांधकर लकावतरण के बाद रावणवध और सीता की उपलब्धि काव्य मे प्रस्तुत करता है। प्रवरसेन दो हो गये है, एक कश्मीर का राजा प्रवर-सेन द्वितीय, दूसरा इसी नाम का वाकाटक राजा। इनमे इस काव्य का कर्ता कौन है, यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है।

अपभ्रंश रूप उन साहित्यिक भाषाओ को व्यक्त करता है जो सस्कृत अथवा प्राकृत नही है। भ्रांतिवश इसे प्राकृतो का देशी भाषाओ के पहले का प्रसार अथवा सेतु मान लिया गया है जो गलत है। इसकी उपस्थिति प्राकृतो के साथ साथ ही मानी गयी है। ई. सन् ५५९–६९ का वलभीनरेश गुप्तसेन अपने को सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का कुशल कवि मानता है। जनबोली की भाषा-व्यवस्था स्वीकार कर उसमे प्राकृत शब्दावलि का प्रयोग वस्तुतः अपभ्रंश रूप था, वह सेतु भाषा कभी नही था।

इससे कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशीय' के चौथे अक मे प्रयुक्त अपभ्रंश के गेय छन्दो को जो प्रक्षिप्त कहा गया है वह असगत है। यदि केवल सौ वर्षों बाद वलभी-

नरेश अपने को संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश का भी निष्णात कवि घोषित करता है तब मानना होगा कि काव्य की भाषा स्वीकृत होने मे अपभ्रंश को कुछ सदिया लगी होंगी। फिर यदि कालिदास ने जो उसके छन्दो का उपयोग किया हो तो उसमे आश्चर्य क्या है ? इस प्रकार सुन्दर अपभ्रंश के साहित्यगत उपयोग का साधु प्रयास संस्कृत के मूर्धन्य कवि स्वयं कालिदास ने किया। प्रकट है कि गुप्तकाल ने अपभ्रंश के सफल विकास को भी मुखर किया।

३. तमिळ साहित्य

द्रविड परिवार की भाषाओं मे शेष तीन तो पर्याप्त पीछे ऋद्धिमन्त हुईं, पर तमिळ निश्चय ईसा की प्रारंभिक सदियों के साथ ही साहित्य निर्माण की दिशा मे लंबे डग भर चली थी। तमिळनाळु मे जैन धर्म का प्रभाव धर्म के प्रचार के प्राय आरम्भ काल मे ही हो गया था। इसी से चौथी सदी ई. पू. में ही मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मगध मे अकाल पडने पर जैनगुरु भद्रबाहु के साथ मैसूर मे श्रवणबेलगोला चला गया था।

धीरे धीरे अधिकतर जैन और कुछ बौद्ध आचार्यो ने भी तमिळ साहित्य को धर्मार्थ काफी साधा। सभवत 'तोळ्काप्पियम्' और 'कुरळ' (काव्य) के रचयिता जैन धर्माव-लंबी थे। प्रसिद्ध काव्य 'मणिमेखलइ' बौद्ध वीरकाव्य है जो अनेक दिगम्बर जैन भिक्षुओ का उल्लेख करता है। गुप्तकाल के समवर्ती अनेक तमिळ साहित्य-ग्रथ, जैन विश्वास से अनुप्राणित तब लिखे गये। 'जीवकचिन्तामणि', 'सिलप्पदिकारम्', 'नीळकेशि', 'यशो-धर काव्य' आदि सब जैन प्रसगो से गर्भित और मुखरित हैं।

सातवी सदी से आगे शैव और वैष्णव सन्तो ने जैन धर्म पर आघात किया। नायनार और आळवार सन्त, शैव और वैष्णव कविसम्पदा लिये तमिळ भूमि पर उतरे और उसके साहित्य को समग्र रूप से नये भक्तिरस मे सीचा। पर नायनारो और आळवारो का साहित्य, जिसने उत्तर भारत के भी साहित्य और विश्वास को प्रभूत प्रभावित किया, गुप्तकाल के अवसान के बाद का होने से हमारी कालपरिधि से परे का है।

उपसंहार

हमने ऊपर के अध्ययन मे देखा कि गुप्तकालीन स्वर्णयुग साहित्य के क्षेत्र मे किस मात्रा मे यह नाम सार्थक करता है। सस्कृत के लिए तो यह युग साहित्य मे सुईकारी का था। ललित काव्य तो इस काल अनुपम रचा ही गया, अन्य वैज्ञानिक और प्राविधिक

साहित्यों मे भी इस युग ने असाधारण प्रगति की। दर्शन, गणित, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र, इतिहास–पुराण सभी विशेष मेधा और विनीत तत्परता से साधे गये। दर्शन की तार्किक परुषता वैयक्तिक भक्ति ने जब महायान के माध्यम से चिकनी कर दी तब विश्वास की नयी भूमि पर मूर्तियो की सम्पदा उतरी और देवायतनो से देश भर गया। कला उसके परिणाम से कितनी समृद्ध हुई यह गुप्तकालीन परिवेश को देखकर ही जाना जा सकता है। अगला अध्याय कला के ही विविध अगो का उद्‌घाटन करेगा।

अध्याय ५

ललित कला

'ललित-कला' शब्द का प्रयोग आज प्राविधिक रूप से होने लगा है और अंग्रेजी के 'फाइन आर्ट् स' का प्रायः पर्याय बन गया है। यह शब्द गुप्तकालीन है जिसका उपयोग कालिदास ने 'रघुवश' के नवे सर्ग मे अजविलाप के प्रसग मे उसकी पत्नी के लिए किया है— 'प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ'। यद्यपि शुद्ध रूप से इसका ठीक वही भाव तो नही है जो अग्रेजी के तद्विषयक पर्याय का है, पर जैसे अनेक बार त्रुटिया भी व्यवहार शक्ति से यथार्थ बन जाती है, 'ललित-कला' का लाक्षणिक रूप से सगीत, अभिनय, वास्तु, मूर्ति, चित्रादि कलाओं के अर्थ मे प्रयोग अयुक्तियुक्त न होना चाहिए। इससे ६४ कलाओ मे जो अनेक का परिगणन अललित रूप से हुआ है उनसे वास्तविक 'ललित' कलाए स्वतत्र हो जायेगी।

ललित कलाओ वाले इस विस्तृत अध्याय मे हम विशेषत दो विशिष्टवर्ग की कलाओं का इस गुप्तयुगीन प्रसग मे विवेचन करेंगे। इन दोनों मे पहला वर्ग सगीत और रगमचीय अभिनय का होगा, दूसरा वास्तु, मूर्त्तन चित्रण आदि का।

काव्य अर्थप्रधान होता है, गायन ध्वनिप्रधान और कला प्रतीकप्रधान होती है। काव्य मधुर और अर्थग्राह्य होता है, जो मधुर नही, जिसका सारार्थ नही, वह काव्य नही। गायन मे अर्थप्रवण शब्द का प्राधान्य नही, सार्थक स्फुट शब्द का भी नही, ध्वनि का होता है, तरगायित स्वर-लय-सम्मत ध्वनि का। इसी प्रकार कला अपने प्रतीको, अभिप्रायो (मोटिफो), मुद्राओ आदि द्वारा अभिव्यक्त होती है। हम यहा पहले सगीत और रंगमच तथा अभिनय कला पर विचार करेंगे।

१. संगीत और रंगमंच

संगीत गायन, वादन और नर्तन तीनो के समाहार को कहते है। गुप्तकाल मे यद्यपि सगीत के सिद्धात ग्रन्थो का निर्माण अभी नही हुआ था, शास्त्रीय अथवा मार्ग सगीत का उदय हो चुका था और उसकी लाक्षणिक विशिष्टताओ पर कथोपकथन होते थे।

संगीत

सिद्धातपरक लक्षण ग्रथो का भी सर्वथा अभाव न था। गुप्तयुग के प्राय प्रारभकालीन भरत के 'नाट्य शास्त्र' और वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से प्रकट है कि प्रायोगिक

शास्त्र ऐसे उपलब्ध थे जिनके सिद्धांतों से आचार्य मार्गीय प्रदर्शन करते और जिन्हें वे प्रमाण मानते थे। 'मालविकाग्निमित्र' के अक एक और दो मे प्राविधिक सगीत की कथोपकथनो द्वारा विशद व्याख्या हुई है। इस प्रसग में कवि ने छः प्रकार के संगीत के साधनो की ओर संकेत किया है यद्यपि उसने उनका सागोपाग व्याख्यान नहीं किया।

गायन

गुप्तकालीन पति-विरहित नारी की कवि जो कल्पना करता है उसमे यक्षिणी गाने-बजाने से विरत हो जाती है। दुखी मन से जब वह पति के रचे गीत गाने चलती है, तब गोद मे वीणा डाल जो वह जैसे-तैसे आसुओ से गीले तारो को पोंछ-सुखा लेती है तो उसे मूर्च्छना ही सहसा विस्मृत हो जाती है। मूर्च्छना शास्त्रीय सगीत मे बार बार किये जाने वाले 'रयाज' को कहते हैं। प्राविधिक सगीत की एक विद्या 'काकलिगीत' कहलाती थी।[1] विक्रमोर्वशीय के चौथे अंक मे अनेक रागो से गाये जाने वाले अपभ्रश के छन्दो का कवि ने उल्लेख किया है जिन्हें उसका 'राजा' ताल-स्वर मे गाता भी है।

शास्त्रीय गायन से भिन्न लोकगीत भी गाये जाते थे जिन्हे विविध अवसरो पर गाने मे विशेषत: स्त्रिया प्रवीण थी। उन्हे सीखने के लिए विशेष उपक्रम नही करना पडता था। विवाहादि के अवसरो पर, खेत रखाते समय, नदी-पोखर मे नहाते समय वे लोकगीतों को गाती थी, जिनके बनाने मे भी कुछ अजब नही जो उनका हाथ रहता हो।

वादन

सगीत के विशिष्ट उपकरण वाद्यो (बाजों) के अनेक प्रकार प्रस्तुत हो चुके थे। गुप्तकालीन नागरिक उनका वहृण उपयोग करता था। वशी, बासुरी अथवा वेणु मुरली के प्रकार थे जो मुह से बजाये जाते थे। बीन भी होंठो पर रखकर विशेष कर सापो को रिझाने के लिए सपेरे बजाते थे। तुर्य (तुरही) और शख भी मुह से ही बजाये जाने वाले बाजे थे जो युद्ध आरम्भ करने अथवा विजय घोषित करने के लिए बजाये जाते थे। उनका उपयोग शाति के अवसरो पर भी होता था। तार वाले बाजो मे प्रधान वीणा थी जिसके तत्री, वल्लकी, परिवादिनी आदि अनेक नाम थे। पूजा के अवसर पर घटा और पटह बजा करते थे। मिट्टी अथवा काठ के खोखले पर चमडा चढाकर बने बाजे की भी कई किस्में थी। दुन्दुभी (नगाडा), मृदग, पुष्कर आदि का उपयोग, विशेष कर पिछले दो

[1] उपाध्याय : इण्डिया इन कालिदास, पृ. २२५।

बाजों का शास्त्रीय गायन के साथ होता था। कालिदास लिखता है कि अलका के महल मृदगो की ध्वनि से गूजते थे।[1] वीणा वादन का एक विशिष्ट दृष्टात समुद्रगुप्त के एक प्रकार के सिक्को पर स्वय सम्राट् की आकृति मे मिलता है।

नर्तन

नृत्य का प्रयोग तो इस देश मे अति प्राचीन काल से होता आया था। गुप्तकाल मे तो उसने अपनी परिणति प्राप्त कर ली। स्वतत्र नर्तन के अतिरिक्त उसका प्रयोग अभिनय के साथ ही अधिकतर रगमच पर होता था। कालिदास ने 'पचागाभिनय'—पाच अंगो वाले नृत्य का उल्लेख किया है। उस काल प्रयुक्त होने वाला शर्मिष्ठा द्वारा प्रस्तुत 'चलिक' अथवा 'छलिक' नृत्य 'चतुष्पद' पर अवलबित था, जिसमे नर्तक अभिनय तो दूसरे का करता था परन्तु भाव प्रदर्शन अपना करता था। नर्तकियों का अपना पेशा ही बन गया था जिनकी समाज मे काफी माग थी। उज्जयिनी के महाकाल के मदिर मे चमरधारिणी नर्तकियो की ओर कवि ने विशेष सकेत किया है।[2] बाण ने भी अपने 'हर्षचरित' मे अपने नायक के जन्म पर वेश्याओ के नृत्य का विशद वर्णन किया है। गीत और नृत्य उनके विशेष साध्य थे।

सगीतशाला

अधिकतर राजप्रासाद मे सगीतशाला होती थी जहा सगीतरचना हुआ करती थी। उसमे राजवर्ग की कन्याओ का अध्यापन होता था। वहा वेतनभोगी सुतीर्थ (आचार्य) शिक्षण का कार्य करते थे।

सगीत का राज्य-सरक्षण

सगीत के लाभ के अर्थ राजा की सरक्षा अनिवार्य मानी जाती थी। राजा सगीत को अपनी उदार-सरक्षा तो देते ही थे सगीत मे स्वय दक्ष भी होते थे। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के लिए प्रयागस्तभ की प्रशस्ति मे कवि हरिषेण कहता है कि राजा वीणा-वादन की कला मे तुम्बुरु और नारद को भी लजा देता था। कालिदास का राजा अग्निवर्ण नर्तकियो और उनके आचार्यो को उनके नर्तन मे त्रुटिया बताकर लज्जित कर दिया करता था। 'मालविकाग्निमित्र' का नायक राजा अग्निमित्र सगीत और अभिनय मे इतनी रुचि रखता है कि उसकी रानी उससे तनिक उधर से विरत होकर राजकाज मे ध्यान लगाने

[1] उपाध्याय : इण्डिया इन कालिदास, पृ. २२७। [2] वही, पृ. २२६।

का आग्रह करती है। राजा पुरूरवा 'विक्रमोर्वशीय' में किस प्रकार ताल-स्वर से गाता है, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अज स्वयं संगीत कला में इतना दक्ष था कि अपनी पत्नी इन्दुमती को वह स्वय उसमे शिक्षित करता है और उसका निधन हो जाने पर 'ललित कलाओ' मे 'प्रियशिष्या' कहकर विलाप करता है।[1]

रंगमंच

गुप्तकाल के शीघ्र ही पूर्व अथवा उसकी ऊपरी सीमा मे ही (पहली सदी ईसवी और तीसरी सदी के बीच) होनेवाले नाट्यकला के प्रधान आचार्य भरत ने जो अपना 'नाट्यशास्त्र' रचा उससे अटकल लगायी जा सकती है कि रंगमंचीय कला मे वह काल कितना समृद्ध रहा होगा। इससे प्रकट है कि वह स्वर्णयुग अधिकारी रूप से रगमच के प्रयोगप्रधान सिद्धात भी निरूपित करता था, और स्वय ही उसकी सफलता का प्रमाण भी था।

मुनि भरत ने रगमच या रगशाला के परिमाण के अनुसार तीन विभाग किये है—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। इनमे से पहला १०८ हाथ लबा होता था, दूसरा चौपहला ६४ हाथ लबा और ३२ हाथ चौडा, और तीसरा ३२ हाथ का वर्ग। नि.सदेह यह परिमाण पर्याप्त प्रशस्त था। रामगढ़ के निकट 'सीताबेंगरा' नाम की गुहा मे रग-मच से मिलता-जुलता एक नाट्यमण्डप है जिसे ब्लाख ने रगशाला माना है। यदि यह पहचान सही है तो निश्चय यह ससार के प्राचीनतम रगमचो मे से है, ईसापूर्व की सदियो का। और तब संभवत: इसे भारतीय रग के आदि विधायक भरतमुनि से भी प्राचीनतर मानना होगा। गुप्तकालीन नाट्यशाला अथवा रगमच के लिए प्राय: समकालीन होने से भरत को ही प्रमाण मानना उचित होगा। गुप्तकालीन कालिदास ने भी उन्हें ही प्रमाण माना है।

भरत के अनुसार रगशाला ऐसी होनी चाहिए जहा सलाप, गायन और श्रवण भली भाति हो सके। सामने दर्शको के बैठने के लिए मचवत् अथवा सोपान मार्ग-सी बनी पीठिकायुक्त गैलरी होनी चाहिए।[2] सोपान मार्ग अथवा मंच-के-ऊपर-मंच बनी गैलरी का उपयोग कवि कालिदास ने भी 'रघुवश' के छठे सर्ग मे इन्दुमती के स्वयवर के अव-सर पर किया है। इस प्रकार की गैलरियो या थ्येटर का निर्माण ग्रीकों और रोमनो ने ही किया था। इस देश में इसका कोई व्यवहृत दृष्टान्त उपलब्ध नही। कुछ अजब नही जो 'यवनिका' (ड्रापसीन के परदा) की ही भाति रंग का यह अंश भी भारतीयो ने ग्रीको

[1] उपाध्याय : इण्डिया इन कालिदास, पृ. २२६।

[2] नाट्यशास्त्र, २, ६७।

से ही लिया हो, यद्यपि ग्रीकों के नगर तक्षशिला आदि के खंडहरों में इस प्रकार के 'अरेना' के भग्नावशेष नही मिले। अभिनय-भूमि के संबंध मे 'नाट्यशास्त्र' का विधान है कि उसे न तो कछुए की पीठ की तरह होना चाहिए न मछली की पीठ की तरह, बल्कि दर्पण की तरह स्वच्छ और बराबर होना चाहिए।[१]

कालिदास ने नाट्यकर्म को नेत्रो का निर्वाण, शात यज्ञ (शान्तं क्रतु चाक्षुष) माना है। उसका कहना है कि किसी को गान पसन्द होता है, किसी को वाद्य, किसी को नृत्य, किसी को अभिनय, पर नाट्य वह विद्या है जिससे भिन्न रुचि रखने वाले सभी व्यक्तियों का एक साथ मनोरजन होता है।[२] इसी से लगता है गुप्तकाल का थ्येटर सदा भरा रहता था और नाटको का अभिनय विवाह, वसन्त आदि के अवसरो पर अक्सर हुआ करता था। अभिनय मे नर-नारी दोनो ही अपनी अपनी भूमिका करते थे। नाटक और अभिनय को 'प्रयोगप्रधान' कहा गया है।[३] नये नाटक के अभिनीत होने पर 'प्राश्निक' (विशेषज्ञ) उन्हे देख और उनके गुण-दोष विचार कर उन्हें अच्छा-बुरा घोषित करते थे।[४]

रंगशाला मे परदे के पीछे नेपथ्य होता था जहा प्रेक्षागृह अथवा वर्णप्रेक्षा मे वेश बदलने, विविध परिधान धारण करने की पात्रों को सुविधा थी। राजा, रानी से लेकर यवनी, दस्यु, वनचर, वारागना, अभिसारिका, अहेरी आदि सभी के अपने अपने परिधान थे, जिनके धारण करते ही पात्र पहचान लिये जाते थे। प्रेमिका, विरहिणी, मानिनी, व्रतिनी, सन्यासिनी आदि के भी विशेष परिधान थे।

रगमच पर अनेक परदे होते थे जिनमे से एक—सभवतः ड्रापसीन का—यवनिका कहलाता था, सभवत इस कारण कि उसका प्रचलन ग्रीको ने इस देश मे कराया था। नाटक प्रदर्शन के पूर्व की रात 'रिहर्सल' होता था जिसे 'प्रथमोपदेश दर्शन' कहते थे। उस अवसर पर ब्राह्मणो की पूजा की जाती थी, फिर उन्हें भोजनानन्तर दक्षिणा दी जाती थी।[५]

सगीत—गीत, वाद्य, नृत्य—और प्रतीक मुद्राओ के संयोग से नाटकीय अभिनय कितना ऋद्ध हो जाता होगा, इसकी ऊपर की लिखी सामग्री से अटकल लगायी जा सकती है। इसी से तत्कालीन कालिदास के नाटको ने अभिनय की चोटी छू ली थी। गुप्त युग जैसे भावो के निरूपण में निष्णात था, अभिनय की आढ्यता मे अनुपम था, वैसे ही नाटकों के असामान्य प्रणयन मे भी असाधारण था।

[१]नाट्यशास्त्र, २, ७६। [२]उपाध्याय : इण्डिया., पृ. २२१। [३]प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्, वही, पृ. २२२। [४]वही। [५]वही, पृ. २२३।

२. वास्तुकला

इस ग्रंथ के प्रारंभिक अध्यायो मे हमने भारतीय कला की उन प्रवृत्तियों और युगो का उल्लेख किया है जिनकी पृष्ठभूमि से, विविध अध्यवसाय और संजीवक नव शक्ति से गुप्तयुगीन कला का उद्भव और विकास हुआ। ईरानी, मौर्य, शुग, ग्रीक, कुषाण आदि युगों की देशी-विदेशी संक्रमित और समन्वित कलादृष्टि ने गुप्तयुग को जहां उदार और सहिष्णु दृष्टि दी वही उसे अपनी भारतीयता अथवा राष्ट्रीयता का पराक्रम भी मिला। गुप्तयुगीन कला युगो और जातियो की मिश्रित मेधा और अध्यवसाय की परिणति है, नवयुग की सीमा पर नये प्रयोग और कुशलता का समारंभ भी।

भारतीय कला के सबध मे एक बात सदा याद रखने की यह है कि वह कला भारतीय है, उसकी सज्ञा, जातियो के विविध अभिधानो से सयुक्त भी, स्थानीय और मात्र भारतीय है, धार्मिक युग-नामो से स्वतत्र। पूजन की विशेषता से हम ब्राह्मण, बौद्ध, जैनादि नामकरण करते है पर यह नामकरण कला के आकलन से कोई सबध नही रखता, केवल धार्मिक लाछनो से रखता है। वस्तुत ये कलागत लाछन भी समान भूमि से उठे है। मूर्तियो का विधान, उनके लाछन और लक्षण महापुरुष-लक्षण से सबधित है, प्रतिमा परिवार मे अधिकतर समान देवी-देवता, समान देव-अदेव वर्ग मूर्त होते हैं।

वास्तुकला मे गुहाओ, चैत्यो, मदिरो का निर्माण, प्रतिमाओ का मूर्तन, गर्भगृह मे उनका पधराना सब समान रूप से होता है। मूर्तियो की मुद्राएँ समान है, उनकी चेष्टाएं, योगनिष्ठा, आसन और भग सब समान हैं, एक ही कलाविकास मे पल्लवित। इससे जब हम ब्राह्मण, बौद्ध अथवा जैन वास्तु अथवा गुहा-मदिर की बात कहते है तब निश्चय उन-उन धर्मों मे सबधित कलासरणियो की बात नही कहते, मात्र उनमे सबधित पूजन को उनके द्वारा अभिहित करते है।

गुप्तकालीन वास्तुकला को साधारणत दो प्रधान भागो मे विभक्त किया जा सकता है, धर्म सबधी वास्तुकार्य और धर्मेतर निर्माण कार्य। धार्मिक वास्तुकार्य चैत्यो, मदिरो आदि के निर्माण से सबधित है, धर्मेतर निर्माण कार्य गृहस्थो के आवास, भवन, प्रासाद, दुर्ग, सेतु आदि की ओर सकेत करता है। इनमे से पहले के प्रधानत दो वर्ग है, गुहावास्तु और ईंट-पत्थरो से निर्मित देवालय। पहले हम गुहावास्तु का अध्ययन करेंगे। यह अध्ययन कालमान मे अधिकतर २५० ई और ६५० ई के बीच सीमित होगा।

(क) गुहावास्तु

नि सन्देह देश के प्राचीनतम गुहामदिर बौद्धो के अध्यवसाय से बने, जिनका निर्माण तीसरी सदी ईसा पूर्व ही आरभ हो गया था। उनकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे।

ब्राह्मण धर्म के प्राचीनतम गुहामंदिर मध्य प्रदेश में भेलसा के समीप उदयगिरि में बने। गुहावास्तु श्रम और अर्थसाध्य है। उसमे अति मात्रा मे श्रम और धन व्यय होता है। उसी के अनुपात से गुहा-निर्माण मे समय भी लगता है। पर्वत की दीवार काट, चट्टानो को खोखला कर, उनमें कई कई मजिलो के भवन बनाना कुछ आसान नही। फिर भी धर्म की निष्ठा और कला की उद्‌भावना ने देश मे बीसियो गुहाओ का निर्माण किया और अजन्ता, बाघ, एलोरा, बादामी, भाजा, कोन्दाने, कार्ले, एलिफैंटा, उदयगिरि आदि के गिरि-मन्दिर मनुष्य ने अपने परिश्रम और लगन से पर्वत काटकर खड़े कर लिये।

ब्राह्मण गुहावास्तु

उदयगिरि की गुहाएँ कब बनी यह निश्चयपूर्वक तो नही कहा जा सकता पर निःसन्देह वे पाचवी सदी के आरम्भ मे ४०० ई के लगभग कटकर खडी हो चुकी थी। ये गुहाएँ कुछ तो चट्टान काटकर बनी है कुछ पत्थरो से। इनमे से दो मे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के अभिलेख है जिनमे से एक की तिथि ४०१ ई. है। 'सारी पृथ्वी जीत लेने पर चन्द्रगुप्त यहा आये' और उनके साधिविग्रहिक मंत्री वीरसेन शाब ने यह अभिलेख खुदवाया। इस गुहा की दीवार पर वराह विष्णु की उभारी हुई शक्तिशाली मूर्ति है। वराह वैजयन्ती माल पहने आलीढ मुद्रा मे खडे है, दाहिना हाथ कमर पर है बाया बाये घुटने पर जो पैर शेषनाग की कुण्डलियो पर रखा है। छोटी सी पृथ्वी-प्रतिमा दाढ पर टिकी है जिसका वराह ने उद्धार किया है। देवता पक्तिबद्ध खडे है, शेषनाग अजलिबद्ध सेवा मे सलग्न हैं। वराह की ऐसी ओजस्विनी मूर्ति दूसरी भारतीय कला मे नही।

उदयगिरि, बादामी, द्राविड

ये दरीगृह चौपहले कमरो के आकार के बने है जिनके सामने का मडप पत्थर का है। कुल गुहाएँ नौ हैं, जिनमे नवी का गर्भगृह सबसे बडा है, दूसरों से प्राय दुगुना बडा। बीजापुर जिले के आधुनिक बादामी (प्राचीन वातापीपुर) मे अनेक ब्राह्मण धर्म की गुहाएँ प्राचीन चालुक्यो के शासन काल मे निर्मित हुईं। इनमे से तीसरी मे शकाब्द ५०० (५७८ ई) की तिथि पडी हुई है जिससे प्रकट है कि ये गुफाएँ छठी सदी के आरम्भ अथवा मध्य मे खोदी गयी थी।

६०० ई. के कुछ ही बाद पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मा ने द्रविड देश मे अनेक गुहाएँ निर्मित करायी। गुहाओ की अनगढ रूक्षता से प्रकट है कि महेन्द्रवर्मा के शिल्पी गुहा-निर्माण मे दक्ष नही थे। उस राजा के शासन के उत्तर काल मे उन्दवल्ली और भैरवकोंडा में प्रकोष्ठों वाली गुहाएँ खोदी गयीं, यद्यपि कला के निखार की दृष्टि से उनमे कोई प्रगति

नही हुई। भैरवकोडा के मदिर-स्तम्भ अवश्य कुछ पतले कर दिये गये और सामने की ओर चौपहले डिजाइन पर सिंह बैठा दिये गये। इसी राजा के पुत्र ने पीछे मामल्लपुर के 'रथ' खडे किये।

एलोरा

एलोरा मे ब्राह्मण, बौद्ध, जैन सभी धर्मों के अपने-अपने दरी-मदिर है। ब्राह्मण दरी-मदिर अधिकतर ६५० ई अथवा बाद के हैं। इस सिलसिले मे अकेले ब्राह्मण धर्म की सोलह गुफाएँ है जिनमे प्रधान दशावतार (न. १५), रामेश्वर (न २१) और कैलास (न १६) है।

ब्राह्मण धर्म के दरी-मदिरो की तुलना निश्चय बौद्ध गुहा-चैत्यो से नही की जा सकती; बौद्ध दरीगृह अत्यन्त अभिराम और गुहावास्तु के आदर्श है। उनका निर्माण ईसा पूर्व की सदियो मे ही हो गया था और ब्राह्मण गुहाओं का प्राय चौथी सदी के अन्त मे आरम्भ हुआ। प्रकट है कि दरीवास्तु की आवश्यकता गृहस्थप्रधान ब्राह्मण धर्म को इतनी नही हुई। उनका पूजन गाव-नगर के जनसकुल मदिरो मे होता था। इसमे वही उनके विशाल मदिरो का निर्माण हुआ। बौद्ध प्रव्रज्या पर जोर देते थे इससे एकान्त और निर्जन मे रहने वाले अपने भिक्षुओ के लिए उन्होने वनो से ढके पर्वतो मे गुहा काटकर अपने चैत्य और विहार बनाये।

जैनो के गुहा-मदिर बहुत कम है, और जो है भी वे पीछे के, प्राय सातवी सदी के मध्य या और बाद के बने है, जिससे उनका अध्ययन हमारी कालावधि से परे पड जाता है।

बौद्ध चैत्य और विहार

गुहावास्तु वस्तुत बौद्धो की मेधा और आवश्यकता से चरितार्थ हुआ। बाघ, अजन्ता, एलोरा, औरगाबाद के उनके गुहाचैत्य और विहार विशेषतया वे है, जिनका निर्माण-काल, प्राचीनों को छोड, प्राय ४०० ई. से ८०० ई. तक है। हम यहा केवल गुप्तकालीन गुहाचैत्यो और विहारो का उल्लेख करेंगे। अजन्ता की २९ गुहाओ मे से ५ ईसापूर्व की सदियो मे कटी, शेष गुप्त और चालुक्य काल मे। इनमे न० १९ और २६ चैत्य हैं, शेष विहार। चैत्य शब्द 'चि' धातु से बना है, जिसका अर्थ है चयन अथवा राशि करना। इसी से 'चित्य' शब्द वेदी के अर्थ मे बना, जिसका सबध धीरे-धीरे चैत्य, महान् व्यक्तियो के स्मारक से हो गया। चैत्यवास्तु देवालय के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। धीरे-धीरे चैत्य शब्द बौद्धसंघ के पूजागृह को व्यक्त करने लगा, जिसमें बुद्ध की प्रतिमा, स्तूप आदि

होते थे। स्तूप अथवा मूर्ति के चारो ओर प्रदक्षिणाभूमि होती थी। प्राचीन चैत्यो और विहारो में, भाजा को छोड़, कही मूर्ति नही है।

सघ की बैठको के सबध मे जब उसके सदस्य विचारविनिमय आदि के लिए एकत्र होते थे, तब उनके आवास आदि के साथ ही चैत्यगृह की आवश्यकता पडी। भिक्षु आते, आचार्य के प्रवचन सुनते, प्रतीक स्तूप अथवा बुद्धमूर्ति की प्रदक्षिणा करते। विहार वह स्थान था जहा बौद्धसघ निवास करता था, एक प्रकार का मठ। स्थविर, आचार्य आदि के नेतृत्व मे सघ के भिक्षु धर्म की साधना करते थे। साथ ही उनका निवास था, साथ ही श्रवण-वाचना थी। साथ रहने से परस्पर व्यवहार, आचार आदि की भी आवश्यकता पडी। सघ की बैठके विहार मे ही हुआ करती थी।

अजन्ता के दरीगृहो मे केवल दो (न ६ और २६) चैत्य हैं, शेष सब विहार है। इनमे से पहला सभवत दूसरे से पहले बना था। न. १६ गुहा वाकाटक नरेश हरिषेण के मत्री ने और न १७ उसके माडलिक सामत ने बनवायी। इनका निर्माण पाचवी सदी ईसवी के अन्त और छठी सदी के आरम्भ मे हुआ। अक्सर इन गुफाओ के भीतर इनकी गाडीनुमा छत के नीचे दोनो ओर कतार मे टोडो से छत को उठाये स्तभ शाला की समूची गहराई मे चले गये है और मूर्ति के पीछे अर्धवृत्त बनाते है। जहां प्रतिमा के स्थान पर स्तूप है, वह गर्भस्थल मे वेलाग हर्मिका और छत्रावलि के साथ खडा है। सामने उस पर बुद्ध की आदमकद मूर्ति उभार दी गयी है। बाहर की समूची रचना मूर्तियो से भर दी गयी है।

विहार-गुहाओ मे मध्यवर्ती शाला के चतुर्दिक् भिक्षुकक्ष बने हुए है। इनमे से प्राचीनतर ८०० ई. के लगभग बनी थी। इनमे अधिकतर न. ११-१३ गिनी जाती है। न १६, १७, १ और २ दूसरे दल की है जिनमे से पहली दो, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्राय ५०० ई. मे बनी और शेष ल० ६०० ई मे। इन चारो के अतरग चित्रो से भरे है, जिनका उल्लेख आगे करेगे। न १६ की शाला प्राय ६४ फुट चौकोन है। न. १७ और १ की शालाएँ भी इतनी ही बडी है। अजन्ता की न ४ ओर २४ गुफाएँ विशेष उल्लेखनीय है। न २ की शाला ८७ फुट वर्ग की सारी गुहाओ मे बडी है और इसकी छत को २८ स्तभ उठाये हुए है। न. २४ मे २० स्तभ है, और इसकी शाला ७५ फुट वर्ग है। इन विहारो का सौदर्य, इनके खभो और दीवारो की चित्रित मुधराई देखते ही बनती है। सभवत चालुक्य नरेश पुलकेशी की ६४२ ई. मे पल्लवराज नरसिंह वर्मा द्वारा पराजय के बाद अजन्ता मे गुहाओ का निर्माण बन्द हो गया।

बाघ की गुफाएँ अजन्ता से प्राय. डेढ सौ मील उत्तर-पश्चिम, सख्या मे ९ हैं। ये गुप्तयुग मे ५०० ई और ६८० ई के बीच काटी गयी थी। इनकी चट्टानें नरम रवे की होने

से अब नष्ट हो चली हैं, अजन्ता–की सी कठोर नही रही। अधिकतर इसके बिहार अजन्ता के से ही है। बाघ की गुफा न. ४ का विहार रगमहल कहलाता है। इसकी शाला ९६ फुट वर्ग की, अजन्ता की सबसे बडी शाला से भी बड़ी है। इसके सामने एक बडा जगमोहन भी है जो और किसी विहार मे उपलब्ध नही। इससे लगा एक ९६ फुट लंबा, ४४ फुट गहरा हाल है जिसे गुहा के साथ २२० फुट लबा बरामदा जोडता है। बरामदे की छत को १० स्तभो की दो कतारे उठाये हुए है। अजन्ता की ही भाँति बाघ की गुहाओ की दीवारे, छतें आदि भी अभिराम चित्रित है।

अजन्ता से प्रायः ७५ मील दूर सह्याद्रि के सिलसिले में ही एलोरा की गुहाएँ हैं, जिनके हिन्दू मदिरो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त इनमे बौद्ध और जैन गुहाएँ भी है। इस कतार मे दक्षिण की १२ गुहाएँ बौद्धो की हैं जिनका निर्माण-काल लगभग ५५० ई. और ७५० ई. के बीच की दो सदिया है। इनमे से पहली पाच प्राचीनतम है, प्राय. गुप्तयुग की बनी, जो पांचवी को छोड, सभी अजन्ता के अनुरूप ही है। इनमे बाहर के बरामदे से बीच की शाला मे पहुचते है जिसके अन्त मे बुद्धमूर्ति है और दोनो ओर भिक्षु-कक्ष बने है। गुहा ५ की लम्बाई ११७ फुट और चौडाई ७० फुट है और शाला के भीतर गर्भभाग तक दोनो ओर दो स्तम्भो की कतारे चली गयी है। ये गुहाएँ एकमजिली है। अन्य गुहाएँ दो अथवा तीन थल (मजिलो) की है, पर कुछ काल पीछे की होने से हमारे अध्ययन के युग से परे पडती है।

औरगाबाद के गुहामदिर सख्या मे बारह है, जिनमे से केवल एक ही चैत्यगृह है, शेष सभी विहार हैं। चैत्यगृह सभवत तीसरी सदी ईसवी का बना है, विहार छठी सदी के है। इनका स्वरूप बहुत कुछ अजन्ता की पिछले काल की गुहाओ का सा है, पर है ये दर्शन मे उनसे नीरस। न ३ के मानव जोडे निश्चय अपनी वैयक्तिकता मे बेजोड लगते है।

(ख) गुप्तयुगीन देवालय

इस युग मे प्राचीन काल मे चले आते गुहानिर्माण की शैली तो जारी ही रही, ईंट-पत्थरो से मदिर और देवालय भी बनने लगे जिनका अपना राज और महत्त्व है। साधारणत ये चिपटी छत वाले वर्गाकार मदिर है जिनके आगे जगमोहन अथवा गर्भगृह के चतुर्दिक् ढकी हुई प्रदक्षिणा-भूमि है। कुछ वर्गाकार मदिरो के ऊपर एक छोटा शिखर भी बना है। कुछ चौपहले देवालयो की छत और पीठ गाडी की छत की तरह गोलाकार है। कुछ गोलाकार भी हैं।

इनमे से अन्तिम दोनो प्रकार चैत्यो और स्तूपो के अनुरूप ही बने, जिनका निर्माण-काल दूसरी सदी ईसवी से चौथी सदी तक था। ये अधिकतर आध्र के है। इनके उदाहरण

शोलापुर जिले मे तेर का मदिर और कृष्णा जिले मे चेजराला का कपोतेश्वर का देवालय हैं। कुछ अजब नही जो ये पहले चैत्य ही रहे हो और पीछे हिन्दू देवालय बना लिये गये हो। इन्ही से मिलता-जुलता ऐहोले का दुर्गामंदिर है जिसके गर्भगृह पर अर्धचक्री शिखर है। मदिर छठी सदी का है। राजगृह के खडहरों मे मणिनाग का मणियार मठ है। इसका निर्माण तो कई युगो का है पर गुप्तकालीन 'थल' गोलाकार है, जिसके चारो ओर आलो मे मिट्टी-चूने की मूर्तिया बैठायी हुई है।

गुप्तकाल का एक देवालय, अत्यन्त साधारण आकार का, चौकोन, साची का है जिसके जगमोहन के अगले भाग में दो-दो स्तंभ लगे हैं। तिगावा और एरण के मंदिर साची की ही शैली मे बने थे। नचना, गढवा, खोह आदि से जो प्रधान शिव आदि की मूर्तिया मिली है, वे इलाहाबाद के नगरपालिका-सग्रहालय मे सुरक्षित है। साची, तिगावा और एरण के मंदिर एक ही प्रकार और काल की दृष्टि से एक ही दल के है। तीनो ही समुद्रगुप्त (ल० ३३५-७५) के शासनकाल अर्थात् प्राय प्रारभिक गुप्तयुग के माने जाते हैं। स्तभो की गढन की सादगी और अलकरण के अध्ययन से जो इनका काल निर्णय किया गया है उसके अनुसार साची के मदिर को तिगावा के मदिर से कुछ पहले का और एरण के मदिर को तिगावा के से कुछ पीछे का होना चाहिए।

बाद के गुप्तकालीन मदिरो के प्रमाण, लगता है, ये ही तीनो है। इन्ही को देख, अन्य मदिरो की काया भी सिरजी गयी—गर्भगृह (प्रतिमागृह) वर्ग-चौकोर (यद्यपि एरण के विष्णु और वराह मदिरा के गर्भगृहो की भांति जब-तब आयताकार भी), जगमोहन की नीची छत को उठाये हुए चार स्तभ, दीवारें सादी, जगमोहन की मुडेर गर्भगृह की दीवारो पर भी जब-तब दौडती। इनसे भी प्राचीनतर सभवत वे मदिर थे जिनके गर्भगृह तिकोने थे, उदयगिरि के दरीगृहों की भाति के, जिनके आगे के जगमोहन अलग मे पत्थर की पट्टियो से बने हैं। उदयगिरि के दरीमदिरो के प्रसार मे पत्थर के बनाये पहले साची, तिगावा और एरण के मदिर आते हैं, पीछे नचना, खोह आदि के।

यह महत्त्व का विषय है कि गुप्तकाल के प्राचीनतम मंदिर पहले प्राय. मध्य प्रदेश मे ही बने। क्या इसका कारण यह था कि वहा दरीगृहो का निर्माण हो चुका था, जिनका प्रमाण इन मदिरो के लिए निकट की प्रेरणा बन गया, अथवा यह कि मालवा का ऋद्ध क्षेत्र इस दिशा मे उनके निर्माण का कारण बना? दशपुर के जिस सूर्यमदिर के जीर्णोद्धार की बात कुमारगुप्त द्वितीय के शासनकाल मे जुलाहा के मन्दसोर के अभिलेख मे कही गयी है, उससे प्रकट है कि यह मदिर चौथी सदी मे ही बना होगा। उदयगिरि, एरण, काहौम, मन्दसोर आदि के गुप्त-अभिलेख भी मध्य प्रदेश के इस क्षेत्र मे उनके अभिलेखो की प्रधानता प्रकट करते है।

नचना, भूमरा, लाडखा, कोटी-गुडी और ऐहोले का मेगुती मंदिर प्राय: एक वर्ग के है। बगाल के दीनाजपुर जिले मे बैग्राम का गोविन्द स्वामी का मंदिर भी, जैसा उसके खडहर के क्रिया-विन्यास से लगता है, सभवत इसी वर्ग का था। उसके लिए ४४७-४८ ई. में भूमि दान की गयी थी। इन सबका निर्माणकाल पाचवी सदी का पूर्वार्ध हुआ, प्रायः कुमारगुप्त प्रथम का शासनकाल। इनमे चिपटी छत का गर्भगृह ऐसी ही छत के एक कमरे मे स्थित है। गृर्भगृह के चारों ओर ढकी प्रदक्षिणाभूमि का दौरान है। नचना कुठारा का मदिर पार्वती का है। इन मंदिरो मे अलकरण नही के बराबर है। भूमरा के मदिर पर अलकरण खूब है जिसमे वह कुछ बाद का माना जाता है। अपनी निर्माणशैली मे वह उन मदिरो की तरह का है जिनके खडहर नालन्दा मे खोद निकाले गये है। नालन्दा के मदिरो के चारो कोनो पर एक-एक छोटे मदिर है, जैसे भूमरा के सोपान-मार्ग के दोनों ओर एक-एक है। इस प्रकार के पाच मदिरो का परिवार 'पञ्चायतन' कहलाता था।

काल की दृष्टि मे नचना का मदिर इस वर्ग के मदिरो मे सादगी के कारण सभवत प्राचीनतम है, इसकी मूर्तियो की शैली प्रारभिक गुप्तकाल की है। लाडखा ओर कोटी-गुडी (ऐहोले) इसी क्रम मे कुछ पीछे के है। इनका निर्माण काल कुछही काल बाद है। भूमरा का मदिर गणो और कीर्तिमुखो से बहुत अलकृत था। इसकी गणो से सयुक्त पट्टिया इलाहाबाद के सग्रहालय में सगृहीत है। इन गणो की अनन्त सपदा, अनन्त प्रकार है। राखालदास वन्द्योपाध्याय ने इसका समय पाचवी सदी के मध्य माना था। हो सकता है यह ५०० ई. के आस-पास का बना हो। ऐहोले का मेगुती मदिर जैनों का है, चालुक्यराज पुल-केशी द्वितीय के शासनकाल मे रविकीर्त्ति का बनवाया। इस पर इसकी तिथि ५५६ शक (६३४ ई) दी हुई है। ऐहोले के इसी मेगुती मदिर के समकालीन मामल्लपुरम् के 'रथ' हैं (मद्रास से ३२ मील दक्षिण), जिन्हे पल्लवनरेश नरसिंह वर्मा महामल्ल ने बनवाया। इन रथो की सख्या आठ है और इनके नाम पांडवो के नाम पर रखे गये है, अतिम सबसे छोटा उनकी समान-पत्नी द्रौपदी के नाम से विख्यात है। ये रथ पर्वतीय दीवार मे एक-एक समूची एक ही शिला मे काटकर बने हैं और अपने उदाहरण आप हैं, गुप्त कालावधि के अंतिम निर्माण कार्य।

इसी युग मे ऊपर लिखे मन्दिरो के निर्माण के बाद ही शिखरशैली के मन्दिर बनने लगे थे, यद्यपि इनके शिखर बहुत छोटे थे, मध्यकालीन उडीसा आदि के शिखरो के सामने सर्वथा नगण्य। साहित्य मे भवनो और प्रासादो के विमानों की कल्पना कर ली गयी थी। कालिदास ने अपने नाटको मे विशेष कर अलका और उज्जयिनी तथा अयोध्या के शिखर और अट्टधारी प्रासादो का उल्लेख बहुश. किया है। स्वय गुप्तकालीन वत्सभट्टि के मन्दसोर के अभिलेख में ऊचे प्रासादो का काव्यमय वर्णन हुआ है। परन्तु जहा तक

मन्दिरों का प्रश्न है, छठी सदी ईसवी से पहले के शिखरधारी मन्दिर नही मिले हैं। इस प्रकार का पहला मन्दिर संभवत झासी जिले में देवगढ का प्रसिद्ध दशावतार मन्दिर है। इसी वर्ग के नचना-कुठारा का महादेव का मन्दिर, पठारी का मन्दिर, कानपुर जिले मे भीतरगाव का ईंटों का मन्दिर और हुएन्त्साग का देखा बोधगया का विशाल महाबोधि मन्दिर था। इनमें शैली मे भिन्न होते हुए भी ऐहोले के दुर्गा और हुच्चिमल्लिगुडी के मदिर शिखरधारी हैं, यद्यपि इनका वर्ग नचना आदि से भिन्न है।

देवगढ़ का पत्थर का बना और भीतरगांव का ईंटो का मन्दिर, दोनो गुप्तकाल के मन्दिरो मे शैली और सौन्दर्य मे अभिराम हैं। देवगढ़ का दशावतार मन्दिर लबी-चौडी ऊची कुर्सी पर खडा है, जिस तक पहुचने के लिए सोपान मार्ग बना है। चारो ओर इसकी दीवारो पर मूर्तियाँ आलो मे बैठायी गयी है। दीवारो की छत से शिखर, मचोत्थित शैली मे ऊपर उठता चला गया है। गर्भगृह की दीवारो का आलो मे मूर्ति-अलकरण ऊपर शिखर भाग मे भी चलता चला गया है। शिखर का अधिकतर भाग आज गिर गया है। भीतरगांव का ईंटो का मन्दिर अपना उदाहरण आप है। चौकोर गर्भगृह उभरी छत से मडित है, ऊपर उसके प्राय वैसा ही कक्ष है जिसके ऊपर शिखर विमानवत् खड़ा था जो टूट गया है। इस मन्दिर की असाधारण विशेषता इसकी ईंटे है। ये ईंटे लाखो की सख्या मे अनन्त डिज़ाइनो मे ढाली गयी है, मोटी और ऊची है। लगता है कि प्रत्येक ईंट की अपनी डिज़ाइन है। इनमे से सैकडो ईंटे लखनऊ के सग्रहालय मे सगृहीत है। भीतरगाव के मन्दिर की दीवारो पर चारो ओर आलो मे मिट्टी की मूर्तियो के खाने बैठाये गये थे। उनकी कारुता इतनी प्राणवान् है और उनकी आकृतियो की चेष्टाए इतनी जीवन्त है कि कला का समीक्षक उन्हे देखकर अघा जाता है। अधिकतर ये महाभारत-रामायण-पुराणों के दृश्य मूर्त करती है, पर अनेक इनमें हास्य आदि के भी मनोरम उदाहरण है। देवगढ के दशावतार मन्दिर का निर्माणकाल तो गुप्तयुग की छठी सदी मान ली गयी है पर भीतरगाव के विष्णुमन्दिर की तिथि के सबध मे विद्वान् एकमत नही है। पर शैली और मूर्तियो की कारुता देखते इसका निर्माणकाल भी देवगढ के काल से भिन्न नही हो सकता।

महाबोधि मन्दिर (बोधगया) मूल रूप मे गुप्तकालीन है। इसे सातवी सदी के आरम्भ मे हुएन्त्साग ने इसके शिखर के साथ देखा था। इसमे समय-समय पर अनेक परिवर्तन जीर्णोद्धार के समय तक होते गये है, पर जैसा चीनी यात्री के वर्णन से प्रकट है, इसके मूल रूप -- चौकोर गर्भगृह, उस पर ऊचा विमान-शिखर और आमलक, चारो कोनो पर चार उसी प्रकार के छोटे शिखर और शिखरो की मूर्तियो के लिए चारो ओर बने आलो— की रक्षा हुई है। इससे और नागर मन्दिरो के शिखरो की समानता से लगता है कि मध्य-

कालीन नागर मन्दिरो का आरभ भी गुप्तयुग मे ही एक रूप से हो गया था। महाबोधि मन्दिर के मूल रूप का निर्माणकाल छठी सदी का अन्त माना जा सकता है जिससे चीनी यात्री द्वारा सातवी सदी मे उसका वर्णन सभव हो सकता।[1]

महाबोधि मन्दिर के अनुरूप ही नरसिह गुप्त द्वारा नालन्दा मे बनवाये, ३०० फुट ऊंचे मन्दिर का जिक्र हुएन्त्साग ने किया है, जिससे और बोधगया के मन्दिर से जाहिर है कि गुप्तकाल के आरभ के सपाट छत वाले छोटे मन्दिरो ने उस युग के अन्त तक विशाल रूप धारण कर लिया था। देवगढ का दशावतार मन्दिर और भीतरगांव का विष्णुमन्दिर दोनो के बीच के स्वरूप थे।

विहार, स्तूप और स्तंभ

विहारो का कुछ जिक्र ऊपर किया जा चुका है। उनके अपने-अपने भवन थे जो धनी उपासको के अनुदान से सदा सपन्न रहते थे। ये अधिकतर चैत्यों और तीर्थस्थानों से सलग्न थे। नासिक, अजन्ता, बेडसा आदि मे सर्वत्र विहार प्राचीन काल मे पहाड काटकर बने थे। चैत्यो के साथ ही प्राचीन विहारो की ओर सकेत किया जा चुका है।

सारे देश मे विहार बने थे। भिक्षुओ की सख्या के अनुपात से ही उनकी सख्या विपुल होनी चाहिए थी। फ़ाह्यान और हुएन्त्साग दोनो ही चीनी यात्रियो ने उनकी प्रादेशिक सख्या दी है। अफगानिस्तान (उद्यान और गन्धार) मे भी विहारो की सख्या पर्याप्त थी। चीनी यात्रियो ने इन विहारो के सबध मे (ईंट-पत्थर से बने विहारो के विषय मे) विशेष बात यह कही है कि वे कई-कई थलो अथवा मंजिलो के बने होते थे। दोनो का कहना है कि विहार छ-छ आठ-आठ मजिलो तक बनते चले गये थे। विहार मठ के रूप मे भिक्षुओ के आवास तो थे ही, साथ ही उनके लिए विद्यालयो का कार्य भी करते थे। हुएन्त्साग ने नालन्द विश्वविद्यालय के वर्णन के प्रसंग मे वहा के विहार का भी सविस्तर उल्लेख किया है। वह कहता है कि भिक्षुओ का प्रत्येक विहार चार मजिला था। सघ के हाल के कमरे के स्तभो पर देवमूर्तिया बनी थी और उनकी छत्रियो मे इन्द्रधनुष के सातो रग प्रतिबिम्बित होते थे। सर्वत्र अर्धचित्र उत्कीर्ण (रिलीफ) थे और चौकठो का सौदर्य अकथनीय था। भीतर के रग मिलकर अनेक रग उत्पन्न करते थे जिससे विहार का सौदर्य सहस्र गुना बढ जाता था। नालन्द के भवनो मे एक छ तला है, जो निश्चय विहार है। उसकी छत उड गयी है पर उसका खडहर जैसे तैसे खडा है। मामल्लपुर मे चट्टानो मे कटे

[1] द क्लासिकल एज, पृ. ५१६।

दो विहार, एक चारतला दूसरा दोतला, आज भी खडे हैं। ये दोनो सातवी सदी के आरभ के हैं।[1]

अस्थिसचायक अथवा स्मारक दोनो प्रकार के स्तूप गुप्तकाल मे बने। गन्धार और मध्य देश मे उनकी अनन्त परम्परा थी जिनमें से, ईंट से बने होने के कारण अधिकतर वे नष्ट हो चुके हैं। मथुरा के जैन स्तूप के चौगिर्द दौडने वाली रेलिगो के अश और उनके स्तभों पर उभारी यक्षीमूर्तिया अनेक मुद्राओ में खडी मिली है। सिन्ध के मीरपुर खास का बौद्ध स्तूप चौकोर भूमि पर अर्धवृत्ताकार ईंटो का बना है जिसके आधार मे तीन कुटिया है। अपने अलकरण और निर्माणशैली से यह चौथी सदी ईसवी का बना माना गया है। फाह्यान और हुएन्त्साग दोनों ने अफगानिस्तान मे बने पुराने और नये अनेक स्तूपो का ज़िक्र किया है। गुप्तकालीन स्तूपो मे सबसे महत्त्व का छठी सदी का बना 'धमेख' (धर्माख्य, धर्म नाम वाला) स्तूप सारनाथ मे आज भी खडा है। इसकी विशालता दर्शनीय है। उसके ऊपर वर्तुलाकार ईंट का सभार १२८ फुट ऊचा है। वृत्ताकार ऊँचा अंड बिना आधार के जैसे धरती फाडकर उठ आया है। इसके तीन अग हैं, आधार, बीच का भाग और गुबज। आधार पत्थर का ऊपर से आठ पहला बना है, प्रत्येक पहल पर बुद्ध मूर्ति के लिए आला बना है। पत्थर की घेरती पट्टिकाओ से यह जुडा है जिन पर ज्यामितिक और पुष्पित रेखाओ से अलकरण हुआ है। राजगिर की जरासन्ध की बैठक के पास के दो स्तूपो मे से एक इसी काल का है। इसका स्वरूप ऊपर की ओर लबायमान होने से हुएन्त्साग ने उसे स्तूप-स्तभ कहा है।[2]

अशोक के स्तभो की परम्परा गुप्तकाल मे भी चलती रही। पर अब उनका रूप अधिकतर प्रशस्ति लिखने के लिए कीर्तिस्तभो का हो गया था। स्वय अशोक के प्रयाग वाले स्तभ पर उसी के अभिलेख के पास गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय की प्रशस्ति काव्यबद्ध खुदवायी। साहित्य मे ऐसे राजनीतिक कीर्तिस्तभों का उल्लेख गुप्त काल मे अनेक बार हुआ है। कालिदास ने लिखा है कि रघु ने सुह्मो-बगो को परास्त कर गगा के डेल्टा मे अपने विजयस्तभ खडे किये (निचखान जयस्तम्भान्[3])। स्तभ खडे कर उन पर प्रशस्ति लिखवाने की प्रथा साधारण हो गयी थी।

गुप्त सम्राटो के अपने खडे किये अनेक स्तभ है। इनमे प्रधान दिल्ली से थोडी दूर पर मेहरौली गाव मे कुतुबमीनार के पास राय पिथौरा के महल के आगन मे खडा है। वह लोहे का है जिसे 'गरुडध्वज' कहा गया है। उसके अभिलेख मे लिखा है कि चन्द्र (चन्द्र-

[1]उपाध्याय : भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ. ३९। [2]वही, पृ. ३१।
[3]रघुवंश, ४, ३६।

गुप्त द्वितीय विक्रमादित्य) ने सिन्धु के सातो मुखो को लाघ वाह्लीकों को परास्त किया।[१] इस देश अथवा विदेश मे यही एक लोहे का स्तभ मिला है। इसकी धातु इतनी अच्छी है कि डेढ हजार साल आधी-पानी मे खडे रहने पर भी इसमे जग नही लगा। इसे भ्रमवश लोग दिल्ली के तोमरराज अनंगपाल की कीली भी कहते है।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ल० ४५५ ई) के समय के दो स्तंभ है, एक गोरखपुर के काहाव मे, दूसरा गाजीपुर जिले के सैदपुर भीतरी गाव (दोनो उत्तर प्रदेश) मे। सैदपुर वाले स्तभ पर वडी ललित शैली मे काव्यबद्ध प्रशस्ति लिखी है। नर्मदा तीर के पुष्यमित्रो का आक्रमण निष्फल करने का उसमे उल्लेख है। उसके अनुसार युवक स्कन्द ने युद्धकाल मे साधारण सैनिक की भांति अनेक रातें रूखी भूमि पर सोकर बितायी थी। उसी साल (४८४-८५ ई) का एक स्तंभ ४३ फुट ऊचा मध्य प्रदेश मे सागर जिले के एरण मे मिला है जिसे 'विष्णुध्वज' कहा गया है। उससे १३ मील दक्खिन-पच्छिम पथरी मे भी एक स्तभ ४७ फुट ऊचा है। उसके ऊपर का अभिलेख पश्चात्कालीन गुप्त लिपिमे लिखा था जो अब मिट गया है।[२] मालवा के राजा यशोधर्मा का एक कीर्तिस्तभ मन्दसोर मे है जिस पर उसके हूणो को परास्त करने और अनेक देश जीतने का उल्लेख है।[३]

(ग) धर्मेतर निर्माण कार्य

दुर्ग और राजप्रासाद

धर्मेतर निर्माण कार्यो मे स्तभो का उल्लेख ऊपर हो चुका है। भारत मे दुर्गो के निर्माण की परम्परा प्राचीन है। दुर्ग नगरो के लिए उन्हे घेरकर परकोटे से, बुर्जियो, खा..., खाइयो से भी बनता था, सेना अथवा राजप्रासाद के लिए भी। चौथी सदी ई पू के सिकन्दर के इतिहासकारो ने मस्सग, मगल आदि के दुर्गो का वर्णन किया है, चित्तौर, ग्वालियर आदि के दुर्ग भी हिन्दू मध्यकाल के हैं। पर दोनो के बीच की दुर्ग-शृखलाओ अथवा गुप्तकाल के दुर्गो की कडी नही मिलती। किन्तु पहले-पीछे के दुर्गो से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि गुप्तकाल मे भी दुर्ग बने थे। समकालीन कालिदास ने उनका उल्लेख किया है और 'पञ्चतन्त्र' मे तो उनका विशेष गुण गाया गया है। प्रकट है कि ईटो-मिट्टी के बने होने से वे विनष्ट हो गये, यद्यपि कौशाबी आदि के प्राकारो मे उनका अशत उपयोग उस काल भी देखा जा सकता है।

[१]देखिए, स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आव इण्डिया, गुप्त सम्राटो का प्रसंग, फुटनोट।
[२]स्मिथ : हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट, पृ. १७५। [३]वही।

यद्यपि गुप्तकालीन राजप्रासादो (राजमहलो) के खडहर आज उपलब्ध नही हैं, तत्कालीन साहित्य से उनके अगांगो पर प्रकाश डाला जा सकता है। दुर्ग, पुर और नगर निर्माण की व्यवस्था मौर्य-कालीन 'अर्थशास्त्र' मे दी हुई है। गुप्तकालीन राजप्रासाद का स्वरूप कालिदास के ग्रंथो से जाना जा सकता है।[1] उनके अध्ययन से प्रकट है कि राजप्रासाद का निर्माण काफ़ी बडे पैमाने पर होता था। उसमे चित्रशाला, सगीतशाला, नाट्यमडप, सभी होते थे। नाट्यमडप का उपयोग साधारण जनो के लिए मन्दिरो के जगमोहन से ही करते थे। राजप्रासादो का नाट्यमडप अपना अलग होता था। कालिदास ने नगरो की अट्टालिकाओ का जो वर्णन किया है उसके आधार पर राजप्रासाद अथवा श्रीमानो के महलो का एक रूप खड़ा हो जाता है। उसके अनुसार राजप्रासाद दो भागो मे बटा होता था। उसके भीतरी भाग का महाकवि ने 'कक्ष्यान्तराणि', 'गृहेरह', 'गर्भवेश्म' आदि अनेक पदो से सकेत किया है। प्रासाद ऊपर नीचे अनेक तलो के होते थे। वे अट्ट (ऊपर का कमरा, बालाखाना), तोरण, अलिन्द, आगन, सभागृह, कारागार, न्यायालय, बरामदे (पृष्ठतल) जो चन्द्रमा की किरणो से चमकती सगमरमर की छतो पर खुलते थे, प्रमदवन (नजर-बाग) आदि से सयुक्त होते थे। उनके 'विमानप्रतिच्छद', 'मेघप्रतिच्छद', 'मणिहर्म्य', 'देवच्छन्दक' आदि अनेक नाम होते थे जो उनके विविध प्रकारो को सूचित करते थे। कवि के 'विमानप्रतिच्छन्द' प्रकार के महल का उल्लेख मत्स्यपुराण मे 'विमानच्छन्द' नाम से हुआ है। उस पुराण के अनुसार इस प्रकार का प्रासाद आठ-पहला और अनेक बुर्जियो वाला ३४ हाथ चौडा होता था। मणिहर्म्य का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी हुआ है। उसका स्फटिक रूप सभवत सगमरमर को व्यक्त करता है। उसकी छत तक पहुचने के लिए सोपानमार्ग चादनी मे गगा की तरगो (गगातरगशिशिरेण स्फटिकमणि-शिलासोपानेन)सा चमकता था। 'मानसार' ने मेघप्रतिच्छन्द का मेघकान्त नाम से उल्लेख किया है जो दसमहला प्रासाद था। देवच्छन्दक भी प्राय इसी प्रकार का महल था। इन महलो की ऊचाई का सकेत कालिदास ने 'अभ्रलिह्', 'अभ्रलिहाग्र' (गगनचुम्बी) आदि शब्दो से किया है। तलो की ऊपरी छत विमानाग्रभूमि, पृष्ठतल आदि कहलाती थी। उनकी ऊचाई का अनुमान उनके नाम के साथ सबधित 'विमान' पद से लगाया जा सकता है।[2]

राजप्रासाद का भीतरी भाग अन्त.शाला कहलाता था, जिसमे अन्त पुर (अवरोध, शुद्धात), शयनागार आदि होते थे, और बाहर के भाग मे सन्यासियो से मिलने के लिए अग्निगृह, विचार-मत्रणा आदि के लिए सभागृह, न्यायगृह, आगन आदि होते थे। महल के चारो ओर अथवा मुखद्वार के समीप या पीछे प्रमदवन (नजरबाग) होता था। उसके

[1]इण्डिया इन कालिदास, पृ. २४६–४७। [2]भारतीय. भूमिका, पृ. ६५।

एक भाग में पक्षियों को पालने का प्रबंध था। पशुओं का सग्रहालय, तालाब, बावली आदि भी वही होते थे।[1] इसी बाहरी भाग मे घुडसाल, गजसाल आदि बने होते थे। घोडे-हाथियो को बांधने के खूटे मन्दुरा कहलाते थे।

एक विशेष प्रकार के महल 'समुद्रगृह' का उल्लेख सर्वत्र मिलता है। प्रकट है कि यह ग्रीष्मकाल मे उपयोग के लिए शीत-प्रासाद था। कामदग्ध प्राणियो को प्राचीन नाट्यकार साधारणत इसी भवन मे ले जाते है। इस प्रकार के भवन के चारो ओर यंत्रधाराए (फ़व्वारे) चलती रहती थी जिसमे प्रासाद का वातावरण शीतल हो जाया करता था। समुद्रगृह का उल्लेख मत्स्यपुराण, भविष्यपुराण और बृहत्संहिता मे भी हुआ है जो सभी प्राय गुप्त-कालीन है। मत्स्यपुराण के अनुसार वह भवन सोलह-पहला और दो तलो का होता था।[2]

राजप्रासादो से भिन्न अन्य अट्टालिकाए सौध, हर्म्य, भवन आदि कहलाती थी। सौध (सुधा=चूना, से) संज्ञा पलस्तर और चूना किये प्रासादो की थी। 'मानसार' ने हर्म्य को साततला प्रासाद माना है। कालिदास ने भी उज्जयिनी के ऊचे प्रासादो का उल्लेख सौध और हर्म्य नाम से किया है। नगर और राजप्रासादो अथवा सार्वजनिक आवासो के द्वार तोरणों से मडित होते थे। तोरण की भूमि अनेक चित्रों से उत्खचित होती थी। कुषाण और गुप्तकाल मे उनका रूप अधिकतर मकर का सा होता था जिससे उनका नाम ही 'मकर तोरण' पड गया था। अलिन्द (बारजे) भी तोरण से युक्त होते थे। ऊपर की बुर्जियो और उच्चतम कमरे को भी 'अट्ट' (अटारी) कहते थे। उस कमरे का नाम तल्प भी था। प्राचीन प्रासादों मे वातायनो (खिडकियो) के अनेक उल्लेख मिलते है। खिडकियो के नाम वातायन, आलोकमार्ग, जालमार्ग, गवाक्ष आदि अनेक थे। ये नाम उनके प्रकारो को भी ध्वनित करते है। वातायन खिडकी का साधारण नाम था। आलोक-मार्ग ऐसी खिडकी थी जहा बैठकर बाहर के दृश्य देखते थे। ऐसी खिडकी मे जब जाली का कटाव का काम होता था तब उसे जालमार्ग कहते थे। गवाक्ष से स्पष्ट है कि इस प्रकार की खिडकी गाय (अथवा वृषभ) के नेत्र की शक्ल की होती थी। वातायन का अर्थ है ऐसी खिडकी जिसमे वायु भीतर प्रवेश करती हो, पर उसके लिए बडी खिडकी को ही कुछ लोगों ने वातायन माना है जिससे उसका भी एक विशेष (बडा) प्रकार बन जाता है। प्रासादो के स्नानागारो मे यन्त्र से चलने वाली जलधारा का उल्लेख कर आये है। ऐसे स्नानागार धनियो के भवनो मे होते थे। उन्हे यन्त्रधारागृह कहते थे। उनमें स्फटिक, सगमरमर आदि का फर्श बना होता था। यन्त्रधारा और यन्त्रप्रवाह का तात्पर्य दौड़ते नलो से है।

[1]भारतीय भूमिका। [2]वही, विस्तृत वर्णन और प्रमाण के लिए देखिए, इण्डिया., 'पैलेसेज' का प्रसग।

कवि कालिदास ने रघुवंश में ग्रीष्म के आनन्ददायक धारागृहो का वर्णन इस प्रकार किया है—

> **यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान् मलयोद्भवस्य ।**
> **शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥**

धनी लोग यन्त्र चालित शीतल, चहुं ओर चन्दन से धवल विशिष्ट शिलाओं (संगमरमर की पट्टिकाओ) पर धाराग्रहों में सोकर गर्मियो के दिन बिताते थे ।[1]

सार्वजनिक और साधारण आवास

साधारणत राज्य की ओर से बननेवाले भवनों का विभाग वार्ता-सेतुबन्ध आदि कहलाता था। पुण्यशाला एक प्रकार का पूजागृह थी, चैत्यो से मिलती-जुलती, संभवत उन्ही की परम्परा मे उन्ही से विकसित। 'मानसार' मे ग्राम-निर्माण योजना मे धर्मशाला गाव के दक्षिण-पूर्व भाग मे प्रवेशद्वार के पास ही बनवाने का विधान है। साधारण नागरिको के आवास, उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार, छोटे-बडे हुआ करते थे। झोपडियो को उटज और पर्णशाला कहते थे जो अधिकतर तृण की बनी होती थी। साधारण मकान भवन, गृह आदि कहलाते थे। वे चौकोन आकृति के, भीतर आगन, चारो ओर बरामदो की दीवारो से घिरे होते थे। कमरे बरामदो मे खुलते थे। कमरे सोने, रहने, खेलने (क्रीडावेश्म), स्नान और सामान रखने के (सारभाण्ड-भूगृहे गुहायामिव—छिपे हुए कमरे जो गुफा के-से लगते थे) होते थे। उनमे भी तोरण वाले दरवाजे और खिडकिया होती थी। बाहर-भीतर की दीवारे अधिकतर चित्रित होती थी। द्वार के दोनो ओर शुभ के लिए शख, पद्म, इन्द्रधनुष आदि चित्रित कर लिये जाते थे।[2]

वापी, तडाग, कूप आदि

वापी, तडाग, कूप आदि खुदवाने के उदाहरण गुप्तकालीन अभिलेखो में अनेक मिलते है। ऐसा करना बडा पुण्यकर्म माना जाता था और अत्यधिक सख्या मे राज्य और राज्येतर व्यक्ति इन्हे बनवाते थे। खेतो को सीचने के लिए नहरो आदि का निकालना भी सरकार के वार्ता-सेतुबन्ध विभाग के अधीन था। स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के गिरनार के अभिलेख मे प्रकट है कि जब पलाशिनी नदी की बाढ से वहा की झील का बाध टूट गया तब उसने फिर से उसे बधवाकर झील को पूर्ववत् कर दिया। यह झील इतिहास प्रसिद्ध थी। अशोक के समय मे ही उसके सौराष्ट्र के शासक यौनराज (सभवतः ईरानी)

[1] इण्डिया इन कालिदास, पृ. ६७। [2] वही, पृ. ६६।

तुषास्प ने गिरनार पर्वत पर दो नदियों का जल बाधकर एक सुन्दर ह्रद (झील) बना दिया था। वह बाध प्राय: चार सौ साल बाद १५० ई० मे टूट गया। तब शक महाक्षत्रप रुद्रदामा ने बिना प्रजा पर नया कर लगाये उसे राज्य के खर्च से बधवा दिया। गुप्तकाल में वह बाध फिर टूटा, जिसका जीर्णोद्धार स्कन्दगुप्त ने कराया।[1]

उद्यान, दीर्घिका

सड़क के किनारे के वापी, कूप आदि के अतिरिक्त उद्यानों मे विशेष सुन्दर रूप से उनका निर्माण होता था। उद्यान भी दो प्रकार के होते थे। एक प्रासादो से लगे नजर-बाग या प्रमदवन का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। दूसरे प्रकार के उद्यान सार्वजनिक होते थे, नागरिको के लिए, जो नगर के बाहर, मथुरा, उज्जैन की भाति, एक-से-एक लगे दूर तक चले जाते थे (उद्यानपरम्परा)। दीर्घिका, वापी, कूप आदि का निर्माण दोनों प्रकार के उद्यानो मे होता था। दीर्घिका पतला लवा जलाशय थी, और वापी बावली। दोनो मे अन्तर सभवत बस इतना था कि दीर्घिका जहा लम्बी होती थी वहा वापी गोल होती थी। कवि कहता है कि उनका सोपानमार्ग आलता लगे पावो से चलती सुन्दरियों के स्पर्श से लाल हो जाया करता था। दीर्घिकाओ मे जल मे लगी और जल के भीतर से उठती ढाल पर छिपे हुए कमरे बने होते थे जिनमे श्रीमान् और राजा जलक्रीडा के समय विहार किया करते थे। कवि का व्याख्याता इनका उद्देश्य 'सुरत' और 'कामभोग' बताता है। इस प्रकार के कमरे लखनऊ की पिक्चर-गैलरी से लगे तालाब मे भी है जो वाजिद अली शाह के बनवाये बताये जाते है। मेघदूत की अलका मे कदलीवेष्टित वापी से लगा एक क्रीडाशैल भी था। उद्यानो मे क्रीडाशैल (नकली पर्वत, जिसका बहुत छोटा रूप आज भी 'राकरी' है) बनवाने की प्राचीन काल मे सामान्य परम्परा थी। पत्थर के ऊपर पत्थर रखकर दर्शनीय कृत्रिम पर्वत रच लिया जाता था। उसके पास ही एक स्फटिक का स्तभ भी था जिस पर यक्षिणी का मयूर बिराजता था और स्तभ के आधार से पक्षी की स्वर्णशृखला बधी रहती थी। पक्षियों के लिए घर और उद्यानों मे वासयष्टि बनाने की भी प्रथा थी।

उद्यान—उद्यानो मे वारियत्र अथवा फव्वारे भी बनते थे, जो सदा घूमते रहते (भ्रान्तिमत्) थे। उस भ्रान्तिमान् वारियत्र से निरन्तर फेकी जाती बूदो को पकडने के लिए निदाघ मे प्यासा मयूर सदा उसका चक्कर लगाया करता था। फव्वारे का जल नीचे गिरकर पनालियो की राह बगीचे मे बह चलता था जिससे वृक्षो, पौधो और लताओ

[1]भारतीय भूमिका, पृ० ७०।

के आलवाल (क्यारी) भर जाया करते थे। निश्चय ये चित्र गुप्तकाल के श्रीमानो के प्रासादोद्यानों के है।[1]

अन्य वास्तु

वास्तु का प्रसग समाप्त करने के पूर्व समकालीन कवि कालिदास द्वारा उस क्षेत्र मे दिये कुछ निर्माण कार्यों का हवाला यहा दे देना उचित होगा। कवि ने अभिषेकशाला, सदोगृह, विवाहमडप, चतुष्क, चतु शाला आदि का उल्लेख किया है। अभिषेक और मन्त्रणागृह तो निश्चय राजप्रासाद के ही स्थायी अग थे जहा राजा और युवराज के अभिषेक हुआ करते थे। अनुमानत. विवाहमण्डप, चतुष्क आदि स्वाभाविक ही अस्थायी वास्तु-कार्य थे जहा विवाह आदि क्रियाए सपन्न होती थी। विवाहमण्डप एक प्रकार का चतुष्क था जिसके चार पहल और चार द्वार थे। सभवत वह लकडी का बना होता था यद्यपि गुप्तकाल तक पहुचने-पहुचते इसका स्थायी पत्थर का बनने लगना संभव था। चतु शाला भी चतुष्क की ही भाति चारतरफा शाला थी जो चार अथवा अधिक स्तभो पर खडी होती थी। इसी से मिलती-जुलती 'वेदी' थी जिसका उपयोग होम आदि के अवसर पर करते थे। 'मानसार' के अनुसार चार स्तभों के चदोवे तले इसका आविष्कार स्तभों के सहारे होता था, छत उसकी 'विमान' कहलाती थी, सभवत इस कारण कि वह शिखरवत् उठी होती थी। यज्ञशरण वह यज्ञशाला थी जहा अन्य प्रकार के यज्ञो के अतिरिक्त अश्वमेध का यज्ञ भी होता था। भवन के भीतर ही एक कमरे मे कुल-देवता का निवास भी होता था जिसे 'प्रतिमागृह' कहते थे। राजप्रासाद के बाहर स्वयवर-भूमि और स्वयवर मे भाग लेनेवाले राजाओ-राजकुमारो के लिए पटमडपो, तबुओ के स्कन्धावार बनते थे। स्वयवर-भूमि मचो के ऊपर मच बनाकर गैलरी खडी की जाती थी जिसके बीच की वीथियों पर 'शिबिका' पर चढी राजकुमारी स्वयवरा पति-वरण के लिए घूमती थी। नगर की सडके समानान्तर और एक दूसरी को काटती चली जाती थी जिनके दोनो ओर अटारिया बनती चली गयी होती थी। इन सडको के राजमार्ग, वणिक्पथ, पण्यवीथी आदि अनेक नाम होते थे। राजमार्ग नगर की प्रधान सडक थी, वणिक्पथ एक नगर से दूसरे नगर को जोडने वाली सडक थी और पण्यवीथी नगर के भीतर ही वह सडक थी जिसके दोनो ओर सौदागर अपनी दुकाने रखते थे। पैसा (पण) चलने और सौदा (पण्य) बिकने के कारण यही बाजार का नाम था। नगरो मे वर्णों और पेशो के अनुसार मुहल्लो के अलग-अलग नाम होते थे। आक्रमणो अथवा राजा तथा निवासियो के छोड देने से

[1] इण्डिया इन कालिदास, पृ. २५३–५४।

नगरों की अटारिया गिर जाती थी, सडके वीरान हो जाती थी, राजमहल और श्रीमानों के भवनों को घेरने वाली रेलिंगों के स्तभो पर बनी नारीमूर्तियो के वक्ष को ढकने वाले पल्ले, कवि कहता है, जब विवर्ण होकर धूल से नष्ट हो जाते, तब उनकी लाज का आच्छादन उन पर रेंगते सर्पों की केचुलें बनती ।[1] नगर के जीर्णोद्धार, पुनर्निर्माण अथवा निर्माण के लिए राजा शिल्पिसघो का आह्वान करता, जो वास्तुशास्त्र के अनुसार उसका निर्माण करते । नगर प्राकारों और अट्टो से, उद्यानो से सज उठता ।[2]

३. मूर्तिकला

मूर्तिविज्ञान

ससार मे मूर्ति का प्रतीक जितना शक्तिशाली रहा है उतना अन्य कोई प्रतीक नही । त्रास और कुतूहल से भगवान् और धर्म का उदय हुआ, परन्तु मूर्ति की काया उनसे बहुत पूर्व ही सज गयी थी । भगवान् का उदय हो चुकने पर व्यक्तिगत सबध के लिए एक माया चाहिए थी, और मानव ने जैसे प्रेम और श्रद्धा मानव अथवा व्यक्ति के प्रति ही विकसित किये थे, उस दिशा मे भी उसे कुछ अपना-सा ही चाहिए था, और प्रतिमा अपने ही अनुरूप उसने रच डाली । आत्मीयता मूर्त हुई । प्राथमिक चिंताकुल मानव की इस प्रकार मूर्ति पहली अभिसृष्टि थी । प्रशात सागर से अतलातक सागर तक फैली भूमि पर बसने वाली सारी जातिया मूर्ति पूजती और उससे डरती थी । मातृसत्ताक कुलपरम्परा से भिन्न भी मानव की सर्व शक्तिमती रक्षिका माता ही प्रथम देवता बनी जिसकी मूर्ति कोरकर उसने उसे पूजा । मातृदेवी की मूर्तिया ही, इसी कारण, पहले सर्वत्र मिली है । जननेन्द्रिय की जननशक्ति ने फिर लिंग-पूजा का सूत्रपात किया । भय जब स्थायी हो गया तब उसमे मानव परचा और उसे धीरे-धीरे सुन्दरतर करने लगा, प्रिय आत्मीय जैसा ही । मूर्ति मे कला बसी, उसके लक्षणो ने फिर प्रतिमाशास्त्र रचे । मूर्ति अनपढ मानव ने सिरजी, शास्त्र उसके बनाये पण्डित ने । भारत के इतिहास मे भी मूर्ति उतनी ही पुरानी है जितना पुराना उसका जाना हुआ इतिहास है । हमारी प्राचीन सभ्यता के भग्नावशेष सिन्धु घाटी मे मिले है, हडप्पा, मोहेन-जो-देडो आदि मे । परन्तु आश्चर्य है कि वह सभ्यता कला के शैशव से नही उसकी परिणति से हमारा परिचय कराती है । एक से एक अभि-

[1]स्तंभेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्वियुक्ताः ॥ रघु., १६, १७

[2]इण्डिया इन कालिदास, पृ. २५२ ।

राम मूर्तियां, एक से एक दर्शनीय मुहरे, एक से एक सुन्दर प्रतीक बनते हैं और सहसा सारा उपक्रम छिन्न-भिन्न हो जाता है, उमगता जीवन अपनी संधियो से बिखर जाता है। सभ्यता की शृंखला सहसा टूट जाती है, भारतीय सभ्यता के रगमंच पर सहसा परदा पड़ जाता है, उस नाटक का पर्यवसान हो जाता है।

उपोद्घात

फिर प्रायः डेढ़ हजार साल बाद उस रगमच का परदा उठता है और उस पर चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक आ खड़े होते है। उनकी सुथरी-निखरी कला असाधारण प्रौढता लेकर आती है जिसके विकास की मजिले हम ढूढ़कर भी नहीं पाते। ऐसा नही कि यह काल का अन्तराल सर्वथा अनुर्वर ही रहा हो। प्राङमौर्य काल मे भी निश्चय कला से सबधित प्रयास हुए हैं, बरतन-भाडो की भूमि पर्याप्त निष्ठा से कोरी चिकनायी गयी है और जब-तब मूर्तियो का निर्माण भी हुआ है, जिसका पता इक्के-दुक्के मिल जानेवाले प्रतीको से लग जाता है। उदाहरण के लिए आठवी-सातवी सदी ई पू. की लौरिया नन्दनगढ की मृत्तिका–समाधि मे मिली नग्न नारी की स्वर्णप्रतिमा प्रकट करती है कि किसी न किसी मात्रा मे निश्चय उस दिशा में सफल प्रयास होते रहे है। परन्तु नि सन्देह वह प्रयास इतना प्रभूत प्रसवक नही जितना मौर्य काल अथवा उससे शीघ्र पूर्व का युग है। शीघ्रपूर्व का वह काल मिट्टी के ठीकरों पर उभरे चित्रो का विशेष धनी है। इनके अतिरिक्त पत्थर की मूर्तिया भी बनी जो विशालकाय यक्षो–यक्षियो की हैं। परखम, बेसनगर आदि की यक्ष-यक्षियो की मूर्तिया इसी प्रकार की हैं, देह-शक्ति की सीम, पूजा के लिए रची। इनमे मनसा देवी वाली मूर्ति अब तक मथुरा मे पूजी जाती है।

जो भी हो, भारत ने मूर्तिकला को विज्ञान का पद प्रदान किया है। सौंदर्य, समाधि, कल्पना और भावबोध मे उसकी किसी अन्य देश की समसामयिक कला समता कर सकती है, यह कह सकना आसान नही। अन्य कलाओ में सौंदर्य की कमी नही, व्यजना की भी असीम क्षमता है, व्यापक प्रभाव की भी वह धनी है, पर ये सारी प्रवृत्तिया एकत्र कम मिलती है। और सचेत ज्ञान से हो अथवा छवि के आकर्षण से, भारत ने मूर्ति का कभी त्याग नही किया, विपत्तियो के बावजूद। उपासना अब तत्त्व-बोध को स्थान दे चुकी है।[१] भारत की कलासाधना आगे तत्त्वबोध का स्थान ले लेती है, उसी से अनुप्राणित है। गुप्तयुग से पूर्ववर्ती कुषाणकालीन भावतत्त्व बौद्धो के अमूर्त जीवन को 'हीन'

[१] भारतीय. भूमिका, पृ. ७७–७६।

कहता है, अपने काल के बोधिसत्त्वानुमोदित जीवन की नौका को 'महायान', और अपने नियन्ता की पहली मूर्ति कोर, उसे अपने समर्पण का केन्द्र बना उसकी अभ्यर्थना करता है। प्राणवान् पत्थर की कठोरता को द्रव कर अपने रस से उसे अभिषिक्त कर चला, मूर्ति और मानव एकप्राण हो गये।

नवयुग

गुप्तयुग (ल० २७५–५०० ई., प्रभाव-प्रसार प्रायः ६५० ई. तक) मूर्ति-कला के क्षेत्र मे भी, विशेष कर इस कारण भी, भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहलाता है। इसका यह नाम सार्थक ही है। कला ने समुदय की जिस चोटी का स्पर्श किया वह किसी दूसरे युग मे नही हो सका। सुरुचि और सूक्ष्मता, उस काल की कला के प्राण बन गयी। मूर्तिया जैसे अपने पार्थिव धरातल से, प्रस्तरीय प्रक्रिया से, ऊपर उठ गयी, उनमे जैसे मनस् और मानस की प्रतिष्ठा हुई, काया मे जैसे आत्मा पैठी। भारतीय कला की, उसके साहित्य की ही भाति, चरम परिणति हुई।

स्मृतियो की बतायी व्यवस्था गुप्त सम्राटो की सरक्षा मे नये सिरे से खडी हुई। पुराणो के धर्म और विश्वास जादू की भाति देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गये। पुराणो के देवता अपनी तैतीस कोटि की सख्या लिये भारत की धरा पर उतरे, देशभक्त ऋषियो ने सार्थक गाया—'देवता गाते हैं, भारत भूमि पर जनमने वाले धन्य हैं, उस भूमि पर जन्म लेने के लिए वे स्वयं लालायित रहते हैं। स्वर्ग मे भी भला भारतीय धरा जैसी भूमि कहा है ?'

जिस सख्या मे पुराणो की कल्पना ने अपने देवताओ का विकास किया, भारतीय कलावन्तो ने उसी परिमाण मे उन्हे मूर्त कर भारत की धरा पर उनकी सपदा उतारी, उन्हें उनकी लालसा की धरा पर सिरज कर उतारा। शिव और पार्वती, शेषशायी विष्णु और लक्ष्मी, मकरारूढ गगा और कच्छपारूढ यमुना, आदि अपने अपने परिवार के साथ आकलित हुए। और बुद्ध, बोधिसत्त्व तथा उनके परिवार विशेष मर्यादा और परिष्कार मे कला की मूर्धा पर बिराजे। मथुरा के अतिरिक्त, कला का केन्द्र काशी के पास सारनाथ (सारगनाथ, मृगदाव) की ओर सरका। जिस धार्मिक उदार सहिष्णुता के अशोक ने सपने देखे थे, गुप्तों का उदार जीवन उन्हें साकार कर चला। शिव के त्रिशूल पर बसी, शिव की जटा से उतरी गगा के तीर-तीर काशी बौद्धों के धर्मचक्र-प्रवर्तन की भूमि मूलगन्धकुटी-विहार की दिशा में मृगदाव (सारनाथ) की ओर अभिमुख हुई।

स्वाभाविकता

गुप्तकालीन कृतियों मे एक नयी ताजगी आयी। आकृतिया जीवन से चुनकर स्वाभाविक कर ली गयी। न तो वे शुगकाल-की-सी चिपटी रही, न कुषाणकाल-की-सी गोल, बल्कि गाधार-शैली-की-सी प्रकृत अडाकार हो गयी। अब कलाकार उन्हें कला के प्रतिष्ठित सौदर्य भावो से नही, सीधे प्रवहमान जन-जीवन से चुनने लगा। बुद्ध, जिनकी समाधिस्थ मूर्तियो के उलटे अगूठे अपनी कठोर काष्ठरूपता छोड़ मासल हुए। पुरुष और नारी ने नये केशकलाप धारण किये। पुरुषो के कुन्तल कन्धो तक कुचित लटकने लगे। बनायी हुई सभवत नकली लटे भी प्रयुक्त होने लगी। नारी ने कुषाण-कालीन केश-प्रसाधन मे प्रयुक्त सामने का वृत्त बनाना छोड़कर अलक जाल धारण किया। सीमन्त की स्पष्ट रेखा खीच वह 'सीमन्तिनी' बनी। उसके आभूषण सुरुचि-पूर्वक चुने हुए अल्पसख्यक होने लगे। वस्त्र सुथरे और परिष्कृत, काया को परसने लगे। ग्रीक तकनीक से प्रभावित बुद्ध के परिधान (सघाटी) की चुन्नटे अलकरण बन गयी, गठी काया उनमे से साफ झलकने लगी। जीवन के अगाग मे रसी कला कौतुक और निखार लिये बिहँसी।[1]

अभिप्रायो, प्रतीको की नवीनता

मौर्यों के पहले कठोर मासल मूर्ति के निर्माण का युग था। मौर्यों ने उस मासलता और सर्वतोभद्रिका (चारो ओर से देखी जा सकने वाली मूर्तिया) मूर्ति को चिकना कर दर्शनीय बनाया, उसमे राजकीय कलाविलास मूर्त हुआ। पर शुग काल में ही आधार से उभारी मूर्तियो की शैली भरहुत और साची मे सुथरी। साथ ही वहा की मूर्तियो का वातावरण वनोपवन और वनस्पति के सानिध्य से ऋद्ध हुआ। शालभजिका-वृक्षिकाओ के अभिप्राय मूर्तिकला मे रूपायित हुए। गुप्तकाल ने नर और नारी को, उसकी काययष्टि को वनप्रातर से, वनस्पतिक वातावरण से मुक्त कर दिया। स्वय मथुरा ने ही प्राय कुषाण काल मे ही भरहुत—साची से स्वतत्र होकर कला मे इस अभिप्राय को साधा, जिससे उसकी रेलिंगो की स्तभनारिया अभिमूर्त हुई। यद्यपि शाल-भजिक-मुद्राएँ बनी रही, शाल धीरे धीरे नेत्रो से ओझल हो गया। दोहद—अशोक और बकुल के—गुप्तकालीन साहित्य मे (देखिए, विक्रमोर्वशीय) तो बार-बार प्रतीकत. अनुकृत होते रहे पर अपने मूर्तन के क्षेत्र से कलावन्त ने उसे विदा कर दिया। पर निश्चय उस अभिप्राय—प्रतीक का उसने विसर्जन नही किया, केवल लता—ओषधि की ओट से

[1] भारतीय भमिका., पृ. ९६—९७।

उसे स्वतंत्र कर पूर्णत. नेत्रगोचर कर दिया। लता-गुल्मों के संभार में, कमलनाल की तरंगित अभिव्यंजना (लिली-स्काल) से उसने मानव का एक दूसरा ही अभिप्राय संयुक्त किया ; प्रसाधन--सचायक--सहायक वामन का। कुषाणकालीन कला मे ही वामन का, विशेष कर स्तभयक्षियों के चरणाधार रूप में, उपयोग होने लगा था। प्रसाधन करती नारी के लिए मस्तक पर थाल में पुष्पमाल उठाये वामन का रूप उस कला में भी अजाना न था। पर गुप्तकाल मे उनकी संख्या बढ़ी, गुप्त राजकुलो के अन्त-पुरो की आवश्यकता के अनुपात मे ही सभवत'। वामनो के अभिप्राय का शिव की व्यापक पूजा मे, कला के क्षेत्र मे प्रभूत मूर्तन मे भी, वामनाकार गणो के आधिक्य के कारण, अधिकाधिक रूपायन स्वाभाविक था। सो अनेक बार वामनो अथवा बाल मूर्तियो का आकलन गुप्त कालीन पट्टिकाओ पर हुआ। इस प्रकार की एक पट्टिका प्रयाग-सग्रहालय में सुरक्षित है जो इस क्षेत्र के मूर्तनो मे सौदर्य और आकलन की कुशलता और व्यजना की सुरुचि मे अनुपम है ।

अक्सर मूर्तिपटो से उभरकर भी बुद्धो अथवा बोधिसत्त्वो की सर्वावयवता पृष्ठभूमि से मुक्त स्वच्छन्द रही। उठे वे कुषाण पृष्ठभूमि से ही पर उनका व्यक्तित्व सर्वथा आत्मस्थ और आत्मनिर्भर हो उठा। उनका कायिक सौंदर्य तो जैसे साचे मे ढलकर निखरा था ही उनका अन्तरग भी बहिरग के माध्यम से अपनी ज्योति फेकने लगा। व्यक्त के माध्यम मे अव्यक्त की अमित शक्ति बुद्ध की मूर्तियो मे आविर्भूत हुई। मथुरा के खडे बुद्ध और सारनाथ के बैठे धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा मे व्यस्त बुद्ध बाह्य के कोलाहल से विरत, अन्तर की शाति से प्रसन्न और सतुष्ट, अभय प्रदायक शक्ति और समाधि की निष्ठा से अभिव्यक्त हुए। कुषाणकालीन कलाकेन्द्र मथुरा अब भी कलाधार की प्रस्रविणी थी, यद्यपि सारनाथ स्वयं उसकी एक नयी धारा से कला क्षेत्रों को आप्लावित कर चला था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि गुप्तकाल का विकास भी तो कुषाण कला से ही हुआ था।

प्रधान केन्द्र

गुप्तकला के प्रधान निर्माण केन्द्र मथुरा, कौशाम्बी, सारनाथ, पाटलिपुत्र, नालन्द, बोधगया थे। इनमे प्रधान और प्राचीनतर मथुरा और पाटलिपुत्र थे। यहीं से विशेषत इस काल की मूर्तियो का मूर्तन और विकास हुआ। मथुरा का शक-कुषाण केन्द्र गुप्तकाल से पूर्व विशिष्ट कला का केन्द्र रहा था। यद्यपि, कुषाणों की राजधानी गान्धार मे होने के बावजूद, सस्कृति की पूर्व मे उनकी दूसरी राजधानी का सा इसका रूप था, गान्धार कला का प्राधान्य वहा कभी नहीं होने पाया था और मथुरा ने शैली की

तकनीकी दृष्टि से अपना स्वतंत्र भारतीय स्थानीय वैशिष्ट्य स्थापित किया था, जिसका प्रभाव दीर्घकाल तक दक्षिणकी अमरावती और पूर्व मे कौशाम्बी (प्रयाग) आदि पर बना रहा। गुप्त शैली का वास्तविक समुदय मूर्तन (चित्रण नही) के क्षेत्र मे मथुरा मे ही हुआ। वही से कला की मूर्त निधियां पहले श्रावस्ती (गोंडा-बहराइच, उत्तर प्रदेश की सीमा पर, सहेत–महेत के खडहर), कौशाम्बी और सारनाथ के केन्द्रो मे प्रयुक्त हुईं, फिर धीरे धीरे उनका अपना प्राधान्य हुआ। इसी का यह परिणाम था कि कसिया (कुशी-नगर, देवरिया जिला, उत्तर प्रदेश), सारनाथ और बोधगया मे मथुरा के कलावन्तों द्वारा कोरी मूर्तियां प्रचलित हुईं या वहां की स्थानीय सत्ता पर मथुरा की प्रेरणा का प्रभाव पडा।

इस भावसत्ता से अनुप्राणित चौथी सदी की गुप्त शैली की बोधगया की वह बोधिसत्त्व मूर्ति है जिस पर महाराज त्रिकमल के ६४वे साल की तिथि पड़ी हुई है। इसे जनरल कनिंघम ने अपने 'महाबोधि' के फलक २५ पर प्रकाशित किया है। यह मूर्ति निश्चय गुप्त शासन की प्रारंभिक सदियों की है जिसे मथुरा की कुषाण-शैली का स्पष्ट प्रसरण कहा जा सकता है। इस मूर्ति को देखते ही मथुरा के बैंठे बोधिसत्त्वो की याद आती है यद्यपि इसमे मूर्तन की नयी सहजता कुषाणकालीन कठोरता से स्पष्ट प्रकट है। स्वय मथुरा इस गुप्तकालीन सहजता से वचित न रह सकी और गुप्त छेनी का स्पर्श पाते ही वहा की प्रतिमाएँ भीतर-बाहर की एकाग्रता से, भावाभिव्यक्ति की सहजता मे एकान्त जीवित हो उठी। मथुरा संग्रहालय मे प्रदर्शित त्रिनेत्र शिव का मस्तक जिस आतरिक आनन्द का मूर्ति की मुस्कान द्वारा प्रकाश करता है, वह बोधिसत्त्वो और बुद्ध की मूर्तियो में उस काल की शैली का सहज विलास बन गया।

सारनाथ

इस आनन्द का अभिनव तारतम्य वस्तुतः सारनाथ की मूर्तिसपदा मे विकसित हुआ, जहा तथागत बुद्ध ने अपने मूलगधकुटी-विहार से धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। इस शैली का सबसे असाधारण, सबसे सहज प्रतिमान सारनाथ की धर्मचक्रप्रवर्त्तन मुद्रा मे बैठी बुद्ध की वह मूर्ति है जिसका स्वय गुप्तकला मे भी कोई सानी नही। छन्दस् (लिरि-सिज्म) की सहजकारिता जैसे बहिरग की रेखाओ मे लहरा उठी है। एक अद्भुत आन्तरिक आनन्द की अस्फुट मुस्कान होंठो पर खेलती है। समाधि की दृष्टि नासिकाग्र पर सहज केन्द्रित है पर कही परुषता की परस नही, सर्वत्र अकुण्ठित जीवनधारा प्रवहमान है। मूर्तन मे गुप्तकालीन भावघन का, अन्तर्धारा और बाह्य सुषमा की एकता का यह मूर्ति सहज प्रमाण है। इतनी शाति कभी किसी मूर्ति पर नही विराजी, भीतर के आनन्द का

आलोक इतना कभी बाहर की भंगिमा द्वारा, कायिक सर्जन की किरणो द्वारा अन्यत्र नही फूटा । मूर्ति का भावप्रकाश अमूर्त और अव्यक्त की अपरिमितता को दर्शक के नेत्रों की परिधि मे ला धरता है और दर्शक मूर्ति के अंगांगों के परे की सत्ता को बरबस स्वायत्त कर लेता है । यह मूर्ति तो ससार की जानी हुई है, पर अनेकानेक मूर्तियां सारनाथ के कलावन्तो द्वारा इसी भावसत्ता से कोरी गयी उस संग्रहालय में सगृहीत है जो इस प्रधान मूर्ति से कुछ विशेष घटकर नही, और अपनी योगस्थ मुद्रा में स्वय जो बेजोड हैं । प्रयाग के मानकुअर बुद्ध की अभयमुद्रा मे बैठी प्रतिमा इसी भावसत्ता की धनी है जिसके प्रदर्शन का श्रेय आज लखनऊ के प्रान्तीय सग्रहालय को है । इसी अभिव्यजना को आदर्श मान स्वय मथुरा की अनेक बोधिसत्त्व-मूर्तियो का मूर्तन हुआ है । मथुरा मे इस सहज भाव-विलास का प्रकाश सभवत मूल रूप मे उसकी बैठी मस्तकहीन महावीर की मूर्ति में हुआ है जो ४४८–४९ ई० की मानकुअर मूर्ति से प्राय पन्द्रह वर्ष पूर्व (४३२–३३) की है ।

आनन्द मूर्तन का विकास

मथुरा और सारनाथ की यह ब्रह्मानन्द की मूर्तन प्रक्रिया निश्चय उस घनी मात्रा मे तो अन्यत्र प्रदर्शित नही हुई पर नि सन्देह उस दिशा मे प्राय सर्वत्र प्रयत्न हुए । हिन्दू विश्वविद्यालय के भारतकलाभवन की कार्त्तिकेय मूर्ति, सारनाथ सग्रहा-लय की लोकेश्वर शिव की प्रतिमा, खोह का एकमुख शिवलिंग, सभी सारनाथ की मूर्तन की लहरानी स्वच्छन्दता, बहिरग की सहज रेखाकारिता और अभिव्यजना की ब्रह्मानन्द भावना को व्यक्त करती हैं । बेसनगर की गगा का सहज विलास उसके मकर-वाहन की जल से उद्वेलित, तरगित मूर्तन शक्ति की तुलना मे यद्यपि उतना भावदर्शक नही, कुछ शिथिल है, पर भूमरा की महिषासुरमर्दिनी का ओज-वैभव तो जैसे शक्ति और रूप के सौंदर्य मे बुद्धमूर्तियो का जवाब है । महिषासुर का पशुबल और दुर्गा का मल्ल-तोलन (बर्छाघात) अद्भुत शक्ति और जीवन्त कला से मूर्त हुए है । स्वय भूमरा के शिव (केवल ऊर्ध्वार्ध शेष) अपनी रूपायन की मर्यादा मे सारनाथ की सभावना की ही परिधि मे अभिव्यक्त हुए हैं । कुछ पीछे के होकर भी देवगढ के दशावतार मदिर के अनन्त-शायी विष्णु भी सर्वथा नगण्य नही, यद्यपि गुप्तकालीन प्रधान धारा मे अलग हो जाने से इनकी मर्यादा अपेक्षाकृत असुन्दर और रूपायन कुछ कठोर हो गया है । प्रयाग सग्रहालय मे प्रदर्शित गढवा की अनेक उभरी मूर्तिया अपने उत्कीर्ण अर्ध चित्रो (रिलीफो) मे मथुरा-सारनाथ की कलाकारिता के सौरभ की प्रमाण हैं ।

इस अर्ध चित्रण (रिलीफ) का वैभव कौशाम्बी की अनेक शिव-पार्वती मूर्तियों

में प्रदर्शित है, देवगढ़ के दशावतार मंदिर के रामायण सबंधी दृश्यो के उत्खचनो मे भी, जिनकी व्यजना की भावसत्ता निश्चय सारनाथ के भावबोध और चारुकारिता से विशेष भिन्न नही है। मथुरा-सारनाथ की यह शैली पश्चिम के राजस्थानी केन्द्रो को भी धीरे-धीरे प्रभावित कर चली और मन्दोर, नगरी आदि मे भी उसकी बेले लगी। प्रतीहारों की प्रथम अवतरणभूमि यह मन्दोर जोधपुर मे है और पश्चिमी सागरतट से पूर्व की ओर बढ़ने वाली सेनाओ के मार्ग मे बसी चित्तौर के समीप की 'नगरी' प्राचीन माध्यमिका की प्रतिनिधि है। मन्दोर और नगरी के गोवर्धन-धारण के दृश्य देवगढ़ और कौशाम्बी के रेखाकनो की कारुता के ही अनुरूप है। यद्यपि उनका मूर्तन पाचवी सदी मे ही हो गया था। राजस्थान की कलाकृतियो मे मथुरा की कृष्णकथाओ का विशेष बोलबाला हुआ।

दकन-मालवा

मथुरा से दक्षिण की राह कौशाम्बी (इलाहाबाद से ३५ मील पश्चिम कोसम के खण्डहर) से होकर जाती थी, कला की राह भी उधर के वणिक्पथ से ही होकर गयी। इसी राह मथुरा की कुषाण कला ने अपनी शैली की अमरावती तक पहली-दूसरी सदियो मे दुन्दुभी बजायी थी, गुप्तकालीन कला का कौशल भी इसी राह चौथी सदी मे मालवा पहुचा। सांची और भिलसा प्राचीन काल से ही जाने हुए केन्द्र रहे थे। साची और मालवा के गुप्तकालीन मन्दिरो का जिक्र अन्यत्र किया जा चुका है। मथुरा की मधुर और महीन कोमल भावसत्ता मालवा के मूर्तन मे भारी हो पडी, रेखाएँ काया की गोलाई मे मोटी और मासल हो गयी, उसकी मासलता मे वस्तुत समा गयी। बेसनगर की गगा, ग्वालियर सग्रहालय मे प्रदर्शित पवाया के तोरण के अर्धांकन और अप्सरा-मूर्तिया इसका सबल प्रमाण हैं। मालवा की मूर्तियो का मूर्तन पूर्वी भारत की मूर्तियो के मुकाबिले भारी और कठोर हुआ है, परन्तु भिलसा की उदयगिरि की गुहाओ की खचित मूर्तियो, मन्दसोर के शिव और यशोधर्मा के स्तम्भ की प्रतिमाओ और ग्वालियर सग्रहालय की नरसिह मूर्ति का दमखम उनकी मासलता और मोटे रेखान्वयन के बावजूद कला की शक्ति बन गया है।

वराहावतार का मूर्तन

यहा उदयगिरि की वराहमूर्ति का उल्लेख कर देना उचित जान पडता है, यद्यपि उसका संक्षिप्त संदर्भ अन्यत्र आ चुका है। वराह की वह अद्‌भुत प्रतिमा आदमकद दीवार पर उत्कीर्ण खडी है। आलीढ मुद्रा मे पैर बढ़े हुए हैं, दाहिना हाथ कटि पर है, बायां बाये घुटने पर अनायास पड़ा है। अनायासता की यह मुद्रा विशेष उल्लेखनीय

है क्योंकि वराह का यह प्रतीक उस चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का है, जिसने भारत-वसुन्धरा की रक्षा ठीक तभी शको का मालवा और सौराष्ट्र मे नाश कर की थी, वैसे ही जैसे वराह ने पृथ्वी का हिरण्याक्ष से उद्धार किया था। शको का नाश कर 'शकारि' विक्रमादित्य कहा गया था और उसके सान्धिविग्रहिक मत्री वीरसेन शाब ने वहां अभिलेख खुदवाकर वराह का दीवार पर अर्धचित्रण भी करा दिया था। इस मूर्ति का उभार तो कला की दृष्टि से असाधारण है ही, सदर्भ की उपयुक्तता भी इसकी असामान्य है। पृथ्वी अत्यन्त लघु आकार मे, ऐसी जो वराह की दाढ से लगी माल है, को वराह रक्षा में उठाये हुए हैं। इतनी विशाल काया से संरक्षक द्वारा रक्षित धरा अथवा व्यक्ति की अपेक्षाकृत लघुता रक्षक की शक्ति प्रदर्शित करती है, जिसका निर्वाह साहित्य मे भी हुआ है और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन, इस मूर्तन और अभिलेख के समसामयिक कवि कालिदास ने भी इस प्रतीक की व्यजना का उपयोग किया है। शिव के तीसरे नेत्र की अग्नि से रूपगर्विता उमा का उत्साहवर्धक कामदेव जब भस्म हो जाता है तब उमा की रक्षा कौन करे? वही जो शिव से भी आकार-प्रकार मे बडा हो, अर्थात् हिमालय। उमा शिव के क्रोध से जलते काम को देख स्वय मूच्छित हो जाती है तब एकाएक बडी शीघ्रता से हिमालय प्रवेश करता है और कन्या को झट बाहुओ पर अनायास उठा ऐरावत के दात से लगी पद्मिनी की भाति, जिधर से आया था उधर ही उलटे पांवों लौट जाता है। इस अनायासता के अतिरिक्त उदयगिरि के वराह के दात से लगी अल्पकाय पृथ्वी, और कालिदास के उत्तुग हिमालय (जो अपने शरीर को और भी बडा कर लेता है—दीर्घीकृताङ्ग) की भुजाओ पर पडी उमा, तथा ऐरावत के दात से लगी पद्मिनी की परस्पर एकान्त समता है—

> सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भभीत्या
> दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम् ।
> सुरगज इव बिभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नां
> द्रुततरगतमासीद्वेगदीर्घीकृताङ्गः ॥[1]

वराह की यह उभरी प्रतिमा अपनी प्रतीकता मे जितनी सार्थक है, अपनी मूर्तन की प्राणशक्ति मे भी वह उतनी ही अद्भुत है। पहाड की चट्टानी दीवार पर उसका कायिक पौरुष मूर्तन की अनायास शक्ति से और भी दृढ हो गया है और उसकी यह सहज अकृत्रिम अनायासता उन देवताओ की दुर्बलता से कितनी अभिन्न है, जो पास की दीवार पर तीन-तीन कतार मे अजलिबद्ध मुद्रा मे खडे उसकी शक्ति का स्तवन कर रहे हैं, पास

[1] कुमारसंभव, ३, ७६।

ही चरणो के पास शेषनाग और ब्रह्मा अजलि बाधे खडे है। गुप्तकाल के हिन्दू मूर्तनों मे यह वराह मूर्ति असाधारण स्थान रखती है। जीवन और उत्साह की यह प्रतिमा गुप्त-सत्ता की शको पर प्रतिष्ठा की द्योतक और समकालीन नवजीवन की उद्‌बोधक है। यदि भावोत्प्रेक्षा से विशाखदत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' की भूमिका वाले नन्दिश्लोक मे अपने चरितनायक चन्द्रगुप्त मौर्य के व्याज से शकारि चन्द्रगुप्त की रक्षा-वृत्ति को सराहा हो तो उसमे आश्चर्य क्या ?

पूर्व की मूर्तिकला सारनाथ की शैली और भावश्री का ही प्रसार थी। राजगिर, नालन्दा, बिहारैल, सुल्तानगंज, तेजपुर सर्वत्र से गुप्तकालीन मूर्तिया उपलब्ध हुई है जिनका आकलन भावसम्मत हुआ है। तेजपुर के दह-परबतिया की गगा-यमुना की मूर्तिया सुन्दर हैं, लखनऊ सग्रहालय की गगा-यमुना की मूरतों से मिलती-जुलती। शेष स्थानो की मूर्तियो मे प्रधान बुद्ध की है। इनमे पूर्व की रस-भावना विशेष प्रवाहित हुई है। सुल्तानगज की खडी बुद्ध प्रतिमा ताबे की है, वैसे ही नालन्दा की विशाल प्रतिमा भी धातु की ही है, जिनकी चर्चा धातु की मूर्तियो के प्रसग मे करेंगे। उसी द्रव भावना का निदर्शन राजशाही सग्रहालय मे प्रदर्शित पत्थर की बिहारैल की बुद्धमूर्ति मे भी हुआ है। राजगिर के मणियार मठ की मिट्टी-चूने की बनी, उभरी अर्ध चित्रकारी मे भी रस का अमित प्रवाह हुआ है। चण्डीमऊ के 'किरातार्जुनीय' के दृश्य का उत्खचन भी प्रस्तर खण्ड पर अभिराम हुआ है। नीचे की शिव-पार्वती-रूपो की शान्त प्रक्रिया पर ऊपर के चैत्य-शिखर मे बनी वामनपुच्छ की घूर्णित तरग अत्यन्त जीवन्त है, जल जैसे उद्विग्न होकर फेनिल हो उठा है।

दक्षिण से, अमरावती के बाद के काल की, गुप्त शैली में विशिष्ट मूर्तियां कम मिली है। गिरिगुहाओ की अधिकतर सातवी सदी के बाद की हैं। पाचवी सदी की उपलब्ध मूर्तिया तो नही के बराबर हैं, पर छठी सदी की कुछ निश्चय ऐसी है जिनको सराहा जा सकता है। ऐहोले के अनन्तविष्णु-चित्रण की छन्दसित कायाए निश्चय छन्दसित और लचक में अभिनन्दनीय है। उनको देखकर अमरावती की शक्लो की याद आ जाती है। वे उसी परम्परा मे विकसित जान भी पडती हैं। शरीर जैसे लहरा उठे है। ऐसी छरहरी कायाओ का रूप अमरावती से अन्यत्र नही दीख पडता। यह लहरिया वृत्त विशेषन कोणाकित उडते देवीमूर्तनो मे दर्शनीय है। बदन का मूर्तन मे यह छरहरापन विशेष कर दक्षिण की देन है जो ब्राह्मण देवपरिवार से भिन्न कान्हेरी की गुप्तकालीन बौद्ध शक्लो मे भी बना हुआ है। पर दोनों मे एक विशेष अन्तर भी है। जहा ब्राह्मण देवो का ऐहोले का मूर्तन भावप्रवण और सुकुमार है, कान्हेरी के बौद्ध वातावरण का कायभार से शिथिल हुआ है, दर्शन मे कुछ कठोर और प्रवाह मे कुछ अवरुद्ध सा है।

प्राय. यही स्थिति अजन्ता के बुद्धो की भी है, चित्रो की नहीं। वे गुहाओं की बाहरी दीवारो पर स्थूल आकृति मे नाटी ऊंचाई मे मूर्त हुए हैं और सारनाथ की प्रतिमाओं से एक ओर और अमरावती-ऐहोले की प्रतिमाओ से दूसरी ओर सर्वथा भिन्न स्पन्दनहीन हैं।

जो मासल, स्थूल, पश्चात्कालीन दक्षिण की मूर्तियो का निजत्व है, उसका आरंभ प्राय: बादामी की मूर्तियो की उभरी स्थिति से ही हुआ जान पडता है। फिर भी बादामी, पारेल आदि की अभिपृष्ठियो मे शक्ति है। पारेल मे दृश्य को उठाये वामनाकृतिक गणों की चेष्टाए प्रशसनीय है। नाटी, लहराते कच-कुन्तलो से भरे भारी मस्तक वाली स्थूल आकृतिया शक्ति की सीमा लगती है जो गतिशीलता का प्रमाण बन जाती है। इन गणों की भूमरा के गणो से घनी समानता है।

दक्षिण के मामल्लपुरम् और काची मे पल्लव नरेशो की सरक्षा मे कला का निर्माण-स्रोत जैसे फूट पडा था। महाभारत और पुराणो के दृश्य मदिरों के बहिरग पर अर्ध चित्रों मे अनन्त मात्रा और दौडती रेखाओ में उभारे गये। गगावतरण का दृश्य एक समूची शिलाभित्ति पर उतार दिया गया, जैसे कला की संपदा ही सहसा बरस पडी हो। भाजा और उदयगिरि मे इस प्रकार के प्रयत्न हुए थे पर मामल्लपुर का यह अध्यवसाय अपनी निजता रखता है। इस अवतरण मे एक समूचा ससार, पशु, मानव, अर्ध देवो, देवो, सर्पों आदि का, सिरज दिया गया है। मूर्तन मे शक्ति, वृत्ताकारता और गतिशीलता है। लगता है जैसे यह समूचा ससार किसी शक्ति से धाराविपन्न हो चलायमान हो उठा है।

इस प्रसग को समाप्त करने के पूर्व मथुरा की उस बुद्धमूर्ति का स्वतत्र रूप मे उल्लेख कर देना अनिवार्य होगा जिसके जोड की मूर्ति न इस देश मे न विदेश मे कभी कोरी गयी। भाव-स्पन्दन मे यह उसी वर्ग की है जिस वर्ग की सारनाथ की धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा मे बैठी बुद्ध की मूर्ति है। लाल पत्थर की बनी मथुरा वाली बुद्धमूर्ति आदमकद मे खडी है, निरवलब, सर्वतोभद्रिका खडी है। हाथ और चरण टूट गये है। बाया हाथ सघाटी की चुन्नटो से बाहर किंचित् उठा है और उसके नीचे से सयोजित चुन्नटे अभिराम स्वाभाविक नीचे गिर गयी है। दाहिना कर कुहनी से टूट जाने के कारण नही कहा जा सकता कि मूल रूप मे वह अभय मुद्रा मे था या वरद मुद्रा मे। भरी गरदन के नीचे भरी छाती से तौकनुमा ग्रैवेयक के रूप मे ग्रीवा की निचली परिधि बाधती सघाटी की चौडी चिपटी सीमा नीचे के साचे-ढले शरीर पर ग्रीक लहरिया चुन्नटों मे उतरती चली गयी है। ग्रीक चुन्नटो के मोटे भार को अपनी कमनीयता से इसने जीत लिया है। ग्रीक शैली का भारतीकरण इसी प्रकार हुआ था। और सघाटी का परिधान सूक्ष्म पारदर्शी है जिससे सुकुमार गठा धातु-मासल तन साफ झलक रहा है। अन्तरासंग का अधोभाग नीचे सघाटी के छोरतले दीख रहा है। ऊपर का अडाकार भुवनमोहन मस्तक मूर्ति-

संसार में अनुपम है, सर्वथा अप्रतिम, गुप्तकालीन समान मूर्ति-मस्तकों मे मूर्धन्य। भरे कपोलों का नीचे की ओर दीर्घायित आयाम नुकीली-भरी ठुड्डी मे खो गया है, होठ हलके बन्द हैं जिनके ऊपर आकर्षक लबी नासिका उठती नेत्रो के बीच वहा समाप्त होती है जहा से दोनो ओर भवों की रेखाएँ उठती नेत्रो के ऊपर चली गयी है और नेत्र अधखुले विशाल कर्णायत-से नासिकाग्र पर लगे है। घूर्णित केशो की अवलिया प्रशस्त सुघड भाल के ऊपर से पीछे हटतीं मूर्धा की उच्चायित ऊर्णा मे खो गयी हैं। और पीछे प्रभामण्डल है, प्रशस्त, सारनाथ के प्रभामडल से अधिक चारुकारिता लिये। सारनाथ की बैठी धर्मचक्र-प्रवर्तक बुद्ध मूर्ति के प्रभामण्डल मे बिन्दुओ की ऊपरी-निचली रेखाओ के बीच एक ही तरगायित कमलनालो का तरंगायित पट्ट है। पर इस मथुरा के बुद्ध के प्रभामण्डल मे उस पट्ट के अतिरिक्त भी रज्ज्वाकार अनेक पट्ट है और मस्तक के ठीक पीछे एक फुल्ल कमल के खुले पटल है। मूर्ति अभिराम, भाव और काया दोनों के लावण्य से मडित है।

धातु-मूर्तिया

गुप्तकाल की मूर्तिशैली मे धातुओ और मिट्टी-चूने की मूर्ति भी भरपूर बनी। धातु की ढलाई का कार्य उस काल पर्याप्त हुआ। दिल्ली की मेहरौली-लाट अथवा 'चन्द्र' (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) के लोहे के कीर्तिस्तम्भ का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसकी धातु इतनी शुद्ध है कि डेढ हजार साल तक आघी-पानी मे खडे रहने पर भी इसमें जग नही लगा। मूर्तियो की ढलाई भी पर्याप्त मात्रा मे हुई। पीछे पाल-काल मे गुप्तों के प्राय ४०० साल बाद तो यह ढलाई का काम बडी मात्रा मे बढ़ा पर स्वय उनके समय मे यह काम काफी तत्परता से हुआ। उस काल की जो कुछ मूर्तिया मिली है वे इसका प्रमाण है। इस सबध की विशिष्ट बात यह है कि धातु की मूर्तिया पूर्व मे ही मिली है, भागलपुर के पास मुल्तानगज मे, राजगिर के पास नालदा मे, गया जिले के कुर्किहार मे। भागलपुर जिले के सुल्तानगज (विक्रमशिला) मे मिली बुद्ध की अभयमुद्रा मे खडी मूर्ति भी साढे सात फुट ऊची है, जो अब बर्मिघम के सग्रहालय मे है। नालन्दा की विशाल बुद्धमूर्ति ताबे की ही है जो नालन्दा के सग्रहालय मे सुरक्षित है। गया जिले के कुर्किहार स्थान से ताबे आदि की बनी मूर्तियो का एक ढेर ही मिल गया था जिनमे कुछ गुप्तकालीन बुद्ध की भी थी। पूर्वी कला केन्द्रो की विशेषता धातुमूर्तियो के उपयोग मे भी है। इस कला मे भी गुप्त कलावन्तो ने पर्याप्त प्रगति की।

मृन्मूर्तिया

पत्थर की मूर्तियो का सिलसिला तो मौर्यों के पहले बन्द हो जाता है पर मिट्टी

की मूर्तियो (मृन्मूर्तियों) का सिलसिला कभी नही टूटता। उनका प्रवाह भारत के सभी युगो मे अविरल रहा है। पूजने और खेलने दोनो के लिए उनका अत्यधिक व्यवहार हुआ है। अलकरण के लिए भी सुरुचिपूर्ण नागरिक उनका उपयोग करते थे। उत्तर भारत की नदियो की मिट्टी इनके निर्माण के लिए विशेष उपयुक्त थी जिससे देश के उस भाग मे इन मूर्तियों की अनन्त संपदा है। दक्षिण मे इनकी प्राप्ति, इसके विपरीत स्थिति के कारण, कम हुई है। ये मिट्टी की मूर्तिया अनेक प्रकार की हैं जिन पर विभिन्न प्रकार के रग चढे हुए हैं। मथुरा, राजघाट, अहिच्छत्र, भीटा, मसोन, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र आदि सर्वत्र से वर्णचित्रित मृन्मूर्तियां उपलब्ध हुई है। तत्कालीन साहित्य मे भी पक्षियो की मिट्टी की मूर्तियो का उल्लेख हुआ है जो वर्णचित्रित हैं। शाकुन्तल के सातवें अंक मे कालिदास ने 'शकुन्तलावण्य' पक्षी के रग (मिट्टी के) का उल्लेख किया है। इसी प्रकार 'वर्णचित्रित मृत्तिकामयूर' का वर्णन भी कवि ने उसी प्रसग मे किया है। भारतीय इतिहास के प्राय सभी युगों मे मृन्मूर्तियो की इतनी सपदा बनी है और उनके ढेर के ढेर इस मात्रा मे उपलब्ध हुए हैं कि उनका सविस्तर वर्णन एक समूचे ग्रथ की अपेक्षा करेगा। इससे यहां हम केवल उनके विविध प्रकारो का सक्षेप मे उल्लेख करेंगे। इसी सबध मे हम मिट्टी के बरतनो की ओर भी सकेत कर देंगे।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, मृन्मूर्तियो के अनेक प्रकार थे, व्रत-पूजन की मूर्तियां, अलकरण की मूर्तिया और खेलने की मूर्तिया। व्रत-पूजन की मूर्तिया अधिकतर हाथ से ही गीली मिट्टी मे नाक, कान, नेत्र, मुह आदि बनाकर रूपायित कर ली जाती थी और पूजा के बाद सभवत नदी आदि मे डाल दी जाती थी। ये स्वाभाविक ही कुम्हार या कलावन्त का तकनीकी स्पर्श न पाने के कारण हीन होती थी, यद्यपि अनेक बार, विशेष कर विशिष्ट अवसरो के लिए मृन्मूर्तिया व्रतादि के उद्देश्य से बनाने के अर्थ कलावन्तो से काम लिया जाता था। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर, बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के अनुसार, अनेक कलावन्तो का उपयोग हुआ था जिन्होने मडनार्थ अनन्त मृन्मूर्तियो का निर्माण किया।

अलकरण का कार्य सार्वजनिक आवासो, मदिरो और गृहस्थो के भवनो मे भी होता था। सहेत-महेत (श्रावस्ती), भीतरगाव और पटने के मदिरो मे लगाने के लिए रामायण, महाभारत और पुराणो के दृश्य साचे से बडे-बडे चौकोर और आयताकार, वर्तुलाकार खानो मे ढाल लिये जाते और मदिरो की दीवारो पर आलो मे लगा दिये जाते थे। इनकी विपुल सख्या मिली है, कुछ लखनऊ के सग्रहालय मे प्रदर्शित है। इनकी लबाई डेढ-डेढ दो-दो फुट तक मिलती है। तख्तेबाही, शहरेबहलोल, जमालगढ़ी आदि से बौद्ध विषयो के दृश्य और मूर्तन मिले हैं जिनका उपयोग भी अलकरण मे ही होता था। हर-

वान (कश्मीर) मे ईंटो की टाइलें ढाली हुई मिली हैं जिन पर वनस्पतियो, पशु-पक्षियों और मानवो की आकृतियां बनी हैं। सिन्ध के ब्रह्मनाबाद और मीरपुर खास से अत्यन्त सुन्दर आकृतियो सहित सांचे मे ढली ईंटें मिली हैं जिनकी अपनी-अपनी अनन्त डिजाइने उपलब्ध हैं। इस प्रकार की ईंटें भीतरगांव से प्राप्त लखनऊ सग्रहालय मे भी सैकडो सुरक्षित हैं। अलकरण के अर्थ पुराणादि के दृश्यो का उपयोग घरो मे भी हुआ करता था। 'बस्ट' अथवा समूचे शरीर वाली कुन्तलकेशी दीवार पर लटकाने के लिए सपाट पीठ वाली अनन्त मूर्तियां गुप्तकाल मे बनी। उनके शिखर पर सुराख बने हैं जिनमे डोरा डालकर सुरुचिपूर्ण नागरिक अपने कमरों की दीवारो पर टागते थे। शयनागारों मे विलास के दृश्य वाले अभिप्राय टागे जाते थे। गुप्तकाल मे केश कन्धो तक घूघरो मे लटका लेने की रीति थी। जिस विशिष्ट लक्षण से ही अधिकतर ये मूर्तियां पहचानी जाती हैं। अहिच्छत्र आदि से शैव संप्रदाय की अनेक मूर्तिया मिली है जिनके मस्तक बडे और अडाकार है। इनमे भाल पर शिव का तीसरा नेत्र धारे पार्वती का एक असाधारण भव्य मस्तक है।

खिलौनो के रूप मे हाथी, घोडे, मगर, मेढ़े, सिंह, सुअर, मानव, पक्षी आदि की अनन्त सख्या मे मूरते मिली हैं जिनसे उनके अमित और उदार उपयोग का पता चलता है। जो नष्ट हो गयी हैं उनकी तो कोई गिनती ही नही। यदि हमारे सग्रहालयो मे सुरक्षित इन खिलौनो के साचो से नये खिलौने ढाले जाय तो आज के खिलौनो के ससार मे बाढ आ जाने के अतिरिक्त एक क्राति मच जाय। उनकी विविधता और चेष्टाओ की अनन्तता निश्चय सराहनीय है।

मिट्टी की मुहरे

मृन्मूर्तियो के इन विविध उपयोगो के अतिरिक्त उन्ही के परिवार और कोटि मे गिनी जाने वाली मिट्टी की बनी अन्य वस्तुओ का भी यहा उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। भारतीय पुरातात्विक खुदाइयो मे विपुल सख्या मे मिट्टी की मुहरे भी प्राप्त हुई हैं जिन्होने अपनी दी हुई तिथि से तिथिक्रम तो सुधारा ही है, अपनी राजवशो की तालिकाओ से राजपरिवारो पर प्रकाश भी प्रभूत डाला है। भीटा, बसाढ़, कौशाम्बी आदि से मिली इन मुहरो से अनेक अनजाने राजकुलो और अनजाने राजाओ का पता चला है। इसके अतिरिक्त इनमें से अनेक पर इतनी सुन्दर आकृतिया उभारी गयी हैं कि कला के तत्कालीन आकलन मे चार चाद लग गये है।

बरतन-भाडे

मृन्मूर्तिया गीली मिट्टी मे ढालकर आवें मे पका ली जाती थीं। कुछ घिसकर

चिकनी कर ली जाती थी, कुछ रग ली जाती थी। रगी हुई मूर्तियों के भी अनेक प्रकार मिले हैं।

बरतन-भाड़ो की भी विविध-किस्में मिली है जिनमे गुप्तकाल मे उपयुक्त उनके आकार-प्रकार पर प्रकाश पडता है। कुण्डे, बडे बडे मटके, तश्तरियां, रकाबियां, कटोरियां, सुराहियां, दीपक आदि इतने सुन्दर मिले है जिनको देखते ही बनता है। सुराहियो आदि के हत्थो पर अक्सर इस काल गगा की मूर्ति बनी मिलती है और टोटिया हाथी की सूड, सुअर के मुह, गाय आदि के मुखों के आकार की हैं। प्राय: सारी भाण्डसम्पदा चक्के पर बनी और आवे पर पकायी मिलती हैं। अनेक पर चमकती बालू या माइका के टुकडों का उपयोग हुआ है। इनकी मिट्टी साधारण नदी अथवा जलाशय की है। मौर्यकालीन पालिश के बरतन तो अब नही रहे, न शुगकालीन भूरी मिट्टी के ही रहे, पर गुप्तकाल ने अपनी मिट्टी को लाल भूमि देकर सुन्दर बनाया। फिर उनको चिकनाकर उन पर अनेक ज्यामितिक आकृतिया बनायी या ठप्पे तैयार कर उन पर विविध रगो से पशु-पक्षियो की असख्य डिजाइने छापी। डिजाइनदार ईंटो, विभिन्न मूर्तियो, मुहरो आदि के साचो का अध्ययन स्वय एक नयी दिशा की ओर सकेत करता है। इनका कितना विपुल आयाम उस काल रहा होगा, उपलब्ध सख्या से उसकी अटकल लगायी जा सकती है।

गुप्त मुद्राएँ

इसी प्रसग मे गुप्तकालीन सिक्को (मुद्राओं) पर भी दो शब्द लिख देना उचित होगा। गुप्त सिक्को की पृष्ठभूमि मे ग्रीको, शकों, कुषाणो आदि का वैभव नि सन्देह था पर स्वय गुप्त सम्राटो का इस क्षेत्र मे अध्यवसाय और पराक्रम कुछ कम सराहनीय न था। सिक्को की ढलाई का कार्य उन्नति पर था और सोने तथा चादी के सिक्को का सौंदर्य और शुद्धता सर्वत्र स्वीकार की गयी है। गुप्तो की एक विशेषता उनके सिक्को पर विविध अवसरो अथवा क्रियाओ को उभार कर चित्रित करना था। अश्वमेध के अश्व, विवाहित मिथुन-राजदम्पति, वीणावादन, आखेट मे सिहवध आदि अनेक अभिप्राय सिक्को पर उभारे जाने लगे, जिसमे उनके रूप मे विशेष सुन्दरता आ गयी। उन पर समसामयिक छन्दाशो मे ही अभिलेख भी खुदे जिससे कला और साहित्य की एकत्र प्रतिमा, सरस्वती और लक्ष्मी के सानिध्य से, उन पर आ विराजी।

मूर्तिकला और साहित्य

गुप्त कला का प्रतिबिंब गुप्त साहित्य पर भरपूर पडा है। अथवा यह कहा जा सकता है कि दोनो का मूल जीवन मे होने से दोनो ने समान अभिप्रायो का अंकन किया है।

गुप्त कला को बहुशः उदाहृत करने मे समसामयिक साहित्य समर्थ है। यदि हम कालिदास की कृतियो को विश्लिष्ट करें तो उसमे न केवल उसकी समानान्तर प्रक्रिया मिलेगी बल्कि अनेकाश में वह उसका पूरक सिद्ध होगा। नीचे उस साहित्यगत मूर्तिकला का उद्घाटन करेंगे।

मयूर-मूर्ति—'विक्रमोर्वशीय' मे कवि कहता है कि मयूर रात्र्यागम के समय अपनी वासयष्टियों पर इस प्रकार निश्चल बैठ गये हैं जैसे वे 'उत्कीर्ण' हो।[1] उत्कीर्ण खोदकर उभारने के अर्थ मे प्रयुक्त कला का लाक्षणिक शब्द है। गुप्तकाल मे मयूरो और मयूर पर चढ़े कार्तिकेय का मूर्त्तन काफी हुआ है। मथुरा सग्रहालय की मूर्ति, जिस पर कुमारी (कार्त्तिकेय की पत्नी) आसीन है, मयूर की ही है।[2] भारतकलाभवन, हिंदू विश्व-विद्यालय मे भी कुमार-चढे मयूर की एक सुन्दर मूर्ति है। कार्त्तिकेय का वाहन मयूर होता है और कार्त्तिकेय अथवा स्कन्द गुप्तो के विशिष्ट देवता थे। कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त पिता-पुत्र दोनों सम्राटो के नाम उसी देवता के नाम से शुरू होते हैं।

स्तंभनारी—कुषाण कालीन रेलिंगो की यक्षी अथवा नारी मूर्तियों के अभिप्राय गुप्तकालीन कला मे भी मूर्त होते रहे थे। उजड़ी अयोध्या के वर्णन मे कवि कालिदास ने इन रेलिंगो की स्तभनारियो का वर्णन इस प्रकार किया है—स्तभो की नारी-प्रतिमाओ के ऊर्ध्व भाग से धूल से विवर्ण हो रग उड जाने पर उनकी लाज की रक्षा उन पर रेंगते सर्पों की केंचुले करती है।[3] मथुरा मे गुप्तकाल मे कुछ ही पूर्व के प्राय सौ रेलिंग-स्तभो के अवशेष मिले है जिन पर विविध भावभगियो मे खडी नारियो का उत्कीर्णन हुआ है। इनमे से अनेक मथुरा और लखनऊ के सग्रहालय मे प्रदर्शित है।

गंगा-यमुना—गुप्तकाल के आरम्भ अथवा कुषाणकाल के अन्त मे कला के अभिप्राय के रूप मे प्रयुक्त होनेवाली मकर-चढी गगा और कच्छपारूढ चमरधारिणी गगा और यमुना का उल्लेख कालिदास ने भी किया है।[4] दोनो प्रकार की मूर्तिया मथुरा[5] और लखनऊ दोनो संग्रहालयो मे सुरक्षित है। समुद्रगुप्त के व्याघ्रलाछित सिक्कों के पीछे की ओर कमलधारिणी गगा की आकृति खुदी है।

ब्रह्मा, विष्णु—पौराणिक जीवन गुप्तकाल मे अभिनन्दनीय होने से देवताओ की सख्या उनके मूर्तिमसार मे बेहद बढ़ गयी थी जिससे कला मे उनका मूर्तन प्रभूत होने लगा था। कालिदास ने भी उनका कलासगर्भित वर्णन किया है। ब्रह्मा का चतुर्मुख वर्णन कला मे

[1]विक्रमो., ३, २। [2]मथुरा, नं. ४६६ मयूरमूर्ति; कुमारी, मयूराश्रयिणी, वही, नं. १०४। [3]रघु., १६, १७। [4]कुमार., ७, ४२। [5]गंगा, नं. १५०७; यमुना, नं. २६५९, लखनऊ—यमुना, नं. ५५६३।

रूपायन के अनुकूल ही हुआ है–'चतुर्मूर्तेः, धातारं सर्वतोमुखम्।'[१] परन्तु उस काल के व्यापक पूजन के अनुकूल ही कवि ने विशेष निष्ठा से विष्णु का वर्णन किया है। देवगढ़ आदि के अनन्तशायी का विविध लाछनो से युक्त यह वर्णन समकालीन मूर्तनो के सर्वथा अनुरूप हुआ है। विष्णु सर्पासन पर विराजमान है (भोगिभोगासनासीनम्),[२] वैष्णवी लक्ष्मी कमलासन पर बैठी, करधनी रेशमी अधोवस्त्र से ढके, अपनी गोद में हाथों पर विष्णु के चरण रखे हुए हैं।[३] 'श्रीवत्स' लक्षण से युक्त[४] विष्णु कौस्तुभमणि वक्ष पर धारे[५] विराज रहे हैं। निःसन्देह यह वर्णन विष्णुमूर्ति का साहित्य मे अन्वयन है। कवि अपने इस वर्णन मे प्रतिमा के अर्थ मे प्राविधिक रूप से प्रयुक्त होनेवाले शब्द 'विग्रह'[६] का उपयोग करता भी है। सारे लाछनो, किरीट,[७] जलज (शख), चक्र, गदा और शार्ङ्ग (धनुष)[८] के उपयोग से यह मूर्ति पूरी हो गयी है। विष्णु का वाहन गरुड भी साथ ही अभिव्यक्त हुआ है।[८*] अन्यत्र अक मे कवि कौस्तुभधारी विष्णु का कमलव्यजनधारिणी-लक्ष्मीसेवित वर्णन करता है।[९] महत्त्व की बात यह भी है कि मूर्तिकला के देव लक्षणों को प्राविधिक रूप से 'लाछन'[१०] कहा जाता भी है। 'विमूर्तिलक्षणविधान' मे इन प्रतीको-लाछनो का विशद वर्णन हुआ है।[११] विष्णु के इन साहित्यगत दोनो स्वरूपो की मूर्तिया कलकत्ते के इडियन म्यूजियम मे सुरक्षित हैं। कालिदास की त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, शिव की एकत्र मूर्ति—प्राय सभी सग्रहालयो मे उपलब्ध है।

प्रभामण्डल—कवि के साहित्य मे 'प्रभामण्डल'[१२] का बहुश, विशिष्ट उपयोग हुआ है जो गुप्त मूर्तन मे देवताओ (विशेष कर बुद्धो) की प्रतिमाओ मे अनिवार्यत हुआ है। इसे 'छायामण्डल'[१३] भी कहा गया है। यह महत्त्व की बात है कि भारतीय कलाविधान मे प्रभामण्डल का अकन कुषाण काल मे होने लगा था। कुषाण और गुप्तकाल की कला मे प्रभामण्डल का उपयोग अनेकश हुआ है। उससे पहले विशिष्ट व्यक्तियो की प्रतिमाओ के मस्तक के ऊपर छत्र का उपयोग होता था। पीछे वही, सभवत. चतुर्मुख कोरी निरवलब खडी सर्वतोभद्रिका मूर्तियो की तक्षणसुविधा के कारण, प्रभामण्डल बन गया। फूलो और पक्षियों की आकृतियो से अकित इस प्रकार के प्रभामण्डल मथुरा की बुद्ध और बोधिसत्त्व मूर्तियो की पृष्ठभूमि मे देखे जा सकते हैं।[१४] गुप्तकाल ने इस अभिप्राय मे एक

[१] रघु., १०, ७३; कुमार., २, ३। [२] रघु., १०, ७, [३] वही., ८। [४] वही, १७, २९; कुमार., ७, ४३। [५] रघु., १०, १०। [६] वही, ७। [७] वही, ६, १६; १०, ७५। [८] वही, १०, ६०। [८*] वही, १३, ६१। [९] वही, ६२। [१०] वही, ६०। [११] अध्याय, ५१। [१२] रघु., १४, ८२; १७, २३; कुमार., ६, ४, ७, ३८। [१३] रघु., ४, ५। [१४] नं. ए. १, ए. २, ए. ४५, बी. १, ए. ५।

परिवर्तन किया। उसने अपने प्रभामण्डल में अन्धकार को तीर मारते प्रकाशरश्मिजाल के रूप मे अंकित किया। रश्मियों का यह बाणवत् स्फुरण उसकी विशेषता थी। चूंकि मूर्तिविधान मे उसका नाम केवल 'प्रभामण्डल' था, कालिदास ने उसे पूरा निरूपित करने के लिए नयी संज्ञा 'स्फुरत्प्रभामण्डल'[1] प्रयुक्त की।

कार्तिकेय—अन्य देवताओं का मूर्तन और अंकन भी उस समसामयिक कला और साहित्य मे हुआ है। कार्तिकेय, लक्ष्मी, शिव, सप्त मातृकाएँ, कामदेव आदि के दोनों मे विशद निरूपण मिलते है। कार्तिकेय का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कवि का 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन'[2]—मयूर की पीठ पर चढ़े हुए कुमार—कला में तो अभिप्रायत. प्रतिष्ठित है ही, पूर्ण मण्डल मे नाचते मयूर की पीठ पर चढे कार्तिकेय का[3] यह अभिप्राय इतना प्रिय उस काल के कलावन्तो को हो गया था कि उसकी छाया आभूषणो की गढन पर भी पडी। बोधिसत्त्वो के भुजबन्दो की डिजाइनो मे भी पूर्ण मण्डल मे नाचते मयूर प्रदर्शित होने लगे। मथुरा सग्रहालय के न. ए. ४५ और ४६ मूर्तियो के केयूरों (भुजबन्दो) पर यह डिजाइन स्पष्ट है।

लक्ष्मी—कवि की लक्ष्मी, फुल्ल कमल पर बैठी,[4] हाथ मे कमलदण्ड लिये[5] अथवा लीलारविन्द से खेलती मथुरा[6] और अन्यत्र की कलाकृतियो मे मूर्त हुई है।

शिव—समाधिस्थ शिव का स्वरूप जैसा 'कुमारसभव' के सर्ग ४ मे वर्णित है, कुषाण-गुप्त कला मे अनेकश प्रतिबिंबित है। वीरासन में समाधिस्थ बैठे शिव पर कामदेव का आक्रमण उससे बिलकुल ही भिन्न नही, जो वीरासन मे समाधिस्थ बुद्ध के मार (बौद्ध कामदेव) द्वारा आक्रमण का दृश्य उत्खननो मे अंकित हुआ है। वस्तुत शिव की यह साहित्यगत समाधि बुद्ध की ध्यानस्थ मूर्तियो के अनुकरण मे ही संभव हो पायी है। बोध-गया के बुद्ध की मारविजय-उत्कीर्णन की प्रक्रिया ठीक वही है, जो कुमारसभव मे शिव द्वारा कामविजय की है। अत्यन्त शात, निर्वात बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्तियां[7] ही सभवत कवि के प्रमाण थी। मस्तक पर जटा की गाठ डाले,[8] निर्वात दीपशिखा सी निश्चल देह किये, अर्धनिमीलित नेत्र नासिकाग्र पर टिकाये, वीरासन मे बैठे, गोद मे दोनो हाथ डाले बुद्ध की मूर्तियो का नि सन्देह कवि के शिव से एकाकार हो जाता है।

शिव-पार्वती—कुमारसभव के सातवे सर्ग मे शिव-पार्वती-परिणय का सविस्तर

[1] रघु., ३, ६०; ५, ५१; १४, १४; कुमार., १, २४। [2] रघु., ६, ४। [3] मथुरा संग्रहा., नं. ४६६। [4] रघु., ४, १४; १०, ८; कुमार., ७,८९। [5] मालविका., ५, ६; कुमार., ३, ५६; ६, ८४; रघु. ६, १३। [6] नं. २३४५। [7] नं. ए. २७ और ४५, आई. बी. १ (जैन), ५७ (जैन)। [8] वही, नं. ए. १।

वर्णन हुआ है, जो सामान्य हिन्दू-विवाह प्राजापत्य का आदर्श बन गया है, कला में अनेकधा प्रस्तुत हुआ है। शिव-पार्वती की संयुक्त प्रतिमाएँ अनन्त हैं, शिव-पार्वती परिणय की मूर्तियां भी जानी हुई हैं (इनसे मिलाइए—शम्भुना दत्तहस्ता) और अर्धनारीश्वर के समान रूप तत्कालीन कला और कवि के साहित्य मे अजाने नही है।

सप्त मातृका—शिव के इस मूर्त और साहित्यवर्णित शिव-परिवार मे सप्त-मातृकाओ[1] का भी स्थान है। कुषाण और गुप्त काल मे सप्त-मातृकाओं का मूर्तन बहुविध हुआ है। 'कपालाभरणा'[2] काली, सप्त-मातृकाओ में से एक, समकालीन कला मे सामान्य कृति है।

कुबेर और यक्ष-यक्षी—कुबेर कुषाण और गुप्त कला[3] मे चषक धारण किये बहुश दिखाया गया है जो कालिदास के भी यक्षो का स्वामी है। यक्षो की परम्परा मौर्यों से भी प्राचीनतर है। कुषाण और गुप्त काल मे तो यक्ष-यक्षियों के प्रतीक सामान्य-साधारण हो गये थे। कला और साहित्य दोनो मे उनका ललित वर्णन हुआ है। लखनऊ और मथुरा[4] मे उनकी अनेक प्रतिमाएँ प्रदर्शित हैं। कालिदास के साहित्य में तो उनका स्रोत ही फूट बहा है और उसके मेघदूत के नायक-नायिका यक्ष-यक्षी ही हैं। इसी प्रकार कवि के[5] किन्नर और अश्वमुखी कुषाणकालीन कलाकृतियो के प्रतिबिंब हैं।

किन्नर और अश्वमुखी—मथुरा संग्रहालय मे उस काल की दो कलाकृतियो में से एक किन्नर-दम्पति है जिसका शरीर अश्व का और मुख सुन्दर मानव का है। इनमे से एक अपनी सहचरी की पीठ पर सवार है।[6] दूसरे मे कुषाणकला मे अश्वमुखी जानक[7] अभिसृष्ट है। कामदेव,[8] जिसका अनन्त रूपो मे कवि ने वर्णन किया है, अपने पुष्पधनु और पाच बाणो के साथ, मथुरा के एक मिट्टी के ठीकरे पर सुन्दर उभारा गया है।[9] कवि ने रावण द्वारा कैलास के उत्तोलन और उससे कैलास की सन्धियों के शिथिल हो जाने का उल्लेख किया है[10] जो कला का अनजाना नही। मथुरा संग्रहालय मे इस दृश्य का एक अकन सुरक्षित है। एलोरा की प्रशस्त कृति (गुहा न. १६, कैलास) कुछ पीछे की है, पर है उसी शृंखला की।

[1]कुमार.,७, ३० और ३८; ६, ८० और ८१। [2]कुमार., ८, ३६; चलकपाल-कुण्डला, रघु., ११, १५; मथुरा संग्रहा., नं. ५५२, एफ. ३८। [3]मथुरा, नं. १२४: सी. ३ और ३१; ७५; एक और जो इंग्लैण्ड में है—रघु.,५, २६, २८; ६, २४, २५; १४, १६, २०; कुमार., २, २२; ३, २५; लखनऊ में अनेक। [4]नं. ५, १०, १४; ई. ६, २४; सी. १८; लखनऊ में अनेक। [5]कुमार., १, ८ और ११। [6]एफ. १। [7]नं. १६१। [8]कुमार. सर्ग १ से ४। [9]नं. १४४८। [10]मेघ. पू., ५८; रघु., १२, ४६; ४, ८०; कुमार., ८, २४।

इसी प्रकार कला के पूर्ण कुम्भ,[१] नागी,[२] वंशीवादन,[३] वेत्रधारी[४] दौवारिक[५] (द्वारपाल—मिलाइए कालिदास का शिव-समाधिस्थल, लतागृह के द्वार पर बायें प्रकोष्ठ पर हेमवेत्र टिकाये नन्दी का स्वरूप[६]) और कवि के यूपों के कलाधार भी पत्थर में कोरे मथुरा मे सुरक्षित है।[७] नागमाता और नागी भी मथुरा के साहित्यगत अनुकार्य है, जैसे कन्दुकक्रीडा भी[८] समान रूप से दोनों में अंकित हुई है। इस प्रकार कला और साहित्य इस क्षेत्र मे सहज ही अन्योन्याश्रित हो उठे हैं।

प्रसाधन—प्रसाधन गुप्तकालीन नारियों का विशेष इष्ट था; कवि ने उसकी अनेक स्थलो पर चर्चा की है। मथुरा और लखनऊ मे सुरक्षित कुषाण कला के सुन्दर दृश्य भुलाये नही जा सकते। वेणी प्रसाधन[९] का एक सुन्दर दृश्य मथुरा के द्वारस्तंभ मे उत्कीर्ण है,[१०] उसी के एक दूसरे खाने मे नारी अपना चरण प्रसाधिका की ओर प्रसाधन के लिए उठाये हुए है, जिसका वर्णन—'प्रसाधिकालम्बितमग्रपादम्'—[११] सार्थक हो जाता है। प्रसाधनपेटिका वहन करती[१२] प्रसाधिका[१३] का एक दृश्य मथुरा के एक रेलिंग-स्तंभ पर उत्कीर्ण है। पर इस वर्ग का सर्वोत्तम उदाहरण भारतकलाभवन में प्रदर्शित है।

दोहद—कालिदास ने जिस दोहद का अनेक बार विशद वर्णन किया है[१४] उसका कुषाण-गुप्तकालीन कला मे भी मूर्तन हुआ है।[१५] यक्षी अशोक के वृक्ष के नीचे अर्धनग्न खडी पाजेब धारे पैर से अशोक पर हलका आघात करती है और तत्काल अशोक आपादशीर्ष फूलों से लद जाता है। जनविश्वास का यह प्रतीक, कि अशोक नारी के पादाघात से और बकुल उस पर उसके मुह से सुरा का कुल्ला करने से ही फूलता है, तत्कालीन कला मे भरपूर फलाफूला है। मथुरा सग्रहालय की अपनी प्रसिद्ध सूची बनाते समय डा. पी. एच फोगेल ने उक्त अशोक-दोहद के अभिप्राय वाले रेलिंग-स्तंभ पर विचार करते समय 'मालविकाग्निमित्र' के तद्विषयक दृश्य का स्मरण करते हुए लिखा—"यह कालिदास के 'मालविका और अग्निमित्र' के एक दृश्य की याद दिला देता है जिसमे रानी की प्रार्थना पर नायिका का अशोक-दोहद सपन्न करना राजा देखना है।"[१६]

[१]मथुरा नं. १५०७—रघु., ५, ६३। [२]नं. एफ. २ (अनेक), मालविका. पृ. ६४। [३]नं. ६२, रघु., ३५। [४]मथुरा, जी. १—कुमार., ३, ४१। [५]वही। [६]कुमार., ३, ४१। [७]नं. १३, १४४। [८]नं. जे. ६१—रघु., १६, ८३ कराभिघातोत्थित-कन्दुकेयम्। [९]मेघ. उ., २९, ३६। [१०]नं. १८६। [११]कुमार., ७, ५८। [१२]नं. जे. ३६६। [१३]रघु. ७, ७। [१४]रघु., ८, ६२; ९, १२; मे. उ. १५; मालविका., पृ. ३७, ४१, ४३, ४५, ४६, ४९, ५४, ८६; ३, ११, १७, १९। [१५]मथुरा, नं. जे. ५५, एफ. २७। [१६]कैटेलाग ऑव स्कल्प्चर्स इन द आर्क्यालाजिकल म्यूजियम ऐट मथुरा, पृ. १५३।

४ चित्रकला

अतीत और अभिजात

चित्रकला का गुप्तकाल से विशिष्ट सबन्ध है। मूर्तिकला स्वयं, उस काल की, भारतीय कला-प्रसार मे मूर्धन्य है। पर उसमे और तत्सामयिक चित्रकला मे एक असाधारण अन्तर है। जहा मूर्तिकला सदियों के विकास की परिणति है, चित्रकला का परिमाण बड़ा होकर भी, उसके विकास की मंजिले प्राय. अजानी है। गुप्तकाल के पूर्व भी इस देश मे चित्रण हुआ था, कुछ अवशेष अतीत के जाने हुए भी हैं। स्वय अजन्ता के दरीगृहो मे शुगकालीन भित्तिचित्रो के आलेख्य जो बच रहे है, उनसे ज्ञात होता है कि गुप्तकाल से प्रायः सात सदियो पहले ही अभिराम भित्तिचित्र बनने लगे थे। स्वय समकालीन कवि कालिदास ने जो आलेख्य के सिद्धात का सक्षिप्त और साकेतिक उल्लेख किया है उससे प्रकट है कि उसके रचनाकाल गुप्तयुग तक चित्रकला के अनेक मूलभूत सिद्धान्त निश्चित हो चुके थे परन्तु चित्र लेखन की अटूट परम्परा नही मिलती। ऐसी शृंखला उपलब्ध नही जिसकी युगगत कडियो को जोडकर हम उसके विकास का सिलसिला चक्षुगोचर कर सके। इसका परिणाम यह होता है कि इसके उद्‌गम के संबध मे हमें ग्रीको की उस देवी मिनर्वा की उत्पत्ति की कल्पना करनी पडती है जो देवराज ज्यूस पिता का मस्तक फाड़, सुगठित वयस्क शरीर के साथ आविर्भूत हो गयी थी, उसकी देहवृद्धि की आवश्यकता नही हुई। भारतीय चित्रकला भी, कुछ दृष्टान्तो के बावजूद, गुप्तकाल मे अपने पूर्ण विकसित वैभव के साथ महसा प्रादुर्भूत हो जाने के कारण कुछ ऐसी ही लगती है।

और मूर्तिकला के उच्च स्तर की ही होने के कारण गुप्तयुगीन चित्रकला, अपने विकास की प्रारभिक मजिलो की अपेक्षा न करने से अभिजात-स्तरीय ही उपलब्ध हुई। उस काल के जो चित्र हमे मिलते है वे अभिराम और विकास-परिणत ही हैं। पता नही किन अज्ञात मजिलो से गुप्तकालीन चित्रकार गुजरा कि इतनी लाक्षणिक, इतनी सूक्ष्म शैली इतनी विपुल मात्रा में यकायक सपन्न हो गयी।

गुप्तकालीन चित्रकला का आयाम

गुप्तकालीन चित्रकला की सूक्ष्मता अथवा उसके सौंदर्य पर विचार करने के पूर्व उसके व्यापक परिवेश पर एक नजर डाल लेना सभवत उचित होगा। यह सही है कि महाभारत के साधुवाक्य 'राजा कालस्य कारणम्' को प्रमाण मानने वाले गुप्तयुग की मान्यताओ ने प्रधानता राजा को दी और तब के व्यापक साम्राज्य ने सास्कृतिक अध्यवसायों को बृहत्तर आयाम दिया। पर सास्कृतिक आयाम कभी साम्राज्य की सीमाओं

से परिमित नही होता। जहां संरक्षक राजा की सत्ता नही जाती वहा भी उसका प्रकाश-पुंज अपने किरणबाणों से सीमा भेद प्रवेश कर जाता है। इसी से इस चित्रकला का परिवेश भी गुप्तसाम्राज्य की सीमाए लाघ, भारत की भौगोलिक सीमाओ का भी अतिक्रमण कर विदेशों की आस्था और कलाकारिता में प्रतिष्ठित हो गया। यही कारण था कि अजन्ता और बाघ की गुप्तयुगीन चित्रकला की बेलें न केवल दकन और दक्षिण (सित्तन्नवासल, तिरुमलैपुरम्, कांची आदि) में लगीं बल्कि भारत के बाहर समुन्दर पार सिगिरिया (लका), चम्पा, हिन्देशिया और तुनहुआंग (चीन) मे, मध्य एशिया के कूची आदि के विहारो मे भी वट की भाति शाखा-प्रशाखा फैलती चली गयीं। और उसकी शैली (अजन्ता) ने न केवल बीच की सदियों के अन्तराल को बल्कि आज के भारतीय राष्ट्रीय सदर्भ मे आधुनिक चित्रलेखन को भी प्रभावित किया। और यदि दूर दृष्टि से ससार की चित्रशैलियो पर विचार करे तो जैसे भारतीय धर्म और धार्मिक कृतियों की आधिकारिक आवश्यकता ने चीनियों को मुद्रणयन्त्र और कोरियाइयो-जापानियो को टाइप आविष्कार करने को बाध्य किया, जिससे यूरोप के धर्मसुधार के आन्दोलन को भी परोक्ष रूप से बल मिला, वैसे ही चीनी-जापानी चित्रशैली को प्रभावित कर इस कला ने परोक्ष और दूर की प्रेरणा से चीनी, विशेषत॰ जापानी माध्यम से, उन्नीसवी सदी के अन्त के दशको मे यूरोपीय कलम को भी प्रभावित किया।

मौलिकता

यद्यपि विकास की इयत्ता, विशेष कर प्रयोगप्रधान कला के लिए, नितात आवश्यक हो जाया करती है, गुप्तकालीन चित्रकला मे उसका यथाज्ञान अभाव ही उसकी शालीनता का कारण बन गया। कला का अवसान उसका अनुकार्य है, यद्यपि यह भी द्वन्द्व सत्य है कि अनुकार्य कला के अभ्यास के लिए आवश्यक हो जाया करता है। पर अनुकार्य की एक सीमा होनी चाहिए, आत्मशिक्षण की परिधि तक ही। यदि अनुकरण की चेष्टा बाद भी बनी रही तब मौलिकता के अभाव मे कला का समुदय न हो सकेगा, उसका विनाश ही होगा। कृतित्व की मौलिकता सर्जन कार्य का उचित साफल्य है, उसकी अनुकरण वृत्ति दासत्व का परिचायक। चाहे जिस कारण से भी हो, गुप्तयुगीन चित्रकला अपनी प्रेरणा और कारिता मे सर्वथा मौलिक रही और उसकी यह मौलिकता इस सीमा तक उसका अभिमान नही अन्तरग बनी रही कि उसने अपने परिवार के तक्षण, मूर्तन, वास्तु आदि के विज्ञान का भी सहारा नही लिया। समसामयिक साहित्य से उसका परिचय था, जातकों से पचतंत्र की नीति-परक कथाओ तक, अश्वघोष-आर्यशूर से कालिदास-भारवि तक जहा से उसने अपने प्रबध की धारा ली, पर कला-विलास के अपने उपकरणो को उसने

बाह्य दोष से दूषित अथवा अजाति के स्पर्श से सकर न होने दिया। उससे पहले उसका-सा कुछ नही है। उसकी आदिम मौलिकता स्वय उसका प्रमाण बन गयी। इसी से आज भी अपनी कोटि मे वह स्वय दृष्टात है।

हाँ, जीवन के रगमच से निश्चय उसने कुछ लिया। जीवन के रगमंच पर नटकार्य गतिमान् था, नृत्यकला कम्पन, स्फुरण और तरग-विस्तरण तथा छन्दस् की क्रिया से संपन्न थी। वही से उसने अपनी भंगिमाएं (भग, द्विभग, त्रिभंग, दम, खम) ली, स्थान (स्थिति) लिये, मुद्राएं ली, प्रमाण (अनुपात) लिये। नृत्य की तरगायित गतिक्रिया उसकी प्रवृत्ति का विलास बनी। उसी मूल से उसने अपनी तूलिका से, लंबकूर्च से अपना आलेख्य उठाया, उसी को अपनी अभिसृष्टि की काया मे डाल वह सजी, सपन्न हुई।

एक बात चित्रकला के संबध मे महत्त्व की यह है कि धर्म ने इसे चेरी बनाया, इसमे अपना कार्य साधा पर इसकी अर्चना न की, इसे मूर्तिकला का सा महत्त्व नही दिया। मूर्ति पूजी गयी, पूजने के लिए ही गढ़ी भी गयी, भगवान् से अभिन्न कर दी गयी। पर चित्र कभी पूजा नही गया, चित्रगत देवता भी केवल देखा ही गया। पूजने के लिए चित्रगत देवता की ही 'मूर्ति' थी उसका आलेख्य नहीं। वही, अजन्ता की भुवनमोहन, कालजयो, अजर चित्रमत्ता मे पूजने के लिए चैत्य की मूर्ति थी, चित्र केवल देखने के लिए थे। चाक्षुष प्रयत्न के वे उद्देश्य थे। उनकी धर्मभावना मे घटिया स्थिति को जैनाचार्यों ने, स्वय अजन्ता के सघ-स्थविरो ने स्पष्ट प्रकट भी कर दिया, जब कहा कि चित्रण का मूल मनस् की दर्शन-क्रिया मे है, मनस् की ज्ञान-प्रक्रिया मे नही। और दर्शनक्रिया ज्ञान-क्रिया से सदा घटिया मानी गयी। सभवत आज की चित्रशैली जो मात्र चाक्षुष प्रयत्न है, उस विधान को स्वीकार न होती।

पर यही शास्त्रीय, धार्मिक उपेक्षा चित्रकला का सबल, उसकी शक्ति बन गयी। उसने सहारे की अपेक्षा न की, अपने प्रमाण आप बनाये। शुक्रनीति ने भी मूर्ति को ही महिमा दी,[1] उसे समाधिकर्म कहा, जब कालिदास ने शुक्रनीति की उस प्रक्रिया की अपने 'मालविकाग्निमित्र' मे चित्र के प्रसग मे पुनरुक्ति की[2] तब एक ने उसे लौकिक प्रमाण (सैंक्शन) से वचित किया, दूसरे ने उसे साहित्य का लालित्य दिया। एक ने नैष्ठिक सिद्धान्त का उसके लिए वर्जन किया, दूसरे ने उसे रोमाचक व्यवहार का परितोष दिया। साहित्य चित्रकला का पोषक बना, चितेरे ने लोक चीतने के लिए तूलिका उठायी।

शुक्रनीति ने क्या कहा था, यौगिक प्रक्रिया का विधान किया था—"प्रतिमा की विशेषता ध्यान और योग की क्रिया की सहायक शक्ति मे है। अत. प्रतिमाओ के मानव

[1]अध्याय ४, ४, १४७–५०। [2]अंक २, २।

निर्माता को ध्यानविधि में निष्णात होना चाहिए। ध्यान के सिवा प्रतिमा के स्वरूप को जानने का दूसरा कोई साधन नहीं, प्रत्यक्ष दर्शन भी नहीं।" मूर्ति का स्रष्टा मूर्ति कोरने से पहले समाधिस्थ हो बैठे और जब प्रतिमा का भीतर-बाहर सर्वांग रूप से उसके मानस चक्षु के प्रकाश में उठ आये तभी वह पत्थर में प्राण डालने का प्रयास करे, वरना वह असफल होगा, कारण कि उसमें 'शिथिल समाधि' का दोष लग जायेगा। यही दृष्टि कालिदास ने चित्रण के संदर्भ में प्रयुक्त की, मूर्तिकला के आभिजात्य से हटाकर। राजा चित्रशाला में जाता है (मालविकाग्निमित्र, पृ० ५), मालविका का हाल का बना चित्र आचार्य ने उसके गीले रंगों को सूखने के लिए टाँग रखा है, राजा उसे देखता है, रूप से चमत्कृत हो जाता है। कहता है, नारी चाहे जितनी सुन्दर हो, इतनी सुन्दर नहीं हो सकती, निःसंदेह आलेख्य अतिरंजित है। पर वही राजा जब रंगमंच पर नृत्याभिनय करती मालविका को साक्षात् देखता है तब वह सहसा कह उठता है, अरे चित्र में जो इसका लिखित रूप देखा था वह तो कुछ भी न था, इसके वास्तविक स्वरूप को चितेरा पकड़ ही नहीं पाया। फिर शुक्र के विधान को याद कर उसकी मूर्तिव्यवस्था को चित्रालेखन के संदर्भ में प्रयुक्त कर कहता है—अरे, यह त्रुटि तो निश्चय चित्रकार के शिथिल समाधि का दोषी हो जाने से हो गयी है।

फिर भी चित्रकला ने आभिजात्य की शालीनता धारण की। क्योंकि यद्यपि प्रायः समकालीन (गुप्तकाल की प्रारंभिक सदी के) वात्स्यायन ने सुरुचिपूर्ण नागरक के संस्कारों में, कलाओं के अर्जन में, चित्रकला को भी गिना, उसकी साधना धनी अभिजात परिवारों और राजकुलों तक ही अधिकतर सीमित रह गयी। शास्त्र ने अपने आभिजात्य से उसे अलग कर घटिया स्तर पर रखा पर अपनी तात्त्विक विशेषता से चित्रकला स्वयं अभिजात पद पर प्रतिष्ठित हो गयी। राजप्रासादों और श्रीमानों के भवनों में ही 'चित्रशालाओं',[1] 'चित्रसद्मों',[2] चित्रवीथियों का निर्माण हुआ, जैसे भास के अनुसार 'प्रतिमागृहों' का हुआ था। मथुरा के समीप के 'देवकुल' नामक गाँव में जो शक-कुषाण राजाओं—चष्टन, विम और कुजुल, कदफिसिस, कनिष्क—की आदमकद मूर्तियाँ मिली हैं वे ऐसे ही राजप्रतिमागृह (देव = राजा, कुल = परिवार) में, मूर्तिगैलरी में, प्रतिष्ठित हुई थीं, जिससे उस गाँव का यह नाम ही पड़ गया था और प्रायः दो हज़ार साल तक पड़ा रहा था। चित्रों का आलेखन, आचार्यों तथा पेशेवर चितेरों अथवा राज्याश्रित कलावन्तों को छोड़, राजकुमारियाँ, अभिजात कुमारियाँ ही सीखती थीं। पर कालिदास ने चित्रकला को शालीनता प्रदान की और दूसरे साहित्यकार बाण ने भी युग के अन्त में उसके मारे

[1]मालविका., पृ. ५। [2]सद्मसु चित्रवत्सु, रघु., १४, २५।

चराचर जगत् को एकत्र समेट लेने की शक्ति को सराहा (दर्शितविश्वरूप)। सचमुच भला मूर्तिकला मे दृश्य परम्परा (चित्रो का सिलसिला) प्रस्तुत करने की क्षमता कहां है। और जो उत्कीर्णन द्वारा उसने इस दिशा मे प्रयत्न किया भी तो उसे चित्र ('रिलीफ' जिसका दूसरा नाम अर्धचित्रण अथवा चित्रार्ध है) बन जाना पडा।

चित्रकला की विधाएं

गुप्तकालीन चित्रकला की विविध विधाओं और प्रकारो का उल्लेख उस युग के तकनीकी और ललित दोनों साहित्यो मे हुआ है। गुप्तकाल के आरंभ मे धर्मशास्त्रादि साहित्य का निर्माण तो हुआ ही कला सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त भी प्रारम्भिक सदियों मे तकनीकी साहित्य मे निरूपित हुए। भरत के नाट्यशास्त्र ने रगादि के सिद्धात निर्मित किये, कामशास्त्र ने ६४ कलाओ की उपादेयता नागरक के लिए प्रस्तुत की और विष्णुधर्मोत्तर ने मूर्ति-चित्रादि कलाओं के विधान किये। वात्स्यायन के कामसूत्रो के व्याख्याता यशोधर ने उन्ही के आधार पर पीछे चित्रण के छ अगो का परिगणन किया जिन्हे आनन्द कुमार-स्वामी ने यथार्थ करके स्वीकार किया है।[1] चित्रकला के ये छ अग रूपभेद (विधा अथवा प्रकार), प्रमाण (उचित अवयवीय अनुपात), भाव, लावण्य योजना (सौदर्य का निरूपण), सादृश्य (तद्रूपता) और वर्णिकाभग (रगो की व्यवस्था) हैं।

विष्णुधर्मोत्तर

गुप्तकालीन विष्णुधर्मोत्तर ने इनके सिद्धातो पर विचार किया है और चित्रकला के अपने अध्याय मे उसके सत्य (यथावत्ता), वैनिक (छन्दयुक्त), नागर (सम्कृत, लौकिक, नगर का) और मिश्र (मिश्रित) ये चार भेद किये है। उस महान् ग्रथ मे वर्ण, रेखा, अवयवो के परिमाण में वर्ण-पुजन द्वारा रेखाओ को घटा-बढाकर अगागो की गठन, तनुता-स्थूलता आदि की क्रियाओ पर प्रभूत प्रकाश डाला गया है। भित्तिचित्रों के आलेखन के लिए उसमे विविध प्रकार के वज्रलेपो (सीमेट) का भी उल्लेख हुआ है। गुप्तकालीन कवि कालिदास ने भी चित्रकला की विविध, कम से कम तीन—भित्तिचित्र, भूचित्र (लैंडस्केप) और रूपानुकृति अथवा बिबचित्र (पोर्ट्रेट और ग्रूप)—का प्रकट अथवा साकेतिक रूप से उल्लेख किया है। राजप्रासादो,[2] अलका और अन्य नगरो की दीवारो,[3] बरामदो-

[1] ईस्टर्न आर्ट, ३, पृ. २१८–१९; और देखिए कुमारस्वामी का ही, ट्रैन्स्फार्मेशन ऑव नेचर इन आर्ट, अध्याय ५। [2] आलेख्यशेषस्य (अयोध्या का राजप्रासाद), रघु., १४, १५। [3] सद्मसु चित्रवत्सु, वही, २५; सचित्राः प्रासादाः, मेघ. उ., १; १७।

छतों[1] और भवन के मुख्य द्वार के दोनों ओर ऊपर शख और पद्म[2] के चित्रों के बने होने का उल्लेख कवि की कृतियों मे बारबार हुआ है। चित्रशाला के उल्लेख की तो ऊपर चर्चा की ही जा चुकी है जहा आचार्य संगीतशाला के ही (चित्रशाला वाले) एक भाग मे नारी-शिष्यों को चित्रण में निष्णात करते और चित्रों को उस चित्रगैलरी मे टाग रखते थे। राजा-रानी वहीं जाकर हाल के बने, गीले रंगो को सुखाने के लिए टगे चित्रो को देखते थे। इस प्रमाण से प्रकट है कि गुप्तकालीन भवन भीतर-बाहर भित्तिचित्रो से चित्रित होते थे। यहा हम पहले भित्तिचित्रो की चर्चा करेंगे।

दरीगृहों के भित्तिचित्र

भारतीय चित्रकला के इतिहास मे दरीगृहो मे भित्तिचित्रो का उदय बडे महत्त्व का रहा है। बाणभट्ट ने जो भित्तिचित्रो के प्रसार का उल्लेख अपने वाक्याश, 'दर्शित-विश्वरूपम्' (समूचे ससार के रूप का वर्ण-कूची द्वारा आलेखन) द्वारा किया है, उसका तात्पर्य दरीग्रहो अथवा गुहामन्दिरो के इन भित्तिचित्रो मे चरितार्थ होता है। भारत की पचासो मानवनिर्मित गुफाओ मे दीवारो पर चित्रो का अभिराम ससार कलावन्तो की तूलिका से सिरज-सवार दिया गया है, जिनका दर्शन जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अनुभव सिद्ध होता है। इन गुहाचित्रो मे प्रधान तो अजन्ता, बाघ, बादामी और सित्तण्णवासल के है, पर बेडसा, कन्हेरी, औरगाबाद, पीतलखोरा, तिरुमलैपुरम् आदि का भी चलते-चलते उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। गुप्तकालीन चित्रण की दृष्टि से इनमे बेडसा के चित्र सभवत सबसे प्राचीन है। इनका चित्रणकाल तीसरी सदी ईसवी माना जाता है। पर यहा की चित्रसम्पदा प्राय नष्ट हो गयी है, केवल कुछ की धुंधली पृष्ठभूमि और रेखा मात्र शेष रह गयी है और कालिदास की उजडी अयोध्या के प्रासाद-चित्रो की बची रेखाओ के वर्णन—आलेख्यशेषान्—की याद दिलाते हैं। छठी सदी मे चित्रित कन्हेरी की गुफा नं. १४ की भी प्राय यही दशा है। उसके चित्र भी काल और मानव की दुर्व्यवस्था से मिट गये है, बस कही-कही उनकी मलिन कान्ति दीख जाती है। प्राय यही दशा, केवल कही-कही इससे बेहतर औरगाबाद की गुफाओ, न. ३ और ६, और पीतलखोरा के चैत्य मन्दिर न १ के चित्रों की है। ये गुफाएं भी छठी सदी में ही चित्रो से सनाथ हुई थी। सातवी सदी के तिरुमलैपुरम् के दिगम्बर जैन गिरिमन्दिर मे भी कुछ चित्र बने पर उनकी संख्या अथवा महत्त्व भी विशेष नही है। गुप्तकालीन भित्तिचित्रो की विशेष महत्ता जिन दरी-

[1] विमानाग्रभूमिरालेख्यानाम्, मेघ. उ., ६। [2] द्वारोपान्तोल्लिखित वपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा, वही, १७; रघु., १६, १६।

मन्दिरो ने प्रतिष्ठित की है वे अजन्ता (५००-६५०), बाघ (ल० ५००) और बादामी (छठी सदी) के हैं। सातवी सदी के सित्तण्णवासल के जैन और कांचीपुरम् के उसी सदी के शिवमन्दिर कैलासनाथ के चित्र भी दर्शनीय हैं, महत्त्व के हैं। देश के बाहर लका में होकर भी सिगिरिया (छठी सदी) का गिरिमन्दिर अजन्ता की चित्रसम्पदा को ही अपने अभिराम और विविध चित्रों से ध्वनित करता है। पर इन सारे दरीगृहों और गिरिमन्दिरों के भित्तिचित्रो पर अजन्ता और बाघ की चित्रशैली की गहरी छाप है, इससे पहले उनका उल्लेख ही यहा समीचीन होगा।

अजन्ता

अजन्ता, बाघ, बादामी और सित्तण्णवासल के चित्र धर्मानुगामी हैं। अजन्ता के जो चित्र गुप्तकालीन—विशेष कर पाचवी-छठी सदी के है—उनकी गुफाओं, न. १६, १७, १९, १ और २ के चित्र भी सर्वथा सुरक्षित नही हैं। काल और मानव की समिलित क्रूरता ने उन्हें भी नष्ट करने मे कुछ उठा नही रखा है, पर सौभाग्य से उनकी दीवारो पर इतने फिर भी बच रहे है कि उनसे एक विगत, प्राय डेढ हजार साल पुराने, ससार का सविस्तर परिचय मिलता है। इनके अधिकतर चित्र वाकाटक, गुप्त और चालुक्य काल के है। जब इनकी नकले यूरोप में प्रदर्शित हुई थी तब उस महाद्वीप के कलाकेन्द्रो में एक सनसनी उत्पन्न हो गयी थी। उन्हें इसका गुमान तक न था कि पुनर्जागरण युग के इतालवी भित्तिचित्रो की जोड के भित्तिचित्र दूर के पूरब मे भी, उनमे प्राय. हजार साल पहले, बनाये जा सकते थे।

अजन्ता के चित्रो के विषय बौद्ध धर्म सबंधी है। बुद्ध के जीवन और जातक कथाओ से घटनाए उठाकर चित्रित की गयी है जो इन गुहाओ के उद्देश्य—भिक्षुओ के आवास—को देखते हुए अत्यन्त अनुकूल है। ये चित्र इस हेतु बनाये गये कि वहा रहने वाले भिक्षु बुद्ध के जीवन की घटनाए गुनते हुए अपने जीवन को आदर्श बना सकें। अलकरणो के चित्रण मे अजन्ता के कलाकारो ने गजब का कौशल प्रदर्शित किया है। फूल, पशु, पक्षी, गन्धर्व, विद्याधर, देव, सभी अभिराम जीवित रूपायित है, उनमें अद्भुत कोमलता और सजीवता है। कल्पना ने अद्भुत उड़ान भरी है। व्यक्त-अव्यक्त कुछ भी ऐसा नही जिसे अजन्ता का चितेरा अपनी कूची के नीचे न खीच ले। इस प्रकार के चित्रण गुहा न. १ मे विशेष है। गुहा न. २ की छत मे भी इसी प्रकार के आकर्षक अलकरण है। पहली गुहा की छत मे चित्रित साडो की लडाई तो गति और अभिव्यक्ति मे असाधारण है। सोलहवी गुहा के चित्रो मे थोडे ही बच रहे है। १८७४ ई तक जब ग्रिफिथ ने इनकी नकलें की, पर्याप्त बच रहे थे। इनमे मरणोन्मुख रानी का चित्र तो करुण भावावेगो का शालीन

अनुकार्य है। न. १७ गुफा के चित्र सब से सुन्दर कहे गये है। सिंहल की भूमि पर राजकुमार विजय का जलप्लावन (सागर विप्लव) के बाद अपने बचे साथियों के साथ अवतरण अपनी असाधारण गति और सुघराई के लिए अप्रतिम चित्रण माना गया है। उसी गुहा मे शिशु लिये कुछ झुकी दो उगलियो से जैसे व्याख्यान करती नारी अद्‌भुत कोमलता से अंकित हुई है। उससे भी अभिराम अल्हड़ता भरी नारी का वह रूप है जिसमे न २ की गुहा मे वह स्तंभ मे लगी, वाम पाद मोड स्तंभ से टिकाये, बाये कर के अगूठे और अनामिका को मिलाये, कुछ गुनती-सी खड़ी आकर्षण का केन्द्र बन गयी है। दृश्य राजप्रासाद का है। वह नारी नेत्रो का केन्द्र बन गयी है, अनेक आकृतियो की हलचल के बावजूद शान्ति विराज रही है। गुहा नं० १ में ही जगद्विख्यात, बार बार प्रकाशित, वह अनुपम पद्मपाणि बोधिसत्त्व का चित्रण है जो ससार के कलावन्तो के लिए जैसे प्राचीन काल मे, वैसे ही आज भी अननुकार्य चुनौती है। क्या धनुषाकृतिक भौंहे, क्या उनकी छाया मे खुली आखे, पखुड़ियों मे उगलियो से पकड़ा सुकुमार पद्म, क्या भग मे खडे तन पर भग मे ही धरा अभिराम मस्तक, क्या किरीट की अकठोर महार्हता और एकावलि की मुक्ताओ के बीच इन्द्रनील का वैभव, सब अचरज उत्पन्न करने वाले जैसे जादू की तूलिका मे लिखे गये है। न १७ मे आकाशगामी तीनो अप्सराओ की गति—छन्दस्, उनके अभिराम मस्तको की स्थापना, चुने थोड़े अलकरणो का राज छवि का गौरव है। न० १६ मे नन्द के सघ-प्रवेश का अत्यन्त रागमय, करुण और क्रूर चित्रण है, अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' काव्य का वह दृश्य इस चित्र-परम्परा मे जितना चरितार्थ हुआ है उतना नि सदेह मूल काव्य मे नही हुआ था। कितनी करुण कथा है, कितना क्रूर तथागत का नन्द को घर न लौटने देने का दृढ निश्चय है, कितना सवेदनशील यह नन्द का पलायन-प्रयत्न है ! प्रिय पत्नी सुन्दरी ने उसके कपोलों पर रागरेखाए चीतते प्रिया से विरक्त तथागत को मना लाने की अनुमति देते समय कहा था—जाओ प्रिय, बन्धु को मना लाओ, तुम्हारे धर्मकार्य में बाधा नही बनूगी, पर लौटो शीघ्र, देखो मेरे कपोलो की इन राग-रेखाओं के सूखने से भी पहले। पर मीत नही आया, अपने प्रयत्नो, पलायनो के बावजूद न आ सका, सघ की क्रूर सत्ता का शिकार हो गया और नारी देहली मे खडी बाट जोहती रही। कपालो की रागरेखाए सूखी, त्वचा सूखी, काया सूखी, पर मीत न आया, न आया।

उन्नीसवी गुहा मे बुद्ध की कपिलवस्तु मे वापसी है। पिता ने शका की थी—पिता के नगर मे पुत्र का भिक्षाटन ? कितना अभद्र ! कितना हास्यास्पद ! और जगत् के जनक पुत्र ने उत्तर दिया था—तुम, राजन्, राजाओ की परम्परा मे जन्मे हो, मै बुद्धो की परम्परा मे, भिखारियो की परम्परा मे ! कहा तुम, कहा मै !

अजन्ता की भित्तियो पर लौकिक विषयो की अलौकिकता जैसे बरस पड़ी है।

प्रत्येक चित्र व्यक्तित्व रखता है, अनुपेक्षणीय है। फिर भी पद्मपाणि बोधिसत्व, माता और राहुल, छदन्त जातक की कथा, शिबि जातक का अनमोल प्राण विसर्जन, क्रूर ब्राह्मण की कथा, गजराज की जलक्रीडा, वानरो का उल्लास, नन्द का पलायन आदि अनेकानेक ऐसे चित्र है जिन्हे ससार के सुन्दरतम चित्रो के बराबर रखा जा सकता है। पहली गुफा में फारस के निवासियो के वेष में कुछ जनो का आपानक चित्रित है। ईरानी वातावरण प्रस्तुत हो गया है, अजन्ता के अन्य चित्रो से सर्वथा भिन्न। सभवत: ये ईरानी उस दूतमंडल के थे जिसे खुसरो परवेज ने चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीय के पास भेजा था। समकालीन कवि रघुवश मे भित्तिचित्र का उल्लेख करता उस पर बने उस गज की जलाशय मे जलक्रीडा का वर्णन करना है जो जब वह कमलो के वन मे प्रवेश करता है, हथनिया उसे कमलदण्ड प्रदान करती है।[1] ठीक यही दृश्य अजन्ता की सत्रहवी गुहा की दीवार पर रेखाओ मे कलावन्त ने लिख दिया है। सभवत. इसमे रग भरना शेष रह गया था।

शैली

अजन्ता की अपनी शैली है, ससार की शैलियो से सर्वथा भिन्न। उगलियाँ कमल की पखुडियो सी छन्दस् की प्रवहमान मुद्राओं मे नमित होती है, नेत्र अर्ध निमीलित। नि सन्देह शैली की परम्परा सौदर्य के मान बाध देती है, परन्तु आकृतियो की विविधता, उनका जीवन से अविच्छिन्न सबध, अविरल बहती जीवन की धारा मे उनका सर्वथा अकृत्रिम, सहज अकन, आलोडित ससार-सा उपस्थित कर देते हैं। आकृतिया पहचानी-सी लगती है। नगरो, महलो, घरो, कुटियो, जलाशयो के दृश्य जीवन को उसके सभी रूपो मे प्रकट करते है। दृश्यो के एकाकी और सामूहिक अकन मे गजब की एकप्राणता है। अजन्ता के चित्रकार कितने कुशल, कितने मानवीय, जीवन के प्रति कितने उदार, कितने सवेदनशील थे, ये चित्र भली भाति व्यक्त करते है। विराग और त्याग के इन मन्दिरो मे स्वस्थ जीवन का कोई अग अछूता न बचा, रागावेगो का कोई कपन न रहा जो तूलिका और वर्ण के स्पर्श से चमक न उठा हो। कुछ अचरज नही जो चीनी तुनहुआग की सैकड़ो गुहाए अजन्ता की चित्रानुकृतियो से भर गयी हो।

बाघ

बाघ की गुहाए मध्य प्रदेश के मालवा मे, गुजरात और मालवा के प्राचीन

[1] १६, १६।

वणिक्पथ पर, खोदी गयी हैं। इन गुफाओ के चित्र भी अजन्ता शैली मे ही लिखे गये। इनकी छते, दीवारें और स्तंभो की भूमि भी अजन्ता की ही भांति विविध चित्रो से भर दी गयी है। अजन्ता की ही भांति विराग के बीच तपोभिन्न अल्हड उल्लसित, उन्मद अनियन्त्रित अविरल जीवन वहां के चित्रो मे भी प्रवाहित है। वहा भी पशु-मानव समान उदारता से अंकित हुए हैं। इस चित्रपरिवार मे भी अजन्ता की ही भांति चितेरो ने मानव और अन्य जीवों के भेदभाव भुला उन्हें एकसा चित्रित किया है, उनके बीच के सीमाबन्ध तोड दिये हैं। घोडों के मस्तको का अकन तो बाघ अनुपम सुघराई से करता है, असाधारण शालीनता उन पर विराजती है। दो तीन गीति-नाटिकाओं (ओप्रा) के दृश्य भी बाघ की गुहाओ मे चिते गये है—नृत्य, वाद्य, गीत के साथ अभिनय हो रहा है। सभी नारिया है, पुरुष बस एक है। भाव मन्द और तीव्र गति से प्रसगानुकूल उठते और विलय हो जाते है। ससार के सुन्दरतम आलेख्यों मे उचित ही बाघ के चित्रो की भी गणना है। अधिकतर चित्र गुप्तकालीन है, उनकी निचली काल-सीमा छठी-सातवी सदी है। गुहा नं. ४ के चित्र अजन्ता की नं १ और २ गुहाओ के चित्रो से मिलते है, सभवत ५०० ई. के आसपास के है।

बादामी

जैसे अजन्ता और बाघ के चित्र बौद्ध परम्परा मे लिखे गये है, बादामी के ब्राह्मण (हिन्दू) परम्परा मे लिखे गये। गुहा न २ मे भी कुछ रेखाकन है, पर चित्र वस्तुतः नं ३ मे बने हैं, जो ५७८ ई. के है। दरीमन्दिर तो विष्णु का है पर चित्र शैव विषयो से सबधित है। इनमे सबसे सुरक्षित शिव-पार्वती के हैं। तकनीक इन मे भी अजन्ता की ही प्रयुक्त हुई है यद्यपि अपनी भावसत्ता मे अनेक बार इसके चित्र अजन्ता के चित्रो से बढ़ भी जाते है। अनेक बार इन चित्रो की कारिता मृदुतर, अधिकाधिक सयत और व्यजना अधिक मर्महर बन गयी है। अजन्ता की भावसत्ता अथवा कुछ प्रसग मे उसकी शैली से भिन्न होते हुए भी बादामी के गुहाचित्र इसी भारतीय शास्त्रीय परम्परा के माने जाते हैं। इनकी रेखाओ की वर्तुलाकारता को पर्याप्त सराहा गया है, वर्णो का सपुजन केन्द्रसज्जा को विधिवत् आलोकित करता है। भावघनी, आकारघनी, रागघनी बादामी के चित्रो मे फिर भी न तो अजन्ता के चित्रप्रसार की बहुलता है, न बाघ के ऋद्ध धार्मिक भावावेगो की प्रवहमान सकुलता है।

सित्तण्णवासल

सित्तण्णवासल, सातवी सदी के चित्रो का धनी, जैनो का दरी मन्दिर है। इसकी

भी दीवारों और छतो में, मण्डप के स्तंभों की सामने की जमीन पर चित्र बने हैं। संभवतः स्तभों के पार्श्व भी आरंभ मे चित्रित थे। उनके तीन थल (खाने) आज भी चित्रों से अंकित है, जिनमे दो मे अत्यन्त अभिराम अप्सराओ के रेखाकन है। एक अप्सरा का रूप रेखा की कोमलता से इस प्रकार उजारा गया है कि देखते ही बनता है। इतना तरल लयसपन्न रेखाचित्र संभवतः अजन्ता की चित्रसपदा मे भी उपलब्ध नही है। अप्सरा त्रिभग मुद्रा मे उड़ती हुई नाच रही है, वस्त्र, अलकरण, काय, सभी तरंगायित हैं। और मुख का सौंदर्य तो विशेष कर मस्तक की आकर्षक स्थापना से, उसके अवयवीय अनुपात से असाधारण बन पडा है। केशों का गुप्तकालीन अलकजाल, आभूषणो का संचयन, सभी अभिराम है। कोमल लम्बी उगलियो से सयुक्त दाहिनी भुजा कुहनी से ऊपर को मुड़ी भावमुद्रा मे चिती है, बायी दण्डवत् दाये पर फेंकी हुई है, जिसके कर की रेखाए मिट गयी हैं। तीसरे खाने मे पल्लवराज महेन्द्रवर्मा प्रथम का सपत्नीक चित्रण है। छतो मे कमलो भरे ह्रद मे हंसों, सारसो, मगरो, साडों, गजो और मानवो के चित्र पद्मो के बीच बने बने है। सहज ही इन चित्रों पर अजन्ता शैली का प्रभाव देखा जा सकता है।

कांची और तिरुमलैपुरम्

काची में कैलासनाथ शिव का मन्दिर है जिसमे सातवी सदी के बने चित्र एक मात्रा तक सुरक्षित हैं। दक्षिण मे बने उत्कीर्ण अर्धचित्रो से मिलती-जुलती ही इनकी आकृतिया हैं। चित्र नितात थोडे, अधिकतर मिटे हुए है। इसी प्रकार के चित्र तिरुमलैपुरम् के शिवमन्दिर के भी है। उनकी मिटी रेखाओ मे प्रकट है कि चित्र दीवारो, छतो, टोडो तक पर, सर्वत्र आरम्भ मे बने हुए थे जिन्हे काल ने मिटा दिया है। इनका निर्माण काल भी प्रायः सातवी सदी ही है। जो चित्र बच रहे हैं उनमे अधिकतर मानवाकृतियो, नृत्यमान गणो, हसो, कमलों आदि के है। एक नृत्य-गान का दृश्य भी कुछ हद तक बच रहा है जिसकी गतिमत्ता का पता उसके मिट चलने पर भी प्रमाणित है। सिगिरिया के चित्रो पर विचार भारतेतर देशों की भारतप्रभावित कला पर विचार करते समय करेंगे।

निर्माण की तकनीक

भित्तिचित्रो के निर्माण की तकनीक पर भी यहा दो शब्द लिख देना मुनासिब होगा। चित्रों के रेखांकन के पहले भित्ति (दीवारो) की भूमि तैयार कर ली जाती थी। इस तैयारी को अथवा चित्रो की प्रस्तुत भूमि को विष्णुधर्मोत्तर वज्रलेप कहता है। लगता है पहले दीवार को घिसकर चिकनी कर लेते थे, फिर उस पर प्रस्तारचूर्ण, मिट्टी और गोबर मिलाकर और शीरे द्वारा उनका एकतार लेप बना उससे दीवार लीप देते थे जिससे

वह लेप पलस्तर की तरह उस भूमि पर चढकर जम जाता था। तदनन्तर उसे करनी से बराबर कर चूने के पानी से पलस्तर के गीला रहते ही धो देते थे।

वर्ण

इस प्रकार भूमि प्रस्तुत हो जाने के बाद आचार्य पहले रेखाओं से चित्रों के खाके बना लेते थे। खाको की बाहरी रेखाएं जो चित्रो की सीमाएं बनाती थी, गेरू (धातुराग) से खीच दी जाती थी। फिर आचार्य चित्रों की आकृतियो का रेखाकन करते थे। फिर बतायी विधि से शिष्य रग भर देते थे। फिर आचार्य अन्त मे उन्हे अपनी तूलिका और कूची से छूकर अन्तत. पूर्ण कर देते थे। कहते हैं कि अजन्ता के चित्रो मे प्रयुक्त सारे रग स्थानीय पहाडियो मे ही मिल जाते थे। प्रधान रग गेरू, सिंदूरी लाल रग (कुकुम अथवा सिंदूर से बना), हरिताल, नीला, काजल काला, खड़िया मिट्टी, गेरू मिट्टी और हरे रगों का अधिकतर उपयोग होता था। इन्ही के मिश्रण से और रग भी बना लिये जाते थे।

साहित्य में वर्णित चित्र-लेखन संबंधी सामग्री

ऊपर का चित्रकला संबंधी विवरण उपलब्ध गुप्तकालीन चित्रो के आधार पर भित्तिचित्रों के क्षेत्र मे दिया गया है। अब बिम्ब और ग्रूप चित्रण पर भी समकालीन साहित्यगत सामग्री के माध्यम से प्रकाश डालना उचित होगा। कालिदास की कृतियो मे चित्रो और तत्सबधी कला का उल्लेख बार-बार हुआ है। उनमे इतनी सामग्री इस प्रसग की उपलब्ध है कि उसकी उपेक्षा करना अनुचित होगा। गुप्तकाल के दरीगृहो के चित्रणो की बहुलता और विविधता के बावजूद साहित्य से प्राप्त यह सामग्री निःसदेह उनकी पूरक सिद्ध होगी। भित्तिचित्रों के सबध मे तद्विषयक कवि के सदर्भों का उल्लेख पहले किया जा चुका है, नीचे अन्य प्रकार के चित्रो पर विचार करेगे।

कवि ने आकृतिचित्रण (पोर्ट्रेट) को प्रतिकृति[1] कहा है। उस सबध के संदर्भ उन कृतियो मे भरे पडे हैं।[2] प्रोषितपतिका यक्षिणी विरह के लम्बे क्षणो को काटने के लिए चित्र बनाती है।[3] चित्र का माडल दूर और आखों से ओझल होने के कारण स्वाभाविक उसका चित्र वह केवल स्मरण से, 'भावगम्य'[4] लिखती है। स्वय यक्ष रामगिरि के आश्रम

[1]रघु., १८, ५३; शाकुन्तल, पृ. २००, २८०; विक्रमो., पृ. ४२; मालविका., पृ. १२, ७३। [2]मालविका., २, २; पृ. ५, ६, १२, ७३; विक्रमो., पृ. ४२; शाकु., पृ. १९९, २००, २०८, २१०, २१८; ६, १८, ३०; पृ. २१३-१४; रघु., १८, ५३; मेघ. उ., २२, ४४। [3]सादृश्यम्, मे. उ., २२। [4]वही।

मे शिला पर गेरू से मान की हुई पत्नी का चित्र बनाता है, पर वह कलपकर कहता है, जैसे ही मानभंजन के लिए वह अपने आपको उसके चरणो मे पडा चित्रित करना चाहता है, उसके नेत्र आसुओ मे भर आते है और दृष्टिपथ धुधला हो जाने से वह चित्र नही बना पाता, जिससे वह दैव को कोसता है कि क्रूर यम चित्र मे भी उन दोनों का संगम नहीं सह पाता।[1] 'विक्रमोर्वशीय' मे उर्वशी के बने चित्र का[2] और 'मालविकाग्निमित्र' मे मालविका के चित्र का[3] उल्लेख हुआ है। बन्दर के चित्र से भी 'विक्रमोर्वशीय' मे एक आकृति की तुलना की गयी है।[4]

प्रतिकृति चित्रण की समूची योजना भी इन कृतियो में मिलती है। । अभिज्ञान-शाकुन्तल मे शकुन्तला के चित्रित रूप को पहचान कर भय, औत्सुक्य, शैथिल्य आदि भावों का उल्लेख राजा करता है। थकान से शिथिल शकुन्तला की केशराशि खुलकर लटक गयी है, मुख पर पसीने की बूदे झलक आयी है।[5] उसमे चिन्तावृद्धि के भी रागबद्ध किये जाने (चिते जाने) का उल्लेख हुआ है।[6] एक दूसरे स्थल पर भावावेगो के चित्रण की बहुमानता बतायी गयी है।[7] दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र पर्याप्त सीमा तक बना चुकने पर भी अभी उसमे अनेक त्रुटियो का अनुभव करता है। वह कहता है कि अभी कानो के ऊपर केशो की गाठ नही डाली, कपोलो पर पराग झर पडने वाले शिरीष के कुसुमो के गुच्छे अभी कानो पर नही रखे, अरे, अभी स्तनो के बीच चन्द्रकिरणो मे कोमल मृणालसूत्र बनाना तो रह ही गया।'[8] चित्र की शेष भूमि आश्रम के कदम्बतरुओ मे भर देने के उपक्रम होते है।[9] शकुन्तला के एक दूसरे चित्रण मे वह हाथ मे लीलारविन्द लिये होठो पर टूटते पडने वाले भ्रमर का निवारण करती खडी है।[10]

परिवार अथवा दल (ग्रुप) प्रतिकृतियो के भी साहित्य मे अनेक उल्लेख हुए है। तीन व्यक्तियो के सम्मिलित चित्रण[11] मे प्रत्येक के लिखित रूप को सराहा गया है।[12] इसी प्रकार मालविका के एक परिवारचित्र का उल्लेख 'मालविकाग्निमित्र' मे मिलता है जिसमे वह परिचारिकाओ से घिरी रानी धारिणी के पास खडी है।[13] भूचित्रण का एक दृश्य ऐसा प्रस्तुत हुआ है जिसमे पश्चिमी गगन पर कूची से विविध रगो के अनन्त मेघो की परम्परा बन गयी है।[14] अद्भुत योजना दुष्यन्त उस चित्र की उपस्थित करता है जिसमे

[1]मेघ उ., ४२। [2]६ पृ. ४२। [3]पृ. ५। [4]आलेख्य वानर इव, विक्रमो., पृ. २७। [5]शाकु., पृ. २०९–१०। [6]रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः, वही, पृ. १३। [7]वही, पृ. २०८। [8]वही, ६, १८। [9]पूरितव्यं कदम्बैः, वही, पृ. २१२। [10]वही, पृ. २१३–१४। [11]तिस्रस्तत्रभवत्यः दृश्यन्ते, वही, पृ. २०९–१०। [12]सर्वाश्च दर्शनीयाः, वही, पृ. २०९। [13]मालविका., पृ. ५। [14]कुमार., ८, ४५।

मालिनी की धारा हो, जिसके पुलिनों पर हंसों के जोड़े विहर रहे हों। दोनो ओर उस मालिनी के हिमालय की पर्वतमालाए चली गयी हों, जिन पर हिरन बैठे हो। फिर वह चाहता है कि वह वल्कल लटकाये आश्रमतरुओ का चित्र बनाये जिनमे से एक की शाखा-तले बैठी मृगी अपने प्रिय मृग के सींग से बायां नयन खुजा रही हो—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥[1]

निश्चय अपने मर्मतम को पूर्ण विश्वास के साथ प्रिय के कठोरतम पर सविलास रखकर निवृत्त हो जाना पशु के भी उस दाम्पत्यविधान को प्रकट करता है जिससे अपनी मूर्खता से मानव चितेरा वंचित हो चुका है।

चरणचित्र, यमपट

एक विशेष प्रकार की चित्ररचना का उल्लेख बौद्ध आचार्य, समकालीन बुद्धघोष ने अपने शब्द 'चरणचित्र' और नाट्यकार विशाखदत्त ने अपने 'यमपट' (मुद्राराक्षस) द्वारा किया है। दोनो सभवत एक ही प्रकार के चित्रण को अपने इन शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं। दोनो का सबध मृत्यु के बाद के जीवन से है। अपने कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग-नरक मे सुभोग या कुभोग दर्शाने वाले चित्रपट को 'चरणचित्र' कहते थे। ऐसे ही 'यमपट' भी अगले जन्म के कर्मानुसार भोग बताने वाले पट थे। सभवत इन्ही से उन चित्रपटो का विकास हुआ है जो आज भी बाजारो मे बिकते हैं जिनमे नरकादि की यातनाए चित्रित होती है। ये सभवत कपडे पर लिखे जाते थे। कुछ आश्चर्य नही जो इनका सबध उन पटो से रहा हो जिन पर तिब्बत मे टका चित्रण होता आया है।

सामग्री

चित्र बनाने में जिस सामग्री की आवश्यकता हुआ करती थी उसमे प्रधान वर्णों (रगो) का विवरण ऊपर दे आये हैं। कालिदास की रचनाओ से पता चलता है कि उस काल भी आज की ही तरह स्वाभाविक ही अनेक प्रकार की कूँचियो का चित्रण मे प्रयोग होता था। शलाका[2], वर्तिका[3], तूलिका[4], लम्बकूर्च[5] का कवि ने विविध प्रकार की

[1]शाकु., ६, १७। [2]कुमार., १, ४७ और २४; रघु., ७, ८ (अन्य प्रकार के उपयोग के लिए)। [3]रघु., १६, १९; कुमार., ८, ४५। [4]कुमार., १, ३२। [5]शाकु., पृ. २१२।

ललित कलाओं, हस्तलाघव, भाषा-साहित्यादि को छोड़ अन्य भेद, सचमुच उस काल विशेष महत्त्व के थे। जैसा हम आर्थिक जीवन के प्रसग में आगे देखेंगे, आकर ज्ञान, रत्नपरीक्षा, धातुकर्म, स्वर्णकार वृत्ति आदि उस युग की समृद्धि को प्रकट करते हैं। मूर्तियों और चित्रों को देखने से प्रकट है कि किस मात्रा मे आभूषणो—विविध धातुओ और रत्नों के बने—का उपयोग गुप्तकाल के नागरिक-नागरिकाएँ करती थी। उनका चयन और बारीक बनावट उस काल के रुचिपरिष्कार और धातुकार्य की बारीकी प्रकट करते हैं। उनमें मोतियों का योग निश्चय सागर से मोती निकालने के उस मूल्यवान् व्यापार की ओर संकेत करता है जिसके लिए भारत रोम तक प्रसिद्ध था। कलाबत्तू का कार्य भी भारत का अपना था और अत्यन्त प्राचीन काल से काशी के जुलाहो का विशेष पेशा रहा था, जैसा आज भी है। इन ६४ कलाओं का अभ्यास गुप्तकाल के उस निरन्तर मौलिक अनुसन्धान की दिशाओं को सूचित करता है जिनके उपक्रम मे वह युग विशेष जागरूक था।

प्रकट है कि उस युग ने सार्वजनीन ललित कलाओ—वास्तु, मूर्ति, चित्रादि—का, पेशेवर और वृत्तिसचालक कौशलों तथा व्यक्तिपरक सुरुचिपरिष्कार और सास्कृतिक अध्यवसायो का प्रचार और विस्तार किया। इन कलाओं के विश्लेषण और राजाओं तथा अन्य अधिकारियो, आचार्यों के अध्ययन की विद्याओ की सूचना से ज्ञात होता है कि तब का जीवन अनन्त जीव्य धाराओ मे बह रहा था, और उस समग्रता के प्रति सतत जागरूक था जिसमे शिष्ट और सस्कृत जन पारगत होना अपने आचार और आचरण का अनिवार्य कर्तव्य मानता था।

अध्याय ६

गुप्तयुगीन जीवन—सामाजिक

गुप्तयुगीन जीवन समग्रता का था। उसका परिवेश बड़ा था और उस परिवेश की व्यापक शपथ उदारता थी। ऊपर कहा जा चुका है कि जिस उदारता की अशोक ने इतने यत्न से अपने अभिलेखो मे अभ्यर्थना की थी, गुप्तों को वह अनायास प्राप्त हो गयी थी। उसका महान् कारण गुप्तकालीन जनता की मिश्रित विरासत थी। गुप्तयुग के पहले यवन, पह्लव, शक, कुषाण, आभीर, गुर्जर आदि विदेशी विविध जातियो और उनकी संस्कृति का सम्मिलित योग गुप्त जनता को मिला था। इसका विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है। इन विजातियो ने भारतीय उत्तरदेशीय जीवन के प्रत्येक भाग और वर्ग के जीवन को प्रभावित किया था। अधिकतर उन्होने भारत के धर्म, देशी नाम, भाषा आदि स्वीकार कर लिये थे और अपने सयोग से भारतीय धर्म, कला, विज्ञान, साहित्य आदि की सभी प्रकार से उन्नति की थी। भारतीय समाजशास्त्रियो ने भी अपनी वर्णव्यवस्था की संधियां कुछ ढीली करके उन्हें आत्मसात् करने का प्रयत्न किया था।

यह प्रयत्न सर्वदा सफल यद्यपि नही हुआ था, फिर भी इससे भारतीय समाज-नेताओ की अनुकूल नीति का पता विजातियो को चल गया था। जो जातिया देश मे आकर बसी थी, वे अधिकतर विजयिनी थी, इससे उन्हे शूद्रो, अन्त्यजों आदि की श्रेणी मे तो रखा नही जा सकता था, उन्हे क्षत्रिय वर्ग का स्तर देना पड़ा। आबू—अग्निकुण्ड से जो क्षत्रिय कुलो के उद्भव की बात पौराणिक परम्परा मे कही गयी है वह इन्ही विदेशी राज—तथा—राजन्य कुलो के क्षात्र धर्म मे दीक्षित करने का दृष्टान्त है। उन्हें इस प्रकार अपने वर्ण-सभार मे स्वीकार कर तो लिया गया परन्तु पूर्णत. उन्हें पचाया न जा सका, क्योकि स्थानीय क्षत्रियो-ब्राह्मणो मे उनके प्रति पूर्वाग्रह बना ही रहा। फिर भी वे अपने को क्षत्रिय अथवा नव-क्षत्रिय मानते रहे। और स्थानीय क्षत्रिय-ब्राह्मण, चाहे उनके भय से ही उन्हें ऐसा स्वीकार न करने का दु.साहस न कर सके। स्मृतियो ने भी अपनी व्याख्याओं के साथ कुछ सीमा तक अपने वर्ण-बन्धन ढीले कर उन्हे अपनाया, यद्यपि उनमे भी अनेक में, अनेक रूप से इन नवागतो की गणना 'जातियो' (वर्णपतित) अथवा 'सकरों' में हुई। फिर भी इन्हें किसी स्थिति मे भी शूद्रो अथवा अन्त्यजो की विपुल और निरन्तर बढ़ती जाती संख्या में नही गिना जा सका।

इस उदारता की भी एक सीमा और अपनी दृष्टि थी। यह अनिवार्य उदारता केवल विजातीय विदेशियों के ही संबध मे सार्थक हो सकी। अपने शूद्रों और अस्पृश्यों के प्रति वही अनुदार और क्रूर नीति समाज के ब्राह्मण नेताओं की बनी रही जो प्राचीन काल से चली आ रही थी। पर उसकी चर्चा हम यथास्थान पीछे करेंगे। यहां इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि यह उदारता चाहे जितनी भी एकांगी रही हो, थी वह बाध्य-कृत उदारता ही। और उसका लाभ भी हुआ ही, इस अर्थ मे कि भारतीय जातिप्रथा और संस्कृति के पट मे अनेक चमकते सूत और बुन गये।

पर नि सन्देह वर्ण-व्यवस्था टूटी नही। अनेक अंशो मे वह और भी शक्तिमती हो गयी। विशेष कर जब गुप्तो का साम्राज्य फैला तब ब्राह्मणो का प्रभुत्व फिर जगा। कारण कि विदेशियो के मिश्रण से सास्कृतिक-सामाजिक दृष्टिकोण मे चाहे जितनी उदारता आयी हो, जितना भी समन्वय के अनुकूल निग्रह हुआ हो, नागो-कुषाणों आदि के सघर्ष की याद बनी रही, गुप्त-शक-सघर्ष मे वह याद प्रबल होकर एक मिथ्या राष्ट्रीयता की शालीनता भी बन गयी। 'मिथ्या' इस कारण कि जिन 'शको-कुषाणों' को नागों और गुप्तो ने देश से निकाल उसकी उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बसने को मजबूर किया था, वे किसी अर्थ मे अब विदेशी नही रह गये थे। और कालान्तर मे तो उन्होने वह आचरण किया कि देश के क्षत्रियो के लिए भी उनके कार्य गर्व के कारण होते। 'शक-मुरुण्ड-शाहि-शाहानुशाहियों' मे से शाहिय पीछे क्षत्रिय कहलाये और काबुल तथा हिन्दूकुश की ऊंचाइयों पर देश के पाहरू बन उन्होंने उसके मुखद्वार की विदेशियों से सदियो रक्षा की। कम से कम पाच सौ ई. से हजार ई तक तो निश्चय काबुल की राजनीति मे उनका वर्चस्व फलता रहा और जब जयपाल तथा उसके पुत्र आनन्दपाल ने समसामयिक क्षत्रिय राजाओं को समानशत्रु महमूद गजनी का सामना करने के लिए दलबद्ध किया तो अधिकतर उत्तर-भारतीय राजा, जिनमे धारा के परमार राजा भोज भी शामिल थे, उस सघ मे आ मिले। तब की राष्ट्रीयता इन्ही शक-शाहियो के हाथ मे थी। इस राष्ट्रीयता की शालीनता इस घटना से और बढ़ जाती है कि कभी अभारतीय कहकर निकाले जानेवाले यही शाहिय जब भारतीय राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए विदेशियो से सीमा पर जूझ रहे थे तब अन्हिल-वाड के नृपति के 'यवन-तुर्कों' से लड़ने जाने पर उसकी अनुपस्थिति मे भारतीय राष्ट्रीयता के मूर्धन्य राजा भोज ने अपना सेनापति भेज अन्हिलवाड को लूट लिया!

सो नि सन्देह उस मिथ्या राष्ट्रीयता ने गुप्तसम्राटो को राजनीति की मूर्धा पर प्रतिष्ठित कर दिया और ब्राह्मणो को समाज की मूर्धा पर। यदि 'गुप्त कारस्कर गोत्र के जाट'[1]

[1]जायसवाल के सिद्धांत के पक्ष में मेरा कोई आग्रह नहीं।

थे, जैसा काशीप्रसाद जायसवाल का मत है, तो उन्हे क्षत्रिय बनाने के प्रत्युपकार में तत्कालीन ब्राह्मणों का गौरव-लाभ स्वाभाविक ही था। यदि यह स्थिति न भी रही हो, तो कम से कम शको-गुप्तों के संघर्ष के राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले लेने पर निश्चय प्राचीनता की पुनरावृत्ति हुई। पुराने मे जो कुछ भला-बुरा था उसका पोषण होने लगा। ब्राह्मण फिर ऊपर आये, गुप्तकालीन दान सबधी अभिलेखो–ताम्रपत्रों में दान-उल्लघन के परिणाम मे गो-ब्राह्मण वध के पाप की शपथ दी जाने लगी और विदेशी कुल शक्तिमान् होकर अपने नव-क्षत्रिय गौरव की रक्षा न कर सके, उनकी गणना शीघ्र ही 'जातियों', 'संकरो' की स्मार्त रचनाओं में होने लगी, जिससे वह सनातन उपेक्षित सख्या, फाह्यान के प्रमाण से, और बढ़ गयी।

ब्राह्मण

प्राचीन स्मृतियो का उपयोग, नवीन स्मृतियो का ब्राह्मणानुकूल आचार निग्रह, पुराणो के परिवार का उदय, अनन्त देवताओ और उनकी मूर्तियो का उद्‌भव तथा पूजन ब्राह्मण पुरोहित वर्ग के नये अभ्युदय के परिचायक है। हुएन्त्साग का वक्तव्य इसके पक्ष मे है कि ब्राह्मणो की शक्ति महती, उनका प्रभाव असाधारण और उनकी मेधा असामान्य थी, उनके प्रति साधारण जनता की श्रद्धा भी अपरिमेय थी, उन्हें स्मृतिया महापातक करने और प्राणदण्ड का भागी होने पर भी केवल निर्वासन का दण्ड विधान करती है। गुप्तकालीन साहित्य वास्तविक घटनाओ के सबध मे स्मृतियो के इस सविधान की पुष्टि करता है। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' के नवे अक मे ब्राह्मण चारुदत्त के हत्यारा सिद्ध कर दिये जाने पर भी, उसके ब्राह्मण होने के कारण, न्यायाधीश उसे प्राणदण्ड से मुक्त कर देता है। 'दशकुमारचरित' में ब्राह्मण मन्त्री राजद्रोह का अपराधी होने पर भी प्राणदण्ड देने के बजाय अन्धा मात्र कर दिया जाता है। ये दोनो कृतिया गुप्तकालीन है। समकालीन कात्यायन-स्मृति[1] पुरानी स्मृतियों के अनुकूल ही, ब्राह्मण को प्राणदण्ड के बदले धनहीन कर देने का दण्ड विधान करती है। कुछ आश्चर्य नही कि ब्राह्मणो ने फिर वर्ण सबधी कोई नियन्त्रण स्वीकार न किया हो। 'मृच्छकटिक' का ब्राह्मण शर्विलक प्रसन्न मन से चोरी करता है, और सेंध मारते समय नापने का सूत घर भूल आने पर अपने यज्ञोपवीत का उपहास करता हुआ उससे नापनेवाले सूत का काम लेता है। 'दशकुमारचरित' के अनुसार विन्ध्याचल के वनो मे ब्राह्मण दस्युओ की एक बस्ती ही बस गयी थी जो किरातो की तरह डाके डाला करते थे।

[1] ५, ४८३।

वर्णधर्म

इस स्थिति में यह स्वाभाविक था कि ब्राह्मणशक्ति का मूलाधार वर्ण-धर्म अपने स्थान पर बना रहे। प्राचीन काल की ही भांति इस युग में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के चातुर्वर्ण्य अपने-अपने स्थान पर साधारण रूप से स्थित थे। ह्वएन्त्सांग लिखता है कि चारो वर्ण अलग-अलग वर्णनियमो के अनुसार रहते और अपने अपने वर्ण मे ही विवाह करते थे।[1] वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता मे प्राचीन 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' की ही भांति ब्राह्मणों, क्षत्रियो, वैश्यों और शूद्रो के अलग-अलग मुहल्लों का उल्लेख किया है।[2] स्वय राजा को वर्णों और आश्रमो का रक्षक[3] और वर्णों की सीमाओं का स्वयं उल्लघन नही करने वाला[4] माना जाता था। उससे आशा की जाती थी कि वह कुशल सारथि (नियन्ता)[5] की भाति प्रजा को इस तरह ले चले कि वर्णसीमाओं का अतिक्रमण न हो। फिर भी वास्तविक आचरण मे अतिक्रमण होते थे, असवर्ण विवाह के रूप मे भी, वृत्ति (पेशे) के रूप मे भी। राजपरिवारो मे यह अतिक्रमण प्राय साधारण आचरण हो गया था। ऊपर बताया जा चुका है कि क्षत्रिय नाग और ब्राह्मण वाकाटक राजकुलो मे उस काल विवाहसबध हुआ था। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय की कन्या प्रभावती गुप्ता वाकाटकनरेश रुद्रसेन से ब्याही थी। ब्राह्मण कदम्ब-राजकुल के काकुत्स्य वर्मा की कन्याओ के विवाह गुप्त और अन्य राजकुलो में हुए थे जो ब्राह्मण न थे। हर्ष वैश्य था और उसकी कन्या क्षत्रिय वलभीनरेश से ब्याही थी। साधारण ब्राह्मणों ने भी ब्राह्मणेतर वर्णों मे विवाह किया था। वाकाटक नरेश देव-सेन के मत्री के पूर्वज ब्राह्मण सोम की ब्राह्मणी और क्षत्रिया दो पत्निया थी। बाण के पिता की एक शूद्रा पत्नी भी थी। 'मृच्छकटिक' के नायक ब्राह्मण चारुदत्त ने वेश्या वसन्तसेना से विवाह किया और उसी नाटक के चोर ब्राह्मण शर्विलक ने उसी वेश्या की दासी मदनिका से। 'दशकुमारचरित' के अनुसार एक राजकुमार ने चम्पा की गणिका की कन्या मे विवाह किया। इससे प्रकट है कि यद्यपि सवर्ण विवाह सहज और स्वाभाविक रहे हो, असवर्ण विवाहो का भी समाज मे अभाव न था।

वर्णवृत्ति

इसी प्रकार साधारणत ब्राह्मण पढ़ता-पढ़ाता, पुरोहिताई करता था, क्षत्रिय शासन करता, सैनिक होता था, वैश्य व्यापार करता और शूद्र सेवा करता था, पर अनेक

[1]वृत्तांत, १, १६८। [2]५३, ७०, ६१। [3]रघु., ५, १६; १४, ६७; शाकु., पृ. १६२। [4]रघु., ३, २३। [5]वही, १, १७।

बार एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण के पेशे भी करने लगते थे। ब्राह्मण के चोरी का व्यवसाय और डाके डालने की वृत्ति का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। गुप्तकाल के आगे-पीछे तो ब्राह्मण कुलों ने क्षत्रियो का शासनकार्य किया ही था, स्वय उस युग में भी उनके राज-कुलों की सख्या काफी थी। दक्षिण का कदम्बकुल ब्राह्मण था जिसके प्रतिष्ठाता मयूर शर्मा ने क्षत्रियों के घमंड की निंदा की थी और स्वयं एक राज्य कायम किया था। महाराज मातृविष्णु सन्त इन्द्रविष्णु का प्रपौत्र था। चीनी यात्री हुएन्त्सांग के समय उज्जैन, जिझोटी और महेश्वरपुर में ब्राह्मण राजकुल राज करते थे। अनेक क्षत्रियों ने भी इसी प्रकार अन्य वर्णों के पेशे अख्तियार कर लिये थे। पाचवी सदी के एक अभिलेख से प्रकट है कि गंगा तीर के एक नगर में रहने वाले दो क्षत्रिय सौदागरी करते थे। हर्ष का थानेश्वर-राजकुल वैश्य था। मन्दसोर के प्रसिद्ध अभिलेख से प्रकट है कि गुजरात के जुलाहो ने मालवा में आकर अनेक पेशे सीख लिये थे जो उनके प्रकृत वर्ण के न थे। मतिपुर के राजा तो सिन्ध के ही राजाओं की तरह शूद्र थे।[1]

पर साधारणत वर्ण का सहज कर्म ही अनुकूल आचार माना जाता था। अपने पेशे का मजाक उडाये जाने पर 'शाकुन्तल' का धीवर कहता है कि श्रोत्रिय ब्राह्मण यज्ञकर्म में यद्यपि पशुवध का क्रूर कर्म करता है सो हृदय से क्रूर होने के कारण नही, केवल अपना सहज कर्म होने से। वैसे ही मैं भी कुछ मन की क्रूरतावश मछली नही मारता, यह तो मेरा 'सहज कर्म' ही है।[2] कालिदास ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रो के वर्णधर्मों के आदर्श आचरणो का उल्लेख करता है जो सामान्यत, अपवादो को छोड, उस ब्राह्मण-प्रभावित गुप्तयुग को प्राय नियमन ग्राह्य हो गया था। बल्कि कवि के एक वर्णन से तो यहा तक लगता है कि चाहे उपनयन सस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनो के होते रहे हो, यज्ञोपवीत मात्र ब्राह्मण वर्ण का परिचायक हो गया था, क्षत्रियों तक का नही था। परशुराम के लिए कहा गया है कि वे ब्राह्मण पिता का अश रूप जनेऊ धारण करते थे और क्षत्रिया माता का अशरूप धनुष।[3] ब्राह्मण की साधारण वृत्ति यज्ञादि कर्मों से प्राप्त दक्षिणा थी[4] यद्यपि समय पडने पर वह हल भी जोत लेता था।[5] कवि, मंत्री और राजपुरुष तो वह अक्सर होता ही था। क्षत्रिय कवि भी अनजाने नही थे। 'मुद्राराक्षस' और 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का यशस्वी नाटककार विशाखदत्त क्षत्रिय सामन्त था, जैसे नाटककार राजा हर्ष वैश्य। वैश्यो का सहज धर्म वाणिज्य था। वे नैगम[6],

[1]द क्लासिकल एज, पृ. ५६१–६२। [2]शाकु., ६, १। [3]पित्र्यमंशमुपवीत-लक्षणं, मातृकं च धनुर्जितं दधत्। रघु., ११, ६४। [4]मालविका., पृ., ३३, ८८। [5]हुएन्त्सांग, बील का अनुवाद, पृ. ७३। [6]विक्रमो., ४, १३।

श्रेष्ठी[१], वणिक्[२], सार्थवाह[3] आदि नामो से जाने जाते थे और उनके प्रयत्नों से देश में धन धारासार बरसता था। ये तीनो द्विजवर्ण साधारणतः अपने-अपने वर्णधर्मों मे सुखी थे, पर जीवन दूभर शूद्रो, आदि का था।

शूद्र

शूद्र (अन्त्यज) द्विजो की सेवा करनेवाले, भारतीय समाज मे सदा से ही स्मार्त आचरण के अनुसार माने गये थे। साधारणतः वे सेवा कार्य करते भी थे, जैसे अधिकतर वे आज भी करते है। अनेक स्मृतियों में, जिनमे से कुछ गुप्तकालीन भी हैं, उन्हें भूमि अथवा अन्य संपत्ति रखने का अधिकार नही दिया गया। मनु ने तो यहां तक कहा है कि यदि उनके पास किसी प्रकार सम्पत्ति हो भी गयी तो उस पर स्वत्व उनके स्वामी का होगा। और मनु के इस विधान को अनेक पश्चात्कालीन स्मृतियो ने दोहराया है। शूद्र तपस्वी के राम द्वारा वध की कथा तो प्राचीन और रामायण की है पर रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग मे उसका उल्लेख करते समय कालिदास उसके तपकर्म को अपचार कहकर उस हत्याकार्य की गुप्तकाल मे भी सराहना करता है।[४] फिर भी शूद्रो की स्थिति उन और भी दलित जातियों से भिन्न और समाज मे अपेक्षाकृत दृढ थी जिनकी अनन्त सख्या न केवल प्राचीन काल से उपेक्षित और घृणित चली आती थी बल्कि भारतीय समाज-व्यवस्था की उदारता पर क्रूर व्यंग्य और कलक थी। शूद्र फिर भी वर्णचतुष्टय के अंग थे और ऊपर के तीन वर्णों के साथ ही नगरो और गावो मे निवास करते थे।

दास

समाज मे दासों का अभाव न था। स्मृतियो ने उनका उल्लेख किया है—दासो से दासो के उत्पन्न होने का भी और ब्राह्मणेतर व्यक्तियो के दास बन जाने का भी, उनके क्रय-विक्रय का भी। उन्होने केवल ब्राह्मणो को दासवृत्ति से स्वतंत्र रखा है, जो कभी किसी दशा मे दास नही बनाये जा सकते थे। समकालीन कात्यायन के अनुसार[५] द्विज-स्त्री दास से विवाह करते ही दास हो जाती है पर दास-स्त्री यदि अपने स्वामी से पुत्र उत्पन्न कर ले तो वह दासता मे तत्काल मुक्त हो जायगी। नारद ने अपनी स्मृति मे ऋण चुकाने के बदले अपने को बेचकर दास बन जाने की बात लिखी है, उसका एक उदाहरण गुप्तकालीन नाटक 'मृच्छकटिक' के जुआरी उस पात्र मे है जो जुआ के स्वामी के ऋण के बदले अपने

[१]शाकु., पृ. २१६। [२]मालविका., १, ७, पृ. ६८। [3]समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो, शाकु., पृ.२१६। [४]रघु., १५, ५३। [५]कात्यायन स्मृति, १०, ७१५ से आगे।

को बेच देता है। उस नाटक मे दो दास हैं, एक स्थावरक, दूसरी मदनिका। इनमें से पहले का स्वामी उसे पीटता और बेड़ी में जकड देता है, दूसरी की स्वामिनी उसे मित्रभाव से रखती है। स्थावरक की मुक्ति उसके स्वामी की दुर्दशा के बाद राजाज्ञा से होती है, उधर मदनिका की दासता से मुक्ति उसके प्रणयी से मिलने के लिए ही उसकी स्वामिनी कर देती है। दासो के स्वामियो की मन स्थिति पर अक्सर दासों का सुख-दुख निर्भर था।

अस्पृश्य और आदिवासी

इनसे भी भयंकर स्थिति चाण्डाल आदि उन अस्पृश्य जातियो की थी जिन्हें नगरों या गावो मे रहने का अधिकार न था। दास तो इनसे कही भाग्यवान् थे क्योंकि उन्हें कम से कम स्वामियो के घरो में नगरों और गांवो मे रहने का अधिकार तो था। चाण्डाल आदि अस्पृश्य थे, अछूत, जिनको छूना या यज्ञ-व्रतादि के अवसरो पर देख लेना भी द्विजों को अपवित्र कर देता था। इसी से उन्हें नगर-गाव से बाहर, श्मशानादि मे ही रहना होता था। सूर्योदय से पहले अथवा सूर्यास्त के बाद वे गाव-नगर मे नही जा सकते थे, और फाह्यान[1] आंखो देखी, पाचवी सदी के आरम्भ की बात कहता है कि जब कभी चाण्डाल बाजार मे प्रवेश करते थे तब वे लकडिया बजाते चलते थे जिससे लोग लकडियों की आवाज सुनकर हटते जाय और उनके स्पर्श से अपवित्र न हो जाय। फाह्यान लिखता है कि बहे-लिया और मछलीमार के पेशे ही वे कर सकते थे। उसमे दो सौ साल बाद आनेवाले दूसरे चीनी यात्री ने भी फाह्यान के वक्तव्य की सपुष्टि की है। वह लिखता[2] है कि पशु मारकर मास बेचनेवाले, प्राणदण्ड देनेवाले वधिक, विष्ठा आदि उठाने वाले नगर के बाहर रहते थे जहां उनके आवासो पर विशेष चिह्न बने होते थे। नि सन्देह यह उल्लेख चाण्डालो के प्रति ही किया गया है।

स्मृतियो के अनुसार चाण्डालो को शव आदि बहाने और प्राणदण्ड पाये व्यक्तियो का वध करने का काम सौंपा जाता था और नगर या गावो मे वे राजा द्वारा निश्चित चिह्न धारण करके ही दिन मे प्रवेश कर सकते थे। इस प्रकार चीनी यात्रियों के वर्णनो की स्मृतियो से सपुष्टि हो जाती है। ललित साहित्य में भी अछूतो के प्रति इसी प्रकार के व्यवहार के प्रमाण मिलते है। 'कादम्बरी' (सातवी सदी के आरभ की) मे शूद्रक के दरबार मे प्रवेश करनेवाली चाण्डाल कन्या वहा पहुच कर बास के डडे से फर्श पीटती[3] है जिससे उसके आने का पता राजा को चल जाय। 'मृच्छकटिक' (गुप्तकालीन) और 'मुद्राराक्षस'[4] मे दो चाण्डाल प्राणदण्ड पाये व्यक्ति को वधस्थल पर ले जाते हैं।

[1]गाइल्स का अनुवाद, पृ. २१। [2]वृत्तान्त, १, १४७। [3]अंक १०। [4]अंक ७।

मुद्राराक्षस उन्हें अस्पृश्य बताता है। 'लंकावतार' के अनुसार मांसभक्षक डोम, चाण्डाल और कैवर्त ही इस कार्य के लिए नियुक्त होते थे। स्मृतियों की इन परिगणित जातियों की संख्या अनंत थी।

चाण्डाल आदि की ही भाति आदिवासी जातियां भी गांव-नगरो से बाहर रहती थी, यद्यपि उनका वहां रहना स्वेच्छा से ही होता था। वे किरात, पुक्कस, पुलिन्द, शबर आदि जातिया हिमालय अथवा विन्ध्याचल के वनों मे रहती थी, जैसे अनेक आदिम जातियां आज भी रहती हैं। वे आर्य वर्ण-धर्मियो से सर्वथा भिन्न स्थिति में रहती थी और उनका उल्लेख भी पर्याप्त घृणापूर्वक हुआ है। गुप्तकालीन कृतियों—मालविकाग्निमित्र, दशकुमारचरित, हर्षचरित और कादम्बरी—मे उनके परिधान, सामाजिक रीति-रिवाजों और धार्मिक विश्वासों के उल्लेख हुए है। 'मालविकाग्निमित्र' से पता चलता है कि वन-प्रान्तर मे बसनेवाली एक जगली जाति ने विदिशा लायी जाती हुई मालविका के दल पर भयंकर हमला किया था। ये डाकू विकराल थे और अपने लंबे रूखे बालों मे मोरपख खोंसे हुए थे। शबरों के संबंध में 'कादम्बरी' मे उल्लेख है कि वे विन्ध्य पर्वत के वनो मे रहते थे, स्त्रियों को छीनकर ब्याहते थे, आखेट का मांस खाते, शराब पीते और अपने देवताओं पर मनुष्य की बलि चढाते थे।

विवाह

समाज का आधार कुटुम्ब था और कुटुम्ब विवाह से बनता था। सारे सामाजिक संबंध का मूल विवाह था, इससे हम यहां गुप्तकालीन विवाह की चर्चा करेंगे। विवाह उस काल का प्रधान संस्कार था, क्योंकि अग्नि को हवि तक पति को पत्नी के साथ ही देनी होती थी। समकालीन कवि कालिदास पत्नी की आवश्यकता अनिवार्य बनाता है क्योंकि उसी के साधन से धर्माचरण होता है (सह धर्मचरणाय)[1]। आश्रमो मे सबसे प्रधान विवाहित गृहस्थ का माना जाता था, क्योंकि शेष तीनो आश्रम—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास—अपनी सभावनाओं और स्थिति के लिए इसी पर निर्भर रहते थे (सर्वोपकारक्षम)[2]। इससे सभी से—विशेषत ब्राह्मण और क्षत्रिय से—आशा की जाती थी कि वे अध्ययन का ब्रह्मचारी जीवन (चौदह विद्याओ का अध्ययन) समाप्त कर विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।[3]

[1]शाकु., पृ. १६५; वही, पृ. २६०; कुमार., ८, २६, ५१; 'क्रियाणां खलु धर्म्याणां सपत्न्यो मूलकारणम्', वही, ६, १३। [2]रघु., ५, १०। [3]वही, ३, ३०; ५, २०, २१।

वधू का चुनाव

विवाह के लिए दोनो पक्षो का सबध कुल का पुरोहित या कोई ब्राह्मण कराता था, जैसे कुमारसभव मे शिव और पार्वती के विवाहसबध की वार्ता पार्वती के पिता हिमालय से सप्तर्षियों ने की।[१] समकालीन वात्स्यायन की राय मे यह चुनाव दोनो पक्षो के माता-पिता अथवा वर के मित्र, वर की इच्छा को जानकर करते है।[२] स्वय वर भी वधू के मन को जीतकर विवाह करता है।[3] स्वाभाविक ही इस प्रकार का विवाह गाधर्व का रूप धारण कर लेता है। गाधर्व विवाह को वात्स्यायन ने सबसे सुन्दर और शालीन माना है, कारण कि इसमे दोनो पक्षो का आत्मनिर्णय अनुकूल आचरण के लिए प्रकट होता है।[४] सभवत. इसी विधि से चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अग्रज रामगुप्त की पत्नी (अथवा राक्षस विधि से छीनी हुई भाभी) से विवाह किया था (विशाखदत्त के गुप्तकालीन नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के अनुसार)।

विवाहों के प्रकार

सबध स्थापित हो जाने पर अविवाहिता कन्या से विवाह करना चाहिए, क्योंकि विधवा, विवाहिता, अथवा असवर्णा से विवाह वात्स्यायन, वेश्या से विवाह अथवा काम सबध की भाति केवल कामतृप्ति की क्रिया मानते है।[५] कालिदास ने प्राचीन आठ प्रकार के विवाहो मे गान्धर्व[६], आसुर[७] और प्राजापत्य[८] विधि का उल्लेख किया है। स्वयवर का जो उसने रघुवश के छठे सर्ग मे सविस्तर वर्णन किया है वह प्राचीन प्रसग मे हुआ है, क्योकि गुप्तकाल मे रजवाडो मे भी इस प्रथा का प्रचलन न था। वात्स्यायन ने गान्धर्व के अतिरिक्त पैशाच और राक्षस विवाह को भी स्वीकार किया है। पैशाच को वे बेजा इसलिए नही मानते कि वह हिंसा से रहित होता है।[९]

गांधर्व—कालिदास गाधर्व को मात्र प्राचीन घटित घटना के रूप मे कथा के प्रसगवश स्वीकार करता है, स्वय मान्यता नही देता, उसका प्रतिकार करते-से अपने एक पात्र के मुह मे निम्नलिखित वक्तव्य रखता है—'इसमें उसने (शकुन्तला ने) अपने गुरुजनो की अपेक्षा नही की, न अपने ज्ञातियो से उसने कुछ पूछा। जिस सबध को दोनो ने अपने आप किया उसके विषय मे उन दोनो मे से किससे कोई क्या कहे?'[१०] कवि का कहना है कि

[१]कुमार., ६, ३१, ३५, ७८, ७९। [२]कामसूत्र, ३, १, ४–२१। [3]वही, ३, १–४४। [४]कामसूत्र, ५, १–३०। [५]वही, १, ५, १–३। [६]शाकु., ३, २०; वही, पृ., २६५। [७]रघु., ११, ३८। [८]रघु., ७, १३, १५–२८; कुमार; ७, ७३–७९। [९]पूर्व संकेतित प्रसंग। [१०]शाकु., ५, १६।

संबंध, विशेष कर एकान्त का, विशेष छानबीन के बाद करना चाहिए, वरना अनजाने हृदयो की मैत्री शत्रुता मे बदल जाती है।[१] कालिदास तो आदर्श उस संबंध को मानता है जिसमें कन्या, संभावित वर मे मन लगाये हुए भी, धीरतापूर्वक पिता की आज्ञा की प्रतीक्षा करती है,[२] संबंध के लिए सहसा आतुरता से दौड नही पड़ती।

आसुर—कवि ने अपने वाक्यांश 'दुहितृशुल्कसंस्थया',[३] (कन्या देने के बदले धन ग्रहण) द्वारा आसुर विवाह का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार का विवाह इस देश में सभी युगो मे किसी न किसी मात्रा मे प्रचलित रहा है। गुप्तकाल मे भी प्रचलित रहा हो तो कुछ आश्चर्य नही, क्योकि गुणहीन वर का अन्तिम और सामान्य साधन वधू को खरीदने वाला धन होता है और अन्य युगो की ही भांति गुप्तयुग में भी गुणहीन वरों की कमी न रही होगी।

प्राजापत्य—गुप्तकालीन या उनसे पहले की भी स्मृतियां प्राजापत्य विवाह को ही वस्तुत. आदर्श मानती हैं। ऋग्वैदिक काल से आज तक हिन्दू विवाह की क्रियाएँ प्राजापत्य विधि से ही सपन्न होती रही हैं। ऋग्वेद के दसवें मडल में सूर्या-सोम की जो विवाहपद्धति है वही कालिदास के 'रघुवंश' अथवा 'कुमारसंभव' में अज और इन्दुमती की अथवा शिव और उमा की है। इस प्राजापत्य विवाह-पद्धति मे पिता कन्या को परिधान और आभूषण से अलकृत कर मनु-सम्मत क्रियाओं से अग्नि को साक्षी बना वर को प्रदान करता है। अनेक बार, जैसा वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में लिखा है, वर के मित्र अथवा सबधी उसकी ओर से कन्या के पिता से विवाह के अर्थ उसे मागते थे। 'कुमारसभव' में यह कार्य शिव की ओर से सप्तर्षि करते हैं, और जब वे पार्वती के समक्ष हिमालय से उसे मागते हैं तब पार्वती लज्जा से लाल हो हाथ के लीलारविन्द (कमल) की पखुड़ियां गिनने लगती है।[४] गुप्तकालीन कवि शिव-पार्वती के विवाह की क्रिया का सविस्तर जो वर्णन करता है वह इस प्रकार है—

प्रारंभिक तैयारिया

निश्चित शुक्ल पक्ष के जामित्र लग्न की शुभ तिथि पर[५] वधू के पिता और बान्धव विवाह के पूर्व की प्रारंभिक तैयारिया करने लगते हैं। वधू के गृह को जानेवाली सड़क पर दोनो ओर चीनी रेशम की झडियां लगा दी जाती हैं और बीच-बीच मे सुनहरे फूलों से सजे तोरण खड़े कर दिये जाते हैं।[६] वधू के सगे-सबंधी तब कन्या को गले लगाकर उसे आभूषण आदि भेंट देते हैं।[७]

[१]शाकु., ५, २४। [२]श्रीः साभिलाषापि गरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकांक्ष। रघु., ५, ३८। [३]रघु., ११, ३८। [४]कुमार., ६, ८४। [५]वही, ७, १। [६]वही, ३। [७]वही, ५।

स्नान-प्रसाधन

फिर उत्तराफाल्गुनी का चन्द्रमा से योग होने पर मैत्र मुहूर्त में स्त्रिया वधू का हल्दी, बिलेपन आदि द्वारा प्रसाधन करती थी। यह कार्य केवल उन स्त्रियों द्वारा संपन्न होता था जो सधवा हो और जिन्होने केवल पुत्र ही जने हो।[1] दूर्वा और दुकूल धारण कर क्षत्रिया वधू हाथ में बाण लेती थी।[2] फिर चन्दन के तेल और कालेयक से उसे चर्चित कर उस पर लोध्र का चूर्ण छिड़कते थे। तदनन्तर परिधान बदलवा कर नारियां उसे स्नान के अर्थ रत्न जड़े मंडप मे ले जाती थी जिसे चतुष्क कहते थे। वह स्तभो पर टिका होता था, मोतियो और नीलम से, धनी पिता के घर मे, सजा होता था।[3] सगीत की अविरल बहती धारा के बीच सोने के कलशों से स्त्रियां वधू के अग-प्रत्यंग पर जलधारा बरसाती थी। तब निष्कलंक श्वेत वस्त्र धारण कर[4] वधू पतिव्रता सधवाओ द्वारा स्नानमंडप से आगन के चदोवे-तले ले जाकर वेदी[5] पर पूर्व की ओर[6] मुह कर बिठा दी जाती थी। फिर उसका अभिराम प्रसाधन शुरू होता था। कानो पर सुगन्धित दूर्वा[7] रख श्वेत अगुरु और पीत गोरोचन[8] से बने लेप से उसका मुखमडल सुन्दर पत्ररचना से अकित कर दिया जाता था। मुख-प्रसाधन की एक दूसरी विधि गालो को चमकते केसर अथवा गोरोचन से परस कर लोध्र-चूर्ण उन पर छिड़क देते थे और तब कानो पर जौ के अंकुर[9] लटका देते थे। होंठो को कुछ लाल रग देते थे।[10] चरणो को फिर आलता से कोरकर[11] आखों मे अंजन आंजते थे।[12] ग्रीवा और भुजाएँ रत्नाभूषणो से ढक जाती थी। स्वच्छ दर्पण[13] के सामने खडी हो वधू सोने के आभूषण[14] धारण करती थी। तब वधू की माता पुत्री के भाल पर विवाहदीक्षा का तिलक लगा[15] उसकी कलाई पर ऊन का बना कौतुकसूत्र (कगन) बाधती थी।[16] तब कुलदेवता की प्रणाम-पूजा कर[17] वधू आयु के क्रम से पतिव्रताओ के चरण छूती थी[18] और वे उसे आशीर्वाद देती थी—"अखण्डित प्रेम लभस्व पत्यु"—पति का अखण्ड प्रेम प्राप्त करो।[19]

मगल वस्तुएँ

वर का भी इसी प्रकार प्रसाधनादि होता था। कुल की नारिया उसे कुलानुकूल शालीन

[1] कुमार., ६। [2] वही, ७। [3] वही, ९। [4] वही, १०—११। [5] वही, १२। [6] वही, १३। [7] वही, १४। [8] वही, १५। [9] वही, १७। [10] वही, १८। [11] वही, १९। [12] वही, २०। [13] वही, २२। [14] वही, २१। [15] वही, २४। [16] वही, २५। [17] वही, २७। [18] वही। [19] वही, २८।

वस्तुओं से[1] अलंकृत करती थी। अंगराग से उसका विलेपन कर, उसके मस्तक, ग्रीवा, कानों, भुजाओं और कलाइयों को विभूषित करते थे, उसे हंसचिह्नों से छपे दुकूल पहनाते थे। हरिताल और मेनसिल[2] का उसके मंडन में भी उपयोग होता था। फिर अपने इस प्रकार प्रसाधित रूप को दर्पण में देख[3] वर अपने इष्टजनो के साथ वधू के पिता के घर की ओर वाद्यों के वादन के साथ साथ[4] प्रयाण करता था। चमर और छत्र[5] धारण द्वारा वर की शोभा चक्रवर्ती राजा-सी हो जाया करती थी। मार्ग की शोभा मंगल की वस्तुओं से रच दी जाती थी।[6] घर के द्वार पवित्र जल से भरे कलशो से सजा दिये जाते थे।[7] अन्य मंगलवस्तुएँ कस्तूरी (मृगरोचना), तीर्थों से लायी मिट्टी और दूर्वादल आदि होती थी।[8] ऊपर लिखा जा चुका है कि मार्ग को तोरणो और तोरणो पर बने इन्द्रधनुष के चित्रो[9] तथा ध्वजाओ[10] से सजा देते थे।

विवाहक्रिया

गुप्तकाल से भी प्राचीन युगों से चली आती, गुप्तकाल मे भी प्रयुक्त और आज भी प्रचलित विवाह क्रियाओ (प्राजापत्य पद्धति की) मे कोई अन्तर नही पड़ा है। वधू के पक्ष के लोग, अभिराम सजकर हाथियो पर चढ वरपक्ष के स्वागत के लिए आगे बढते थे।[11] नगर का द्वार खोलकर वर के जलूस पर फूल बरसाये जाते थे।[12] अक्षत बरसते[13] जलूस को देखने के लिए स्त्रिया छतो पर चढ जाती थी,[14] गृहो की खिडकियो मे भर जाती थी। वर का स्वागत कर उसे सुन्दर आसन पर बिठा मधुपर्क, रत्न, दुकूल आदि अर्पित करते थे, उधर वेदो के मत्र पंडितो द्वारा उच्चरित होते रहते थे।[15] यह सभवत आज की द्वारपूजा थी। फिर वर को अत्यन्त विनयपूर्वक विवाहमडप मे ले जाया जाता था।[16] वहाँ विवाह क्रिया वेदविधि से सपन्न होती थी। पुरोहित वधू का हाथ वर के हाथ मे देता था।[17] फिर शिव और पार्वती की प्रतीक–प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कर उन्हे पूजते थे।[18] वर और वधू तब अग्नि की तीन बार प्रदक्षिणा करते थे[19] और पुरोहित के आदेश से वधू अग्नि मे अक्षत डालती थी।[20] फिर, पुरोहित वधू और वर को आशीर्वाद देता था। वधू से वह कहता था—'तुम्हारे इस विवाह कर्म के साक्षी ये अग्निदेव हैं, निर्विचार होकर

[1] कुमार; ३०। [2] वही, ३३। [3] वही, ३६। [4] वही, ४०। [5] वही, ४१,४२।
[6] रघु., ७, १६; १०, ७७; शाकु., पृ. १२६। [7] रघु., ५, ६३। [8] शाकु., पृ. १२७।
[9] रघु., ७, ४। [10] वही। [11] कुमार., ७–५२। [12] वही, ५५।
[13] वही, ६३, ६६। [14] वही, ५६। [15] वही, ७२। [16] वही, ७३।
[17] वही, ७६। [18] वही, ७८। [19] वही, ७९, ८०। [20] वही, ८१।

अपने पति के साथ धर्माचरण करो।[1] और तब वर अपनी पत्नी से ध्रुव तारा दिखाकर कहता था—उधर देखो, भद्रे, उस ध्रुव को। उसी की भांति तुम्हारा अहवात, हमारी परस्पर एकाग्रता, अक्षय बने रहें! और वधू ध्रुव की ओर देखकर कहती थी, हां, देखती हूं, ध्रुव को।[2] इस प्रकार वैदिक विधि से जब प्राजापत्य क्रिया सपन्न हो जाती थी तब लौकिक क्रियाएँ अनुष्ठित होती थी। चतुष्कोण वेदी पर मूल्यवान् आसन डाल विवाहित दम्पति को उस पर बिठा उस पर अक्षत डालते थे।[3] और प्राजापत्य क्रियाएँ समाप्त हो जाती थी।

वैवाहिक क्रियाएं सपन्न हो जाने के बाद हसी-खेल का प्रारम्भ होता था, एक प्रकार के रग का अनुष्ठान कन्याएँ करती थी जिसमे नृत्य और अभिनय अभिराम रूप से परस्पर गुफित होते थे। कौशिकी वृत्ति से ललित[4] अभिनय आचरित होता था। इसके बाद दम्पति शुभ कलशो और पुष्पशय्या मे युक्त 'कौतुकागार'[5]—शय्याग्रह—मे प्रवेश करते थे। यह दाम्पत्य रात्रि आज के उत्तर भारत मे साधारणत 'सुहागरात' कहलाती है। कवि द्वारा वर्णित विवाहोपचार के पश्चात् वर और वधू कामक्रीडा मे प्रवृत्त होते थे (पाणिपीडनविधेरनन्तर . कामदोहदम्)।[6]

प्रस्थान

शकुन्तला की प्रस्थान-विधि का जो वर्णन हुआ है उससे वधू की विदा पद्धति का रूप जाना जा सकता है। कन्या पिता के घर रखी दूसरे की धरोहर मानी गयी है जिसे वह समय आने पर उसके स्वामी को लौटा देता है।[7] विवाह होते ही नववधू का इस कारण पति के साथ पतिगृह चले जाना अनिवार्य माना जाता था। 'जो कन्या विवाहिता होकर भी पिता के गृह मे निवास करती है उसके पतिव्रता होते हुए भी आचरण मे लोग सदेह करने लगते है।' इससे उसके बन्धु-बाधव पति की अप्रिया होते भी उसका पतिगृह मे निवास ही उचित मानते है।[8] विवाहिता का स्वतन्त्राचरण[9] अत्याचार माना जाता था, पतिगृह मे इसके विरुद्ध दासी होकर रहना भी उसके लिए प्रशमनीय था।[10] इससे कन्या को पति के घर भेज पिता को असाधारण सुख और शाति होती थी और उसके मन और मस्तक से एक बडा भार उतर जाता था।[11] प्रस्थान के समय वधू को विविध विधियों, आभूषणो आदि से सजाते थे। यह प्रस्थान-मडन 'प्रस्थान-कौतुक'[12] कहलाता था, जिसमे दूर्वा (दूब), तीर्थों मे लायी

[1] कुमार., ८३। [2] वही, ८५। [3] वही। [4] वही, ६१। [5] वही, ६४।
[6] वही, ८, १। [7] शाकु., ४, २१। [8] वही, १७। [9] वही, पृ. १७८।
[10] वही, ५, २७। [11] वही, ४, २१। [12] वही, पृ. १२५।

मिट्टी और गोरोचन का व्यवहार होता था।[१] वधू चन्द्रधवल दुकूल[२] और आभूषण धारण करती और अपने चरणों को महावर (आलता) से रंगवाती। फिर जब वह अग्नि की प्रदक्षिणा कर[३] पतिगृह जाने को तैयार होती थी तब उसके स्वजन उसे अनुकूल मंद-मंद पवन बहे और मार्ग निर्विघ्न हो (शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः)[४]—का आशीर्वाद देते। शकुन्तला के प्रस्थान के अवसर पर पिता कण्व का नव वधू को सलाह और आशीर्वाद इस प्रकार है—"बडो का आदर करो, सपत्नियो के प्रति मित्र का-सा आचरण करो, यदि पति दुर्व्यवहार भी करे तो उस पर क्रोध न करो, सेवको पर अनुग्रह करो, सौभाग्य से कभी अभिमानग्रस्त न हो, इस प्रकार आचरण करनेवाली वधुएँ गृहिणी का स्थान पाती है। इसके विरुद्ध आचरण करने वाली अपने कुल की कल कहोती है।"[५] कण्व आशीर्वाद के अन्त मे कहते है—"दीर्घकाल तक सागर-सीमान्त पृथ्वी की सपत्नी होकर, दुष्यन्त से उत्पन्न चक्रवर्ती पुत्र पर पृथ्वी का भार डाल पति के साथ फिर इस शात आश्रम मे निवास करना।"[६] यद्यपि सलाह यह राजपत्नी को दी गयी है, इसकी सार्थकता समाज मे सार्वजनीन रही है। इससे यह भी प्रकट है कि एक बार पतिगृह जाकर वधू फिर, वान-प्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करने से पहले, पिता के घर नही लौटती थी। कम से कम सभवत तब के रजवाडो मे यह प्रचलित प्रथा जान पडती है।

वधू की आयु

वधू के विवाह की आयु के निश्चित सिद्धात का गुप्तकाल मे पता नही चलता। कुछ स्मृतिया विवाह के समय तक वधू का रजस्वला न होना पसन्द करती है। विष्णुपुराण[७] के अनुसार वर की आयु वधू से तिगुनी होनी चाहिए, पर स्मृतिमुक्ताफल मे उद्धृत[८] अगिरा की राय मे दोनो की आयु मे केवल तीन-चार साल का अन्तर ही उचित है। समकालीन कामसूत्र[९] भी दोनो की आयु के बीच इतने ही अन्तर को उचित मानता है। जान पडता है कि गुप्त युग मे यही अन्तर व्यवहृत भी होता था। यदि रजस्वला होने के बाद विवाह नही होता तो वधू गाधर्व-प्रणय को सभव कैसे कर पाती, अथवा विवाह की उन अनेक परिस्थितियों को कैसे समझ पाती जिनको स्वेच्छा से अगीकार करना अथवा न करना उसका कर्तव्य था ?[१०] इसका प्रमाण यह भी है कि वर-वधू विवाह के अवसर पर एक-दूसरे के स्पर्श से रोमाच (कण्टकितप्रकोष्ठ.) का अनुभव

[१]शाकु., पृ. १२७। [२]खोमजुअलं, वही, पृ. १३३। [३]वही, पृ. १३३। [४]वही, ४, १०। [५]वही, १७। [६]वही, १९। [७]३, १०, १६। [८]१, १२५। [९]३, १, २। [१०]कुमार., ७, ८५।

करते हैं[1] जो वयस्क न होने से सभव न हो पाता। फिर विवाह विधि के सपन्न होते ही वर-वधू का शयनागार में प्रवेश कर 'कामदोहद'[2] अथवा सुहागरात मनाना अल्पायु होने पर, कोई अर्थ नही रखता। और यदि यह मान लें कि शकुन्तला क्षत्रिय अथवा पार्वती देवकन्या होने से सभवतः आयु मे अपवाद थी तब ब्राह्मण कन्या अनसूया और प्रियवदा शकुन्तला की ही आयु की होकर 'प्रदेय'[3] क्यो समझी जाती ?

जैसा वरतन्तु के शिष्य कौत्स के उस प्राचीन सदर्भ से प्रकट है जिसका कालिदास समर्थन करते है, ब्राह्मण को वेदाध्ययन समाप्त करने के बाद विवाह (गृहाय) के अर्थ अनुमति मिलती थी।[4] इसी प्रकार क्षत्रियकुमार धनुर्वेद आदि की शिक्षा के बाद विवाह करता था।[5] सोलह साल मे 'वर्महर' (कवच धारण करने योग्य) होकर वह गोदान (केश) सस्कार और उसी अवसर पर विवाहदीक्षा ग्रहण करता था।[6] तब तक स्वाभाविक ही क्षत्रियकुमार की वय, दार-क्रियायोग्य दशा[7] उपस्थित हो जाती थी। इस पद मे न केवल विवाह बल्कि उसके पश्चात् शीघ्र ही शय्यारोहण की भी ध्वनि प्रस्तुत है। विवाह आयु और जन्म के क्रम मे होना स्वाभाविक माना जाता था। बडा भाई छोटे भाई से पहले अथवा बडी बहिन छोटी बहिन से पहले विवाहित होती थी। जब अनुज ज्येष्ठ से पहले विवाह करता था तब उसे 'परिवेत्ता'[8] कहते थे।

दहेज

विवाह के अवसर पर आज की भाति दहेज मागकर वधू के पिता को भयानक यत्रणा मे डाल देने की स्थिति तो तब सोची भी नही जा सकती थी, पर ऐसा भी न था कि यह प्रथा सर्वथा जानी हुई ही न हो। वधू का अभिभावक विवाह के समय अपनी शक्ति के अनुसार (सत्त्वानुरूप) वर को दहेज (हरणम्)[9] देता था। कन्या 'मङ्गलालङ्कृता'[10] (मगल अलकारो से युक्त) दान की जाती थी और उसके ये आभूषण विवाहावसर पर[11] बान्धवो द्वारा दिये उपहारो के साथ उसका 'स्त्रीधन' हो जाते थे।

वहुपत्नी-विवाह

वहुपत्नी-विवाह की प्रथा गुप्तकाल मे अनजानी न थी। यद्यपि प्राजापत्य विवाह

[1]कुमार, ७७। [2]वही, देखिए, वही, ६५। [3]शाकु., पृ. १४४। [4]रघु., ५, १०। [5]वही, ३, १०, ३२। [6]वही, ५, ४०। [7]इण्डिया इन कालिदास, पृ. १८५। [8]रघु., १२, १६। [9]वही, ७, ३२। [10]कुमार., ६, ८७। [11]वही, ७, ५।

और एकपत्नीवरण की प्रथा समाज मे बहुमान्य थी, अनेक पत्निया उस काल के धार्मिक, सामाजिक और ललित साहित्य मे सूचित हुई है। सम्भ्रात और धनवान् तो प्राय सदा ही बहुपत्नीक[१] हुआ करते थे। कालिदास के नाटको के सारे राजा बहुपत्नीक हैं। जहां प्राचीन अतीत की स्थिति मे इसका अभाव है, जैसे अग्निमित्र आदि के प्रसग मे, वहां भी प्रमाण होने पर कवि ने बहुपत्नीकता का उल्लेख किया है।[२] शाकुन्तल मे यह पता चलने पर कि समुद्र-व्यवहारी सौदागर धनमित्र पुत्रहीन मर गया है और उसका धन राजकोष मे ले लिया गया है, राजा कहता है कि धनवान् होने से स्वाभाविक ही श्रेष्ठी बहुपत्नीक होगा, खोज करो उसकी पत्नियो मे से किसी एक को गर्भ तो नही, क्योकि गर्भ का शिशु भी पिता के धन का अधिकारी होता है। और एक स्थल से यह भी सूचित होता है कि सपत्नियां बडे मेल से रहती थी—"सपत्नियो के होते भी शालीन महिलाए अपने पतियो का आदर करती है, उनसे प्रेम करती हैं, जैसे महानदियां अपने साथ अनेक अन्य धाराओ को भी सागर मे बहा ले जाती हैं।"[3] फिर भी यह अत्यन्त प्राचीन दुखदायी प्रथा गुप्तकाल मे भी सक्रिय बनी रही। सपत्नी-प्रथा अति प्राचीन, ऋग्वैदिक कालीन है। उसके दसवे मडल मे 'सपत्नीबाधनम्' एक सूक्त ही है जिसमे अपनी सपत्नियो के नाश के अर्थ शची-पौलोमी मत्र कहती है। वह स्थिति गुप्तकाल मे भी कुछ अंश मे कायम थी।

पत्नी

विवाह का उद्देश्य 'सह धर्माचरण' था जिससे पत्नी धर्मपत्नी[४] कहलाती थी। जो धर्मचारी थे और धर्मकार्यो मे सदा लगे रहते थे, उनके धर्माचरण का मूल आधार पत्नी ही थी।[५] स्वय विवाह 'भावबन्धन प्रेम'[६] का परिणाम माना जाता था। पति को अर्हत् और पत्नी को 'सत्क्रिया की प्रतिमा'[७] माना गया है। पति और पत्नी का सबध रत्न और स्वर्ण का सयोग[८] (मणि-काचनसयोग) था और यह दो मनों का जन्मान्तर-सयोग माना जाता था।[९] कवि ने इस सबध को दार्शनिक शब्दों मे प्रकृति और प्रत्यय का सयोग[१०] भी माना है। पत्नी का महत्त्व इसमे भी विशेष था कि जीवन के लिए अनिवार्य और पितृ-ऋण से उऋण होने के साधन 'औरस पुत्र'[११] की उत्पत्ति उसी मे होती थी।

[१]बहुपत्नीकेन, शाकु., पृ. २१९; ज्येष्ठमारतम्, विक्रमो., पृ. १४०; बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते, शाकु., पृ. १०५; अवरोधे महत्यपि, रघु. १, ३२। [२]मालविका, २, १४; ५, १९। [3]वही। [४]शाकु., ६, २४। [५]क्रियाणां खलुधर्म्याणां सपत्न्यो मूलकारणम्, कुमार., ६, १३। [६]रघु., ३, २४। [७]शाकु., ५, १५। [८]रघु., ६, ७९; मालविका., ५, १८। [९]मनो हि जन्मान्तरसगतिज्ञम्, रघु., ७, १५। [१०]वही, ११, ५६। [११]शाकु., पृ. २४४।

कालिदास की ही भांति गुप्तकाल के समसामयिक वात्स्यायन ने भी स्मृतियों से मिला-जुला पत्नी के आदर्श जीवन का प्रतिबिंबन किया है। आदर्श पत्नी पति के प्रति अनुरक्त होती है, उसके व्रतादि में भाग लेती है, उसकी अनुमति से ही सामाजिक और धार्मिक समारोहों में शामिल होती है। वह असतियों का साथ नहीं करती, द्वार अथवा एकान्त में देर तक खड़ी नहीं रहती। पति के मित्रों का भेंट-उपहारों से आदर करती है, सास-ससुर की सेवा करती और उनकी आज्ञा पालन करती है। कालिदास की धारिणी और औशीनरी की भांति वह उत्सवों-व्रतों के समय सेवकों को पारितोषिक देकर पुरस्कृत करती है।[1] 'शाकुन्तल' की शकुन्तला में, 'मृच्छकटिक' की धूता में, 'विक्रमोर्वशीय' की औशीनरी में कात्यायन[2], वेदव्यास[3], मत्स्यपुराण[4] आदि की सम्मत आदर्श पत्नी के स्वरूप निर्मित हुए हैं। कामसूत्र ने जो प्रोषितपतिका (पति के विदेश जाने पर) आदर्श पत्नी का रूप लिखा है कि वह तप का जीवन व्यतीत करेगी, आभूषण धारण अथवा प्रसाधन न करेगी,[5] वही रूप कालिदास ने अपने 'मेघदूत' में पति से विरहिता यक्षपत्नी की विरहावस्था में व्यक्त किया है। वह निर्वासित पति के अभाव में केशों में तेल नहीं लगाती,[6] वेणी नहीं बनाती, प्रसाधन-अलंकरण नहीं करती[7], अंजन नहीं लगाती, सुरा नहीं छूती।[8] पत्नी घर की स्वामिनी, गृहकार्यों में सचिव (मंत्रिणी), एकांत की सखी और ललित कलाओं में प्रिय शिष्या[9] मानी जाती थी, पर निश्चय यह आदर्श पति के आचरण की बात थी। पतिव्रता[10] पति को देवता[11] मानती थी और पति के मनोरथों की पूर्ति में ही वह अपने मनोरथों की पूर्ति भी मानती थी।[12] पति का वह 'आर्यपुत्र'[13] कहकर संबोधन करती थी। अपने पति के अखंडित प्रेम[14] की वह आकांक्षा करती थी। अपने मण्डन की सार्थकता वह इसमें मानती थी कि प्रिय उस पर एक नज़र डाल ले।[15] पति भी परिणामतः उसे बहुत करके मानता था। वह उसकी 'अर्चिता'[16] पूजनीया थी। जब पत्नी सधवा मरती थी, तब आज की ही भांति, उसे दग्ध करने के पूर्व उसको 'अलंकारों' और पत्रलेखन, प्रसाधन आदि से सजाते थे।[17] आश्वलायन ने भी सधवा के लिए प्रेतमण्डन का विधान किया है।[18]

[1]कामसूत्र, ४, १, १–१५; २, १–३८। [2]८३५–३७। [3]२, १२, १९। [4]२१०–१८। [5]का. सू., देखिए ऊपर का संदर्भ। [6]मे. उ., २९। [7]वही, ३०। [8]वही, ३२। [9]गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। रघु., ८, ६७। [10]कुमार., ६, ८६। [11]रघु., ९, १७; १४, ७४। [12]कुमार., ६, ८६। [13]मालविका., पृ. ४८, ५७। [14]कुमार., ७, २८। [15]स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः, वही, २२। [16]रघु., १०, ५५। [17]कुमार., ४, २२; मालविका., पृ. ४५। [18]गृह्यपरिशिष्ट, अध्या. ३, खं. १।

इतना होने पर भी स्मृतियो की ही भांति समसामयिक साहित्य पत्नी के ऊपर पति की प्रभुता सर्वतोमुखी[१] मानता है । यह मनु के विधान—'प्रदानं स्वाम्यकारणम्'[२] (कन्यादान स्वामी के अधिकार का आधार है)—के सर्वथा अनुकूल ही है । 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' मे शकुन्तला पति से पुन सयोग के लिए व्रत करती है और 'विक्रमोर्वशीय' में औशीनरी पति को प्रसन्न करने के लिए व्रत करती है, यद्यपि साहित्य में मान की हुई पत्नी को पैरो पडकर पति के मनाने के अनन्त प्रमाण प्रस्तुत है। मेघदूत का यक्ष दुखी है कि प्रिया का रूप जब तक वह गेरू से शिला पर लिखता है तब तक आखो मे आंसू भर आते हैं जिससे दृष्टिलोप हो जाने से वह उसके मान भजन के लिए उसके चरणो मे पड़ा अपना चित्र बना नही पाता । औशीनरी के पति-प्रसादन व्रत करने पर उसका पति पुरूरवा कहता है कि कल्याणि, क्यो व्यर्थ अपना यह मृणाल सा कोमल गात व्रत से गला रही हो। जो स्वय तुम्हारे प्रसाद (अपने ऊपर प्रसन्नता) का अभ्यर्थी है उस अपने दास को प्रसन्न करने का भला व्रत कैसा ?

विधवा और सती-प्रथा

गुप्तकालीन साहित्य–स्मृतियो और काव्यादि मे समाज मे विधवाओ की स्थिति और पति के साथ सती हो जाने दोनो का उल्लेख मिलता है । इससे प्रकट है कि विधवाओ के अस्तित्व के बावजूद सती-प्रथा का भी आचरण गुप्तकाल मे अनजाना न था । कालिदास ने 'पतिवर्त्मगा' पद द्वारा सतीधर्म का उल्लेख किया है।[3] इतना ही नही, कवि तो सती-धर्म को प्राणिमात्र के लिए, चेतनारहितो के लिए भी, स्वाभाविक मानता है।[४] बृहस्पति भी सतीधर्म का निर्वाह व्रतशील वैधव्य के अभाव मे उत्तम मानते है।[५] वेदव्यास ने भी विकल्प से इसे स्वीकार किया है।[६] समकालीन ललित साहित्य मे दोनो स्थितियो का उल्लेख मिलता है। 'बृहत्संहिता'[७] सतीधर्म की प्रशसा करती है, पर 'कादम्बरी' और 'मृच्छकटिक'[८] ने उसकी निन्दा की है। तब के इतिहास मे भी सती होने और विधवा-विवाह के भी उदाहरण मिलते है। सामत गोपराज की रानी,[९] रानी राज्यवती[१०] और रानी यशोमती[११] के पति की चिता पर सती हो जाने के गुप्तकालीन प्रमाण विद्यमान है।

[१]उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी, शाकु., ५, २६। [२]५, १५२। [3]कुमार., ४, ३३; ३५; ३६; ४५। [४]कुमार., ४, ३३। [५]४८३–८४। [६]व्या. स्मृ., २, ५३। [७]८४, १६। [८]अंक. १०। [९]गोपराज के सती-स्तंभ का अभिलेख, द क्लासिकल एज, पृ. ३३। [१०]वही, पृ. ८२। [११]हर्ष और राज्यवर्धन की माता यशोमती ने अपने पति प्रभाकरवर्धन के मरने पर सतीधर्म का पालन किया था।

पर चन्द्रगुप्त द्वितीय के ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त की विधवा अथवा सधवा के साथ विवाह दूसरी स्थिति का भी परिचय देता है। गुप्तकालीन अनेक स्मृतिया विधवाओ को जीवित रहकर व्रतादि नियमों का पालन करते हुए पति की सपत्ति का अधिकार पाना धर्मसम्मत मानती है।[1] पैठीनसि, व्याघ्रपाद, अंगिरा और उशना[2] ब्राह्मणी-विधवा का सती होना पूर्ण अथवा वैकल्पिक रूप से अमान्य करते है।

विधवा का पुर्नविवाह

समकालीन कवि कालिदास ने सतीधर्म को अनुकूल मानने के बावजूद समाज मे विधवाओ का अस्तित्व स्वीकार किया है।[3] विवाह के समय केवल सधवाएं ही वधू का प्रसाधन कर सकती थी, विधवाओं का वहां जाना अमान्य था।[4] 'शाकुन्तल'[5] मे सेठ धनमित्र की विधवाओ का उल्लेख है। गर्भ धारण की दशा में तो विधवा सतीधर्म का पालन कर ही नही सकती थी, उसका जीवित रहना अनिवार्य माना जाता था।[6] 'मालविकाग्निमित्र' मे विधवा के वैधव्य दु ख के नये रूप मे जीवित हो उठने का प्रसग आया है।[7] विधवा विवाह सर्वथा अमान्य न था। चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा भ्रातृपत्नी के विवाह का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। 'अमरकोश'[8] ने 'पुनर्भू' अथवा विवाहित विधवा-वाची पर्याय शब्दो का उल्लेख किया है। कात्यायन ने वयस्क पुत्र के बावजूद विधवा के दूसरा पति ले लेने का उल्लेख तो किया ही है,[9] उन्होने ऐसे पुत्र के पिता के धन मे भाग पाने की भी चर्चा की है जिसकी मा ने अपने क्लीब पति को छोड दूसरा पति कर लिया हो। वात्स्यायन ने पुनर्भू[10] उस विधवा को माना है जो प्रणयसुख के लिए पुर्नविवाह करती है।

परदा

आज के पर्दे का रूप अनजाना था, यद्यपि घर मे स्त्रियो के रहने का स्थान पुरुषो से अलग था। रजवाडो मे जहा वे रहती थी, महल के उस भाग को अन्त·पुर[11], अवरोध[12],

[1]कात्या., ६२६–२७; पराशर, ४,३१; वृद्ध हारीत, ६, २०५–२१०, आदि। [2]याज्ञवल्क्य स्मृति, १, ८७ पर अपरार्क द्वारा उद्धृत। [3]कुमार., ४, १; मालविका., पृ. ९९। [4]कुमार., ७, ६। [5]बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन भवता भवितव्यं, शाकु., पृ. २१९। [6]रघु., १९, ५६। [7]मालविका., पृ. ९९। [8]२, ६, २३। [9]५६२, ५७१, ५७४–७७, ८६०। [10]१८ ४, २, ३९–५९। [11]रघु., १६, ५९; कुमार; ७, २; शाकु., पृ., १०४; मालविका., २, ४४। [12]रघु., १, ३२; ४, ६८; १६, २५, ५८, ७१; शाकु., ६, १२।

अथवा शुद्धांत[1] कहते थे। स्त्रियां जब बड़ों के सामने, विशेष कर अपने पति के साथ[2] निकलती थी तब लाज के उपचार से उनसे आशा की जाती थी कि वे अपना मुंह ढक लेंगी। शकुन्तला जब दुष्यन्त की राजसभा में जाती है तब अपना मुंह ढके होती है,[3] और जब पहचाने जाने की आवश्यकता होती है तब वह अवगुंठन (घूंघट)[4] हटा लेती है। 'हर्षचरित' में पता चलता है कि उच्चकुलीना नारियाँ समय-समय पर मुंह ढकती थी।[5] उसी ग्रंथ में[6] राज्यश्री वर के सामने अपना मुंह ढक लेती हैं। 'मृच्छकटिक' में जैसे ही वसन्तसेना (वेश्या) वधू का पद पाती है, मुंह ढक लेती है।[7] वस्तुत यह, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मात्र लज्जा का उपचार था, वरना खेत रखाते समय गाने वाली[8], नदी में स्नान करते समय जल पीट-पीटकर मृदंगध्वनि उत्पन्न कर गाती,[9] अथवा विवाहादि के अवसरों पर स्वच्छन्द गाती[10] स्त्रियों में परदा होना कैसे संभव हो सकता था? गुप्त-कालीन अथवा पहले-पीछे की नारीमूर्तियों पर कहीं परदे का नाम भी नहीं मिलता। बल्कि उनका ऊपरी भाग सर्वथा खुला रहने से कुछ लोगों ने[11] उससे यह अर्थ भी लगाया है कि स्त्रियां तब कमर से ऊपर कुछ पहनती ही नहीं थी। यह भी गलत है, क्योंकि स्वयं कालिदास ने उनकी चोली, कूर्पासक[12], स्तनांशुक[13] आदि का मुक्त प्रयोग किया है। फिर ह्युएन्त्सांग और ईत्सिंग, जिन्होंने प्रायः उसी कालावधि में भारत का आंखों देखा वर्णन किया है, कहीं परदे का उल्लेख नहीं करते। वे चीन में इस स्थिति से सर्वथा अनभिज्ञ रहे थे, यदि उन्होंने आज के से परदे का भारत में प्रचलन देखा होता तो, असाधारण रीति समझकर उसका उल्लेख वे निश्चय करते। इसके अतिरिक्त यह भी इस प्रसंग में नूतन की बात नहीं कि अनेक राजकुलांगनाएं परदे से बाहर तब राजकार्य करती थीं। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री और वाकाटक रानी प्रभावती गुप्ता ने चौथी-पांचवीं सदी में अपने अल्पायु पुत्र की अभि-भाविका के रूप में राज किया था। उसी प्रकार सातवीं सदी में वातापी के चालुक्य विक्रमा-दित्य प्रथम के निदेश से राजकुमारी विजयभट्टारिका ने प्रान्तीय शासक के पद से शासन किया था। स्वयं कालिदास रघुवंश के अंतिम राजा अग्निवर्ण की विधवा के 'अव्याहताज्ञ (जिसकी आज्ञा का उल्लंघन न किया जा सके) शासन का उल्लेख करता है।[14]

[1]रघु., ३, १६; ६, ४५; शाकु., १, १५। [2]शाकु., ५, १३; पृ. १६८। [3]वही, ५, १३। [4]वही। [5]३। [6]४। [7]अंक १०। [8]रघु., ४, २०। [9]मे. पू., ३३; रघु., १६। [10]वही, ७, १६; कुमार., ७, ६। [11]चार्ल्स फाब्री: ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन ड्रेस, जेनरल इन्ट्रोडक्शन। [12]कूर्पासक, ऋतु., ४, १६; ५, ८। [13]वही, ६, ८; विक्रमो., ४, १७; ५, १२। [14]रघु., १९, ५७।

नारी संबंधी कुछ विचार

गुप्तकालीन साहित्य मे नारी संबंधी कुछ विचार ऐसे है जिनकी ओर यहा संकेत कर देना उचित होगा। कालिदास की कृतियों से प्रकट है कि कन्या को भरपूर स्नेह मिलता था, उसकी उत्पत्ति पहले की भाति दुर्भाग्य का कारण नही मानी जाती थी, यद्यपि पुत्र की कामना नागरिको मे पिण्डदान के अर्थ बलवती होती थी। 'कुमारसंभव' मे कन्या को कुल का प्राण कहा गया है। धनी कुलो मे पुत्रो की ही भाति कन्या धायों द्वारा पाली जाती थी। वे नदी की बालू मे वेदी बनाकर और पुतलियो-गुडियो[1] और गेदो[2] से खेलती थी। कालिदास के शिव सप्तऋषियो और अरुन्धती मे पुरुष और नारी होने के कारण कोई अन्तर नही करते, दोनो को 'अगौरवभेद' से देखते है और कहते है कि महान् लोगों के चरित्र में यह स्त्री होने से गौण है, यह पुरुष होने से प्रधान है, ऐसा भेद नही हुआ करता।[3] कात्यायन सपत्ति मे नारी का अधिकार स्वीकार करते है[4] और अत्रि[5] तथा देवल[6] डाकुओ आदि के बलात्कार से दूषित नारियो को पवित्र मानकर उन्हे परिवार मे पुन स्वीकार करते है।

फिर भी अनेक बार तत्कालीन साहित्य मे न केवल नारियो की उपेक्षा की गयी है, वरन् उनके संबंध मे अनुदार वाक्य कहे गये है। उनके स्वाभाविक ही चतुर और प्रत्युत्पन्न-मति[7] होने का दावा किया गया है, और उनकी तुलना उन कोकिलाओ से की गयी है जो अपने बच्चो को दूसरे पक्षियो से पलवाती है और जिनके ये बच्चे सुबोध होते ही उड भागते है।[8] उन्हे पुरुष के कामभोग का साधन भी माना गया है।[9] पर नि सन्देह पत्नी और माता के रूप मे नारी का पद बहुत ऊंचा था। उसे 'स्त्रीरत्न'[10] कहा गया है और पुत्र के वीरकर्म करने पर वीरप्रसविनी माता को साधुवाद दिया गया है।[11] प्रायश्चित्तमना पति, अपने अपराध के प्रति सचेत, अपनी पत्नी को आगे कर ऋषि के सामने जाता है, जिसमे उसके आगे रहने से उसका अपराध क्षम्य हो जाय।[12] ऋषिकुमारों के रहने के बावजूद कण्व अपनी अनुपस्थिति मे आश्रम का दायित्व शकुन्तला को ही सौंपते है।[13]

पुत्र का महत्त्व

पहले और पीछे की ही भाति गुप्तकाल मे भी पुत्र का बडा महत्त्व माना जाता था।

[1]कृत्रिमपुत्रकैः, कुमार., १, १६। [2]कन्दुकैः, वही; मालविका., पृ. ८५। [3]कुमार., ६, १२। [4]६२१–२७। [5]१६७–६८। [6]४८–४६। [7]इदं तत् प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति, शाकु., पृ. १७२। [8]वही, ५, २२। [9]रघु., १४, ३५। [10]वही, ७, ३४। [11]मालविका., ५, १६। [12]शाकु., पृ. २५५। [13]वही, पृ. २२—शकुन्तलां···नियुज्य।

कालिदास ने बार-बार पुत्रहीन के दुर्भाग्य का उल्लेख किया है। 'रघुवंश' के पहले सर्ग के आठ छन्दों (६५-७१) में पुत्रहीन के जीवन की शून्यता व्यक्त हुई है। अगली पीढ़ी में समाप्त हो जाने के भय से पितर वंशहीन व्यक्ति का पिंडदान सुख से स्वीकार नहीं करते।[१] उनकी तप्त सांसें ऐसे के दिये जल को दूषित कर देती हैं।[२] तप, व्रत आदि तो स्वर्ग में सुख के साधक होते हैं पर शुद्ध वंश की पत्नी से उत्पन्न पुत्र इहलोक और परलोक दोनों में सुखदाता होता है।[3] प्रजा का लोप (पुत्रहीनता) महादुःख माना गया है,[४] क्योंकि पुत्र ही पितृ-ऋण से उऋण होने का एकमात्र साधन है[५], और उस ऋण का शोध न होना गृहस्थ के लिए असह्य है।[६] पुत्र ही यश का भी साधन है[७] जिसके न रहने पर कुल के अंतिम पुरुष के बाद कुल की संपत्ति विनष्ट हो जाती है।[८] पुत्र कुल की स्थिति का 'बीज'[९] है, 'कुलांकुर'[१०] है, वंश का आधार[११] है। उसके लिए माता का स्तनांशुक अनायास दूध से भीग चलता है।[११*] इससे उसकी उत्पत्ति का अवसर असाधारण आह्लाद का होता है।[१२] कानों के पास काकपक्ष से हिलते कुन्तलों वाले दौड़ते बालक को देखना पिता को अपरिमित सुख प्रदान करता था।[१३] ऐसे शिशु का अपनी गोद में होना कितना बड़ा सौभाग्य था, न होना कितना दुर्भाग्य।[१४] शुद्ध रक्त (वंश की शुद्धि) की बड़ी महिमा थी, क्योंकि शुद्ध वंश से प्राप्त पत्नी ही[१५] औरस[१६] पुत्र जन सकती थी, और तभी पिता और पुत्र के रूप[१७] और गुणों[१८] में साम्य हो सकता था।

वेश्याएं

समसामयिक साहित्य पर्याप्त मात्रा में वेश्याओं[१९] का उल्लेख करता है। इनका उपयोग शिशुजन्म[२०] आदि के अवसरों पर, मन्दिरों में गाने-नाचने के लिए होता था। उज्जयिनी के महाकाल के मन्दिर में चवर धारिणी नर्तकियों के नृत्य का कालिदास ने वर्णन किया है।[२१] चीनी यात्री हुएन्त्सांग भी[२२] अपने भ्रमणवृत्तांत में सिन्ध के एक सूर्य-मन्दिर में नियुक्त नर्तकियों का उल्लेख करता है। 'कामसूत्र' में इनका बखान है ही,

[१]रघु., १, ६६; शाकु., ६, २५। [२]रघु., १, ६७। [3]वही, ६९। [४]वही, ६८। [५]विक्रमो., पृ. १२१। [६]रघु., १०, २। [७]वही, २, ६४। [८]शाकु., पृ. २२१। [९]वही, ७, १५। [१०]वही, १९। [११]विक्रमो., ५, १५। [११*]शाकु., ७, १२। [१२]रघु., १०, ७६। [१३]वही, ३, २८। [१४]विक्रमो., ५, ९। [१५]रघु., १, ६९। [१६]शाकु., पृ. २४२। [१७]रघु., १, ६५। [१८]वही, ५, ३४। [१९]ऋतु., २, ५; मेघ. पू., ८, २५, ३५। [२०]रघु., ३, १९। [२१]मे. पू., ३५। [२२]२, २५४।

उसका कहना है कि रूप और विविध गुणो से संपन्न होने के कारण उनके एक वर्ग का समाज में विशेष आदर था।[1] 'मृच्छकटिक' की वसन्तसेना और 'दशकुमारचरित' की राग-मजरी तथा चन्द्रसेना ने अपनी वेश्यावृत्ति छोड समाज के मान्य जनो से विवाह कर लिया था। समाज मे वेश्याओं की सख्या पर्याप्त थी और 'दशकुमारचरित' से पता चलता है कि किस मात्रा मे वे उसके व्यक्तियो को अपने सौंदर्य-पाश मे बांधकर उन्हें नष्ट कर देती थी। साहित्यिक अनुश्रुति है कि स्वय कालिदास को वेश्या के कुचक्र से मृत्यु का शिकार होना पड़ा था।

आहार और पेय

गुप्तकालीन साहित्य और चीनी यात्रियो—फ़ाह्यान, हुएन्त्साग, ईत्सिग—के वृत्तातों से पता चलता है कि भोजन और पेय के क्षेत्र मे वह युग पर्याप्त सपन्न था, पाचो प्रकार (पञ्चविहस्स)[2] के आहार जनता को उपलब्ध थे। इन पाच प्रकारो मे आटे की बनी रोटी, मोदक (लड्डू) आदि 'भक्ष्य', चावल आदि 'भोज्य', चाटने के लिये तरल 'लेह्य' (जैसे शिखरिणी), आम आदि चूसने योग्य 'चोष्य' और पीने के लिए दूध, सुरा आदि 'पेय' गिने जाते थे।

खाद्य आहारो के लिए साहित्य मे जौ, गेहू, शालि और कलम प्रकार के चावलो, गुड, मत्स्यण्डिका, मोदक, दूध और उसके विविध विकार—घी, नवनीत, दही—खीर, मधु, मास और मत्स्य, और विविध प्रकार के मसालो, जैसे काली मिर्च, इलायची, लौग, नमक और आम जैसे फलो का उल्लेख हुआ है।

खाद्यान्न आदि

जौ, गेहू और चावल साधारण खाद्यान्न थे। चावल कई प्रकार के थे, जैसे शालि, कलम और नीवार। ईख के खेतो की उपज से बड़ी मात्रा मे गुड और राब अथवा रवादार चीनी (मत्स्यटिका) तैयार होती थी। चीनी और पिसे चावल अथवा आटे से घी के लड्डू बना लिये जाते थे। घोष गोपालन द्वारा अमित मात्रा मे घी, दूध, दही, मक्खन आदि प्रस्तुत करते थे। दूध, दही, चीनी और इलायची, लौग आदि के सयोग से बनी शिखरिणी का व्यवहार पर्याप्त होता था। मधु जितना देवताओ का लेह्य था उतना ही मानवो का भी था।

[1] १, ३ २०–२१। [2] इण्डिया इन कालिदास, पृ. १९३–९५।

मांस और मत्स्य

यद्यपि फाह्यान ने साधारणतः मांस को लोगों का अखाद्य बताया है, समकालीन साहित्य में उसके पर्याप्त मात्रा में उपयोग होने का उल्लेख हुआ है। इससे प्रकट है कि मांस के प्रति सर्वथा अनास्था न थी। 'शाकुन्तल' का विदूषक असमय शूल पर भुने सुअर के मांस खाने की शिकायत करता है। एक स्थल से प्रकट है कि मांस केवल आखेट में प्राप्त जीवों का ही नहीं बूचड़खाने (शूना) में नित्य मारे जानेवाले जानवरों का भी सरलता से बाजारों में उपलब्ध था। नदियों और गावों के जलाशयों-गड्ढियों से मछलियां अनन्त मात्रा में मार ली जाती थीं। 'रोहित' लोगों को संभवतः विशेष प्रिय थी। मछली मारने (मत्स्यबन्ध) का पेशा धीवर करते थे। धीवर का एक प्रसंग विस्तारपूर्वक 'शाकुन्तल' में उपलब्ध है।

फाह्यान और हुएन्त्सांग

इस प्रसंग में फाह्यान का वक्तव्य पूर्णतः ग्राह्य हो पाना कठिन है। उसका कहना है कि "लोग सुअर और मुर्गे नहीं पालते, जीवित पशु नहीं बेचते। बाजार में न तो कसाइयों की दुकानें हैं न कलालों की।"[1] प्रकट है कि फाह्यान ने सारी वस्तुओं को बौद्ध दृष्टि से देखा। वरना यह कहना कि 'समूचे मध्य देश में जीवों का मारना, सुरा पीना और प्याज लहसुन खाना अनजाना था' संभव न होता। वह स्वयं अन्यत्र लिखता है कि 'केवल चाण्डाल और धीवर और बहेलिये मांस खाते और बेचते हैं।'[2] इससे जाहिर है कि दुकानें मांस की थीं यद्यपि द्विज मांस नहीं बेचते थे। आज भी द्विज अथवा शूद्र भी मांस नहीं बेचते केवल खटिक बेचते हैं, कसाइयों के अतिरिक्त, जो प्राचीन काल के चाण्डाल हैं। प्रायः उसी युग के अन्त में हुएन्त्सांग ने लिखा कि रोटी और चावल तथा दूसरे अन्न, दूध और चीनी और उनसे बने अन्य पदार्थ तथा सरसों का तेल लोग खाते हैं। उनके अतिरिक्त मछली, और बकरे और भेड़ का मांस भी समय समय पर खाया जाता है। कुछ मांस वर्जित भी हैं। प्याज और लहसुन खाने वालों की जाति च्युत की जाती है। भिन्न भिन्न प्रकार की सुरा भिन्न भिन्न जातियां (वर्ण) पीती हैं—ब्राह्मण और बौद्ध द्राक्षासव और ईख का रस पीते हैं, क्षत्रिय दाख और ईख की शराब पीते हैं, वैश्य तेज शराब पीते हैं और निचले वर्ण के लोग अन्य प्रकार की।[3] कुछ काल बाद का ईत्सिंग लिखता है कि भारतीय प्याज नहीं खाते और बौद्ध, दक्षिण सागर के द्वीपवासियों के विपरीत, उपोसथ के दिन तीनों प्रकार के शुद्ध

[1]रेकार्ड ऑव बुद्धिस्ट किंगडम, जेम्स लेग्गे का अनुवाद, पृ. ४३। [2]वही।
[3]वृत्तान्त, १, १७८।

मांस खाने से भी परहेज करते हैं।[1] इससे प्रकट है कि प्याज और लहसुन नही खाये जाते थे और विशेष दिनो में बौद्ध मास नही खाते थे, पर साधारण तौर पर आम लोगो मे मास, मत्स्य और मदिरा का सेवन अनजाना न था। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है और नीचे लिखा जायगा, समकालीन साहित्य भी इस स्थिति को प्रमाणित करता है। गुप्तकाल के नाटक 'मृच्छकटिक' का ब्राह्मण वेश्या वसन्तसेना के आगन मे खडा होकर उसकी रसोई मे राधे जाते हुए मासो के प्रकार केवल उनकी गध से पहचान लेता है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि मास और मदिरा से ब्राह्मणो को परहेज था।

गरम मसाले

गरम मसालो का उपयोग देश मे अति प्राचीन काल से चला आता था, तब भी होता था। उनमें से तीन—इलायची, लौग और मरिच—का उल्लेख कालिदास[2] ने किया है। मलय पर्वत पर उसकी फैली उपत्यका मे ये अपने आप बहुलता से उगते थे। उस काल भी इनके भारत और पश्चिम के साथ व्यापार का प्रमाण मिलता है। नमक का उपयोग मानव-आहार में तो होता ही था, सैधा नमक वनायु किस्म के (अरबी) घोडो को चाटने के लिए भी दिया जाता था।[3]

फल

फलो की बहुलता मे भारत सदा से विशेष धनी रहा है, इससे उनका आहार मे उपयोग सामान्य रूप से होता था। कालिदास ने उनका अनेकधा उल्लेख किया है। आम आज की ही भाति तब भी विशेष वाछनीय था।[४] वनचरों और विविध वन्य जातियो के अतिरिक्त आश्रमवासी तापसो के लिए कन्द-मूल सहित फल साधारण भोजन के अग थे।

पेय, सुरापान

गुप्तकालीन नाटको और काव्यो मे उच्चकुलीया महिलाओ के सुरापान का भी अनेक बार उल्लेख हुआ है। उस साहित्य से तो पता चलता है कि मदिरा पान समाज मे स्मृतियों द्वारा वर्जित होने के बावजूद आम तौर मे प्रचलित था। जनविश्वास था कि मदिरा स्त्रियों को विशेष रूप से मडित कर देती है।[५] अनेक बार तो वे इतना पी लेती थीं

[1] वृत्तान्त, पृ. ४६। [2] एलानामुत्पतिष्णवः, रघु., ४, ४७; मारीचोद्भ्रान्तहारीताः, वही, ४६; सलवंगकेसर, कुमार., ८, २५। [3] सैधवशिला, रघु., ५, ७३। [४] विक्रमो., पृ. ७१। [५] पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि, कुमार., ३, ३८।

कि पैर लड़खड़ाने लगते थे[१], आंखें घूम जाती थी।[२] 'मालविकाग्निमित्र' में रानी इरावती इस तरह पी लेती है कि उसके पैर आगे नही पडते, मद्य उसे बेहद चढ़ जाता है।[३] 'रघुवंश' मे अज और इन्दुमती मदिरा की घूटें एक दूसरे से अदल-बदलकर पीते हैं।[४] 'कुमारसंभव' मे शिव स्वय मद्यपान करते और पार्वती को भी कराते हैं।[५] वनदेवता वैदूर्य के चषक मे सुगधित मदिरा भरकर पार्वती को प्रदान करती हैं।[६] 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे पुलिस-नागरिक और रक्षक धीवर के धन से उसके साथ मदिरा खरीदकर पीते है।[७] विजयिनी सेना जब सागरतट पर पहुचती है तब नारियल से बना आसव जैसे अनायास पिया जाने लगता है।[८] उत्तम मद्य वह था जो मदनीय हो,[९] चढ़ जाये, मदन को जगा दे। लोग इतना पीते थे कि पानभूमि[१०] 'चषकोत्तरा' (टूटे प्यालो से भरी) हो जाती थी। 'शाकुन्तल' के एक प्रसग मे जान पडता है कि मदिरा की दुकान सडक पर सर्वत्र उपलब्ध थी।[११]

सुरा के प्रकार

साहित्य मे ये वर्णन इतने सविस्तर और आधिकारिक रूप से हुए है कि केवल औपचारिक वर्णन वे नही हो सकते। निरतर होते मद्यपान के बीच रहकर ही, स्वय मदिरापान करके ही ऐसा वर्णन कर पाना सभव था। सुरा की अनेक किस्मो का उल्लेख हुआ है, प्रधान उनमे से मद्य, आसव, मधु, मदिरा, वारुणी, कादम्बरी, शीधु आदि नामो से अभिहित होती थी। तीन प्रकार की मदिरा का विशेष उल्लेख हुआ है—नारियल से बने 'नारिकेलासव'[१२] का, ईख से बनी 'शीधु'[१३] का और महुए मे बने 'पुष्पासव' का[१४]। उच्चवर्गीय नागरिक पुरानी और फूलो मे बसायी हुई शराब पीते थे।[१५] शराब आम के बौरो और लाल पाटल[१६] से बसायी जाती थी। सुरा पी लेने के बाद उसकी बास बीजपूरक[१७] (बिजौरा नीबू) के छिलके मे दूर की जाती थी। पान और सुपारी[१८] खाकर भी मदिरा की बास हटायी जाती थी। अधिक पी लेने से उत्पन्न कष्ट को दूर करने के लिए

[१]वही, ४, १२। [२]वही, ८, ८०। [३]मालविका., पृ. ४६। [४]रघु., ८, ६८। [५]कुमार., ८, ७७। [६]वही, ७५। [७]शाकु., पृ. १८८। [८]रघु., ४, ४२। [९]पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम्, ऋतु., ५, १०। [१०]कुमार., ६, ४२; रघु., १९, ११; वही, ४, ४२। [११]पृ. १८८। [१२]रघु., ४, ४२—नारिकेलमद्यं—मल्लिनाथ। [१३]वही, १६, ५२। [१४]मल्लिनाथ, कुमार., ३, ३८ पर। [१५]पुराण शीधु, रघु., १६, ५२; सीधु, मालविका., पृ. ४२। [१६]रघु., १९, ४६। [१७]मालविका., पृ. ३५। [१८]रघु., ४, ४३, ४४; ऋतु., ५, ५।

मत्स्यण्डिका[1] का प्रयोग होता था जो राब या एक प्रकार की चीनी होती थी। मद्य के इसी असंयम के कारण पीछे 'मदात्ययचिकित्सा' नाम का चिकित्सा-ग्रंथ ही लिखा गया, पर निःसदेह वह पर्याप्त पीछे का है।

परिधान

गुप्तकाल के साहित्य से प्रमाणित है कि उस काल नर-नारी विविध अवसरों पर[2] और ऋतुओ मे विविध प्रकार के अनुकूल परिधान धारण करते थे। विशेष कर रगमंच पर विरही-विरहिणियो के[3], अभिसारिकाओ के[4], व्रतचारिणियों के[5], अहेरियो के[6] भिन्न-भिन्न परिधान निश्चित और प्रचलित थे जिससे मच पर अभिनेताओ के आते ही दर्शकों को ज्ञात हो जाता था कि उनकी भूमिका किस प्रकार की है, श्वेत वेश[7] साधारणतः अभिनन्दनीय था। श्वेत[8], लाल[9], नीले[10], श्याम[11] और कुसुम्भ (केसरिया)[12], सभी प्रकार के रग-विरगे[13] वस्त्र प्रचलित थे। रेशमी (कौशेय)[14] और ऊनी (पत्रोर्ण)[15] दोनो प्रकार के वस्त्रों का, क्रमशः गर्मियो और सर्दियो मे प्रयोग होता था।

परिधानो के प्रकार

रेशमी पट पर साधारणतया हसो की आकृति छपवाने की विशेष प्रथा थी।[16] एक प्रकार का रेशम चीन मे आता था जिसे 'चीनाशुक'[17] कहते थे। लगता है, भारतीय मलमल का कोई न कोई रूप तब भी वन चुका था कि साहित्य ऐसे वस्त्र का उल्लेख करता है जो अपनी बारीकी के कारण सास की हवा से उड जाया करता था (निःश्वासहार्य)।[18] गर्मियों मे लाग रेशम और मलमल के अतिरिक्त ऐसे परिधान धारण करते थे जिनमे रत्न और मोती जडे होते थे, जिससे उनके स्पर्श से शरीर को शीतलता मिलती थी।[19]

[1]मालविका., पृ. ४२। [2]रघु., ५, ७६; ६, १०; ६, ५०; शाकु., पृ. ६८। [3]विक्रमो., ३, १२। [4]वही, पृ. ६८। [5]शाकु., ७, २१। [6]मृगयावेशम्, वही, पृ. ६८। [7]रघु., ६, १; वही, १, ४६; वही, ६, ६। [8]ऋतु., २, २५; ३, २६;; विक्रमो., ३, १२; रघु., १, ४६; ६, ६। [9]रघु., ९, ४३; ऋतु., ६, ४; १९; कुमार., ३, ५४। [10]विक्रमो., पृ. ६८; मे. पू., ४१। [11]विक्रमो., ४, १७। [12]रघु., १५, ७७; ऋतु., ४, ६। [13]वासश्चित्रं, मे. उ., ११। [14]ऋतु., ५, ८; मालविका., पृ. १०५। [15]मालविका., ५, १२; पृ. १०५। [16]हंसचिह्नदुकूलवान्, रघु., १७, २५; कुमार., ५, ६७। [17]कुमार. ७, ३। [18]रघु., १६, ४३। [19]वही।

जाड़ो में ऊन के बने[1] भारी और मोटे[2] वस्त्र पहने जाते थे, दिन और रात में भिन्न भिन्न वस्त्रो–परिधानों के पहने जाने का भी उल्लेख हुआ है।[3]

स्त्री-पुरुषो के वस्त्र

पुरुष और नारी के विविध परिधानों का उल्लेख कालिदास ने अपनी रचनाओं मे किया है। पुरुष के परिधान के तीन अंग थे, वेष्टन (पगडी) और जोडा (दुकूलयुग्म)—उत्तरीय (चादर) और अधोवस्त्र (धोती)। उत्तरीय अनेक बार रत्नो मे गुथे होते थे (रत्नग्रथितोत्तरीयम्), जिनका उपयोग प्रमाणत गर्मियो मे होता था। उत्तरीय और धोती का उपयोग कुषाण और गुप्तकालीन पुरुष मूर्तियो पर सर्वत्र देखा जा सकता है। वस्तुत. यही शुद्ध भारतीय परिधान होने से इनका प्रयोग और भी प्राचीनतर और पश्चात्तर मूर्तियो पर हुआ है। तत्कालीन नारी के उपयोग मे भी तीन वस्त्र आते थे। यद्यपि 'अशुक' शब्द का अर्थ वस्त्र मात्र है, इसका उपयोग कवि ने सर्वत्र नारी के परिधान के ही सबध मे किया है।[4] नारी के तीन वस्त्रो मे एक चोली अथवा 'कूर्पासक' होता था, दूसरा नीचे का घाघरा और तीसरा सर्वोपरि का शाल अथवा उत्तरीय। कूर्पासक के लिए दूसरे शब्द 'स्तनाशुक' का भी प्रयोग हुआ है। इससे प्रकट है कि यह नारी के समूचे ऊपरी भाग को नही, केवल स्तनो को ही, आज की चाली की तरह, ढकता था। इसे पीछे पट्टियो से बाध (श्लथबन्धनानि) लेते थे। इस प्रकार की चोली अथवा स्तनाशुक आज भी सौराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान और मथुरा के प्रदेशो मे पहना जाता है। मथुरा सग्रहालय की अनेक नारी मूर्तियो पर इस स्तनाशुक के दर्शन होते है। नीचे का वस्त्र घाघरे की तरह का होता था, जैसा मथुरा सग्रहालय की सप्त-मातृकाए पहन हुए है। घाघरे के ऊपरी भाग को 'नीवी' मे बाध या पिरो-कमकर उसे पहनते थे। नीवी एक प्रकार का नाडा होती थी जिसकी घाघरे के ऊपरी गृह पर लगी गाठ 'नीवी-बन्ध' कहलाती थी। यह नाडा देश के अनेक भागो मे नारियो के परिधान मे आज भी चलता है, पचास साल पहले तो इसका भरपूर चलन था। उत्तर भारत के गावो मे आज भी घाघरा पहना जाता है जिसकी शकल ठीक 'पेटीकोट' की सी होती है। मेखला अथवा करधनी का कुछ भाग इस 'क्षौम' अथवा अधोवस्त्र के ऊपरी भाग की चुन्नट मे ढक लिया जाता था (क्षौमान्तरितमेखले)। इन दोनो के अतिरिक्त नारी का तीसरा वस्त्र एक प्रकार का शाल या उत्तरीय भी होता था

[1]मालविका., ५, १२; पृ. १०५। [2]वासांसि गुरूणि, ऋतु., १, ७; ५, २; ६, १३। [3]वही, ५, १४। [4]रघु., ६, ७५; ११, ४; कुमार., १, १४; ऋतु., १, ७; ४, ३; ६, ४; १६; विक्रमो., ३, १२; ४, १७।

जिससे अवसरवश वह घूंघट का काम भी ले लेती थी। शकुन्तला ने इसी से दुष्यन्त की राजसभा मे 'अवगुंठन' का काम लिया था। मथुरा और लखनऊ के सग्रहालयो की अनेक मूर्तियों, मृन्मूर्तियों तथा अजन्ता के चित्रों में नारी के इन परिधानों का वास्तविक प्रयोग लक्षित होता है। नारी का साधारण परिधान वस्तुतः दो ही थे—वस्त्रयुग्म—वस्त्रों का जोड़ा, कूर्पासक (चोली) अथवा स्तनांशुक और नीवीबन्ध से बंधा घाघरा।[1]

वर-वधू के परिधान

बर और वधू दोनों के विवाह के अवसर के अपने अपने परिधान थे जिन्हें 'विवाहनेपथ्य' कहते थे। वर के दुकूल अथवा दोनों वस्त्र विवाह के अवसर पर भी प्राय: वे ही होते थे जो साधारण उपयोग के थे, अन्तर इतना था कि विवाह के अवसर वाले परिधान रुई के बने न होकर रेशम के बने होते थे और उन पर हसों की आकृतिया छपी या बुनी होती थी (हसचिह्नदुकूलवान्)। वधू के वैवाहिक वस्त्र भारत के विविध प्रांतो मे विविध प्रकार के प्रचलित थे। 'मालविकाग्निमित्र' में परिव्राजिका से मालविका को विदर्भ देश के परिधान से सजाने की प्रार्थना की गयी है। वह परिधान ऐसा था जो रेशम का बना होता था और शरीर पर बहुत नीचे तक नही लटकता था, कुछ उटंगा रहता था। वधू के रेशमी जोड़े पर भी वर के जोडे की ही भाति हसो की आकृतिया छपी होती थी।[2] इस प्रकार की हस छाप मथुरा सग्रहालय में सुरक्षित मयूरारूढा कौमारी के वस्त्र पर उपलब्ध हैं।

संन्यासियों के वस्त्र

गुप्तकालीन मूर्तियो से प्रकट है कि बौद्ध भिक्षु परम्परागत सन्यासियों के 'त्रि-चीवर' धारण करते थे। इनमे से ऊपर का वस्त्र 'उत्तरासग' कहलाता था, नीचे का 'अन्तर्वासक' और सब से ऊपर का लहरिया चुन्नटो से सजा 'सघाटी'। ब्राह्मण ऋषियो अथवा साधुओ के वस्त्रो मे एक कौपीन (लंगोट), दूसरा तहमत की तरह की लुगी और तीसरा ऊपर डालने वाला टुकडा—श्वेत अथवा गेरुआ। बौद्ध भिक्षुओं के वस्त्र सदा गेरुआ होते थे। आश्रमवासी सभवत वल्कलवस्त्र का उपयोग करते थे; साधुनिया और ऋषिकन्याएं अपने वल्कल को कन्धो पर दो गाठो से अटका रखती थी। अजन्ता, बाघ आदि के चित्रो मे गृहस्थ और सन्यस्त, नर और नारी सभी के परिधान बडे मनोयोग से अकित हुए हैं और उनके विविध प्रकार प्रायः पहचाने जा सकते हैं। महत्त्व की बात

[1] देखिए, इण्डिया., पृ. १९८–२०१। [2] वही।

यह है कि ऊपर वर्णित साहित्यगत परिधान और समकालीन चित्रों-मूर्तियों में प्रयुक्त वस्त्र प्रायः सर्वथा समान हैं।[1]

विदेशियों के परिधान

विदेशी नर-नारियों के विविध परिधानों के अंकन भी गुप्तकालीन साहित्य, मूर्तन और चित्रण मे समान रूप से हुए हैं। गुप्तकालीन नाटकों मे राजा के अस्त्र रखने वाली यवनियों का वर्णन अनेक बार हुआ है, यद्यपि उनके विशिष्ट परिधान का वर्णन, सिवा पुष्पमाला और धनुषधारे रूप के, नहीं हुआ है। पर उनका सही रूप प्रायः समकालीन अथवा शीघ्र ही पूर्व के कुषाणकालीन मूर्तनों मे स्पष्ट अभिव्यक्त हुआ है। मथुरा संग्रहालय के सुरापायी कुबेर की परिचारिका के रूप मे जो यवनियां मूर्त हुई हैं उनके शरीर आस्तीन वाली जाकेट और पैरों पर गिरे चुन्नटदार घाघरे से मंडित हैं, उनके केश-कुन्तल वेष्टन (फिलेट) से घिरे-कसे हैं और चरणों में भारी जूते हैं।[2] वहीं के एक रेलिंग-स्तंभ[3] पर एक दूसरी यवनी का अर्ध चित्र उत्कीर्ण है जिसके केश आधुनिक रीति से कटे (बाब्ड) है और हाथ मे खड्ग है। इसी से मिलती-जुलती एक परिचारिका अजन्ता के एक भित्तिचित्र मे राजदम्पति को मदिरा पिलाती दिखायी गयी है। पूरी आस्तीन का ब्लाउज, घाघरा पहने दीपवाहिनी ईरानी नारी की एक आकृति मथुरा रेलिंगस्तंभ पर उत्कीर्ण लखनऊ संग्रहालय में संगृहीत है। अजन्ता वाले खुसरो के भेजे राजदूतों के भित्तिचित्रों में भी ईरानी आकृतियां देखी जा सकती हैं।[4]

वन्यजातियों, आदिवासियों और डाकुओं के परिधान की एक झलक हमें 'मालविकाग्निमित्र' (५, १०) मे मिलती है। वे पीठ पर बाणों भरा तरकश, छाती पर तरकश के कसे पट्ट और मस्तक पर मोरपख धारण करते हैं जो उनके कानों पर लटकते रहते हैं। यह आकृति अंगुलिमाल के समकालीन चित्रों के अनुकूल ही है।

आभूषण—प्रसाधन

परिधान की ही भांति गुप्तकालीन आभूषण भी कला और साहित्य में समान रूप से अभिव्यक्त हुए हैं। साहित्य मे आभूषण (आभरण, भूषण, अलंकार, मंडन) उसी परिमाण मे परिगणित हुए हैं जिस परिमाण मे समकालीन मूर्तियों और चित्रों में वे प्रदर्शित हैं। दोनों के संयुक्त आधार से उपस्थित करने पर गुप्तकालीन आभूषणों का संभार

[1]इण्डिया इन कालिदास। [2]मथुरा संग्रहालय, सी—२। [3]जं. जे. ६३।
[4]इण्डिया इन कालिदास, पृ. २०२—२०३।

इस प्रकार होगा—मस्तक पर चूड़ामणि, रत्नजाल अथवा मुक्ताजाल, और राजाओं के संदर्भ मे किरीट-मुकुट। किरीट-मुकुट बोधिसत्त्व और विष्णु के मस्तकाभरण भी थे। कानों मे नर-नारियों दोनों के कर्णफूल, कुण्डल अथवा मणिकुण्डल झूमते या कसे होते थे। गले में निष्कहार जो 'निष्क' सिक्कों से गुहा होता था। ग्रैवेयक अथवा कण्ठाभरण के अतिरिक्त ग्रीवा में धारे, वक्ष पर गिरनेवाले हारों की भी बड़ी संख्या थी। मुक्तावली मोतियों की एक अथवा अनेक लड़ियों की माला थी, तारहार बड़े मोतियों का हार था; हारशेखर हिमधवल माला थी। हारयष्टि, जो शुद्ध एकावली भी कहलाती थी, मोतियों की एक-लडी माला थी जिसके बीच में एक विशिष्ट मणि गुही होती थी, जैसी अजन्ता के विख्यात पद्मपाणि बोधिसत्त्व के चित्र में उनकी ग्रीवा मे फब रही है। विष्णु की माला वैजयन्ती कहलाती थी जिसमे रत्नो के अनेक दल होते थे और प्रत्येक दल मे पांच विशिष्ट रत्न विशेष क्रम और प्रकार से गुहे रहते थे। विष्णुपुराण इन पाच रत्नों को मुक्ता, लाल, पन्ना, नीलम और हीरा की संज्ञा देता है। हेमसूत्र स्वर्ण का एकलडा हार था जिसमे मध्य मे रत्न पिरोया होता था। प्रालब और माला फूलो की भी होती थी, क्योंकि सारे रत्नजटित बहुमूल्य आभूषणो का स्थान कुसुमाभरण भी ले लिया करते थे। अंगद और केयूर भुजबन्द के नाम थे जो सोने या रतनजड़े सोने के बनते थे और जिन्हे नर-नारी दोनों पहनते थे। वलय और अगुलीयक (अगूठी) अनेक प्रकार के थे जो सोने या रत्नो के सयोग से सोने के बनते थे। अगूठियो पर सर्पादि के आकार होते थे, या वे नाममुद्राओं से अंकित होती थी। अनेक बार उनका उपयोग आदेशवहन के लिए भी किया जाता था। करधनी या मेखला की अनेक किस्में थी जिनके लिए हेममेखला, काची, कनककाची, किंकिणी, रशना आदि अनेक नाम व्यवहृत होते थे। साधारणतया ये सोने या रत्नजडे सोने की विविध रंगो की बनती थी। कुषाण और गुप्तकालीन मूर्तियों पर चौड़ी, अनेक लड़ियों की मेख-लाए अनेक गढ़नों की मूर्त हैं। इनकी एक किस्म ऐसी भी थी जिससे चलते समय बजने की आवाज होती थी। किंकिणी संभवत इसी किस्म की करधनी थी। नूपुर, पाजेब पैरों के कड़े थे जो धनियों के लिए रत्नो से जड़े बनते थे। अशोक-दोहद के अवसर पर इनका विशेष उपयोग माना जाता था। गर्मियों मे उत्तरीय ऐसे पहने जाते थे जिनके छोरों मे रतन टंके होते थे। ऊपर बताये आभूषणों मे किरीट-मुकुट, चूडामणि, विविध प्रकार के हार, वैजयन्ती माला, कुण्डल, अंगद, वलय और अंगुलीयक स्त्रियो के साथ-साथ पुरुष भी पहनते थे। शेष अलकार केवल नारियों के थे। गुप्तकालीन देवगढ़ की प्रसिद्ध विष्णु मूर्ति के आभूषणों में किरीट-मुकुट, कुण्डल, हार, केयूर, कटक और वनमाला हैं। अजन्ता के भित्तिचित्रों में इन आभूषणों की विविधता देखते ही बनती है। विशेष कर नं. २ गुहा की परिचारिका के आभूषण दर्शनीय हैं, क्योकि जहा उसका तन अलंकारों

से ढका है, उस पर वसन का प्रायः नाम नहीं। आभूषण रखने के लिए पेटिका का उपयोग होता था।[1]

फूल

सारी ऋतुओं मे फूलने वाले बनों-उपवनो की पुष्पराशि गुप्तकालीन नागरिकों-नागरिकाओं के प्रसाधन का साधन थी। फूलो का उपयोग पूजा से प्रसाधन-सजावट तक सर्वत्र और सभी प्रकार से होता था। इनकी मालाएं तो बनती ही थी, मस्तक और कलाई पर भी इन्हे धारण करते थे। अधिकतर स्वर्ण और रत्नजटित आभूषणों की आकृतिया कुसुमों के अनुकरण मे ही बनती थी। अनेक आभूषणो के अनुकरण मे बनाये फूलो के आभूषण भी पहने जाते थे। स्त्रिया फूलों की करधनी पहनती, केसर के नव पल्लव केशों में धारण करती, अमलतास (कर्णिकार) के कर्णपूर पहनती थी, कानो पर यवाकुर अथवा सिरस के कोमल फूल लटकाती। केशों मे कुन्द (जुही) की कलिया और मन्दार के फूल पहनने का भी चलन था। उनकी सीमन्तरेखा पर वे पावस की कुसुमकलिया धारण करती और कुरवक के फूल वेणियों मे गूहती। आश्रम-कुमारिया फूलों के ही गहने पहनती थी।[2] स्वाभाविक था कि मालियो का पेशा चल निकले। कालिदास ने 'मेघदूत' मे अपने मेघ को सुझाया है कि उज्जयिनी की मालिनें नागरिक-नागरिकाओ के लिए विलास के फूल चुनती थक गयी होगी, ठडी बयार चला, अपने तन से धूप तक उनके मुह की पसीने की बूदे सुखा देना। आज भी उज्जैन मे मालियो के पेशे का जो वैभव है वह भारत मे अन्यत्र कही देखने मे नही आता।[3]

स्नान और केश-प्रसाधन

भारतीय इतिहास मे गुप्तयुग मडन की शालीनता का युग भी था। शरीर की स्वच्छता और उसे दर्शनीय बनाने के लिए जितने उपक्रम उस काल हुए उतने न पहले हुए थे, न पीछे हुए। स्नान तो अनिवार्य नित्यकर्म होने से सदा से ही होता आया था, पर उसके पूर्व और पश्चात् अनुलेपन, चन्दनादि सुगन्ध द्रव्यो का उपयोग युग की विशेष देन थे। उसका उल्लेख यथास्थान करेंगे। मुखधावन, शौच के बाद शरीरशोधन की पहली प्रक्रिया थी। समकालीन वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' मे दन्तधावन के लिए प्रयुक्त विविध वृक्षो की दातौनो के गुण-दोषो का सविस्तर विवेचन हुआ है।[4] सातवी सदी के आरम्भ के चीनी यात्री हुएन्त्साग[5]

[1] इण्डिया इन कालिदास, पृ. २०३–४। [2] वही। [3] वही। [4] ८५, १—७।
[5] वृत्तान्त, १, १४७—४८।

ने नागरिकों के स्वच्छाचरण के प्रसंग में अनेक शौच-नियमों और तनप्रसाधन में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओ और फूलो का जिक्र किया है। उसके कुछ ही बाद का ईत्सिंग[1] भी लोगो के स्वच्छाचरण पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। कालिदास की कृतियो मे तो इस विषय की सामग्री का आकर ही जैसे खुल गया है।[2]

उस वर्णन से जान पडता है कि पुरुष कटे केशों मे मस्तक पर शिखा धारण करते थे। अक्सर उनके केश कुन्तलों में कन्धो पर लटकते रहते थे। नर और नारी के इस प्रकार के कच-कुन्तलों से सजे मिट्टी के ठीकरे अनन्त मात्रा में गुप्तकाल के प्राय सभी मध्यदेश के कलाकेन्द्रों से प्राप्त हुए हैं। अनेक बार तो लगता है कि इन घुघराले बालों को पहनने की प्रथा इतनी सहज व्यापक हो गयी थी कि सभवत. घुघराले बालों के लच्छे बाजारों में बिकने लगे थे। अंडाकार चेहरों पर कन्धो तक घूघरों में गिरे केशनिचय गुप्तकालीन मृन्मूर्तियों में युगीन अभिज्ञान के साधन के अतिरिक्त तत्कालीन केशवैभव और प्रसाधन के परिचायक भी हैं। पुरुष अशौच (जन्म, मरण आदि के अवसरों पर) आदि मे सिर मुडा भी लेते थे। ईरानी लंबी दाढ़ी रखते थे, भारतीय दाढी मुडा देते थे। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' मे कितने दिनों के अन्तर पर सिर और दाढी के बाल अथवा नाखून कटाने चाहिए, इसका ब्यौरा दिया है। बच्चो के केश 'काकपक्ष' शैली में काटे जाते थे जिससे वे कागो के पंखों की भाति दोनो ओर फैले दिखाई पडते थे। दौड़ते बच्चों के हिलते काकपक्ष देखने में भले लगते थे।

प्रसाधन के विविध रूप

नारिया कटिपर्यंत लम्बे केश धारण करती थी, यद्यपि कन्धों तक घूघरे केश धारे नारी मृन्मूर्तियो की गुप्तकालीन संख्या कुछ कम नही। वे केशों में तेल लगा उन्हें स्निग्ध (चिकने) करती और कघा कर उन्हे मस्तक के बीच बांट सीमन्तरेखा यानी मांग बनाती थी। इसी सीमन्त के कारण नारियो का एक नाम 'सीमन्तिनी' भी चल पडा था। केशो को फिर वे वेणियो मे गूथ पीछे लटका लेती थी। वेणियो मे वे फिर फूल, मोती अथवा रत्न गूथ देती थी, सीमन्तरेखा (माग) पर मोतियो अथवा कलियो की लडी धारण करती थी। वेणिया एक (एकवेणी) अथवा अनेक हो सकती थी। जब वेणिया एक गाठ में बाध सिर पर धारण की जाती तब वे चूडा (जूडा) कहलाती थी। पति से वियुक्त अथवा परदेश गये पति की पत्निया (प्रोषितपतिकाएँ) केशो मे तेल न लगा एक ही बेणी धारण करती थी जो स्नेह के अभाव मे सूखकर रूखी हो जाती थी। पति ही प्रवास से लौटकर

[1]वृत्तांत, ४—६, १८, २०, २२। [2]इण्डिया इन कालिदास, पृ. २०४।

उन्हें खोलता और नयी वेणी बना देता था। पुरुष द्वारा नारी के वेणीप्रसाधन के अनेक मूर्त्यंकन कुषाण कालीन उत्खननों मे उपलब्ध हैं। स्नान के बाद नारिया अपने गीले केशो को धूप, अगरु और चन्दन के धुएँ से सुखाती थी, जिससे उनकी सुगंध उनमे बस भी जाती थी।[1] 'बृहत्संहिता'[2] मे केशो को रगने, धोने, बसाने की अनेक प्रक्रियाओ और सुगन्ध-द्रव्य बनाने की विधिया दी हुई है। 'मृच्छकटिक'[3] आदि समकालीन साहित्य में केश-प्रसाधन के अतिरिक्त चन्दन के रस, कपूर आदि से बनने वाले द्रव्यो का भी वर्णन हुआ है। कपूर और पान तथा अगरु का धुआं पेय जल को बसाने के काम में भी आते थे।[4] प्रसाधन के विविध अग थे, जैसे अनगिन प्रकार के फूल, अनेक प्रकार के गजरे, सुगन्ध द्रव्य, चूर्ण (पाउडर), धूम, अजन, अगराग और अवलेप, होठो और चरणो आदि को रंगने के लिए आलता, विशेषक, पत्तलेख और भक्ति-चित्रण करने के लिए लेप और तन तथा मुह को सुगन्धित करने के लिए विविध गन्धसामग्री।[5]

प्रसाधन सामग्री

समसामयिक साहित्य से पता चलता है कि नर और नारी दोनो शरीर को दर्श-नीय और कमनीय बनाने के लिए विविध प्रकार की प्रसाधन सामग्रियो का उपयोग करते थे। 'अमरकोश'[6] ने तन को सुन्दर करनेवाले प्रसाधनो के अनेक पर्याय दिये है, जिनसे व्यापक रूप से उनके देश मे व्यवहार होने का प्रमाण मिलता है। स्नान से पूर्व लोग खस (उशीर) अथवा चन्दन से बने 'अनुलेप' और 'अगराग' का तन पर उबटन लगाते थे। कालेयक, कालागरु और हरिचन्दन से एक तीसरे प्रकार का उबटन बनता था। इंगुदी के फल, मैनसिल और हरिताल से एक प्रकार का सुगन्धित तेल तैयार किया जाता था। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' मे[7] जो तेल बनाने वाले तीन साधनो (तैलकर्णिक) का बखान किया है उनमे कालेयक के साथ साथ मेनसिल और हरिताल का भी उल्लेख हुआ है।[8] स्नान के बाद बालो को कालागरु, लोध्रचूर्ण, धूप और अन्य गन्ध द्रव्यो से धूमित-सुखाकर तन को कस्तूरी (मुश्क) आदि से सुवासित करते थे। हरिताल और मेनसिल से बने लेप से नर-नारी माथे पर तिलक भी लगाते थे। स्त्रिया तिलक के लिए अजन अथवा

[1]वही, पृ. २०४। [2]७७, १—३७, और देखिए, ८५, १—७। [3]अंक १।
[4]रघु., ६, ६०; कुमार., ६, ६६; दशकुमार., पृ. ४१, ४५, ४८; ऋतु., १, ६; २, २१, २४; ३, १६; ४, ५;, कादम्बरी, पृ. २४५, ३२०। [5]इण्डिया इन कालिदास, पृ. २०५। [6]२, ७, १२६—३६। [7]पृ. ६५३, ६५६। [8]इण्डियन कल्चर, खंड १, अंक ४, अप्रैल १६३५, मैन्स इण्डेटेनेस टु प्लान्ट्स।

काजल का भी प्रयोग करती थीं, जो ललाट की शुभ्र भूमि पर बिन्दी के रूप में चमक उठता था। नेत्रों में अजन 'शलाका' (सलाई) द्वारा लगाया जाता था। स्त्रिया चन्दन और कुकुम का व्यवहार, तिलक के अतिरिक्त, शीतलता के अर्थ वक्ष पर भी करती थी। वे अपने गालों को विविध प्रकार के पत्रलेख (पत्तियां बनाना) से चीतती थी। इसका सामूहिक नाम 'विशेषक' था जो विशेषत. मुखमण्डल पर विविध रगों की बिन्दुओ से संपन्न होता था। जब पत्तियों की डिजाइनो से चेहरा सजाया जाता था तब उसे 'पत्रविशेषक' अथवा 'पत्रलेख' कहते थे। 'भक्ति' एक प्रकार का भाल पर तिलक निर्माण था। इसमे कुंकुम की बिन्दियों से 'तिल-क' बनाते थे। या तो कुंकुम की बिन्दियो का वृत्त बना बीच मे श्वेत चन्दन की बिन्दी लगा दी जाती या श्वेत चन्दन की वृत्ताकार बिन्दियो के बीच कुंकुम की बिन्दी बनायी जाती थी। हाथियो के मस्तक तक पर उसे सुन्दर बनाने के लिए भक्ति-चित्रण करते थे। 'अमरकोश' ने विशेषक की व्याख्या करते हुए उसके पर्याय इस प्रकार दिये है—'पत्र लेख-पत्रांगुलि-तमालपत्र-तिलक-चित्रकाणि विशेषकम्।'[1] सफेद अगरु (शुक्लागरु) और रोचना (गोरोचन) मिलाकर जो लेप बनता था उसी से विशेषक लिखा जाता था। इसके दोनो श्वेतवर्णीय द्रव्यो से प्रकट है कि यह लेप सफेद होता था। होठों पर आलता फेर-कर लोध का चूरा (लोध्रचूर्ण) उन पर छिडक देते थे जिसमे उनका रग पीताभ रक्तिम हो जाता था। अजन्ता के नारीचित्रो मे जो होठो का पीताभ रग दीखता है वह इस लोध्र-चूर्ण का ही परिचायक है। नारिया आलता मे अपने चरण भी रगती थी जिससे जब वे चलती उनके पैरो के तलवों की छाप जलाशय सी सीढ़ियो पर जल तक पड जाया करती थी। भोजन के बाद मुह शुद्ध करने अथवा मदिरा सेवन के बाद दुर्वास दूर करने के लिए बिजौरा नीबू के छिलके के चूर्ण या ताम्बूल (पान) का उपयोग किया जाता था।[2]

दर्पण

दर्पण का स्वाभाविक ही प्रसाधन मे अपना स्थान था। यह कह सकना तो कठिन है कि दर्पण तब किस धातु का बनता था पर एक सदर्भ से जान पडता है कि वह या तो काच का ही बनता था या किसी ऐसे पदार्थ का जिसे पालिश द्वारा काच की तरह चमका देते थे। कालिदास ने 'भाफ से दर्पण के दूषित हो जाने' की बात कही है।[3] वैसे स्वर्ण के दर्पण का उल्लेख भी हुआ है।[4] महत्त्व की बात है कि 'इरिथ्रियन सागर का पेरिप्लस'[5]

[1]इण्डियन कल्चर, पृ. ६६०—६१। [2]इण्डिया इन कालिदास, पृ. २०६—७।
[3]रघु., १४, ३७। [4]वही, १७, २६। [5]स्काफ का अनुवाद, पृ. ४५।

(पहली सदी ईसवी) में भारत से काच के आयात का उल्लेख हुआ है और प्रायः तभी के इतिहासकार प्लिनी[1] ने स्फटिक-चूर्ण से बने भारतीय काच को सब काचो से उत्तम माना है। लोग प्रसाधन के बाद अपना रूप दर्पण में देखते थे जो शुभदायक माना जाता था।[2]

प्रसाधक-प्रसाधिका, प्रसाधन-पेटिका

तब के साहित्य में प्रसाधन कला, प्रसाधन विधि और प्रसाधन संपन्न करने वाले प्रसाधको, प्रसाधिकाओ, प्रसाधन-पेटिका तक का उल्लेख हुआ है। मुख-प्रसाधन चेहरे पर पत्रलेख, विशेषक, भक्ति, अधररंजन आदि को कहते थे और वेणी-प्रसाधन केशकलाप सपन्न करने को। वेणी-प्रसाधन के अनेक दृश्य मथुरा सग्रहालय में सुरक्षित द्वारचौखट के अनेक खानो मे प्रदर्शित हैं। भरहुत और मथुरा दोनों की कला में प्रसाधिका और प्रसाधन-पेटिका के चित्र पत्थर मे उत्कीर्ण हैं। इन सबमे महत्त्व का मूर्तन भारतकलाभवन[3] (काशी विश्वविद्यालय) मे सुरक्षित एक वेदिका (रेलिंग)–स्तभ पर उत्कीर्ण प्रसाधिका का है जो गजरो आदि से भरी अपनी पेटिका लिये शालीन खडी है। वात्स्यायन ने 'काम-सूत्र' मे नागरक के दैनदिन प्रसाधन का ब्यौरा इस प्रकार दिया है––

"प्रात उठकर वह (नागरक) पहले शौचादि नित्य कृत्य समाप्त कर दातौन करता है, फिर उबटन-स्नान के बाद पुष्पमाला धारण करता है। पश्चात् मोम मिले आलता से होठो को छू, दर्पण में मुह देख, मुह को सुवासित कर, पान खाकर (गृह से बाहर निकलेगा और) कार्यों के अनुष्ठान मे लगेगा।"[4] चकलादार ने नागरक के इस व्यवहार को इस प्रकार स्पष्ट किया है––"नागरक के प्रसाधन की पहली वस्तु अनुलेपन थी, मधुर-गधी विविध द्रव्यो अथवा चन्दन से प्रस्तुत (अच्छीकृत चन्दनमन्यद्वानुलेपनम्)। अनन्तर वह अगुरुधूम की मधुर गध से अपने वस्त्रो को सुवासित करता और मस्तक अथवा ग्रीवा मे पुष्पमाल धारण करता है। वह अन्य सुगन्ध द्रव्य (सौगन्धिक) का भी उपयोग करता है जिसके लिए सौगन्धपुटिका (सुगन्ध की पेटी) तैयार रहती है। अनेक द्रव्यो से बना अजन वह आखो मे आजता है। होठों पर आलता लगा (आलक्तम् विशिष्टरागार्थम्) वह उन पर मोम मल देता है जिससे रंग पक्का हो जाय (सिक्थकमालक्तकम्)। तब वह दर्पण मे मुह देख, सुवासित मसालो से युक्त पान खाकर कार्यों मे लगता है। दाढ़ी मुड़ा कर स्नान के समय तन को साफ करने के लिए वह 'फेनक' लगाता है।"[5]

[1] ३७, २०। [2] इण्डिया., पृ. २०८। [3] नं. १००। [4] ४, ५ और ६।
[5] सोशल लाइफ, पृ. १५६––५७।

सामाजिक आचार और जीवन

आचरण

युग ने संबंध की परिभाषा की कि यह दो व्यक्तियो में संलाप से उत्पन्न होता है।[१] समाज बड़े, बराबर और छोटे लोगो के पारस्परिक सबंध से बनता है। गुप्तकालीन समाज में छोटे बड़ों को सिर झुकाकर प्रणाम किया करते थे। ऐसा करते समय वे अपने नाम के साथ 'प्रणाम', 'वन्दे' अथवा 'नमस्ते' शब्द का उच्चारण करते थे। गुरु, माता और पिता को प्रणाम करते समय उनके पैरों पडने की प्रथा थी। बड़े छोटों को अनेक विधियो से आशीर्वाद देते थे। तापस राजा को 'चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो' और बड़ी-बूढिया कन्या को 'अनन्य-भाजं' (जो दूसरी से उपभुक्त न हो) पति प्राप्त करो अथवा पति का अखण्ड प्रेम तुम्हे प्राप्त हो, कहकर आशीर्वाद देती थीं। इसके उत्तर मे आशीर्वाद पाया व्यक्ति कहता था—प्रतिगृहीत अथवा अनुगृहीत हुआ। कालिदास की सीता लक्ष्मण को 'चिर जीओ' आशीर्वाद देती हैं। आश्रम से विदा होते समय गृहस्थ ऋषि, ऋषिपत्नी और यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा करते थे। प्रस्थान के समय बाहर जानेवाले के लिए शुभकामना की जाती थी—'शिवास्ते पन्थान. सन्तु' (तुम्हारा मार्ग निर्विघ्न हो)। भाई अथवा बराबर वाले मिलते समय एक-दूसरे का आलिगन अथवा कर-मर्दन (परस्पर हस्तौ स्पृशत·) करते थे। प्रवासियो को योग-क्षेम भेजा या उनके द्वारा पूछा जाता था। बडो से बात करते समय कुछ झुक जाते थे और चुने हुए शब्दों से बडी विनम्रता से बोलते थे। कुछ मागने समय बड़ी विनय से हाथ जोडकर मागते थे।[२]

बन्धु-बान्धव

समाज परिवारो का समाहार था। कुटुब और संबध के व्यक्तियो का आपस मे व्यवहार, विवादविपरीत स्थिति मे, मधुमय होता था। धाय की सहायता से लड़खडाते पुत्र को देख पिता की आखे तृप्त हो जाती थी। अटपटे शब्द बोलता जब वह पिता की गोद मे बैठता तब पिता कृतार्थ हो जाता। पुत्र को विदा करते पिता की आखे भर आया करती। पिता के जीवनकाल मे पुत्र का निधन दारुण बन जाता था। पुत्री परिवार की जान कही गयी है। उसे धरोहर जानकर विशेष प्यार करते थे, पति के घर उसके जाते पिता, माता और बन्धु-बान्धव दु ख से विचलित हो जाते थे।

[१]सम्बन्धम् आभाषणपूर्वमाहुः, रघु., २, ५८। [२]इण्डिया इन कालिदास, पृ. २०९—१०।

परिवार भाइयो, बहनो, पति-पत्नी, सास-ससुर और पुत्रवधुओ का होता था। सबके बीच स्नेह और आदर का सबध होता था। चाचा-भतीजे और मामा-भांजे भी कुटुम्ब के अपने थे। धनियो के घर और रजवाडो मे धाये बच्चो को देखती और उन्हें अपना दूध पिलाती थी।[1]

आतिथ्य

समाज मे अतिथि का बड़ा मान था और देवता की तरह उसकी पूजा (अर्घयित्वा) होती थी। चरण धो-धुलाकर उसे वेत्रासन अथवा मूल्यवान् आसन पर बैठाते थे। उसे फिर अक्षत, दूर्वा, मधु आदि से बना 'मधुपर्क' अथवा 'अर्घ्य' प्रदान करते थे। 'विशेष अतिथि' के आने पर उसकी सेवा भी विशेष विधि और आग्रह से होती थी। मेघ का दर्शन होने पर रामगिरि का यक्ष उसे अजलि मे टटके फूल भरकर अर्घ्य दान करता है।[2]

मनोरजन

इस विस्तृत देश का समाज भी बडा था, उसकी आवश्यकताए भी कर्तव्य की ही भाति विपुल थी। उसी परिमाण मे उसके मनोरजन भी विभिन्न थे, उसके साधन भी अनन्त। जिस समाज को नाटक और मदिरा पान के साधन उपलब्ध थे उसके मनोरजक अभियानो का अन्त कहा था ? मदिरा सेवन के साथ वाणिनियो, गणिकाओ और वेश्याओ का सहवास भी सामान्य आचार की बात थी। नृत्य और गान, अभिनय और वीणादि वादन से जनसाधारण का मनोरजन होता था। इनके विविध अर्धचित्र कुषाण और गुप्तकालीन उत्कीर्णनो मे अनेकधा उपलब्ध है। वसन्तोत्सव के अवसर पर विशेष कर नाटक खेले जाते थे। त्यौहारो पर जनता विशेष आग्रह से सजती और सडको पर निकलती थी। जल-क्रीड़ा के समय स्त्रिया जल को पीट-पीट गाती थी और रगीन जल एक दूसरी पर पिचकारियो मे भर-भर डालती थी (वर्णोदकैः काञ्चनशृगमुक्तै.)। नागरिकाएँ दल के दल वनो-उपवनो मे घूम-घूम प्रसाधन के लिए पुष्पचयन करती थी। लोग उद्यानयात्राएँ (पिकनिक), गोष्ठिया आदि करते थे, समाजो मे शरीक होते थे। गृह और राजप्रासाद मृदगो और अन्य बाजो की ध्वनि से निनादित रहते थे।[3]

जुआ का खेल गुप्तकाल के नागरिको को भी प्रिय था। बालक-बालिकाएँ गेदो और गुडियो से खेलती थी। भवन और नगर के उद्यानो में झूला झूलने का बडा प्रचलन था। झूलो के अतिरिक्त अन्य खेलो के लिए भी उद्यानो मे लीलागार'

[1] इण्डिया इन कालिदास, पृ. २१०। [2] वही, पृ. २११। [3] वही, पृ. २११—१२।

बने हुए थे। वहीं 'आपानक' अथवा पान-गोष्ठियां भी होती थी जहा लोग मिलकर सुरापान करते थे।[१]

कथा वाचन, कथन और श्रवण भारत के अत्यन्त प्राचीन मनोविनोद थे। अलात्र के चतुर्दिक् बैठकर कथा कहना और सुनना सामान्य मनोरंजन था। कुछ कथाएं जनता को विशेष प्रिय हो गयी थी। उज्जयिनी में उदयन के साथ वासवदत्ता के पलायन की कथा लोकप्रिय हो गयी थी जिसे वृद्धजन कहा करते थे।[२]

आखेट राजाओ मे व्यसन बन गया था। इसकी 'शाकुन्तल' मे विस्तृत चर्चा हुई है। इसे कौटिल्य के साथ साथ कालिदास भी शरीर के लिए उचित व्यायाम मानते है। आखेट के लिए जाते राजा को शस्त्रधारिणी मालासज्जिता यवनियां घेरकर चलती थी।[3]

सदाचार

जिस समाज मे धन हो, जीवन के प्रति सुन्दर आग्रह हो, विविध आमोद-प्रमोद हो, कलाओं के प्रति प्रेम हो, मदिरा सेवन और अभिसारिकाओ-वेश्याओ का सानिध्य हो उसमे स्मृतियो के विधान के बावजूद आचारहीनता का सर्वथा अभाव भी न होगा। साधारणत. लोकजीवन आचारसम्मत और स्मार्त था, वर्णाश्रम धर्म के निर्वाह की राजा भी रक्षा करते थे, आदर्श था कि मनु की वृत्तिरेखा पर ही लोग चले। फाह्यान, हुएन्त्साग और ईत्सिग के भ्रमणवृत्तातो के अनुसार लोगो मे आचार-विचार, धर्माचरण, विनय-सयम आदि थे भी, फिर भी समाज मे लोगो का आचरण सर्वथा प्रश्नातीत और आदर्श नही होता था।[४]

समाज मे वेश्याओ की सख्या पर्याप्त थी।[५] उनके पेशे मे उन्हे दक्ष बनाने के लिए ग्रथ भी लिखे जाने की नीव वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' मे डाल दी थी। वेश्याएँ नृत्य-गान के लिए तो नियुक्त होती ही थी, अनेक बार दुश्चरण की भी वे आधार बन जाती थी। कवि कहता है कि उनके युवको के साथ रमण करने के कारण नीच-गिरि की कन्दराएँ उनकी गन्ध से वासित हो जाती थी। मदिरो मे देवदासी रूप मे जो नारियो की नियुक्ति होती थी, निश्चय उनकी वृत्ति मदिर मे गायन-नर्तन तक ही सीमित नही रह पाती थी।

साहित्य मे अभिसारिकाओ और व्यभिचारिणियो के भी तब के समाज मे

[१]इण्डिया इन कालिदास, २१२। [२]वही। [3]वही। [४]वही, पृ. २१३।
[५]रघु., ९, १७; ३, २७; ५, १६; १४, ६७; शाकु., पृ. १६२।

होने का उल्लेख हुआ है। स्मृतियो में व्यभिचार के तो दण्डविधान से ही उसका अस्तित्व निर्विवाद है, अभिसारिकाओ का वर्णन भी समसामयिक साहित्य मे भरपूर हुआ है। उपेक्षित अयोध्या का वर्णन करते समय कवि दु खपूर्वक कहता है कि जिस मार्ग पर अभिसारिकाओं के नूपुरो की रात मे रुनझुन हुआ करती थी वहा अब स्यारिने अशुभ शब्द करती है। प्रेमियो के मिलन के लिए सकेतगृहो—वनोपवन मे बनायी शय्या—संकेतस्थानो के अनेक उल्लेख हुए हैं। अनेक सदर्भों से 'शठों' (आचारहीन प्रेमियो) के प्रियाओं तक संदेश पहुचाने वाली 'दूतियो' की समाज मे कमी न थी। प्रेमियों के परस्पर भेजे प्रेमपत्रों का भी 'शाकुन्तल' और 'कुमारसंभव' से परिचय मिलता है। यह स्मरण रखने की बात है कि युग वह वात्स्यायन का था जिसके 'कामसूत्रों' का उपयोग साहित्यकार नि सीम करने लगे थे। स्वय कालिदास ने उसकी प्रणयक्रियाओं का निर्बन्ध वर्णन 'रघुवश' के छठे, नवें और उन्नीसवे सर्गों में, विशेष कर 'कुमारसभव' के आठवे सर्ग मे किया है। इस प्रकार तब दुराचरण एक सीमा तक शास्त्रसमत भी हो गया था।[1]

समाज मे चोर थे और चोरी होती थी। इसका उल्लेख अपने अपराध और दण्ड के प्रकरण मे न केवल स्मृतिया करती है बल्कि साहित्य मे भी उनके अनेक उल्लेख हुए है। यदि 'दशकुमारचरित' को प्रमाण माना जाय तो समाज की चारित्रिक स्थिति को अत्यन्त अपराधदूषित और घृणित मानना पडेगा पर नि.सन्देह उसमे इस क्षेत्र मे अति चित्रण हुआ है। 'मृच्छकटिक' में ब्राह्मण भी चोर प्रदर्शित हुआ है और वह अपनी कला मे इतना पारगत है, अपने कुकर्म को वह इस युक्ति से बखानता है कि पाठक को उससे घृणा नही होती, मनोविनोद होता है। उस प्रसग मे वह अपने जनेऊ को, चोरी मे सेंध के लिए दीवार नापने के अवसर पर सूत घर भूल आने पर, नपना बनाकर उसकी हसी उडाता है।

फिर भी समाज में अधिकतर विनीत और आचारवान् सज्जनो और सच्चरित्रा नारियो का निवास था। स्वीकृत वर्णसबंधी अपचार कम होते थे। पतिव्रताएँ पति के प्रवास काल मे तप का जीवन बिताती और सजना-सिंगरना छोड देती थी। इसी से गृहस्थ का नारीनिवास 'शुद्धांत' कहलाता था। दूसरे की पत्नी पर दृष्टिपात करना पाप समझा जाता था, उसका स्पर्श करना तो जघन्य आचरण था।[2]

साज-सज्जा (फर्नीचर)

समाज के समृद्ध होने के कारण उच्च वर्ग के जीवन का स्तर ऊंचा था। उनके

[1] इण्डिया इन कालिदास, पृ. २१३—१४। [2] वही, पृ. २१४।

घरों के विविध आगारो, प्रमदवनो (नजरबागों), वापी-दीर्घिकाओ, धारायंत्र द्वारा नलो मे बहते जल, स्फटिक (संगमरमर) आदि की बनी कुंज-शिलाओं को देखते नि.सदेह सुखमय जीवन बिताने वाले समाज की कल्पना होती है ।

घरो में, साहित्य के प्रासंगिक संदर्भों से प्रकट है, आसायिश के प्राय सभी सामान थे । आसनों, सिंहासनों, शय्या, पलंगो आदि के अनेक प्रकारों का उल्लेख हुआ है, जिनका कुछ विस्तार से नीचे उल्लेख कर देना समुचित होगा। 'सिंहासन', जैसा नाम से प्रकट है, राजा का राजकीय आसन था। धनियो के भवनों और राजप्रासादों में सोने से बने आसनो का प्रयोग होता था । 'भद्रपीठ' अथवा 'भद्रासन' सुन्दर साधारण बैठने का आसन होता था। एक प्रकार का आसन गजदन्त का होता था जिसे श्वेत आस्तरण से ढककर रखते थे। 'वेत्रासन' बेंत का बना आसन अथवा कुर्सी थी, जैसे 'पीठिका' पीठ टेकने वाली, पीठ के साथ बना पीढ़ा था। 'पादपीठ' पैर रखने के लिए होता था जो राजाओं के लिए सोने का होता था और 'सौवर्णपादपीठ' कहलाता था । राजा सिंहासन पर बैठकर उस पर पाव टिका रखते थे। गुप्त अभिलेखो मे उसका बार बार उल्लेख हुआ है। 'विष्टर' देवराज इन्द्र के सदर्भ मे प्रयुक्त हुआ है। यह भी राजभवन का ही बहुमूल्य आसन था ।[1]

इनके अतिरिक्त समाज मे मंचो (मचो) और विविध प्रकार के पलगो—तल्प, पर्यंक, शय्या—का उपयोग होता था। बिस्तर के ऊपर बिछनेवाली चादर को 'उत्तरच्छद' अथवा 'आस्तरण' कहते थे। उसकी श्वेतता की उपमा हस की सफेदी से दी जाती थी। ऊपर टगी चादनी—वितान—या चदोवे का उल्लेख भी हुआ है जिसमे रग-बिरगे गेंद टगे रहते थे ।[2]

घर मे प्रयुक्त होनेवाले बरतन-भाडे गृहस्थ की आर्थिक स्थिति के अनुकूल मूल्यवान् धातुओ—सोने, चादी, ताबे, कासे, पीतल अथवा मिट्टी के थे। 'कुम्भ' बडा कुण्डा और 'घट' साधारण जल रखने का कलश था ।[3]

पिटारिया अनेक प्रकार की थी। इनमे अकेले कालिदास ने तीन के नाम 'मजूषा', 'करण्डक' और 'तालवृन्तपिधान' दिये हैं। इनमें से पहली का उल्लेख आभूषण और रत्नो के सदर्भ मे, दूसरी का प्रसाधन की सामग्री के सदर्भ मे हुआ है। तीसरी ताड की बनी पिटारी थी। इनके अतिरिक्त और भी गृह सबंधी वस्तुओ, जैसे दीपों, ताड अथवा कमलदल के पखो और पटमडपो का उल्लेख मिलता है। धूप और वर्षा से रक्षा करनेवाले छाते का अनेक बार वर्णन हुआ है। राजा के छत्र और चमर को

[1]इण्डिया इन कालिदास, पृ. २१४—१५। [2]वही, पृ. २१५। [3]वही, पृ. २१६।

'अदेय' कहा गया है। वराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' में विविध वर्णों के साथ चलने वाले विभिन्न छत्रों और चमरों का उल्लेख किया है।[१] वस्तुओं को रखने के लिए 'भंडारघर' होता था।[२]

गुप्तकालीन वाहनों में प्रधान स्यन्दन अथवा रथ, कर्णीरथ (स्त्रियों को ले जानेवाला), चतुरस्र यान (पालकी) आदि प्रधान थे। लोग स्थल पर हाथियों और घोड़ों पर चलते थे और जल पर नौकाओं पर। बोझ ढोनेवाले पशुओं में तत्कालीन साहित्य ऊंटों, बैलों और खच्चरों का उल्लेख करता है।[३]

उपवनविनोद

उपवनविनोद और उद्यान व्यापार अत्यन्त लोकप्रिय था। नगरों के बाहर उद्यानों की परम्परा चली गयी थी। राजप्रासादों और धनियों के भवनों के साथ अपने उपवन अथवा 'प्रमदवन' जुड़े रहते थे। साधारण जन के लिए नगर के उपवन पर्याप्त होते थे। फूलों का पूजा और मण्डन में बहुलता से उपयोग होने के कारण उद्यानों की स्वाभाविक ही बड़ी आवश्यकता थी। फूलों का उपयोग अपने प्रसाधन में रानी और दरिद्र गृहस्थ की भार्या समान रूप से करती थी, जिससे उपवन रखने-रखाने की प्रथा ही चल पड़ी थी। निर्धन घरों अथवा आश्रमों में कन्याएँ ही पौधों को सींच लेती थी, यद्यपि यह उद्यानसिंचन का कार्य छोटा नहीं गिना जाता था। सीता और शकुन्तला ने, गुप्तकालीन साहित्य में, यह कार्य बड़े प्रेम और सुख से किया। 'उद्यान व्यापार' तब सुखाराधन बन गया था।[४]

समकालीन साहित्य में उद्यान की बड़ी चर्चा हुई है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का तो कथन है कि साधारण और राजकीय दोनों भवनों के साथ प्रमदवन या नजरबाग अनिवार्यतः जुड़ा होना चाहिए। भवन से "जुड़ी निश्चय एक वृक्षवाटिका (अथवा पुष्प-वाटिका) होनी चाहिए, या ऐसा विस्तृत उपवन हो जिसमें फूल और फल देने वाले पौधे तथा वृक्ष हों, भोजन के लिए तरकारियां हों। उस वाटिका के बीच कुआं या दीर्घिका खुदवानी चाहिए।"[५] कालिदास की कृतियों में वात्स्यायन का वक्तव्य प्रकाशित है क्योंकि उसके वर्णन में कोई भवन नहीं जिससे उद्यान न जुड़ा हो। ऐसी भवन-वाटिका के पेड़-पौधों को परिवार की कन्याएं ही सींच लिया करती थीं। सीता और शकुन्तला के

[१]७२, ३; ७३, १—४। [२]इण्डिया इन कालिदास, पृ. २१६। [३]वही। [४]वही, पृ. २१७। [५]चकलादार, सोशल लाइफ इन एन्शेण्ट इण्डिया, 'उपवन विनोद' की भूमिका, पृ. १७ पर उद्धृत।

उद्यान सींचने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पार्वती को उसकी सेवा करते रहने से एक देवदारु पुत्र की भांति प्रिय हो गया था।[1] 'मेघदूत' की यक्षपत्नी की वाटिका का मन्दार वृक्ष भी उसे पुत्रवत् ही प्रिय लगता था।[2]

धनियों के उद्यानो में फव्वारे (यन्त्रधारा, वारियन्त्र) लगे रहने से उनको सीचना आसान हो जाता था। छोटी नहरें (कुल्या) हर ओर खोद दी जाती थी जिनसे होकर फव्वारों का जल पौधो और पेड़ो की जडो मे चला जाता था। उनके थलों को 'आधारबन्ध' और 'आलवाल' कहते थे। जहा फव्वारे नही हो सकते थे वहा बावली या कुए से कलसे भर-भरकर कलसो से ही आलवालों में जल डालकर पौधों को सीचते थे। छतनार वृक्षों, छितवन आदि के नीचे बैठने के लिए वेदिकाएं बना ली जाती थी।[3]

उद्यान की लताओ—माधवी, प्रियगु आदि—को काट छाट और घेर कर उनके लतागृह या कुज बना लिये जाते थे। उनके फूलों भरे चंदोवे के नीचे स्फटिक, संगमरमर अथवा सादे पत्थर की, घर के स्वामी की आर्थिक स्थिति के अनुकूल, बेंचें अथवा शिलाएँ डाल ली जाती थी। उन्ही लतागृहों या खुले उद्यान में झूले डालकर कुटुम्ब के लोग झूलते थे। उद्यानो में क्रीड़ाशैल भी होते थे, पत्थरों-चट्टानों से बने कृत्रिम लघु पर्वत। सार्वजनिक उपवन 'नगरोपवन' अथवा 'बहिरुपवन' कहलाते थे, क्योकि वे नगर के बाहर अधिकतर नदी के तीर एक-से-एक लगे दूर तक फैले चले गये होते थे।[4]

उद्यानो में लोग लताओं और वृक्षों के विवाह रचाते थे,[5] अशोक और बकुल के फूलने के लिए 'दोहद' संपन्न करते थे। साहित्य में इन उद्यानों और इनके लतागृहो का बडा बखान हुआ है। यही अधिकतर गाधर्व विवाह की रीतिया संपन्न होती थी, प्रेमी-प्रेमिका एक-दूसरे को सुनाकर अपने प्रणय के दु:ख-सुख की वार्ता कहते थे। अनेक बार राजा मंत्रियो पर शासनभार डाल यही अपने प्रणय-प्रसग पूरे करते थे। यहो अशोक और कर्णिकार, बकुल और मन्दार, आम्र और मधूक फूलते थे, जूही और माधवी अपनी गन्ध से वातावरण को महमह कर देती थी, शुक-सारिका रवते और कोयल कूकती थी, मोर नाचते और दीर्घिकाओं, बावलियो में हसो के जोड़े बिहरते थे। इन्ही मे समाज के धनी और श्रीमान् अवकाश के समय अपने विविध आमोद-प्रमोद सेते और अपने सपनों के पट बुनते थे। निश्चय साहित्य का यह चित्र उस वर्ग का था, आलस्य और आनन्द जिसके जीवन के वैभव थे।[6]

[1]रघु., २, ३६। [2]मे. उ., १२। [3]इण्डिया इन कालिदास, पृ. २१८।
[4]वही, पृ. २१८—१९। [5]मे. पू., ३६। [6]इण्डिया., पृ. २१९।

अध्याय ७

आर्थिक जीवन, संपत्ति और समृद्धि

साधारण अर्थ-वैभव

गुप्तकालीन अभिलेखो और साहित्य का पाठक तब के भारत की समृद्धि से चकित हो जाता है। उस समृद्धि का वृत्तात अभिलेखो और साहित्य के हर मोड पर मिलता है। आर्थिक समृद्धि सबधी सदर्भ अनन्त हैं। पर इसके साथ ही आरम्भ मे ही यह लिख देना उचित है कि ये सदर्भ अधिकतर उच्च वर्गीय समाज से ही संबधित हैं, जिससे उन्हे साधारण जन-जीवन का दर्पण नहीं कहा जा सकता। फिर भी जो प्रमाण उपलब्ध है उनसे देश की समृद्धि पर प्रभूत प्रकाश पडता है। उनसे प्रकट है कि अनेक तलो के, अटारियो, बारजो और निदाघ में सेव्य छतो से सयुक्त, शालीन भवन सडको के शृगार थे। इन भवनो मे अधिकतर के अपने-अपने उद्यान थे जिनमे सभी ऋतुओ के फूल-फलो वाले पौधे और पेड थे, भारत की ऋद्ध मिट्टी जिन्हें अघा रखती थी। रत्नो और बहुमूल्य धातुओ की सपदा केवल राज्य की आय का उद्गम न थी, बल्कि उन श्रीमानो के सुख-सपनो की साधिका भी थी जिनके पास अवकाश था और जो उसका विविध प्रकार से उपयोग कर सकते थे। आहार पुष्टिकर था, वैविध्य मे अनगिन, और मदिरा के अनेक प्रकार थे जिनका भरपूर उपयोग होता था। आरामतलब ऐयाशों की सख्या ऐसी दशा मे पर्याप्त होती है, पर्याप्त थी भी। भारत का व्यापार सर्वतोमुखी था, घरबाहर सफल, थलमार्ग से सौदागरो के कारवा और जलमार्ग से सार्थवाह वाणिज्य का धन ला देश मे धारासार बरसाते थे। वणिक्पथो पर क्रय-विक्रय की वस्तुएँ अटूट धारा मे अविरल बहती रहती थी। देश के नगर जनकोलाहल से गूजते रहते थे। राज-पथ और पण्यवीथियो (बाजार की सडको) पर दोनों ओर दुकानें देश-विदेश से लायी बिक्री की वस्तुओं से अटी थी, जहा धनी ग्राहको की भीड़ कभी छटती न थी।[1]

राष्ट्रीय सम्पत्ति

राष्ट्रीय सम्पत्ति के अनेक स्रोत थे। जन-जीवन कृषि पर ही मूल रूप से निर्भर रहता था। वही राज्य की आय का भी प्रधान साधन था। करोड़ो गायो और अन्य

[1] इण्डिया इन कालिदास, पृ. २५६।

पशुओ के लिए चरागाहों मे कभी अन्त न होनेवाली घास थी। नदियो के घाटो की आय बहुत थी, वाणिज्य से आय उससे अधिक थी और वनो से अमित मात्रा मे वार्ता-सेतुबन्ध (राजकीय गृहनिर्माण) के लिए लकडी प्राप्त होने के अतिरिक्त युद्ध कार्य के लिए गज तथा वाणिज्य के लिए गजदन्त उपलब्ध होते थे। आकर धन के आकर ही थे, उनकी खुदाई दीर्घकाल से होती आयी थी, गुप्तकाल मे आकर-कर्म (खानो की खुदाई) अधिकाधिक होने लगा था जिससे देश में बहुमूल्य रत्नो, धातुओ, हीरो, सगमरमर और सोने की बाढ़ सी आ गयी थी, आकरो की सपदा कभी चुकती न थी। सागर अपना रत्नाकर नाम सभी प्रकार से चरितार्थ करते थे—मोती, शख, कौडिया अनन्त मात्रा मे प्रसूत होती थी। उनके मोती के बाजार ने रोम के सौदागरो को जीत लिया था। नदियो की रेत 'कनक-सिकता' प्रस्तुत करती थी जिससे सोना निकाला जाता था। मलयाद्रि की वनस्थली इलायची, लौंग, काली मिर्च आदि गरम मसाले इस मात्रा मे अनायास उत्पन्न करती थी कि रोम-मिस्र से गाल और त्यूनती के अफ्रीकी-यूरोपीय बाजार उनसे भर जाते थे।[1]

१ कृषि

कृषि को प्राणिजीवन का स्रोत कहा गया है। कृषि भारतीय जीवन का तो प्रधान आधार थी ही—प्राय नब्बे प्रतिशत से अधिक लोगो की वृत्ति यही थी—यही राज्य की आय का भी मूल उद्गम थी। साल मे कई फसले बोयी और काटी जाती थी। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' मे गर्मी और पतझड—रबी और खरीफ—की दो प्रधान और एक तीसरी साधारण फसल[2] का उल्लेख हुआ है। इन अन्नो की फसलो का साधारण नाम सस्य था। 'बृहत्संहिता', 'अमरकोश', कालिदास—जो सब गुप्तकालीन है—और हुएन्त्सांग[3] के वर्णन के आधार पर कृषि के अनेक अन्नो का उल्लेख किया जा सकता है। जौ, गेहू, अनेक प्रकार के धानो (चावल), दालो, तेल के विविध आधारो, जैसे तिल, तीसी, सरसो, अदरख गुड-चीनी की मूल ईख, विविध प्रकार की तरकारियो, औषध के लिए अनेक पौधो के बोने और उनसे फसले उगाने का उल्लेख साहित्य मे प्रभूत हुआ है।

चावल

कलम, शालि और नीवार[4] धानो के अनेक प्रकार थे। इनमे से पहले दो की कृषि

[1]इण्डिया इन कालिदास। [2]५, २१; ६, ४२; १०, १८; २५, २५; २७, १; ४०; अमर., २, ६। [3]१, १७७—७८। [4]रघु., १, ५०; ४, २०, ३७; ऋतु., ३, १, १०, १६; ४, १, १७, १८; ५, १, १६; शाकु., १, १३।

द्वारा फसलें तैयार की जाती थी, नीवार वनो मे अपने आप उगता था जो आश्रमवासियो और वनवासियो का, कन्द-मूल-फल के अतिरिक्त, प्रधान आहार था। ईख और धान के खेतों के कुमारियो द्वारा गाते हुए रखाने का जिक्र हुआ है। प्रकट है कि गेहू-जौ आदि पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रात, उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग मे, और चावल पूर्व, दक्षिण के जलप्लावित प्रदेशो और पहाडी इलाकों मे होते थे। अमरकोश और बृहत्संहिता[1] ने चावल की जिन किस्मो का उल्लेख किया है उनमे से एक की फसल ६० दिनो मे तैयार होती थी। हुएन्त्साग लिखता है कि पारियात्र (विन्ध्याचल के पश्चिमी भाग) मे चावल की फसल ६० दिनो में तैयार होती है और मगध (गया और पटने के जिले) मे एक प्रकार का चावल उपजता है जिसकी सुगन्ध बडी भीनी होती है और जिसे अभिजात लोग खाते हैं।[2] बाण ने भी 'हर्षचरित' में श्रीकण्ठ (थानेश्वर के इलाके) के चावल, गेहूं, पुड्र प्रकार की ईख, विविध प्रकार की सेमो, अगूरो और अनारो का बयान किया है।[3]

ईत्सिग लिखता है कि चावल, ईख, तरबूज आदि की देश मे अफरात है और फलो की सख्या तो अनन्त है। वह उत्तर-पश्चिम और पश्चिम मे चावल और जौ की और मगध मे चावल की प्रधानता बताता है।[4] वराहमिहिर, हुएन्त्साग और ईत्सिग तीनों ने फलो की विस्तृत खेती का उल्लेख किया है। आम, कटहल, केला, इमली, नारियल आदि सर्वत्र उपलब्ध थे।[5]

कालिदास, अमरकोश और हुएन्त्साग तीनो ने केसर की खेती का जिक्र किया है;[6] कालिदास ने वक्षु नद (आमू दरिया) के तीर, अमरकोश ने कश्मीर मे और हुएन्त्साग ने उद्यान (पूर्व-दक्षिण अफगानिस्तान), दारेल और कश्मीर मे।[7] तीनो ने ही मलय की उपत्यका में होने वाले गरम मसालो—काली मिर्च, एला (इलाइची), लौंग आदि—चन्दन और कपूर का भी वर्णन किया है।[8] गरम मसालो ने तो तब यूरोप के बाजारो को अपनी सुवास से भर दिया था। मलय पश्चिमी घाट की पहाड़ियो का दक्षिणी भाग है जो कालिदास के समय पाड्य देश का भाग था, आज केरल का है।

सिंचाई

फसलों के बोने की प्रधान ऋतु वर्षा थी। खेती का जीवनाधार वर्षा ही समझी

[1]ऊपर देखें, अमर., ३, ९। [2]१, ३००; २, ८१। [3]हर्ष., ३। [4]वृत्तांत, ४३—४४। [5]ऊपर उद्धृत संदर्भ। [6]रघु., ४, ६७; अमर., २, १२४। [7]वृत्तांत, १, २६१, २६८। [8]रघु., ४, ४५—४८; अमर., २, ६, ३१; वृत्तांत, २, १९३, २८८।

जाती थी। खेत बोने के लिए वर्षाकाल की बड़ी उत्कठा से प्रतीक्षा की जाती थी।[1] माल देश के खेत औरों की ही भांति आषाढ (जुलाई) में बोये जाते थे। कृषि के तौर-तरीके परम्परागत थे। वर्षा और झीलो आदि से खेत सिचते थे। भूमि उपजाऊ थी और वर्षा प्रचुरता से होती थी। छठी सदी के वराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' मे वर्षा, जल गिरने के अनुपात, उसे नापने के तरीकों, ज्योतिष से वर्षा होने न होने, फसल के होने-बिगड़ जाने आदि का विस्तृत वर्णन किया है।[2] पाचवी सदी (४५५-५८) के स्कन्दगुप्त के गिरनार-जूनागढ़ के अभिलेख से प्रकट है कि किस प्रकार पहले अशोक के समय नदियो का जल रोक कर बनायी झील के बाध टूट गये, जिन्हे शकराज रुद्रदामा ने फिर से बधवाया और अन्त मे उनके फिर टूटने पर स्कन्दगुप्त ने उसकी मरम्मत करा खेतो की रक्षा की। इनके अतिरिक्त बावलियो, कुओ और छोटी नहरो द्वारा पहियों लगे ईरानी वारियंत्र से खेतो की सिंचाई होती थी। उसी काल के 'अमरकोश' के अनुसार हल-बैंलो से खेती होती थी, हलों के उसने अनेक पर्याय और उनके अगो के नाम दिये है।[3]

कालिदास ने राजा को 'षडशभाज' कहा है, जिससे जान पडता है कि खेतो की उपज का छठा अश राजा का होता था। ऋग्वेद मे उल्लेख है कि जो खेती नही करता उसे 'विदथ' मे बोलने का अधिकार न होगा। जीवन मे कृषि की यह प्रधानता गुप्तकाल में बनी रही। खेती आदि नष्ट करने के लिए स्मृतियो में भारी दण्ड (सौ पण) का विधान हुआ है। इस प्रकार ऊसर भूमि को जोत मे लाने का पुरस्कार भी उनमे घोषित किया गया है।[4]

२ वृत्ति अथवा पेशे और उद्योग-धन्धे

ऊपर कृषि की वृत्ति का उल्लेख किया जा चुका है। नीचे हम अब वृत्तियो अथवा पेशो के विविध प्रकारो का उल्लेख करेंगे। सुनारो-शिल्पियो के धातु-कार्य;[5] जुलाहों का तन्तुवाय-उद्योग, जिसमे रुई और रेशम के ऐसे वस्त्र भी बनते थे जो फूक से उड़ जाये,[6] पट मडप का निर्माण आदि थे;[7] वाणिज्य,[8] शस्त्र कर्म,[9] मत्स्यबन्ध[10] (मछली पकडना), राजसेवा[11], शिक्षण[12], पौरोहित्य कर्म[13], नर्तकी-गायिका-वेश्या

[1] मे. पू., १६। [2] २,६—६। [3] २, ६, ६। [4] नारद, १४, ४; बृह., १, २३५; १, १६, ५३—५५; कात्या., ७६४—६७। [5] मालविका., पृ. ४। [6] रघु., १६, ४३। [7] वही, ५, ४१, ४६, ६३; ७३; ७, २; ६, ६३; १३, ७६; १६, ५५, ७३; विक्रमो., पृ. १२१। [8] मालविका., १, १७। [9] रघु., १७, ६२। [10] धीवर, जालोपजीवी, शाकु., पृ. १८३। [11] सेना, राजपुरुष, वेतनभोगी राजसेवक, मंत्री आदि। [12] माल., पृ. १७। [13] शाकु., पृ. १८३।

कार्य[1], उद्यान पालन[2], शकुनि-लुब्धक (बहेलिये का) कार्य[3], शिल्प-वास्तु[4] आदि अनेक धन्धे लोग करते थे।

आकर-खनन

उस काल के साहित्यादि से विविध मणियो, रत्नो और धातुओ का पता चलता है, उससे खनिज कार्य पर बड़ा प्रकाश पडता है। उससे प्रकट है कि खानो की खुदाई और उनसे रत्नो और धातुओ की उपलब्धि बडी माला मे होती थी। कालिदास ने निम्न लिखित मणियो और धातुओ का उल्लेख किया है—वज्र (हीरा), पद्मराग (लाल), पुष्पराग (पुखराज), महानील अथवा इन्द्रनील (नीलम), मरकत (पन्ना), वैदूर्य (बिल्लौर), स्फटिक, मणिशिला[5] (सगमरमर), स्वर्ण, कनकसिकता (नदियो की बालू से निकाली स्वर्णधूल), रजत (चादी), ताम्र (ताबा) और अयस् (लोहा)।[6] सभवत अबरख, जिसको उत्पन्न करनेवाले देशो मे भारत का नाम आज सर्वोपरि है, अथवा काच आदि भी निकलता था जिससे दर्पण तैयार किया जाता था। इनके अतिरिक्त अन्य खनिजो का भी उल्लेख मिलता है जो पर्वतो आदि से प्राप्त होते थे, जैसे सिन्दूर, मन शिला (मेनसिल), गैरिक (धातुराग, धातुरस, धातुरेणु, गेरू) और शैलेय[7] (शिलाजीत) जो अनेक आयुर्वेदिक ओषधियो का प्रधान द्रव्य है। विविध प्रकार की शिलाए भी उपयोग मे आती थी जिनको आकरो मे से खोद निकालने का कार्य होता था। हुएन्त्साग ने आकरो (खानो) की खुदाइयो का उल्लेख किया है। कहा जाता है कि गुप्त सिक्को के लिए स्वर्ण बिजान्तानी (रोमन) सम्राटो के उन सोने के सिक्को से प्राप्त होता था जो भारतीय वस्तुओ के मोल मे अनन्त माला मे देश मे आता था। यह एक स्रोत तब के भारतीय स्वर्ण का हो सकता है, पर स्वय भारत के पास अपने स्वर्ण की कमी न थी। वह धातु इतनी सुलभ थी कि उसके अनेक साधारण नाम (सुवर्ण, हेम, हिरण्य, कनक, काचन, द्रविण आदि) प्रचलित हो गये थे। कवि ने 'द्रविणराशियो'[8] (स्वर्णराशियो) का उल्लेख किया है।

रत्न और धातु

अत्यन्त प्राचीन काल से, सैन्धव सभ्यता के समय से ही, खोदी जानेवाली कोलार (मैसूर) की खाने तब समाप्त नही हो गयी थी, क्योकि वे आज भी खोदी जा रही है। स्वय

[1]गणिका—वेश्या पहले संदर्भ मे दिये जा चुके हैं। [2]मे. पू., २६। [3]शाकु., पृ. २६। [4]रघु., १६, ३८। [5]इण्डिया इन कालिदास, पृ २५६। [6]वही। [7]वही, पृ. २६०। [8]वही, ४, ७०।

हुएन्त्साग लिखता है कि देश मे खानो से सोना और चादी बडी मात्रा मे खोदकर निकाले जाते हैं। उसके वर्णन से प्रकट है कि उद्यान और दारेल (अफगानिस्तान, गन्धार) से, उत्तर-पश्चिम से, और सतलज तथा ब्यास नदियो के द्वाब टक्क से स्वर्ण और रजत प्राप्त होते थे। इसी प्रकार ताबा सतलज और ब्यास के द्वाब तथा नेपाल और कुलू मे निकलता था।[1]

ढलाई

प्राय उसी काल के वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र'[2] मे रूप-रत्नपरीक्षा, धातुवाद, मणिरागाकरज्ञानम् आदि लाक्षणिक शब्दो द्वारा —चौसठ कलाओ के प्रसग मे—धातु परखने की विद्या और धातु ढालने-पिघलाने के विज्ञान की ओर सकेत किया है। नालन्दा मे राजा पूर्णवर्मा की बनवायी ८० फुट ऊची तावे की विशाल बुद्धमूर्ति और शीलादित्य द्वारा बनते १०० फुट के मन्दिर का उल्लेख चीनी यात्री ने किया है।[3] इसी काल की प्राय साढे सात फुट ऊची तावे की बुद्धमूर्ति जो सुल्तानगज (भागलपुर, बिहार) मे मिली, बर्मिघम सग्रहालय मे सगृहीत है। मेहरौली का लोहे का बना राजा चन्द्र (चन्द्रगुप्त द्वितीय) का स्तभ ऊचाई मे २३ फुट और गिर्द मे सवा सोलह फुट से अधिक है। उसकी अद्भुत ढलाई और धातु की सच्चाई का पता उसके पन्द्रह सदियो धूप-पानी मे बेलाग खडे होने से लगता है।

जडाई

वात्स्यायन ने स्वर्णकारिता-धातुकारिता को प्रधान कलाओ मे गिना है। 'बृहत्सहिता' और कालिदास की कृतियो मे भी अमित मात्रा मे देश मे तब बनने वाले स्वर्ण, रजत और विभिन्न मणियो के आभूषणो का उल्लेख हुआ है। 'बृहत्संहिता'[4] मे इस कार्य मे प्रयुक्त होनेवाली प्राय. बाईस मणियो का उल्लेख हुआ है, जैसे हीरा, नीलम, पन्ना, लाल, पुखराज, स्फटिक, चन्द्रकात, बिल्लौर, मूगा, मोती, शख, सीपी आदि। इनमे से अनेक के समकालीन उपयुक्त होनेवाले पर्याय 'अमरकोश'[5] देता है। वराहमिहिर ने अपने प्रशस्त ग्रथ 'बृहत्सहिता'[6] मे हीरा के सात प्राप्तिस्थानो का उल्लेख किया है। इसी प्रकार उसमे मोतियो के आठ स्थलो के नाम भी गिनाये गये है।[7] इनमे लका, पाड्य देश

[1]वृत्तांत, १, १७८, २२५, २३६; २८६, ५०१, २८०, २९८; २, ८३; अमर., २, ६, ६७। [2]१, ३, १६। [3]वृत्तांत, १, १७१, १७८; जीवनी, ११९। [4]८०—८१। [5]२, ६, ६२। [6]८०—८१। [7]वही।

और फारस की खाडी का भी उल्लेख हुआ है। कालिदास ने भारतीय मोती उत्पन्न करने वाले प्रधान उद्गम ताम्रपर्णी (तांबरवेनी) का वर्णन किया है।[१] हुएन्त्सांग ने द्रविड़ आदि देशों से विभिन्न प्रकार के कीमती पत्थरों, स्फटिक आदि प्राप्त होने की बात लिखी है।[२] सोने में रत्नो की जडाई उस काल के धातुकार्य तथा स्वर्णकारिता की विशेषताओ में से थी। अनन्त रत्नजटित आभूषणों की 'आभूषण' शीर्षक के नीचे पिछले अध्याय में जो सामग्री दी गयी है उससे इस दिशा की क्रियाशीलता की अटकल लगायी जा सकती है। राजाओं और देवी-देवताओं के मुकुटों में तो रत्नों की प्रभा अमित होती ही थी, उनके 'किरीट' भी स्वर्णभूमि पर रत्नो की जड़ाई के अनमोल उदाहरण थे।

वस्त्र-बुनाई

खनिजों के अतिरिक्त वस्त्र-निर्माण का उद्योग भी गुप्तकाल में विशेष उन्नति पर था। समकालीन साहित्य मे परिधान अथवा अन्य कार्य के लिए उपयुक्त होनेवाले अनेक प्रकार के वस्त्रो का उल्लेख हुआ है, जिनका परिगणन 'परिधान' के संदर्भ में प्राय. नि शेष रूप से किया जा चुका है। उस काल बनने वाले वस्त्रों की अनेक विधाएँ थी; रुई, रेशम, ऊन, क्षौम, वल्कल सभी प्रकार के वस्त्र बनते थे। इन्हें कालिदास से कुछ ही बाद गुप्त सीमावधि के निचले छोर पर होनेवाले बाण ने राजा हर्ष की बहिन राज्यश्री के विवाह के अवसर पर अपने 'हर्षचरित' मे गिनाया है[३]—क्षौम (लिनेन), बदर (रुई का बना), दुकूल (वल्कल-रेशम), लाला तन्तु (महीन रेशम), अंशुक (मलमल)—इनका उल्लेख समकालीन चीनी यात्री हुएन्त्साग भी करता है।[४]

रेशम

इस देश में रेशम का व्यवहार अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है, 'जातकों' से उसकी प्राचीनता तो सिद्ध ही है, तब से आज तक चले आनेवाले उस व्यवसाय का भरपूर उद्योग गुप्तकाल मे हुआ। चीन से जो रेशम आता था, उसका नाम 'चीनांशुक' होने से प्रकट है कि दूसरे प्रकार का रेशम इसी देश मे बनता था। उसके विविध प्रकारो का उल्लेख 'अमरकोश' ने अपने पर्यायो द्वारा किया है।[५] बाण ने 'हर्षचरित'[६] मे उसकी विशेषत· दो किस्में दी है—पुलकबन्ध (चमकीले रंग वाली) और पुष्पपट्ट, जिसमे पुष्पो की छाप छपी या बुनी होती थी। इस प्रकार के छपे वस्त्र का उपयोग मथुरा संग्रहालय

[१]रघु., ४, ५०। [२]वृत्तांत, १, १७८; २, २२६। [३]१। [४]वृत्तांत, १, १४८; २, १५१, २८७, ३४०। [५]२, ६, ११५—१६। [६]१।

की कौमारी प्रतिमा के वस्त्र पर हुआ है। इसी वर्ग में संभवत: वर-वधू के दुकूल भी आते थे जिन पर हंसों के चिह्न छपे या बुने होते थे, जिनका कालिदास ने बार बार उल्लेख किया है। रेशम मे इनके अतिरिक्त, वह काशी का अद्भुत किनखाब—कलाबत्तू (सोने-चांदी के तारो के प्रयोग से बना वस्त्र) भी था जो सहस्राब्दियो पुराना है और आज भी जीवित है। सातवी सदी के शान्तिदेवकृत 'शिक्षासमुच्चय'[1] मे काशी के बने इन रेशमी वस्त्रो को सर्वोत्तम माना गया है। पुण्ड्र देश का बना क्षौम, बाण लिखता है,[2] उसके गाव तक मे मिलता था। एक प्रकार के सुन्दर रुई के बने रेखाकित वस्त्र का निर्माण हुएन्त्सांग के कथन के अनुसार[3] मथुरा मे होता था। इस प्रकार के रेखाकित परिधानों का उपयोग अजन्ता के अनेक चित्रो पर हुआ है। कामरूप से प्राप्त राजा हर्ष के उपहारों मे अन्य वस्त्रो के साथ दो 'जातिपट्टिका' और 'चित्रपट' है।[4] इनमे से पहला बुना हुआ रेशम था, दूसरा छीट अथवा चित्रो से अंकित रुई का बना था।

वन की उपज

खानो की सपदा की ही भाति वनो की सम्पदा भी गुप्तकाल मे कुछ कम न थी। देश मे वनो की अनगिन परम्परा थी जिनमे विविध प्रकार के वृक्षो के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के असंख्य जीवो का निवास था। इनसे भवननिर्माण और ईंधन के लिए लकडी के अतिरिक्त अनेक प्रकार के चमडे प्राप्त होते थे—रुरु और कृष्णसार नामक पवित्र मृगों के चमडे, विशेष प्रकार के मृग से उत्पन्न मृगनाभि (कस्तूरी), स्त्रियो के अथवा दूसरे प्रकार के उपयोग के लिए लाख (लाक्षा जिससे आलता बनता था), चवर बनाने के लिए याक अथवा चमरी गाय की पूछ।[5] कालिदास ने कलिंग (उडीसा), कामरूप (असम) और अंग के विशाल गजो का उल्लेख किया है।[6] सभवत ये वन सरक्षित थे जिनमे हाथी पकडे तो जा सकते थे पर मारे नही जा सकते थे। कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' मे गजो के रक्षित वनो का उल्लेख किया है।[7] कालिदास ने गजो के आखेट मे मारने का वर्णन किया है।[8] गजो का युद्धो में बराबर उपयोग होता था, वे भारतीय सैन्य पद्धति मे चतुरगिणी सेना मे एक रग—गजदल—के निर्माता थे। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा उपहृत गजदल ने सेल्यूकस को उसके प्रतिद्वद्वी के विरुद्ध पश्चिमी एशिया मे

[1] पृ. २०८। [2] ४। [3] वृत्तांत, १। [4] हर्षचरित, ४। [5] रघु., ३, ३१; ४, ६५; ऋतु., ६, १२–६, १३; कुमार., १, १३; रघु., १६, २। [6] रघु., ४, ४०, ८३; ६, २७। [7] ७, १४। [8] प्रतिनिषिद्धम्, रघु., ९, ७४, अवघ्यो., ५, ५०।

विजय प्रदान की थी । उनसे प्राप्त, देश-विदेशों मे बिकने वाले कीमती गजदन्त के विक्रय से पर्याप्त धन आता था । उनके आभूषण, मुहरे आदि भी बनती थी । भीटा, बसाढ आदि से हार की गुरियो के साथ गुप्त राजाओं की अनेक मुहरे भी मिली है ।

३. वाणिज्य

गुप्त सम्राटो का शासन देश मे स्थल मार्ग से आनेवाले उत्तर-पश्चिम के वणिक्पथ को सरक्षा तो देता ही था—हिन्दूकुश के 'शकमुरुड-शाहिशाहानुशाही' समुद्रगुप्त के समय से ही उनके प्रभाव के अतर्गत थे—जब से मालवा और गुजरात पर उनका अधिकार हुआ तब से यूरोप और पश्चिमी एशिया से सपर्क रखनेवाला जलमार्ग भी उनके शासन के भीतर आ गया । समसामयिक साहित्य उस काल के वाणिज्य पर प्रचुर प्रकाश डालता है। उससे पता चलता है कि वाणिज्य से देश मे धारासार धन बरसने लगा था [१], वाणिज्यपतियों का बड़ा आदर था, जिनमे स्वय राजा आदर का व्यवहार करता था ।[२] वणिक्पथ दो थे, स्थलमार्ग और जलमार्ग ।

समुद्र-यात्रा

जलमार्ग कल्याणी, शूर्पारक अथवा भृगुकच्छ से चलकर फारस की खाडी पहुचता था । 'रघुवश' के एक स्थल[३] की व्याख्या करते हुए मल्लिनाथ ने समुद्र यात्रा निषेध की बात कही है जो किसी प्रकार भी ग्राह्य नही हो सकती, कारण कि समसामयिक प्रमाण इस धारणा के विपरीत है। कालिदास और गुप्तों का समकालीन चीनी यात्री फाह्यान लिखता है कि चीन लौटते समय जब उसने सागर की यात्रा आरम्भ की तब उसके साथ अनेक भारतीय सहयात्री थे । इनमे भागवत (वैष्णव) धर्म को माननेवाले ब्राह्मण भी थे जो फाह्यान के सकट का कारण बन गये । क्योंकि उन्होंने सागर मे तूफान आने पर कहा कि बौद्ध चीनी यात्री के जहाज पर होने के कारण ही तूफान आया है,[४] जिससे उसे जहाज से उतार देना या जल मे फेक देना चाहिए । इसके अतिरिक्त भी, जैसा हम आगे के अध्यायो मे देखेगे, पडोस के द्वीपो बालि, जावा और सुमात्रा मे उसी काल भारतीयो ने समुद्र मार्ग से पहुच कर अपने उपनिवेश बनाये थे । गुप्तो के भारत मे शासनासीन होने के बहुत पहले से ही अरब, मिस्र, रोम आदि पश्चिम के देशो के साथ भारत का समुद्र मार्ग से विपुल मात्रा मे व्यापार होता चला आया था । पहली सदी

[१] विक्रमो., ४, १३ । [२] शाकु., पृ. २१६ । [३] समुद्रयानस्य निषिद्धत्वादिति भाव; ४, ६० पर । [४] फाह्यान, रेकार्ड, लेग्गे का अनुवाद, पृ. ११३ ।

ईसवी के 'इरीथ्रियन सागर का पेरिप्लस' और प्लिनी और अनेक अन्य सागरवर्ती इस भारतीय वाणिज्य के वैभव का उल्लेख करते है। कल्याण गुप्तकाल मे बडा व्यस्त बन्दर था। वहा से पूर्व की ओर देश के भीतर, उज्जयिनी की दिशा मे जो मार्ग आता था वह 'महापथ' कहलाता था। सौदागरो के कारवा (सार्थ) इन्ही महापथो पर पूरब से पच्छिम और उत्तर से दक्खिन आते जाते थे।

देश के भीतर के वणिक्पथ

देश के भीतर का एक वणिक्पथ सभवत वही था, जो प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार, समुद्रगुप्त ने अथवा 'रघुवश' के रघु ने अपनी दिग्विजय मे लिया था।[1] मध्य-दक्षिण-भारत जानेवाला एक तीसरा मार्ग वह था जिससे अज भोजो के राज्य (बरार) मे भोजपुर गया था।[2] दक्षिण से उत्तर जानेवाला एक मार्ग 'मेघदूत' मे मेघ ने लिया है पर उसे कुछ परिवर्तन के साथ ही स्वीकार किया जा सकता है, क्योकि मेघ को पर्वतो, वनो आदि की रुकावट नही हो सकती थी। जैसे वास्तविक मार्ग मे 'मेघदूत' की राह के विपरीत उज्जयिनी अवश्य पडती होगी, यद्यपि काव्य मे मेघ को उधर यक्ष के आग्रह से जाना पडता है। 'पेरिप्लस' का रचयिता उज्जयिनी को इस मार्ग पर रखता भी है। उसका उल्लेख है—'बेरिगाजा (भडौच) से पूर्व की ओर ओजेन नामक नगर है जो पहले राजधानी था जहा राजा निवास करता था। उस स्थान से बेरिगाजा स्थानीय आवश्यकताओ की पूर्ति अथवा भारत के अन्य भागो मे भेजे जाने के लिए प्रत्येक पण्य वस्तु लायी जाती है।"[3] इस प्रकार उज्जयिनी उन सारे उत्तरी नगरो मे वणिक्पथो द्वारा जुडी हुई थी जिनका माल पश्चिमी देशो को भेजे जाने के लिए पश्चिमी समुद्र-तट पर जाता था। यात्रा के मार्ग सुरक्षित थे और निरन्तर चलते रहते थे। फाह्यान अपने चौदह वर्ष के भ्रमण मे एक बार भी राह मे न लुटा। गुप्तो का शासन उठते ही स्थिति बदल गयी, क्योकि प्राय सदी भर बाद ही हर्ष के समय उसका परम मित्र हुएन्त्साग दो-दो बार मार्ग मे लुट गया। सभवत. समकालीन गुप्त शासन से सुरक्षित राजपथो को देखकर ही कालिदास ने कहा था कि जहा विहार के लिए आधी राह गयी निद्रित वेश्याओ का पल्ला पवन तक नही हिला सकता वहा किसका साहस था कि कुछ चुराने के लिए हाथ बढाये ?[4]

समसामयिक साहित्य मे सागरवर्ती व्यापार को प्रमाणित करने के अनेक प्रमाण है। फारस जानेवाले जलमार्ग का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। वग (बगाल)

[1] सर्ग ४। [2] ५, ४१ से आगे। [3] अनुवाद, सेक्शन ४८। [4] रघु.।

के सागरतीर निवासी युद्धपोत (जंगी बेडा)[१] रखते थे। अन्य प्रमाणों से सिद्ध है कि तब भारत का सिंहल, बरमा, जावा, बालि, चीन आदि से सागर की राह यातायात था। कालिदास ने 'उडुप'[२] (छोटी नावो), तटवर्ती नौकाओ[३] और विमान वाले जहाजों[४] का उल्लेख किया है। तब सागर में चलनेवाले विशाल पोत भी बनते और माल भर-भर कर दूर देशों की सागर की राह यात्रा करते थे,[५] जिनका जब तब नौव्यसन में विपन्न (बेडा गर्क) हो जाना अनजाना न था।[६] 'रघुवंश' के तेरहवे सर्ग के पहले सत्रह छन्द प्रमाणत सागर यात्रा से सबंध रखते है। उसका अनुभव हुए बगैर वे कथमपि लिखे नही जा सकते थे। अपने पद 'द्वीपान्तर'[७] द्वारा कवि निश्चय गरम मसालों के द्वीपो का सकेत करता है। वैसे चीन से यातायात स्थलमार्ग से था पर कुछ आश्चर्य नही जो चीनी रेशम[८] सागर के मार्ग से ही आता रहा हो। 'अमरकोश' मे हाटो और दुकानों के लिए तो पर्याय दिये ही हुए है, उसमे पोतो मे यात्रा करने वाले वणिको के लिए भी विविध पर्याय दिये है।[९]

पश्चिमी सागरतट तो थल के अन्तिम दक्षिणी छोर तक बन्दरगाहो से भरा ही था, पूर्वी तट पर भी उनकी संख्या कुछ कम न थी। गगा के डेल्टा मे ताम्रलिप्ति (तमलुक) अत्यन्त प्राचीन और व्यस्त बन्दर था। सिंहल, हिन्देशिया, चीन आदि जाने आने वाले यात्री यही चढते-उतरते थे। यहा जो पूरब से माल आता था उसे लेकर सौदा-गरो के सार्थ (कारवा) अयोध्या, बोधगया आदि नगरो को जाते थे। स्वय चीनी यात्री ईत्सिग कई सौ सौदागरो के कारवा के साथ ताम्रलिप्ति से ही बोधगया गया था।[१०] इस प्रकार जैसे पश्चिम के बन्दरगाहो से देश के बडे नगर और मडिया राजपथो से जुडी हुई थी, पूर्व के बन्दरो से भी वणिक्पथ उन्हे जोडते थे। विशेष कर हुएन्त्साग लिखता है,[११] ताम्रलिप्ति तो स्थल और जल मार्ग के मिलने के कारण पण्य (माल) वस्तुओ के वितरण का महान् केन्द्र बन गया था। इसी प्रकार उडीसा के सागरतट पर चारित्र और गजाम जिले मे कोगोद बन्दर थे जो बडे सपत्तिमान् हो गये थे।[१२]

देश के भीतर अन्न के वितरण के अतिरिक्त अनेक क्रय-विक्रय की वस्तुएँ अपने आकर्षण के स्थानो को भेजी जाती थी। सब वस्तुओ की सर्वत्र आवश्यकता नही थी

[१]नौसाधनोद्यतान्, रघु., ४, ३६। [२]वही, १, २। [३]वही, ४, ३६; १४, ३०। [४]नौविमान, वही, १६, ६८। [५]समुद्रव्यवहारी सार्थवाहः, शाकु., पृ. २१९। [६]नौव्यसने विपन्नः, वही। [७]द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैः, रघु., ६, ५७। [८]कुमार., ७, ३; शाकु., १, ३०। [९] २, २०, २। [१०]वृत्तांत, २, १९०, १९४, १९६। [११]वही। [१२]द क्लासिकल एज, पृ. ५९७।

पर जहां जिनकी आवश्यकता थी वहां वे निःसंदेह मिलती थी, इससे उपज या बाहर से आनेवाली वस्तुओं की माग के अनुकूल यथावश्यकता वितरण हो जाता था। कलिंग, अग और कामरूप के हाथी बिकने के लिए सर्वत्र जाते थे। कौटिल्य ने भी कलिंग के हाथियों का उल्लेख इस प्रसंग में किया है।[1]

नगर के भीतर बेचने-खरीदने के लिए आये लोगो से बाजार (विपणि) भरा रहता था।[2] खरीदने के लिए 'निष्क्रय' शब्द का उपयोग हुआ है। ऊंची दुकानें बाजार की प्रधान सडक (पण्यवीथी) के दोनो ओर चली गयी थी।[3] इन ऊंची दुकानो वाली प्रधान और बगल की सडक का उल्लेख 'अमरकोश' ने भी किया है।[4] गुप्त-कालीन नगर भीटा के खंडहरो मे इस प्रकार की दोनो सडके खोद निकाली गयी है जिनके दोनो ओर दुकानो के भग्नावशेष मिले है। अयोध्या के बाजार में लोग वस्तुएँ खरीदते-बेचते फिरते रहते थे और सरयू पर नावें लोगो को घाट उतारती जातीं या तीर के ही एक स्थान से उन्हे दूसरे स्थान को पहुचाती रहती थी।[5] कवि कहता है, कारवां पहाडो की राह ऐसे चलते थे जैसे वे उनके भवन हों, नदियो पर ऐसे विहरते थे जैसे वे कूप हो, वनो की राह ऐसे गुजरते थे जैसे वे उपवन हो।[6]

वस्तुओ का आयात

यहा विदेशो से भारत आने और भारत से विदेश आनेवाली वस्तुओं का उल्लेख कर देना समीचीन होगा। नीचे पहले उन वस्तुओ का उल्लेख किया जा रहा है जो विदेशो से आती थी। चीन से एक प्रकार का रेशम आता था जिसे 'चीनाशुक' कहते थे।[7] पाश्चात्यो—पारसीको (ईरानियो) और यवनो दोनो—को 'अश्वसाधन'[8] कहा गया है। स्वाभाविक है कि उनके देशो से घोडे भारत मे बिकने आते रहे हो। भारत मे उपयुक्त होनेवाले 'वनायु' तुरगो का उल्लेख कालिदास ने किया है।[9] कौटिल्य ने भी 'वनायु' देश को घोडो के लिए प्रसिद्ध बताया है,[10] वनायु अरब का नाम था। अरबी घोडो की नस्ल आज भी विशेष विख्यात है। घोडे कम्बोज, कश्मीर के उत्तर-पश्चिम पामीरों की छाया मे बसने वाले कम्बोह कबीलों के देश, मे भी आते थे। रघु की

[1]अर्थशास्त्र, २, ३। [2]रघु., १६, ४१; मालविका., पृ. ३३, ८०। [3]अट्टापणं राजपथं, रघु., १४, ३०। [4]२, २०, २। [5]रघु., १४, ३०। [6]वही, १७, ६४। [7]कुमार., ७, ३; शाकु., १, ३०। [8]पाश्चात्यैः अश्वसाधनैः, रघु., ४, ६२; अश्वानीकेन यवनेन, मालविका, पृ. १०२। [9]रघु., ५, ७३। [10]अर्थ-शास्त्र २, ३०।

विजय मे विजित कम्बोजो ने जो उपहार भेंट किये उनमे विशिष्ट घोडे ही थे।[1] लौंग तो प्रचुर मात्रा में इलाइची, मरिच आदि गरम मसालो के साथ मलयभूमि (केरल) में होती थी और स्वय उनके साथ विदेशो को भेजी जाती थी, पर 'रघुवश' के एक सदर्भ से लगता है जैसे वह अन्य द्वीपो से आती भी रही हो,[2] जैसे आज भी आती है। हो सकता है, वह भारत की राह ही विदेश जाती रही हो। पहली सदी ईसवी के 'इरीथ्रियन सागर का पेरिप्लस' मे भारत मे विदेशो से आनेवाले और यहा से विदेशो को जानेवाले माल का परिगणन हुआ है। वह माल, उसके अनुसार, भृगुकच्छ (भडौच), कल्याण आदि पश्चिम के और ताम्रलिप्ति आदि पूर्व के बन्दरगे मे उतारा जाता था। उसमे उल्लेख है--"नम्बनस् के राज्य मे निम्नलिखित वस्तुएँ आती हैं--सुरा (इतालवी की माग अधिक है),लाओदिकी तथा अरबी टिन, शीशा, मूगा, महीन-मोटे अनेक प्रकार के वस्त्र, हाथ भर चौडे चमकीले कमरबन्द, काच, सिन्दूर, सोने-चादी के सिक्के, अनेक मरहम-अवलेप, राजा के लिए विविध प्रकार के उपहार, चादी के कीमती बरतन, गाने वाले लडके, अन्त पुर के लिए सुन्दरिया, पुरानी मदिरा, महीन और सुन्दरतम बुनावट के वस्त्र, आदि। इसी प्रकार चेर (केरल) और पाड्य देश मे बाहर से आकर उतरने वाली पण्य वस्तुओं मे प्रधान थी--सोने चादी के बहुत बडी मात्रा मे सिक्के (जिनको बदलने से यहा आय होती थी), चित्रित लिनेन (क्षौम), मूगे, कच्चा काच, तांबा, टिन, शीशा, थोडी मात्रा मे सुरा, सिन्दूर, गेहू आदि। यह माल भारतीय पश्चिमी सागर तट के बन्दरगो पर उतरता था। पूर्वी सागर के बन्दरगो को भी पश्चिमी तट से ही सागरगामी पोत दाक्षिणात्य और पडोस के देशो तथा मिस्र मे माल ले जाते थे।"[3] यह ग्रथ पहली सदी ईसवी का है पर इसमे उल्लिखित माल का आयात-निर्यात सदियो पीछे तक नि.सन्देह होता रहा होगा, क्योकि व्यवसाय की स्थितिया रोज-रोज नही बदला करती और न व्यापार की वस्तुओं की खपत मे ही एक सदी से दूसरी सदी मे विशेष अन्तर पडता है।

विदेशो के साथ वाणिज्य और निर्यात की वस्तुएं

बाहर जानेवाले जलमार्ग भी व्यापार की दृष्टि से पर्याप्त व्यस्त थे। सार्थवाह सागर की राह से वाणिज्य करते और उसके संकट साहसपूर्वक झेलते थे। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' मे हस्तिनापुर के एक महान् सार्थवाह के अपने माल भरे जहाजो के साथ

[1]रघु., ४, ६९--७०। [2]६, ५७। [3]स्काफ का अनुवाद, पृ. २८७--८८।

सागर के तूफान मे नष्ट हो जाने का उल्लेख हुआ है।[1] ऊपर बताये यूनानी ग्रथ 'पेरि-प्लस' मे भारत से बाहर विदेशो को जानेवाली वस्तुओ की जो सूची दी हुई है उससे पता चलता है कि इनका निर्यात बडी मात्रा मे होता था और इनकी खपत विदेशो मे पर्याप्त थी। इस सूची मे यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि उत्तर-पश्चिम के अनेक देशो, जैसे शकस्थान, पोक्लेइस, कास्पापिरा (सभवत कास्पियन सागरवर्ती भूमि), परोपनिसस (हिन्दूकुश), काबोलीतिस और चीन से बाख्त्री (आमू दरिया की घाटी) की राह, स्थल मार्ग से आकर सारा माल पश्चिमी सागर तट के बेरीगाजा (भडौच) आदि बन्दरो मे ही पहले उतरता था। फिर पोतो मे भर-भर कर विदेश जाता था। उस ग्रथ मे भारत से निर्यात मे बाहर जानेवाली जिन पण्यवस्तुओ का उल्लेख हुआ है, उनकी सूची अधिकतर इस प्रकार है—गजदन्त, गोमेद और लाल, मलमल और मोटा वस्त्र, रेशम, सूत, लबी पीपल और अन्य वस्तुए। चेर और पाडच बन्दरो से निम्न लिखित वस्तुए बाहर जाती थी—गोल मिर्च, विपुल मात्रा मे कीमती मोती, गजदन्त, रेशम, पारदर्शी अनेक प्रकार के पत्थर, हीरे, नीलम, कछुओ के आवरण। चोल राज्य से मोती और मलमल, पूर्व से और भी चीजे, जैसे मोती, पारदर्शी पत्थर, मलमल और कछुओं के आवरण एव उसी तट के उत्तरी भाग से बडी मात्रा मे मलमल आती थी, कामरूप और ढाका अथवा गगा की घाटी मे बननेवाली प्रसिद्ध महीन मलमल। प्रकट है कि मलमल भारत के अनेक प्रदेशो मे बनने लगी थी। चीन मे बाख्त्री की राह आया कच्चा और बढिया रेशम और रेशमी सूत भी इसी जलमार्ग से विदेश जाता था। हिमालय मे उत्पन्न होनेवाली अनेक वस्तुए भी इसी तट से पश्चिमी विदेशो को जाती थी।[2] हिमालय और सिधु की कस्तूरी (मुश्क), शैलेय और काली मिर्च मलाबार के पाच बन्दरो से विदेश जाती थी। रोमन सम्राट् जुस्तिनियन ने जिन आयात की वस्तुओ पर कर लगाया था उनमे भारतीय अधिकतर तेजपात, पीपल, काली और सफेद मिर्च, इलाइची आदि थी। 'कोस्मास' के उल्लेखानुसार,[3] सुगन्धित वृक्षो का निर्यात कल्याण के बन्दर से होता था और चीनी ताग वश के वृत्तात के अनुसार[4], भारतीय चन्दन और केसर का निर्यात नासिन, फूनान (चम्पा) और किआओची को होता था। चन्दन की लकड़ी की मूर्तिया भी बनती थी। भारतीय चन्दन की बनी ऐसी ही एक बुद्धमूर्ति ५१९ ई मे फूनान नरेश रुद्रवर्मा ने चीनी सम्राट् को भेजी थी।[5] मोती और मूगे का विदेशी बाजार सदा भारतीय मोतियो और मूगो से भरा रहता था। मोती ताम्रपर्णी

[1] पृ. २१९। [2] स्काफ का अनुवाद, पृ. २८७—८८। [3] पृ. २६६—६७।
[4] सीनो-ईरानिका, पृ. ४५। [5] बुलेटिन., हनोई, पृ. २७०—७१।

के मुहाने और पाक जलडमरूमध्य से प्राप्त होते थे और मूंगे भी वहीं से अमित मात्रा में प्राप्त होते थे। भारतीय लोहे के निर्यात का भी उल्लेख सम्राट् जुस्तिनियन की सूची में हुआ है। तांग वंश के वृत्तांत में भारत से जानेवाले हीरों का भी जिक्र है।[1]

छठी सदी ईसवी मे दक्षिण-पूर्वी तट के व्यावसायिक इतिहास मे एक महत्त्व की घटना घटी। चीन ने सागरिक वाणिज्य मे एकाएक उन्नति कर दक्षिण-पूर्वी सागर प्रसार पर व्यापारिक अधिकार कर लिया। चीनी जहाज हिन्देशिया की राह सिंहल (लंका) और भारत के पश्चिमी सागर तट होते फारस, अरब और अदूले (इथियोपिया, अफ्रीका) पहुचने लगे। इस वाणिज्य मे निश्चय प्रमाणत. भारत का भी अपना भाग था। माल ढोने का अधिकतर कार्य फारस के जहाज करते थे जो बिजान्तीनी साम्राज्य तक उसे पहुचाते थे।[2]

विदेशों को स्थल से जानेवाले मार्ग भी अनेक थे। एक फाह्यान और हुएन्त्सांग का था, सुलेमान की पहाड़ियो से बाख्त्री और मध्य एशिया होता जो चीन जाता था; दूसरा कश्मीर और कराकोरम लांघकर जानेवाला मार्ग कठिन था, तीसरा पूर्व की ओर से मगध, पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) और कामरूप (आसाम) होता तोकिन की राह चीन जाता था।[3]

बाट, तौल, मूल्य

गुप्तकालीन साहित्य मे समकालीन वाणिज्य के बाट, तौल आदि का भी उल्लेख हुआ है। तुला का उल्लेख कालिदास ने अनेक स्थलो[4] पर किया है। इसी प्रकार मापने वाले डंडे (मापदण्ड) का भी उल्लेख हुआ है। मौर्यकाल मे, जैसा कौटिल्य और ग्रीक राजदूत मेगास्थनीज की कृतियो से प्रकट है, बटखरो आदि को घटाने-बढाने वाले वणिको को कठिन दण्ड दिया जाता था। मनु के विधान के अनुसार तो वजन के बाटो और माप के डण्डो का भार, लंबाई आदि निश्चित कर मात्रा और मान के अनुसार उन पर छाप दी जाती थी।[5] मनु और याज्ञवल्क्य के मतानुसार तो वस्तुओ का मूल्य भी राजा द्वारा निश्चित हो जाना उचित है और समय-समय पर उनका निरीक्षण भी आवश्यक है।[6] नारद इस संदर्भ मे सर्वथा मूक हैं पर कात्यायन उस मूल्य को सही मूल्य मानते हैं जो जानकार और ईमानदार पड़ोसी निश्चित कर दें। उनका कहना है कि इस

[1] कार्पस जूरिस सिविलिस, १, पृ. ६०६। [2] कोस्मास, पृ. ३६५—६६। [3] द क्लासिकल एज, पृ. ५११। [4] रघु., ८, १५; १६, ८, ५०; कुमार., ५, ३४; १, १। [5] मनु., ८, ४०१—४०३; याज्ञ., २, ५१। [6] वही।

निश्चित मूल्य से अष्टांश बढ़ा-घटाकर बेचना भी अनुचित है और इस प्रकार अनुचित रूप से बेचा माल सौ साल बाद भी लौटाया जा सकता है।[1] अनधिकार बिक्री अवैध मानी गयी है और इस प्रकार विक्रीत वस्तु क्रयकार्य के बाद भी प्रमाणित कर दिये जाने पर लौटा दी जा सकती थी।[2]

सिक्के

मूल्य का भुगतान सिक्को के साधन से होता था। इतने पैमाने पर होनेवाला देशी-विदेशी व्यापार अन्य साधन से संभव भी न था। उन्हे कर आदि के रूप मे स्वीकार कर गिनना राज्य के अर्थ अथवा वित्त विभाग के लिए साधारण बात थी।[3] सिक्को की सख्या का मान करोड़ो (कोटिश:) मे जाता था।[4] कालिदास ने एक प्राचीन सदर्भ मे चौदह करोड स्वर्णमुद्राओं की सख्या के सैकड़ो खच्चरो और ऊटो पर ले जाये जाने का उल्लेख किया है।[5] गुप्त सम्राट् स्वयं भाति-भाति की मुन्दर आकृति और भार वाले सोने और चादी के सिक्के ढलवाकर उन पर छन्दो के अश और अपनी आकृतिया उभरवा कर प्रचलित करते थे, अनेक प्रकार के सिक्के विशिष्ट अवसरो के स्मारक स्वरूप भी ढाले जाते थे। इनके अतिरिक्त विदेशी व्यवसाय मे आये अथवा विनिमय आदि से प्राप्त हुए रोमन आदि सिक्को की संख्या भी अपरिमित थी। रोमनो के सिक्के दीनार (दिनारियस) कहलाते थे जो, उन्ही के आकार के, गुप्तो द्वारा इस देश मे ढलवा कर अथवा देशी सिक्को से बाहर से आये दीनारो का अनुपात निश्चित कर प्रचलित भी किये जाते थे। विशेष कर दो प्रकार के सिक्के (सोने के) उस काल चलते थे—सुवर्ण और दीनार। एक तीसरे प्रकार के सिक्के निष्क का उल्लेख कालिदास ने किया है[6] जो प्राचीन रहे होगे अथवा स्वर्ण-पत्तरो के पिटे टुकड़े। ताबे के सिक्के कम मूल्य देने मे उपयुक्त होते थे। फाह्यान[7] ने बाजार मे कौड़ियो तक के चलने का उल्लेख किया है। सिक्को से देशी-विदेशी व्यापार मे बड़ी सुविधा हो गयी होगी।

शिल्प और शिल्पी

वात्स्यायन ने जो ६४ कलाओ की गणना की है उनमे कुछ ही ललित हैं, शेष

[1] कात्या., ७०५–७०६। [2] वही ६१२; मनु., ८; याज्ञ., २, १६८। [3] अर्थ-जातस्य गणना, शाकु., पृ. २१९। [4] परिसंख्यया कोटिशः, रघु., ५, २१। [5] वही, ५, ३२। [6] कुमार., २, ४९। [7] वृत्तांत, लेग्गेका अनुवाद, मध्यदेश के संदर्भ में।

पेशे और धन्धे संबंधी शिल्पकलाएँ है, जिन्हे उनमे दक्ष शिल्पी साधते थे। धातुकार्य मे निष्णात सुनार अद्भुत बारीकी से गहने गढ़ते थे। सोने की सच्चाई उसे आग मे तपाकर[1] परखी जाती थी। जिस मात्रा मे देश और समाज मे गहनों का चलन था, उनकी बहुलता का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है, उसे देखते स्वर्ण और मणि-शिल्पियों की संख्या का भी अनुमान किया जा सकता है। शरीर के आच्छादन मे भिन्न उसके मंडन के रूप मे आभूषणो का जितना उपयोग गुप्तकाल मे हुआ है उसे उस काल की मथुरा आदि की मूर्तियो और अजन्ता आदि के चित्रो मे देखा जा सकता है। सोने और रतन जड़े सोने के जेवरो के (अन्यत्र)[2] उल्लेख से प्रकट है कि आभूषण गढ़ने का शिल्प चोटी पर था। अन्य आभूषणो के विभिन्न प्रकार तो शिल्प की मर्यादा प्रतिष्ठित ही करते थे। मेखला (करधनी) ओर केयूर (भुजबन्द) की गढन की विविधता का न तो तत्कालीन मूर्तियो, अधिकतर चित्रो मे कोई अन्त है और न साहित्य के सदर्भो मे। समसामयिक कला और साहित्य दोनो जैसे तत्कालीन अलकार-शिल्प के असाधारण वैभव की घोषणा करते है। मथुरा, प्रयाग, सारनाथ, काशी, पटना, कलकत्ता के सग्रहालयो की मूर्तियां अपनी मेखलाओ और केयूरों की परम्परा मे अटूट है। क्या चित्र, क्या मूर्तिया, क्या मृन्मूर्तिया सभी पर उस काल की सुरुचि का जादू मडन की इस विधा मे प्रस्तुत है। स्वर्ण के पत्तरो को पीटकर भारतीय ऋद्ध ऋतुओ के अनगिन फूलो के रूप मे गढ लिया जाता था। अगूठियो के भी कितने ही नमूने बनते थे, कुछ पर नाग की मुद्रा बनती थी, किसी पर स्वामी का नाम खुद जाता था। उस काल अन्धविश्वास के कारण अनेक प्रकार के 'रक्षा-करण्ड' (ताबीज)[3] भी पहने जाते थे जिनकी गढनो की विविधता का कोई अन्त न था। रत्नो के भी पहनने वालो पर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभावो का उल्लेख मिलता है जिससे जाहिर है कि लोग बुरे ग्रहो से रक्षा और व्याधियो के निवारण के लिए रत्नो को विविध रूप से गूथकर पहनते थे।

जड़ाई का काम

रत्नो का काम करनेवाले ही शिल्पी अनन्त थे, क्योकि सोने तथा अन्य धातुओ मे जडने के अतिरिक्त भी उन पर काम होता था। वस्तुत: आकर (खान) से निकलने से लेकर धातु मे जड़ाई तक उनको विविध स्थितियो से गुजरना पड़ता था। पहले तो खान से निकलते ही उनका 'सस्कार'[4] होता था, उनके विशेष जानकार रासायनिक विधि से

[1] रघु., १, १०। [2] देखिए आगे, आभूषणों का प्रसंग। [3] शाकु., पृ. २४८; जयश्रियः वलयः, रघु., १६, ७४; जैत्राभरणं, वही, ८३। [4] शाकु., ६, ६; रघु., ३, १८।

उनको साफ करते थे, उन्हें छेदते थे,[१] फिर उन्हें काट[२] और उत्खचित[3] कर नयी दीप्ति से चमका देते थे।[४] तब कहीं वे जड़े जाते थे। मणियों को और भी प्रदीप्त करने के लिए गहरी रेखाओं से उन्हें तराश दिया जाता था (उल्लिखित)। सोने मे जड़ी हुई मणियो का सौंदर्य घना माना जाता था। सोने और रत्न का सगम धातु-शिल्पी का मनहर कार्य था जिसे करने को वह उत्सुक रहता था। जब स्वयंवर में इन्दुमती अज का वरण करती है तब कवि जैसे अनायास कह उठता है[५]—'रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन'—यह तो कचन द्वारा रत्न की सप्राप्ति हुई। कचन और मणि का संयोग उस काल इतना स्वाभाविक था कि मणि का अकेला अस्तित्व सोचा ही नही जा सकता था, वह सोने मे जड़ी जाकर ही चरितार्थ होती थी। उज्जयिनी के महाकाल में नाचती नर्तकियो के चमरों के दण्ड रत्नों से जड़े हुए हैं,[६] जिनसे गगा-जमुनी, धूप-छाव का अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो रहा है। इसी प्रकार राजाओ के किरीट-मुकुट, उनके सिंहासन, पलंग, दर्पण, असिमूठ आदि सभी पर स्वर्णपीठ की पीठिका पर खचित मणियों की आभा फूटती-फैलती रहती थी।

शिल्पिसघ

स्वर्णकारो, मणिकार-मणिहारो के अतिरिक्त अनेक प्रकार के अन्य शिल्पी समाज की विविध आवश्यकताओ की पूर्ति अपनी कलाकारी से कर रहे थे। अनेक थलों के गगनचुबी राजभवनो—विमानो, सगमरमर के प्रासादो (मणिहर्म्यों), मदिरो, दरी-गृहो, स्तूपो, ह्रदो, दीर्घिकाओं, क्रीडाशैलो तथा नगरो के निर्माता शिल्पियों की देश के नागरिक जीवन मे आवश्यकता रहती थी। फिर अनन्त मूर्तियो की सपदा वाले नगर-जनपदो मे पत्थर और धातु मे प्राण फूकनेवाले मूर्तिकारो की सख्या भी परिमित न थी। तूलिका से भवन की दीवारो और फलको पर रेखाओ और वर्णों द्वारा जीवन लहरा देनेवाले चितेरे समाज की कलाचेतना के साधक थे, जैसे चाक से अनगिन और रजित कलश, काया गढनेवाले कुम्हार भी, जिनके साचे सदियों से चूने-मिट्टी की, खरी मिट्टी की अभिराम मूर्तिया, मनहर ठीकरे ढालते आ रहे थे। समाज मे उन लुहारों की भी कमी न थी जो सेनाओ के लिए विविध प्रकार के शस्त्र, कृषि के लिए हल आदि प्रस्तुत करते थे, धातुओ को तपाकर पिघलाते और ठडा कर उसे घन (अयोघन) पर कूट-पीटकर इस्पात बनाते थे। फिर ध्वनिप्रिय देश मे उन कारीगरो की भी एक उदार संख्या थी जो तन्त्री-वीणा, वशी, बीन, तुरही, नगाडे, मृदग, पखावज आदि भाति-भाति के वाद्ययन्त्रों का निर्माण

[१]रघु., ६, १९; १४; शाकु., २, १०। [२]शाकु., ६, ६; रघु., ३, १८। [3]शाकु., ६, ६। [४]रघु., ३, १८। [५]रघु., ६, ७९। [६]मे. पू., ३५।

करते थे। जुलाहों का तो अपना राज था ही जिनके बनाये वस्त्रों की विविधता की कोई संख्या न थी, और हुनर उनका इतना सधा था कि उनके बुने वस्त्र फूक से उडाये जा सकते थे।[1] कुछ अजब नही जो उनका अर्थवैभव उन्हे मन्दसोर के सूर्यमदिर का जीर्णोद्धार करने में समर्थ कर सके। जूते आदि चमड़े की वस्तुए बनानेवाले, स्वयं चमड़ा उपयोग मे लाने योग्य बनाने वाले चर्मकारो की भी देश के असख्य पशुपरिवार के अनुपात से सख्या की अटकल लगायी जा सकती है। और ये कलाकार-कारीगर अकेले पेशा नही करते थे। इनके अपने-अपने पारगत आचार्य और नौसिखुए शिष्य थे जो सघ बनाकर कार्य करते थे। जैसे चौंसठो प्रकार की कलाओ के साधक कलावन्त शिल्पी थे वैसे ही देश में प्रत्येक शिल्प के अन्तर्गत शिल्पियों के अपने-अपने सघ थे।[2]

सगठन

आज का 'गिल्ड' अथवा श्रेणी-आचार तब भी जाना हुआ था। एक ही क्षेत्र में काम करने वाले कारीगर अपना सघ बनाकर काम करते थे। 'रघुवश' मे अयोध्या का जीर्णोद्धार करनेवाले भवननिर्माता 'शिल्पिसंघ'[3] का उल्लेख हुआ है। 'विक्रमोर्वशीय' मे 'नैगमो'[4] का उल्लेख हुआ है और 'शाकुन्तल' मे 'श्रेष्ठी'[5] का। नैगम निगमो अथवा सघ के प्रतिनिधि हुआ करते थे, श्रेष्ठी उनके प्रधान। 'व्यवहारमयूख' मे उद्धत बृहस्पति ने 'नैगमो' के भी सघ का उल्लेख किया है।[6] 'विवादरत्नाकर' के अनुसार नैगम नगर-व्यवस्था की समिति है।[7] 'रामायण' ने भी इसका सघ रूप ही व्यक्त किया है।[8] तक्ष-शिला मे प्राप्त चार प्रसिद्ध सिक्को से प्रकट है कि नैगम अपने-अपने सिक्के भी ढाल अथवा टकित कर चलाते थे।[9] समकालीन स्मृतियों ने श्रेणी, पूग ओर नैगम के सामूहिक वर्गों के सबंध मे अपनी व्यवस्था दी है। श्रेणी प्राचीन बौद्ध साहित्य मे भी कारीगरो और सौदा-गरो का सघ माना गया है। कात्यायन ने अपनी गुप्तकालीन स्मृति मे 'पूग' को सौदागरो का समूह माना है।[10] वही स्मृति नैगम को नागरिको का व्यवस्थित समूह मानती है, पर इसकी सही व्याख्या 'अमरकोश' इसे वणिको अथवा सौदागरो का पर्याय मानकर करता है।[11]

[1] इण्डिया इन कालिदास, पृ. २६७। [2] रघु., १६, ३८। [3] वही। [4] ४, १३। [5] पृ. २१९। [6] मुकर्जी, लोकल सेल्फ गवर्नमेंट इन एन्शेंट इण्डिया, पृ. १२७। [7] वही, पृ. ११४, नोट। [8] २, १४, ५४। [9] कनिंघम, क्वायंस आव एन्शेंट इण्डिया, पृ. ६३। [10] ६७८—७९। [11] २, ९, ९८।

अधिकार

स्मृतियो के अनुसार श्रेणी आदि व्यवस्थित शिल्पिसघो अथवा सामुदायिक वर्गों के अपने-अपने 'अध्यक्ष' अथवा 'मुख्य' होते थे जिनकी सहायता, कार्यव्यवस्था अथवा सघ के लाभ के लिए दो, तीन या पाच व्यक्तियो की एक समिति नियुक्त होती थी। अध्यक्षो के दण्डादि निर्णयो का राजा भी आदर करते थे। संघो और उनके अधिकारियो के विवाद राजा सुलझाता था। श्रेणियो अथवा सघो के अपने-अपने 'स्थितिपत्र' अथवा 'सवित्पत्र' थे जिनके अनुसार ही राजा उनके सबध मे अपना निर्णय देता था। श्रेणियों के सदस्यो को अपनी परम्पराओ (स्थितिपत्र) का पालन करना पड़ता था। उन परम्पराओ के अनुसार वैयक्तिक कर्तव्यो का पालन उनके लिए अनिवार्य था। बृहस्पति ने इस कर्तव्यच्युति का दण्ड सपत्ति पर राज्याधिकार अथवा निर्वासन विधान किया है।[1]

नारद ने श्रेणियो मे परस्पर सघर्ष और वैमनस्य वर्जित किया है और उनके शस्त्र धारण को अवैध माना है। कात्यायन के विधान के अनुसार सघ मे फूट डालने वाले या समुदाय की सपत्ति को हानि पहुंचाने वाले को नष्ट कर देना चाहिए। बृहस्पति के मत से सभी प्रकार से समुदाय द्वारा प्राप्त सपत्ति मे प्रत्येक सदस्य का समान भाग होना चाहिए। इलाहाबाद के पास भीटा के खडहरो मे कुछ मिट्टी की मुहरे मिली हैं जिन पर गुप्त ब्राह्मी मे 'निगम' शब्द लिखा है। ऐसे ही बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) गाव से मिली मुहरो पर उन्ही अक्षरो मे 'श्रेणी-कुलिक-निगम' और 'श्रेणी-सार्थवाह-कुलिक-निगम' लिखा मिलता है। अधिकतर इनके साथ व्यक्तिनाम भी जुडे हुए मिलते है, जिससे अनुमान किया गया है कि ये ही स्मृतियो के सघ सबधी 'स्थितिपत्र' है।[2] इस प्रकार गुप्तकालीन स्मृतियो के सघ सबधी विधान की उस काल के मुद्रालेखो के साथ एकता स्थापित हो जाती है।

श्रेणियों का बैंक-कार्य

गुप्तकालीन अनेक अभिलेख मिले है जिनमे ऐसे सघो अथवा श्रेणियो का उल्लेख है जो दिये हुए व्यक्ति के मूल धन से 'अक्षयनीवि' व्यवस्थित कर उससे मिलनेवाले ब्याज से दाता के इच्छानुसार सदियो उसका कार्य सपन्न करती थी। इस प्रकार ये श्रेणिया बैंक का भी कार्य करती थी। जैसे यदि कोई गड़रियो के सघ को कुछ भेड़ें देकर चाहे कि अमुक मदिर मे घी का दीया उसके नाम से वह जलाता रहे, तो सघ भेडो को मूल धन मानकर उसे 'अक्षयनीवि' कर लेगा और उससे उसके नाम पर सघ के जीवन पर्यंत मदिर मे घी

[1] द क्लासिकल एज, पृ. ६०४—६०५। [2] द क्लासिकल एज, पृ. ६०४।

का दीप जलाता रहेगा। भेड़ो के मर जाने पर भी उनसे उत्पन्न भेड़ें अक्षयनीवि और ब्याज बन जायेंगी जिसका कभी क्षय नही होगा। गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के समय का एक ताम्रपत्र इन्दौर से प्राप्त हुआ है जिसमे इसी प्रकार की 'अक्षयनीवि' की व्यवस्था की गयी है। वहा के तेलियों की श्रेणी को सूर्यमंदिर मे सदा दीप जलाते रहने के लिए एक ब्राह्मण ने कुछ धन दिया है। प्रकट है कि श्रेणी अपने लाभ के लिए धन लगा देती थी और उसके ब्याज-रूप सदा दीप जलाती रहती थी। इसी प्रकार के कार्य सबधी अनेक अभिलेख गुप्तकाल से भी पूर्व के उपलब्ध है जिनमे राजाओ अथवा अन्य व्यक्तियों ने इसी प्रकार श्रेणियो को धर्मार्थ धन दिये है।[1]

लाभ

गुप्तकाल की स्मृतियो मे, उनके 'संभूय-समुत्थान' प्रकरण मे, मिलकर व्यापार करने वालो के सबध मे विधान है। अधिकतर उसके सदस्यो के अधिकार, लाभ मे आपसी इकरारनामे (अनुबन्ध) के अनुरूप होगे, अधिकतर लगाये मूलधन के अनुपात मे। शिल्पिश्रेणियो के सदस्यो के चार विभाग किये गये है—आचार्य, कुशल (विशेषज्ञ), अभिज्ञ (जानकार) और शिक्षक (शिष्य)। इनके लाभ क्रमश: ४ : ३ २ : १ के अनुपात मे होगे। राजप्रासादो का निर्माता प्रधान अन्यो की अपेक्षा लाभ मे दो भाग पाता था।[2]

श्रम, पारिश्रमिक

गुप्तकालीन स्मृतियो मे श्रम और पारिश्रमिक (मजूरी) का भी विधान हुआ है। श्रमिक साधारणत दो प्रकार के होते थे—(१) मजूरी अथवा वेतन पाने वाले श्रमिक और (२) दास। दास साधारणत. खरीदे हुए गुलाम थे जो स्वामी की सेवा करते थे। उनमे से कुछ ऐसे भी थे जिन्हें केवल नीच, अशौच आदि कार्य सौंपे जाते थे। श्रमिक तीन प्रकार के थे जो शुल्क के बदले काम करते थे। इनमे से पहले वर्ग के सैनिक आदि थे, दूसरे वर्ग के कृषि-कर्म मे सहायक होते थे, तीसरे बोझ ढोने वाले या गृह मे सेवा कार्य करते थे। श्रमिक दिन भर के लिए, पखवारे या मास के लिए, तीन, छ महीने या साल भर के लिए रखे जाते थे, जिन्हें मजूरी सिक्को या अन्न द्वारा दी जाती थी। बेगार भी जानी हुई थी पर उसका अधिकार राज्य को ही था, नागरिक को नही।[3]

[1] द क्लासिकल एज, पृ. ६०५—६०६। [2] वही पृ. ६०६। [3] वही, पृ. ६०१।

४. ऋण, ऋणदाता और ऋणकर्ता (उत्तमर्ण-अधमर्ण)

ऋण की स्थिति किसी काल के किसी भी समाज मे औचित्य के अनुकूल नही; ऋणदाता के लाभ के अनुकूल रही है। ऋग्वैदिक काल मे तो ऋणदाता ऋणकर्ता को ऋण-शोध के अभाव मे अपना दास भी बना सकता था। कालान्तर मे स्मृतियो की विचार-व्यवस्था ने उसे अधिक सह्य बना दिया था। उनमें समाज मे प्रचलित व्यवस्था के अनुसार कई प्रकार के ऋणो का उल्लेख हुआ है। कुछ ऐसे थे जिनमे जमानत (जामिन, प्रतिभू) की जरूरत होती थी, कुछ मे नही।

महाजन की ओर से ऋण ब्याज-लाभ के लिए दिया जाता था, इससे स्मृतियों ने ब्याज का विधान किया है। ब्याज पर ब्याज अथवा चक्रवृद्धि भी चलती थी। मनु और याज्ञवल्क्य जहा साधारणत. ब्याज सवा प्रतिशत प्रति मास व्यवस्थित करते हैं, वहा गुप्त-कालीन स्मृतिकार नारद और कात्यायन ब्याज का विधान पाच प्रतिशत तक करते हैं। व्यास की व्यवस्था सवा प्रतिशत और दो प्रतिशत प्रति मास के बीच है। स्वर्ण ऋण लेने का ब्याज बहुत था। ऋण रत्नों से लेकर अन्न, घी, तेल, सीरा, नमक आदि सभी वस्तुओं का लिया जा सकता था।

लगता है कि गुप्तकालीन स्मृतियो ने ऋणदाता को ऋणकर्ता के विपरीत विशेष सुविधा दी। बृहस्पति के अनुसार ऋणदाता को भरपूर जमानत लेकर अथवा साक्षियों के साक्ष्यसम्मत अनुबन्ध पर ही ऋण देना चाहिए। मौखिक साक्ष्य से अधिक महत्त्व इसी से वे रहन को देते है जिसके साथ अनुबन्ध भी हो, साक्ष्य भी हो। कात्यायन ने जामिनो और गवाहो (साक्षियो) के गुण-दोषो और अनुबन्धो के औचित्य-अनौचित्य पर भले प्रकार विचार किया है। प्राय· सभी स्मृतिया किसी अच्छे-बुरे प्रकार से ऋण-धन को वापस लौटा लेना उचित मानती है। धूर्तता से, बलपूर्वक, काम (श्रम) कराकर, सार्वजनिक दबाव अथवा वाद (मुकदमा) द्वारा, जैसे भी हो, ऋण चुकवा लेना जायज माना गया है। परन्तु यदि ऋणकर्ता न्यायालय में वाद ले जाना चाहे तब भी उसे परेशान करनेवाला ऋणदाता दण्ड का भागी माना गया है।[1]

बैंक कार्य

बैक कार्य की ओर ऊपर सकेत किया जा चुका है। 'श्रेणी' ही उस काल बैक कार्य करती थी, धन रखती और ऋण देती थी।[2] कुमारगुप्त और बन्धुवर्मा का मन्दसोर

[1] द क्लासिकल एज, पृ. ६०२—६०३। [2] लोकल सेल्फ., पृ. ६४—६८।

अभिलेख वाला दृष्टांत इस प्रसंग मे नितांत उपयुक्त है।[1] समकालीन ललित साहित्य में बैंक में धन जमा करने के लिए 'निक्षेप'[2] शब्द का प्रयोग हुआ है। निक्षेप वह धन है जो न्यास अथवा विश्वासपूर्वक दूसरे के यहा रखा जाता है, जिसे आवश्यकता पडने पर लौटा लिया जा सके। 'न्यास' भी एक प्रकार की जमा की हुई रकम थी जिसका प्रयोग 'ट्रस्ट' के अर्थ मे भी हुआ है।[3] सारा व्यय दे चुकने के बाद जो बचता था वह धन 'नीवी' कहलाता था। गुप्त अभिलेखो की प्रसिद्ध 'अक्षय नीवी' वह धन है जो कभी चुकता नही था, केवल जिसके ब्याज से ही अपेक्षित कार्य का व्यय चलता था।

विज्ञापन

वाणिज्यादि के प्रसग मे गुप्तकाल के एक व्यावसायिक विज्ञापन का उल्लेख कर देना अरोचक न होगा। महत्त्व का विषय यह है कि वाणिज्य सम्बन्धी यह विज्ञापन संसार का पहला विज्ञापन है, पाचवी सदी ईसवी का। यह कुमारगुप्त—बन्धुवर्मा के समय का मन्दसौर का अभिलेख है जिसे वहा के सूर्य-मदिर का जीर्णोद्धार कराने वाले, रेशमी वस्त्रो के कारीगर जुलाहों (तन्तुवाय) की एक श्रेणी ने लिखवाया। अभिलेख का एक छन्द अनुवाद मे इस प्रकार है—"(जैसे) नारी, तरुणाई, सुघराई से सयुक्त, स्वर्णहार, ताबूल और पुष्पमालाओ से मडित होकर भी तब तक अपने प्रणयी से मिलने (सकेत स्थान पर) नही जाती, जब तक वह (इस श्रेणी के बनाये) अभिराम रेशमी जोडे को धारण नही कर लेती। (वैसे ही) यह समूची धरा रेशमी दुकूल से समलकृत है, स्पर्शसुखद, विभिन्न रगो से अभिराम चित्रित, नेत्रो की निर्वाण (सुखकर)।"[4]

नव-वास और विविध जन

गुप्तकालीन कवि कालिदास के 'रघुवश' के एक स्थल की व्याख्या करते हुए प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने 'कामन्दक-नीतिसार' से एक उद्धरण देकर राज्य के आठ

[1] फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिप्शंस्, पृ. ८६। [2] कुमार., ५, १३। [3] शाकु., ४, २१—न्यास इवार्पितद्वयम्।

[4] तारुण्यकान्त्युपचितोपि सुवर्णहारताम्बलपुष्पविधिना समलंकृतोऽपि।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदस्यां यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते॥
सी. आई. आई. ३, पृ. ८५।

कार्यों को अभिव्यक्त किया है। वे आठ कार्य ये है—[1] कृषि, वणिक्पथ का निर्माण, दुर्गों और सेतुओ का निर्माण, गजबन्ध (वनों से हाथी पकडना), खानों की खुदाई, करादि द्वारा धन ग्रहण और रिक्त स्थानों मे लोगो को बसाना। इन आठ कार्यो मे राज्य का एक कार्य जहा आबादी न हो वहां लोगो को आबाद करना था। कालिदास ने इसी स्थिति को अपने श्लोकार्ध "स्वर्गाभिष्यन्दवमन कृत्वेवोपनिवेशिताम्"[2] से भले प्रकार प्रकट कर दिया है। जहा बस्ती अधिक होती थी वहा से अधिक संख्या को हटाकर नये गाव मे उसे बसा दिया जाता था। यह एक स्थान से बहु सख्या का वमन कराकर नये उपनिवेश मे उसे बसाना था। उस काल देश मे प्रकृत जनता के अतिरिक्त विदेशी जनता का भी जो देश की सीमाओ पर या उससे बाहर निवास था उसका उल्लेख समकालीन साहित्य में हुआ है। उससे प्रकट है कि यवन और पारसीक देश से बाहर, हिन्दूकुश पार रहते थे और हूण और कम्बोज वक्षु (आमू दरिया) और यारकन्द की घाटी मे बसे थे। पुलिन्द, किरात और उत्सवसकेत विन्ध्य और हिमालय की श्रेणियो या उनके वनों मे निवास करते थे। इनके अतिरिक्त उनमे अन्य वनचरो का भी निवास था जो अवसर मिलने पर यात्रियो पर डाके डालने से भी नही चूकते थे।[3]

जीवन का स्तर

पिछले अध्यायों के सामाजिक और आर्थिक जीवन को देखते गुप्तकालीन जनता की रहन-सहन का स्तर बहुत ऊँचा लगता है, पर वास्तव मे इस प्रसग मे निश्चित रूप से कुछ कह सकना सभव नही, क्योकि समसामयिक साहित्य मे जो समाज का चित्र सामने आता है वह एकागी है। और वह एकाग उच्चस्तरीय अभिजात वर्ग का है। वात्स्यायन, कालिदास, भारवि, दण्डी, बाणभट्ट आदि ने जिस वर्ग को अपने ललित साहित्य मे चित्रित किया है, नि सन्देह वह राजपदीय अथवा सभ्रातपदीय है। हा, यदि दण्डी को प्रमाण माने तो उसका राजवर्ग से भिन्न जनजीवन तो निश्चय अत्यन्त दूषित था। उससे तो लगता है कि अभिजात अधिकतर गौन साधनाओ मे ही संलग्न थे, और साधारण जन चोरी, जाल-साजी आदि मे ही डूबे हुए थे। पर जिस प्रकार कालिदासादि द्वारा प्रकाशित समाज को जनसाधारण का समाज नही कहा जा सकता, सतोष यही है कि दण्डी के 'दशकुमारचरित'

[1]कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम्।
खन्याकरधनादानं शून्यानां च निवेशनम्॥
अष्टवर्गमिमं साधुः स्वयं वृद्धोऽपि वर्धयेत्॥

[2]कुमार., ६, ३७। [3]इण्डिया इन कालिदास, पृ. २७०।

के समाज को भी जनजीवन का प्रतिबिंब नही कहा जा सकता। पर जो कुछ भी उपलब्ध है, संभ्रात और श्रीमन्त के जीवन का प्रतिबिंबन उसमे भरपूर हुआ है, उससे प्रकट है कि राजवर्ग और धनी लोग आराम, अवकाश का जीवन व्यतीत करते थे। वात्स्यायन के 'कामसूत्रों' का नागरक-जीवन न केवल उन्हे सुलभ था बल्कि सहज भी था। गुप्तकालीन ऐश्वर्य शांति और अन्तरसागरीय वाणिज्य से प्रस्तुत, श्रीमानो को हस्तामलक था, मदिरा का सेवन सपनो को जगाता था और सपनों को सत्य करने के साधन पहुच से बाहर न थे। फिर संयमित आहार-विहार का जीवन बिताने का प्रयत्न सज्जन करते थे।

अध्याय ८

नगर और ग्राम---जीवन

नागरिक जीवन

भारत की अधिकाधिक जनता गावो में रहती रही है, पर प्राधान्य सदा नगरों का ही रहा है। भारत का प्राथमिक सभ्य और सांस्कृतिक जीवन अधिकतर नगरों मे ही जन्मा और विकसा; सैन्धव सभ्यता के मोहन-जो-देडो, हडप्पा जैसे नगरों मे। सभ्य (सभा सबधी, सभा में) होने की सार्थकता नि सन्देह नागर जीवन मे ही चरितार्थ हो सकती थी, और हुई।

आर्यों ने कुछ काल के लिए उस नागर जीवन को समाप्त कर गावों के बल्ले गाडे, कृषि को विशेष महत्त्व दिया, पर शीघ्र भारतीय जीवन, सभ्यता का निर्माता केन्द्रीय जीवन नगरस्थ हुआ और अपना बह्वगिक कलाप्रिय भोग संपन्न करने लगा। हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ, आसन्दीवत् और अयोध्या, कौशाबी और उज्जयिनी, प्रयाग और काशी, गिरिव्रज और राजगृह, पाटलिपुत्र और वैशाली, द्वारका और मथुरा, माया (हरिद्वार) और काची, पीछे तक्षशिला और पुष्कलावती, शाकल और माहिष्मती, साकेत और चम्पा, कपिलवस्तु और महोदय (कनौज) खडे हुए और फैले। भरे सपन्न जीवन की सारी ऋद्धिया-सिद्धिया इन्ही नगरो मे एकत्र हुई।

भारतीय जीवन की सारी विभूतिया---राम, कृष्ण---इन्हीं नगरो मे उत्पन्न हुए, वही उन्होंने अपने अलौकिक चरितो का विस्तार किया। पाणिनि और व्याडि (यूसुफजई के शलातुर गाव से), कात्यायन और पतजलि, चन्द्रगुप्त और चाणक्य, भरत और वात्स्यायन, कालिदास और दण्डी, हरिषेण और विशाखदत्त, चरक और नागार्जुन, अश्वघोष और दिङ्नाग, पार्श्व और वसुमित्र, असग और वसुबन्धु, सुबन्धु और बाण, भारवि और भवभूति अपने-अपने गांव--पुर (छोटे कसबे) छोड़ इन्ही नगरो मे आ विराजे और अपने विज्ञान और दर्शन का, कला और भारती का इन्ही नगरो मे शृगार किया। वही कला के अलकार, वास्तु के मडन, शिल्प के आदर्श मन्दिर और राजप्रासाद खडे हुए; मन्दिरो मे मन के देवता पधराये गये, प्रासादो मे जीवन के विधायक राजा विराजे।

नगरो मे ही कवियों की भारती मुखर हुई। लीलाएँ गांवो मे खेली गयी पर अभिराम चौमुख जीवन के दीपक नाटक नगरों मे ही 'रंग' पर जले, ललिता-

भिनयों से समलंकृत 'मंचित' हुए । गायकों, नर्तकों, वादकों, अभिनेताओं के दल वही नगरों के अपने-अपने भागों में निवास करने लगे। काव्यो की अजस्रकालजयी धारा नगरो मे बही, गाव और जनपद, गिरि और वन, सागर और आकर नागरजीवन के कलित काव्यों के गौण उपास्य बने नगरो के लिए गाव–जनपद आनुषंगिक भोग–भोजन–छाजन, घृत-नवनीत, सुरा–मैरेय प्रस्तुत करने लगे ।

राजा, 'काल का कारण', समाज का केन्द्र नगर मे रहता था । उसके अमात्य-मन्त्री, सचिव-सेनापति, राजपुरुष-परिजन, राजसभ्य-कवि-पण्डित, आचार्य-पुरोहित, श्रेष्ठि-सार्थवाह, पौर-नैगम सभी राजप्रासाद की परिखा के चतुर्दिक् अपने-अपने भवन-आवास बना रहने लगे। वही लक्ष्मी और सरस्वती एक साथ आ विराजी; वही से राज्य-साम्राज्य, नगर और जनपद की शासन-व्यवस्था होने लगी, वही से अश्वमेघ और दिग्विजय के अभियान होने लगे, वही चक्रवर्ती का ऐश्वर्य पलने लगा, वाणिज्य और विजित का धन धारासार बरसने लगा ।

साहित्य—ललित साहित्य—नगरो में नागरो के लिए ही लिखे गये, जहा धन था, विलास के साधन थे, अवकाश और समय था, राग और अनुराग के मधुर और सुदर्शन अवलब थे । कैसे थे वे नगर ? कैसे थे उनके नागरिक ? उनके रजन, उपक्रम ?

नगर परकोटो से घिरे थे, परकोटे अनेक द्वारो से भिदे, अनेकानेक बुर्जियो से सवरे । जल भरी परिखा परकोटो को घेरती थी। उसके परे, परकोटो से बाहर, श्मशान भूमि मे चाण्डालो–अन्त्यजो के निवास थे, नदी के तीर झोपडियो मे, पीपल आदि वृक्षों की छननार छाया तले ।

नगर की चारो दिशाओं मे, द्वारो के समीप मन्दिर, धर्मशालाएँ, अतिथि-शालाएँ थी। अपने उपकण्ठ (ओर छोर) तक नगर विविध कुलो, वर्णों, शिल्पियों, बाजारो के आवासो–मुहल्लो मे बटा हुआ था। सब अपने-अपने वर्ण और पेशो के अनुसार निश्चित भागो मे रहते और अपनी पैतृक वृत्ति का अनुसरण करते थे ।

नगर के मध्य राजप्रासाद था जहा से राजमार्ग, राजपथ अथवा नरेन्द्रमार्ग निकलते और एक दूसरे को अधिकतर समकोण पर काटते अथवा समानान्तर नगर के छोर परकोटो मे भिदे विशाल द्वारो तक या उनके भी पार जनपदो की ओर चले गये थे । इन्ही राजमार्गों पर बारजो, वातायनों, तोरणो से अलकृत, समृद्ध नागरिकों के गगनचुबी भवन थे जो अपने कलश-कगूरो से इतने ऊचे थे कि उनका 'अभ्रलिहाग्र' (बादल छूने वाले, गगनचुबी) नाम सार्थक होता था । इसी ऊची स्थिति को प्रकट करने वाले सात-सात तलो के वे महल थे जो 'विमान', 'मेघ-

प्रतिच्छन्द' आदि विविध नामो से, अपने वास्तु के अनुसार प्रख्यात थे । इनकी दीवारें अनेक प्रकार के रमणीय भित्तिचित्रो (सद्वस्तु चित्रवस्तु) से आलोकित होती जिनमे कहीं कपि अपने खेल करते रहते; कही जलाशय मे उतरते, कमलवन मे हेलते गजराज को हथिनियां दौडकर कमल-दण्ड प्रदान करती, गजराज अनुराग मे कंटकित अपनी सूड उनकी पीठ पर रख देता; हंसो के जोडे चुहल करते; पजरो मे शुक-सारिका रवते ।

राजप्रासादो और विशाल सप्तिमान् भवनो मे अनेकानेक कमरे होते, शय्यागार, स्नानागार, जिसमे फव्वारो का जल लिये (यन्त्रधारा) नलिकाएं चतुरग दौड़ती होती, चित्रागार, सगीतशाला और प्रेक्षागृह (नाटक के लिए रगमच) होते । अनेक बार इनकी दीवारें अथवा फर्श मे लगी भूमि काच से जडी होती (शीशमहल सी), 'मणिभूमि' कहलाती, फर्श संगमरमर की अथवा मूगा कूटकर बनायी पच्चीकारी (प्रवालकुट्टिम) का होता और वातायनों से जब चन्द्रकिरणें प्रवेश करती तब मणि-भूमि मे तारकावलि धूमिल प्रतिबिंबित हो उठती । हिमालय के भवनो के फर्शों और दीवारों पर बने चित्रों को खिडकियो से भीतर घुस आनेवाले मेघ अपनी भाप से गीला कर बिगाड देते ।

राजप्रासादो के खण्ड के खण्ड फैलते चले जाते । कालिदास ने अपने राजाओ के प्रासादो और प्रमदवनो (प्रासादोद्यानो) के जो वर्णन किये है उनमे मेगास्थनीज़ और फाह्यान द्वारा वर्णित चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के महलो की याद आ जाती है । बाण ने अपने 'हर्षचरित' मे जो प्रभाकरवर्धन और हर्ष के महलो का वर्णन किया है उसमे उनके खडो और विविध आगनो की परपरा आखो के सामने झूम जाती है ।

महलो को स्तभो पर टिकी वेदिनी घेरती थी । इन रेलिंगो के स्तभो पर मूर्तिकारों द्वारा उभारी नारीमूर्तिया रूपायित होती थी । जिन्होने गुप्तकाल के ऊपरी छोर पर बनी (प्राय समकालीन अथवा अधिक से अधिक सौ साल पहले की) मथुरा के जैन स्तूपो की रेलिंगो के खडो को मथुरा अथवा लखनऊ के सग्रहालयो में देखा होगा वे कालिदास द्वारा वर्णित उजडी अयोध्या के राजप्रासादो की इन रेलिंगो के सौंदर्य की कल्पना कर सकते है । कवि कहता है कि इनके स्तभो पर जो विविध अभिराम अर्धचित्र नारियो के उभारे गये है उनके वक्ष को कलावन्तो ने जो रगीन कोर दिया था तो वर्ण ही उनके आच्छादन बन गये थे और अब जो उजड़ी अयोध्या के उजडे राज मार्ग की उड़ी गर्द ने उन पर गिरकर उनका रग उडा दिया है तो वे निर्वसन हो गयी है । अब उनका आच्छादन काल के प्रतिनिधि कराल नागो की केंचुले हो गयी है जिन्हे उन पर रेंगते समय वे छोड जाते है ।

राजप्रासाद से ही मिलते-जुलते सभवत आकार मे कुछ ही छोटे अन्य नागरिक श्रीमानो के सौध (चूने से श्वेत पुते)—प्रासाद भी होते थे, अधिकतर अपने तलो के अतिरिक्त दो भागों मे बने, जिनमे से एक भीतरी खंड मे नागरिक की साध्वी भार्या रहती थी, दूसरे बाहरी भाग मे नागरिक अपने विलास की साधना करता था। प्रासाद के साथ सदा गृहोद्यान (प्रमदवन, नजरबाग) लगा होता था जिसमें सभी ऋतुओ के अपने-अपने वृक्ष, अपनी-अपनी लता-वल्लरियां होती थी, जहा लता-गृहों मे शिलापट्ट (बेंचें) होते और उनके भीतर या बाहर झूलने के लिए झूले (दोला) टंगे रहते, अनेक बार झूले के लिए एक अलग दोलागृह ही बना होता। कुछ प्रासादों की बावलियो के बीच गर्मी की तपन मिटाने के लिए लताप्रतानों से ढके, यन्त्रधाराओं (जल के नलो) से शीतल 'समुद्रगृह' थे, जिनके जल से उठती भूमि पर कुछ जल मे कुछ सूखे पर आनन्दकेलि के लिए छोटे-छोटे कमरे बने होते जो जलक्रीडा के समय काम आते, उन्हे 'लीलागार' कहा गया है, जिनकी मल्लिनाथ 'सुरतगृह' पद से व्याख्या करते है। इनमे शुक-सारिकाएँ पजरस्थ सस्कृत के सुखद ललित पद दुहराया करती। 'मेघदूत' की यक्षपत्नी के भवन के द्वार का तोरण इन्द्रधनु-सा है जिसके दोनो ओर शखो और पद्मो के चित्र लिखे हैं और मन्दार के तरु खडे है जिनके कुसुमो के स्तवक (गुच्छे) हाथ झुकाकर तोडे जा सकते है। उसकी केलो की बाड से घिरी बावली के पास ही क्रीडा-शैल (कृत्रिम, शिल्पियो का बनाया पहाड, 'रॉकरी') है और वही पन्ने के खभ की जड में सोने की जजीर से बधे, स्फटिक-चौकी पर बैठे अपने पालतू मोर को यक्षिणी ताल दे-देकर नचाती है। इन्ही गृहोद्यानो मे गृहस्वामी मित्रों के साथ आपानक (सुरा पीने की गोष्ठी) रचाते, कवि मित्रो के साथ गोष्ठी करते थे।

अपने भवन के जिस भाग मे नागरक रहता था उसके प्रधान कक्ष मे, जो उसका शयनागार भी होता था, दो पलग (पर्यंक, शय्या) होते थे, आरामदेह गद्दो और दुग्ध-श्वेत आस्तरणों (चादरो) से ढके, जिन पर नरमत किये पडे होते। सिरहाने की ओर पलगो के पीछे आधार पर आराध्य देवता की मूर्ति होती और एक चौडे आधार पर उसके प्रात.कालीन प्रसाधन की वस्तुएँ रखी होती—आजन, पुष्पमाल, मोम और गन्ध-फुलेल के पात्र, बिजौरा नीबू के छिलके (जिनमे सुरापान कर वह मुह की दुर्गन्ध मिटाता), पान। दीवार से लगे एक तीसरे आधार पर उसकी बांसुरी, उसकी वीणा, चित्र-फलक (चित्र बनाने का आधार), तूलिकाओ—कूर्चों (ब्रुशो) और रगो से भरी एक पेटिका रहती थी। साथ ही उसी पर उसकी पसन्द की पुस्तक, काव्यादि और पीले अमरन्त पुष्पो की एक मालिका धरी रहती थी। पर्यंक के पास ही फर्श पर बिछे और गाव तकियो से सजे एक गलीचे पर शतरंज और पासा खेलने के लिए फलका-

धार और गोटें रखी रहती जिन्हें वह अपनी प्रियाओं और मित्रो के साथ खेलता। कमरे के बाहर उसके पजरस्थ पंछी होते जिन्हें वह समय-समय पर टटकारता रहता। वहीं पास ही उसकी छेनी होती जिससे वह मनभावनी मूरते कोरता अथवा मिट्टी की अभिराम आकृतियां गढता। नागरक की कुशलता के ये आवश्यक अग थे।

'मृच्छकटिक' मे उज्जयिनी की वेश्या वसन्तसेना के प्रासाद का विशद वर्णन हुआ है जिससे उसके पेशे की ऐश्वर्यवती महिलाओ के धनी जीवन पर प्रभूत प्रकाश पडता है। उसके भवन के ऊंचे द्वार में गजदन्त के किवाड लगे थे जिनकी सुनहरी भूमि पर हीरे जडे थे। प्रासाद आठ आंगनों का था जिनमे से पहले के कमरो की दीवारें रतनजडी थी, सोपानमार्ग (सीढिया) सोने की और वातायनों के किवाड स्फटिक के थे, तीसरे मे खेलने की एक मेज थी जिस पर रत्नो के पासे पड़े थे, छटे मे सोने मे मणि-जडाई करनेवाले शिल्पी कार्य मे व्यस्त थे और आठवे मे वसन्तसेना के भाई और माता का निवास था।

चाहे इतना वैभव नही पर साधारण, उस काल निर्धन, उसी वेश्या के प्रेमी ब्राह्मण चारुदत्त का आवास भी कम से कम कला की सुरुचि से प्रकाशित था। गृह के भीतरी भाग मे उसकी साध्वी पत्नी रहती थी और वह स्वय अपने मित्रो और परिजनो के साथ बाहर के भाग और गृहवाटिका मे रहता था। उसके बाहय भाग के कमरो मे मृदंग और पणव थे, वीणा, बासुरी और अन्य प्रकार के बीन थे। साथ ही वहा कुछ पुस्तके भी रखी थी। इससे, उसकी निर्धनता के बावजूद, उसकी सुरुचि का बोध होता है। निर्धन है पर वस्त्र सुवासित ही पहनता है। संध्या को सगीतगोष्ठी मे जाता है और रात गये प्रणयकातर स्थिति मे राग-रागिनियो का बोझ लिये घर लौटता है। जैसा ब्राह्मणवर्ग के लिए निर्णीत है, चमर-छत्र धारण कर घोडे पर स्वय तो नही चढ पाता पर अपनी प्रिया वसन्तसेना को बुलाने के लिए वृषभो की जोडी वाली गाडी भेजता है।

नागरक के दैनदिन कार्यक्रम को जानने के लिए वात्स्यायन का 'कामसूत्र' अनिवार्य सूचनाधार है। उसके आधार पर अन्यत्र सक्षेप मे कुछ लिखा जा चुका है। यहा नागरक का जीवन कुछ विस्तार से दिया जाता है जिससे पता चल जाय कि धन और अवकाश रहने पर गुप्तकाल का नागरिक कैसे अपना कालयापन करता था।

प्रात कृत्य समाप्त कर पहले वह आखों मे आजन लगाता था, फिर अपने वस्त्रो को गन्धधूम से बसाता था। पुष्पमाला धारण करता था। होठो को आलता से छू सुवासित पान खाकर दर्पण मे अपनी छबि निहारता था। फिर कार्यों को समाप्त कर वह चन्दन, अगुरु आदि के अनुलेप से उबटन लगाता और तदनन्तर नित्यस्नान

करता था। अगों की मालिश वह दूसरे दिन और फेनक (एक प्रकार के साबुन) से शरीर की सफाई वह तीसरे दिन करता था। चौथे दिन वह दाढी बनाता और पाचवे या दसवें दिन सिर के बाल कटाता था। अपने लबे नाखूनो को रगता और शरीर, चेहरे और केशो को चूर्णों, तेलो और सुगन्ध द्रव्यो से सुवासित करता था। केशो मे जो वह विशेष प्रसाधन से छल्ले डालता तो वे कुन्तलो मे वैसे ही कन्धो पर झूम पडते जैसे गुप्तकालीन मृन्मूर्तियों के घूषरो मे दिखाये गये हैं।

दो बार नागरक भोजन करता और भोजन के बाद या तो कुछ देर विश्राम करता या मनोरजन करता। मनोरजन के उसके अनेक साधन थे—समूचा जीवन ही उसका मनोरजनो का अटूट सिलसिला था—तोतो की बातें सुनना, मुर्गों-बटेरो-भेडों की लडाई देखना, कलात्मक प्रतियोगिता मे स्वयं भाग लेना, सगियों से रगीन बाते करना। तीसरे पहर परिधानो, अलकारो से सजकर गोष्ठियो मे जाता और सन्ध्या को सगीत सुनता। फिर जब उसका शय्यागार सुवासित धूम से बसा जाता वह अपनी प्रेमिकाओं के आगमन की प्रतीक्षा करता, और उनके समय से न पहुचने पर उन्हे बुलाने के लिए दूती भेजता या स्वय आकर उन्हे लिवा लाता।

यह तो नागरिक की नित्य की दिनचर्या थी। इसके अतिरिक्त भी वह समाज मे नित्य होते रहनेवाले समारोहो मे भाग लेता। समाज, घटा, गोष्ठी, आपानक, उद्यानयात्रा, समस्या-क्रीडा, अनेक अवसर उसके मनबहलाव के आते, जिनमे बडे पैमाने से बौद्धिक क्रीड़ाएँ भी होती। समाज-समारोह मे नट-नर्तन, रगमचीय अभिनय आदि होते थे। हर पखवारे सरस्वती के मन्दिर मे नागरक के आग्रह से नट, नर्तक और अभिनेता एकत्र होकर अपने खेल दिखाते। बाहर से आये नर्तक भी अपने खेल दिखाकर पुरस्कृत होते। विशेष अवसरो पर जब बाहर से विशिष्ट कलाकार आते तब गण अथवा श्रेणी की ओर से, नागरक जिसका सदस्य होता, उनका भरपूर सत्कार किया जाता। समाज बडी प्राचीन सस्था थी, ऋग्वैदिक आर्यों की ही, जिसमे दिन मे अश्वधावन आदि होते थे, रात्रि मे सामूहिक नृत्य, जहा युवतिया पति पाने की आशा बाधकर जाती थी और जहां के रागबन्ध का परिणाम विवाह होता भी था। फिर मौर्यों के समय समाज इतना भ्रष्ट हो गया कि समझदार लोगो को उससे घृणा होने लगी और अशोक को उसे सर्वथा बन्द ही कर देना पड़ा। जान पड़ता है कि वह संस्था सर्वथा मरी न थी और गुप्तो के उदार जीवन मे उसका फिर से बडे पैमाने पर आयोजन होने लगा। घटा एक प्रकार का मेला होता था जिसका सबध देवताओ की पूजा से था। गोष्ठी रससिक्त बैठक होती थी जिसका आयोजन नगर की शाला मे, मित्रो के या अपने घर या गणिका के प्रकोष्ठ मे होता था। इसमें नागरक के समवयस्क,

समान धन, ज्ञान और रुचि वाले मित्र ही गपशप के लिए शरीक होते थे। वहा वे कविताओ अथवा कलाओ की रचना मे परस्पर प्रतियोगिता करते और एक दूसरे को शालीन परिधान आदि उपहार मे देते। उस अवसर की भाषा भी सर्वथा अभिजात न होती, कुछ सस्कृत, कुछ प्राकृत मिली-जुली। गोष्ठिया भी जब कामुकता का शिकार हो चली तो अनक नागरिक उनसे अलग रहने लगे, वे केवल ऐसी गोष्ठियो में ही भाग लेते जहा समाजविरोधी आचरण न होते, जिनका उद्देश्य शुद्ध मन-बहलाव था वहा जाने से किसी को परहेज न था।

आपानक सुरापान की गोष्ठिया थी जिनका चलन गुप्तकाल मे आम था। कालिदास ने भी अपने काव्यो मे बार बार आपानकों और पानभूमियो की रचना का उल्लेख किया है। आपानक मित्रो के घर अथवा निजी या नगर के उपवनो मे आयोजित होते थे जिनमे गणिकाएँ भी शरीक होती थी और चषक भर-भरकर आपानक मे भाग लेनेवालो को मदिरा पिलाती थी। मदिरा पान वहा इतना होता था कि भूमि 'चषकोत्तरा' हो जाती थी, टूटे प्यालो से पट जाती थी। जब आपानक बगीचियो मे होते तब उन्हें उद्यानयात्रा' कहते थे। खाने-पीने (पिकनिक) का भी सारा सामान वहा प्रस्तुत होता था, और नृत्य-गान से आपानको की प्रक्रिया और भी उत्तेजित कर दी जाती थी। आपानको का आयोजन नगरो मे जलक्रीडा के अवसर पर भी किया जाता था। उद्यानो मे, जब वे अपने होते तब, नागरिक वृक्षो और लताओ के विवाह भी रचाते, दोहद (युवती द्वारा अशोक को पैर से छूकर प्रफुल्लित कराना अथवा उससे सुरा का कुल्ला बकुल पर फेंकवाकर उसे कुसुमभार मे भर देने के उपक्रम करना) भी कराते थे। समस्या-क्रीडा—जैसा नाम से ही प्रकट है—कविताओ द्वारा समस्यापूर्ति थी जिसमे अनेक काव्यप्रेमी दिलचस्पी लेते थे। ऐसे आयोजनो के अवसरो पर नागरिक स्वच्छ और आकर्षक परिधान तथा बहुमूल्य आभूषणो से सजकर घोडो पर चढ सेवक-परिजनो और गणिकाओ के साथ उद्यानादि की यात्रा करते थे। इस प्रकार समूचा दिन व्यतीत हो जाता, फिर रात के विलासो का ताता चलता। इस प्रकार दिन और रात, रात और दिन विलास की साधना मे ही लगे रहते। ऐसे नागरिको पर जब हूणो का आक्रमण हुआ तो सिवा सर्वनाश के और क्या हो सकता था? सौ स्कन्दगुप्त भी क्या अपने तप और पराक्रम से देश को उनकी चोट से बचा पाते?

बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' (३१-३३) मे राजा के स्नान-प्रसाधन का जो अकन किया है वह वात्स्यायन के नागरक-जीवन से भिन्न नही। वह लिखता है कि व्यायामभूमि मे व्यायाम कर चुकने के बाद राजा स्नानभूमि पहुचता था। स्नानभूमि मे श्वेत वितान तना हुआ था जिसके नीचे स्नान के लिए बैठने का आसन स्फटिक का बना

था। चारो ओर स्वर्णपात्रो मे सुवासित जल भरा था। आमलक (आवलो) का उबटन लगाकर राजा जलाशय मे पैठा, फिर उससे बाहर निकल वह स्फटिकशिला पर जा बैठा जहा वेश्याएँ उस पर पन्ने, सोने, चादी और स्फटिक के कलशो से जल डाल उसे नहलाने लगी। स्नान के बाद राजा ने श्वेत वस्त्रो का जोडा धारण किया और मस्तक पर रेशम का वस्त्र लपेट लिया। फिर वह 'विलेपभूमि' (प्रसाधन कक्ष) में जा पहुचा। वहा उसके शरीर को चन्दन से लेप उसे कस्तूरी, कपूर और केसर से सुगधित कर दिया गया। तदनन्तर उसने भोजन किया और तब सुवासित द्रव्यो का धूम पान कर पान का बीडा मुह मे दाब शय्यागार मे प्रवेश किया।

नागरक के रोमाचक सुख की साधिका गणिकाओ को विविध कलाओं में कुशल होना पडता था। 'मृच्छकटिक'[1] मे वसन्तसेना की अभिनय, गायन, नर्तन और चित्रण मे दक्षता सराही गयी है। 'दशकुमारचरित'[2] मे उन्हे जिन कलाओं मे कुशल होना आवश्यक माना गया है वे हैं गायन, नर्तन, अभिनय, चित्रण, रसोई, इत्र-फुलेल आदि का ज्ञान, पठन, लेखन, वाचालता, प्रत्युत्पन्नमति होना, व्याकरण, ज्योतिष और तर्क का ज्ञान। इनके अतिरिक्त उन्हें कामशास्त्र की विशेष जानकारी होनी चाहिए। आश्चर्य की बात है कि गणिका से सबध (वात्स्यायन, दण्डी, बाण तथा कालिदास की रचनाओ से प्रमाणित है) समाज मे अपवाद न था, सहज स्वाभाविक माना जाता था। लगता है गुप्तकालीन जीवन, मध्यात और अभिजात जीवन, अति विलास से दूषित हो गया था। महत्त्व की बात है कि वात्स्यायन[3] विधवाविवाह को तो मान्य नही बताता पर पाच प्राचीन आचार्यों के प्रमाण देकर विशेष स्थितियो मे विवाहिता स्त्री, विधवा, परिव्राजिका, अरक्षिता, विरक्ता कन्या अथवा गणिका की सेविका और अभिजात किशोरी के साथ यौन सबध को वैध मानता है। उसका स्पष्ट वक्तव्य है कि उच्चवर्णीया पत्नी यदि 'स्वैरिणी' (कुलटा) हो तो उसके साथ यौन सबध करने से गणिका की ही भाति कोई अधर्म नही होता।

नगरो मे रहनेवाले वर्णों को जो विविध सामाजिक अधिकार प्राप्त थे उनकी ओर भी यहा सकेत कर देना अनुचित न होगा। इस सबध मे वराहमिहिर ने अपनी 'बृहत्सहिता' मे पूरा विवरण दिया है।[4] वर्णों के अपने-अपने दण्ड, छत्र, गजो के अकुश, छडिया, वितान, भल्ल-बल्लम, पताका और चवर थे। इनमे राजा और राज-पुरुषो की वस्तुएँ बहुमूल्य होती थी। राजा के चवर बहुत अच्छी लकडी के बने होते

[1] १ और ४। [2] पृ. ६६—६८। [3] का. सू., १, ५, १—३ और ५—२६।
[4] ७२, ३—४; ७३, १—४; ७६, ८—६।

वे जिन पर सोने-चांदी की भूमि तैयार कर उसमे रंग-बिरंगे रत्न जड़ दिये जाते थे। इसी प्रकार राजछत्र भी बहुमूल्य होते थे। वे निष्कलंक श्वेत, धवल रेशम या पंखों से आच्छादित होते थे, जिनमे मोतियों की लड़ियां, खरे सोने और स्फटिक के लटकन मणियों से जड़े होते थे। औरों के छत्र ऊपर सुनहरे पट्टों से मंडित, रत्नों-गजरों से सजे होते थे। उनके ऊपर पंख मोरों के होते थे।

ऊपर के सविस्तर विवरण से स्वाभाविक ही गुप्तकाल की गृहस्थ जनता के जीवन का अत्यन्त विलासात्मक और घिनौना आभास मिलेगा। यह विवरण गलत नही सत्य है, अन्तर स्थिति मे बस इतना है कि यह जीवन दस प्रतिशत जनता का भी न था, केवल अभिजात, उच्चवर्गीय धनियो का था। साधारण गृहस्थ जनता इस वर्ग से सर्वथा भिन्न थी, उसका जीवन सयम और आस्था का था। गुप्तकालीन मन्दिरो और देववर्ग की अनन्त मूर्तियो तथा धार्मिक अनुष्ठानो से एक दूसरे ही प्रकार के समाज के दर्शन होते हैं जो कर्तव्यनिष्ठ, साधु, समाजपरायण, एकपत्नी-व्रत और गृहव्रती था, जिसके अनन्त प्रमाण चीनी यात्रियो के विवरणो मे भरे पड़े हैं, भित्तिचित्रो में अभिराम अंकित हैं। स्मृतियो से भी आहार-विहार के सतुलित जीवन का पता चलता है। यही कारण है कि जहा उन्ही हूणो की चोट से रोम का विशाल साम्राज्य चूर-चूर हो गया, भारतीय जीवन पूर्ववत् बहता रहा। यहा का भी गुप्त-साम्राज्य—अभिजातवर्गीय सम्पदा उसके स्वामियो के साथ टूटकर बिखर गयी पर जनता का समाज बना रहा, रोमनो की भाति अदृश्य न हो सका। वह समाज अपनी आस्थाओ-निष्ठाओ से नवनिर्मित होकर फिर अपने ऐतिहासिक राजमार्ग पर चल पडा और आज तक अपनी समाहृत दाय की अक्षय सपत्ति के साथ जीवित है। उस समाज के गुप्तकालीन जीवन पर एक अश मे चीनी यात्रियो ने प्रकाश डाला है जिसका अब हम नीचे उल्लेख करेगे।

फाह्यान ३९९ ई मे स्थल की कठिन राह गोबी का मरुस्थल पार कर चीन से भारत आया था और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल मे प्राय· पन्द्रह वर्ष ४१४ ई तक निरतर देश मे भ्रमण करता रहा था। उसने अनेक नगरों मे रहकर जनजीवन देखा था और जो कुछ समझ पाया वह अपने भ्रमण वृत्तात मे लिखता गया। आया वह स्थल के मार्ग से था पर गया जल मार्ग से, जावा आदि होता। वह लिखता है कि "पाटलिपुत्र के लोग सज्जन हैं और दान, दया और धर्माचरण मे एक दूसरे से स्पर्धा करते हैं। वैश्य लोगो ने शालाए खोल रखी हैं, जहां दान और दवाए दी जाती हैं। पाटलिपुत्र मे अभिजातों और गृहस्थो के व्यय से चलनेवाला एक बहुत सुन्दर चिकित्सालय है जहा निर्धन बीमारों को आवश्यकतानुसार भोजन और औषध मुफ्त

दी जाती है। बड़े नगरों में और राजपथों पर यात्रियों के आराम के लिए धर्मशालाएं बनी हैं।"[१] हुएन्त्सांग का विवरण अधिक विस्तृत और निरीक्षण विशेष महत्त्व का है। वह लिखता है कि "लोग अत्यन्त ईमानदार हैं, विशेष कर ब्राह्मण और क्षत्रिय जीवन की शुद्धता और सादगी मे विख्यात हैं। राजा और धनी निर्धन बीमारों की चिकित्सा के लिए निर्मूल्य औषध बटवाते हैं। लोग कुछ जल्दबाज हैं और जल्दी क्रोध कर बैठते हैं, उत्तेजित हो जाते हैं पर शुद्ध आचरणवान् है। वे कभी कोई वस्तु अनधिकार नही लेते और उचित से अधिक स्वय दे देते हैं। परलोक मे पाप के परिणाम से वे डरते हैं और इस जीवन के व्यवहार पर विशेष ध्यान नही देते। वे कभी किसी को धोखा नही देते और अपनी शपथपूर्वक की हुई प्रतिज्ञा को निभाते है।"[२] अन्यत्र वह यात्री लिखता है कि ब्राह्मण सारे वर्णों मे आचार मे महनीय और पवित्रतम हैं। वह ब्राह्मणो के सयम और सदाचरण की और क्षत्रियों की दानशीलता की प्रशंसा करता है।[३] ब्राह्मण, क्षत्रियो दोनो के लिए वह लिखता है कि वे प्रदर्शन और दिखावे मे दूर है, ईमानदार और सदाचारी हैं, जीवन मे सादे और मितव्ययी है।[४] वह लिखता है कि लोगो के घर बाहर से चूने से पुते होते है, भीतर का फर्श गोबर से लिपा होता है जिस पर ऋतु के फूल बिखेर दिये जाते हैं। भारतीय अपने मस्तक पर पुष्पमाला पहनते हैं। वे प्रत्येक बार भोजन के पहले स्नान करते है, तन मे चन्दन और केसर का उबटन लगाते हैं, उपयोग के बाद मिट्टी के पात्रो को फेक देते है।[५] भोजन के बाद दतावन करते, जल को साफ करके मिट्टी या चीनी मिट्टी के पात्र मे पीने के लिए रखते है, स्नान और वस्त्रादि धोने के लिए जल ताबे या लोहे के कलशो मे रखते है। रेशम अथवा क्षौम (लिनेन) के तकियो मे ऊन, रुई, या पटुआ भरकर मौसिम के अनुसार ऊचा-नीचा कर लेते है।[६]

फाह्यान, हुएन्त्सांग या ईत्सिंग किसी ने भी साधारण गृहस्थ के जीवन मे अनाचार का दोष नही देखा। इससे प्रकट है कि चाहे अभिजात कुलो के लोग उन आचरणों मे प्रवृत्त होते रहे हो जिनका उल्लेख साहित्य के आधार पर ऊपर किया गया है, साधारण गृहस्थों का समाज साधारणत सदाचारी और सयमी था।

ग्राम-जीवन

नागरिक जीवन के महान् पोषक वात्स्यायन का कहना है कि ग्रामो मे केवल

[१] भ्रमण वृत्तांत, बील का अनुवाद, २७, ५६—५७। [२] वृत्तांत, १, १७७१३। [३] वही, १, १४०, १६८। [४] वही, १, १५१। [५] १, १४८; १५२। [६] ईत्सिंग, वृत्तांत, ४—६, ८, १८, २०, २२।

उन्ही का निवास था जिनके कोई मित्र अथवा सहायक नही थे, जिनके पास सपत्ति न थी या जो सब कुछ खो चुके थे अथवा जिनके पास कोई कला न थी, या जो गाव का धन्धा करते थे।

निःसन्देह गांव के जीवन मे, ऊपर बताये नागर जीवन को देखते कोई रस न था। फिर भी भारत की अपार जनता गावो मे ही रहती थी, नगरो के छलछन्द से अनभिज्ञ थी, जनपद का, संभवत नीरस, श्रमशील जीवन बिताती थी और विविध धन्धो के अतिरिक्त ग्रामवासियो की प्रधान वृत्ति खेती थी। कृषि की अमित सपदा उनकी अपनी थी जिससे नागर जीवन की भी क्षुधा मिटती थी, जनपदो का भी पेट पलता था।

कृषि के अतिरिक्त जनपद का बडा व्यवसाय पशुपालन था। कृषि के पशु, भार ढोनेवाले पशु, देश को घी, दूध, दही, मक्खन आदि मे तृप्त रखनेवाले पशु-पाल गावो मे ही रहते थे। घोषो (घोषियों, गोपालो) के गाव के गाव बसे थे, पशु-पालन जिनका प्रधान कार्य था। पशुओं की सख्या अपरिमित थी और गांवों मे चरा-गाहो की कमी न थी।

चीनी यात्रियो ने जिन भारतीयो का अपने वृत्तातो मे जिक्र किया है, वे भार-तीय ये जनपदवासी ही थे जिनके जीवन की स्वच्छता स्मृतियों के विधान के लिए प्रमाण बनती थी। वैवाहिक जीवन सफल था, एक-पत्नी की मर्यादा अक्षुण्ण थी, नीतिकार का स्वप्न, 'मातृवत् परदारेषु' वही चरितार्थ होता था।

ऋतुओ के क्रमानुसार जनपदो का सादा आचारपूत जीवन बदलता था। आषाढ का पहला दिन आते ही जब भूमि पर पहला पानी पडता और उससे सोंधी सुगन्ध उठने लगती, कृषक तब अपने हल-बैल सभाल खेतो मे जा रमता और फसल तैयार होने तक तप का जीवन बिताता।

गाव की ललनाएँ मेघो को जीवन के प्राण मान उनका उमड़ना आदर से निरखती और प्रवासी पतियो की ललनाएँ वर्षारंभ मे ही लौटते पतियो की राह देखती अपनी रूखी लटें उठा कृतज्ञता भरी आखे बादलो पर डालती। नगरों द्वारा उपेक्षित गाव कर्तव्य के कठिन हिम-आतप की राह चलते, अपनी अभिलाषाओ पर सयम का अकुश रखते, देश के द्विपदो-चतुष्पदो का कल्याण मनाते, अपने श्रम से सबका हित करते थे। वे जानते थे कि उनकी ही श्रमशिला पर तीनो आश्रमो का भार टिका है।

अध्याय ९

शिक्षा

गुप्तकालीन भारतीय शिक्षा पर समकालीन स्मृतियो, ललित और वैज्ञानिक साहित्य और चीनी यात्रियो के भ्रमण-वृत्तातो से प्रभूत प्रकाश पड़ता है। इनमें स्मृतियो मे व्यक्त विचार—आश्रम जीवन, उपनयन आदि—परम्परया स्थापित है पर उनका निर्माण समकालीन होने से अनेक प्रसगो मे उन्हे प्रमाण माना जा सकता है। कालिदास गुप्तकालीन होने से, प्राचीन कथाओ के प्रबन्ध निरूपण के बाव-जूद, समसामयिक परिस्थितियो का अनेक रूपो और मात्राओ मे अपनी रचनाओ मे प्रतिबिबन करता है जिससे गुप्तकालीन शिक्षापद्धति पर प्रकाश पडता है। दण्डी और बाण तथा कामन्दक गुप्तकाल के सास्कृतिक छोर के प्राय. अन्त मे आते है पर जिन स्थितियो का वे उद्घाटन करते है, निश्चय वे एक दिन मे नही बनी थी और उनका सबध स्वाभाविक ही गुप्तकालीन जीवन से हो जाता है। यही निष्कर्ष चीनी यात्रियो—हुएन्त्सांग और ईत्सिग के सबंध मे भी सही है, क्योकि प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र नालन्दा अथवा वहा के पाठ्य-क्रम का जो उन्होने उल्लेख किया है वह गुप्तकाल मे भी प्रचलित था। फाह्यान ने अपने काल की शिक्षा आदि के सबध मे कुछ नही लिखा है यद्यपि उसका भ्रमणकाल (३९९-४१४ ई.) चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का शासन काल है। हुएन्त्साग और ईत्सिग दोनो ने सातवी सदी मे भारत भ्रमण किया, पहले ने सदी के आरम्भ मे, दूसरे ने उसके अन्त मे। दोनो ने नालन्दा के विद्यापीठ मे सालो रहकर बौद्ध विज्ञान का मनन किया था। नीचे हम गुप्तकाल के पाठ्य विषयो, छात्र-जीवन, गुरु-शिष्य सबध और विद्यापीठो पर विचार करेंगे।

१. पाठ्य विषय

समकालीन साहित्यकारो—कालिदास, भारवि, दण्डी, भर्तृहरि, बाण आदि—की रचनाओ के मनन से मन पर जो पहला प्रभाव पड़ता है वह है उनके विविध विषयक ज्ञान की अपरिमेयता। लगता है जैसे उनके ज्ञान की समग्रता विषयो का एक जगल खडा कर देती है, जिसके भीतर से राह पाना कठिन हो जाता है। वेद-वेदाग, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, उपनिषद्, दर्शन,

काव्य, पुराण, छन्द, वास्तु, शिल्प, मूर्तन, चित्रण आदि विविध कलाओं का शास्त्रीय ज्ञान जैसे इन साहित्यकारों का हस्तामलक है। निश्चय कालिदास आदि विद्या के क्षेत्र में अग्रणी हैं और उनका दृष्टांत सर्वसाधारण के लिए शायद प्रमाण न माना जा सके पर निःसंदेह वे युग की संभावनाओं को स्पष्ट प्रकट करते हैं।

साधारण तौर पर यह माना जा सकता है कि पाठ्य विषयो में भारत में सदियों-सहस्राब्दियों मे भी अन्तर कम पड़ा है। बुद्ध के प्रादुर्भावकाल में वेद, वेदांग, उपनिषदादि, पुराण पढ़े जाते थे, बाद में काव्य और ज्योतिष, धर्मशास्त्र-अर्थशास्त्र-कामशास्त्र, दर्शन और गणित, रसशास्त्र और राजशास्त्र, तन्त्र-मन्त्र आदि जोड़ लिये गये जो आज तक काशी और कांची आदि प्राचीन विद्याकेन्द्रों मे पढ़े जाते रहे हैं। इससे इस सबंध के विषयों के पठन-पाठन का गुप्तकाल में पूर्ण प्रचलन था, इसे स्वीकार करने में आपत्ति नही होनी चाहिए। बौद्ध और जैन ग्रथों का अध्ययन भी निःसन्देह ब्राह्मण ज्ञान के विषयों के साथ ही होने लगा था, जिनमें कम से कम बौद्ध सांप्रदायिक विषयों के पाठ्यक्रम का उल्लेख चीनी यात्रियों ने भरपूर किया है। जैसा हम आगे देखेंगे, ब्राह्मण धर्म के विरोधी बौद्धों और जैनों को भी व्याकरण, तर्क शास्त्रादि का अध्ययन करना पड़ता था क्योंकि भाषा और दर्शन के ज्ञान के लिए उनका आधार-रूप से ज्ञान आवश्यक था। फिर ब्राह्मण दर्शनो का ज्ञान बौद्धों-जैनों के लिए भी अनिवार्य हो जाता था कि उससे सांप्रदायिक–दार्शनिक खण्डन-मण्डन मे सहायता मिलती थी। जानी हुई बात है कि दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्य ब्राह्मण दर्शनो में और कुमारिल, शंकर आदि ब्राह्मण आचार्य बौद्ध दर्शन में पारंगत थे। परिणाम यह कि विषयों के पठन-पाठन मे कोई साप्रदायिक सीमा नही खीची जाती थी, यद्यपि अपने विशेष दर्शन अथवा अन्य साहित्य का अध्ययन प्रत्येक साप्रदायिक के लिए अनिवार्य और स्वाभाविक था। भारत ने ज्ञानार्जन मे सांप्रदायिक अथवा देशी-विदेशी प्रतिबन्ध कभी नही माने। गुप्तकाल के उदार वातावरण मे तो यह उदार चेतना और भी स्वाभाविक थी।

विद्याएं

साधारणत अधीत विषयो की गणना 'विद्याओं'[१] के अन्तर्गत की गयी है। इन विद्याओ की सख्या विविध स्थितियो मे तीन[२], चार[३], चौदह[४] और अठारह[५]

[१] रघु., १, ८, २३, ८८; ३, ३०; ५, २०, २१; १०, ७१; १८, ५०; शाकु., पृ. १२५; ५, २५; विक्रमो., पृ. ४०, १२८; मालविका., पृ. ७। [२] रघु., १८, ५०। [३] वही, ३, ३०। [४] वही, ५, २१। [५] द क्लासिकल एज, पृ. ५८७।

मानी गयी है। प्रकट है कि विषयों का प्रसार साधारणतः एक ही है, जहां कइयो को संयुक्त कर दिया गया है वहा वह सख्या कम हो गयी है, जहा उन्हे अनेकधा पृथक् कर दिया गया है वहा वह अधिक हो गयी है। 'शुक्रनीति' में[1] निश्चय विद्याओ की सख्या तीस और कलाओ की चौसठ है। गुप्तकालीन विद्याओं की गणनसख्या चौदह (विद्यापरिसंख्यया चतस्रोदश)[2] है। ५१७–१८ ई. का एक गुप्तकालीन अभिलेख[3] कालिदास की संख्या-गणना की पुष्टि करता है। कौटिल्य और उसका अनुसरण करने वाला गुप्तयुग के प्राय· अन्तिम छोर का 'कामन्दकनीतिसार'[4] दोनो विद्याओ की सख्या कुल चार मानते है—आन्वीक्षिकी (तर्क और दर्शन), त्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद, तीनो वेद और उनके ब्राह्मणादि), वार्ता (कृषि, पशु-पालन, चाराभूमि, वाणिज्य-व्यापार) और दण्डनीति (राजशास्त्र अथवा शासनविज्ञान)। मनु आन्वीक्षिकी को वेदाध्ययन का ही अग मान उसकी गणना नही करते। बृहस्पति विद्याओ मे वेदो को न गिन केवल वार्ता और दण्डनीति को गिनते हैं।[5] उशना मात्र एक विद्या, राजशास्त्र (दण्डनीति) मानते हैं।[6] पर "कौटिल्य का विचार है—विद्याएँ चार, केवल चार है।"[7] मनु[8] की परम्परा मे गुप्तकालीन याज्ञवल्क्य[9] और कालिदास[10] दोनो चौदह विद्याओ का उल्लेख करते है जो इस प्रकार है—सागोपाग वेद (चारो वेद और छहो वेदाग), मीमासा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र। वेदागो मे छन्द (पिंगलादि), मन्त्र, निरुक्त (शब्दो का अर्थ), ज्योतिष (गणित और फलित), व्याकरण और शिक्षा (उच्चारण) गिने जाते है। इनके अतिरिक्त कुछ उपवेदो, जैसे धनुर्वेद, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद की गणना भी विद्याओ मे की गयी है, और इनके साथ अर्थशास्त्र को भी गिनकर पीछे इनकी संख्या अठारह पूरी कर ली गयी है। पुराणो के साथ ही अति प्राचीन

[1] ४, ३; पर शुक्रनीति बहुत पीछे की है यद्यपि इसके आचार्य उशना का उल्लेख सर्वत्र प्राचीन साहित्य 'अर्थशास्त्र' आदि मे हुआ है। [2] रघु., ५, २१। [3] एपि. इण्डि., ८, पृ. २८७।

[4] आन्वीक्षिकीत्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
एता विद्या श्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः ॥

[5] रामशास्त्री, अर्थशास्त्र, पृ. ६। [6] वही। [7] वही।

[8] अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येता श्चतुर्दश ॥ मनु.

[9] पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ याज्ञ.

[10] रघु., ५, २१।

काल (अथर्ववेद के) से ही इतिहास भी गिना गया है जिसमे 'रामायण'–'महाभारत' महाकाव्य भी समाहित है ।

चीनी यात्रियो ने नालन्दा के पाठ्य विषयो में इनमे से अनेक के परिगणन और व्याख्या द्वारा इन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। हुएन्त्साग लिखता है कि बालक 'बारह अध्याय' (वर्ण ज्ञान का वैज्ञानिक विधि से आरम्भ कराने वाली (रचना) समाप्त कर अपनी आयु के सातवे वर्ष से निम्नलिखित पाच विद्याएँ सीखना आरम्भ करते— (१) व्याकरण (शिक्षा–ध्वनि), (२) शिल्प-कला, (३) आयुर्वेद, (४) तर्क (सग्रह, शास्त्र) और (५) आत्मविद्या। व्याकरण के प्रचलित ग्रथो का उल्लेख करते हुए हुएन्त्साग निम्नलिखित के नाम गिनाता है—पाणिनि के सूत्र (अष्टाध्यायी), २५०० श्लोको (सूत्रों ?) मे दाक्षिणात्य ब्राह्मण का सक्षिप्त पाणिनि, एक दूसरा १००० श्लोकों (सूत्रो) मे और भी सक्षिप्त पाणिनि, विशेष पठनीय भाग 'मण्डक' (?), उणादि और अष्टधातु।[1] ईत्सिग इस प्रसग मे और भी स्पष्ट है। वह लिखता है कि छः वर्ष की आयु मे ही 'सिद्ध' (सिद्धिरस्तु) रटने को दे दी जाती है जिसे वे छ महीने मे रट लेते है। आठवे वर्ष उन्हे पाणिनि के सूत्र और 'धातुपाठ' दिये जाते है जिन्हे वे आठ महीनों मे रट लेते हैं। इसके बाद दसवे साल से आरम्भ कर तीन साल मे वे तीनो 'खिल', अष्टधातु (सज्ञा-क्रिया), मण्ड (मुण्ड ?) और उणादि (सज्ञाओं की धातु आदि) सीख लेते है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर फिर वे पन्द्रहवे साल 'काशिका वृत्ति' पढना आरम्भ करते है और पाच वर्षों मे उसे समाप्त कर लेते हैं। व्याकरण के सागोपाग ज्ञान के लिए चार और ग्रथो के अध्ययन की आवश्यकता होती है, वे है चूर्णी (पतजलि का पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'महाभाष्य'), उस चूर्णी पर भर्तृहरि की व्याख्या, भर्तृहरि का ही 'वाक्यपदीय' और 'पेइ–ना' (इसकी पहचान अभी तक नही की जा सकी)।[2] इससे प्रकट है कि व्याकरण का अध्ययन ब्राह्मण और बौद्ध दोनो विद्यार्थियों के लिए आधार रूप से अनिवार्य माना जाता था। हुएन्त्साग ने नालन्दा मे पढाये जाने वाले कुछ और विषयो का भी उल्लेख किया है—अठारहो बौद्ध सप्रदायो के ग्रन्थ, वेद, हेतु विद्या (तर्क शास्त्र), शब्द विद्या (व्याकरण), चिकित्सा विद्या (आयुर्वेद), अथर्व विद्या, साख्य विद्या (दर्शन) आदि।[3]

ऊपर के विषय अधिकतर ब्राह्मणो और प्रव्रजित बौद्धो अथवा दार्शनिको की शिक्षा के थे। क्षत्रियो के गुरुकुल मे अध्ययन के विषय, कम से कम उच्च कुलीयों के, वेदादि तो रहे ही होगे, इतिहास-पुराण भी उनके विशेष हित के थे, इससे वे पढाये जाते

[1] बील का अनुवाद, पृ. १२२। [2] वृत्तांत, पृ. १७०। [3] बील का अनुवाद, पृ. ११२।

रहे होंगे। उनकी शिक्षा में धनुर्वेद, शस्त्रादि का उपयोग और युद्ध संबंधी विषयों का महत्त्व था। विशेष कर राजाओं के लिए अर्थशास्त्र और दण्डनीति का अध्ययन अनिवार्य था। इसी का एक अंग कूटनीति अथवा नैतिक परवंचकता भी थी, जिसके लिए कालिदास ने 'परातिसंधान'[1] जैसे लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया है। कवि ने अपने आदर्श राजाओं का जो चित्र खींचा है वह चाहे सर्वथा गुप्तकालीन सम्राटों का न हो, निःसन्देह वह आदर्श नृपतियों का है, जिनके शिक्षण और ज्ञान का अपेक्षित रूप वह स्वयं प्रस्तुत करता है। उसकी राय में राजा की 'शास्त्रों में अकुण्ठिता बुद्धि',[2] गहरी सूक्ष्म पैठ, होनी चाहिए। सम्राट् समुद्रगुप्त के लिए उसकी प्रयाग-प्रशस्ति में उसके राजकवि ने प्रायः इसी अर्थ में उसे 'शास्त्रतत्त्वार्थभर्तु', शास्त्र के तत्त्व अर्थात् भीतरी अर्थ को जानने वाला[3] कहा है। उस अभिलेख के अनुसार समुद्रगुप्त न केवल शस्त्र विद्या और युद्ध क्रिया में निपुण था, बल्कि अपनी अनेक सुन्दर ललित रचनाओं के कारण 'कविराज' की उपाधि का अधिकारी भी हो गया था, साथ ही वह संगीत में भी इतना कुशल था कि वीणा वादन में वह नारद और तुम्बुरु तक को लजा देता था।[4] उसकी वीणा बजाती एक आकृति उसके एक प्रकार के सोने के सिक्कों पर खुदी भी है। स्वयं स्कन्दगुप्त को भी संगीत का जानकार कहा गया है।[5] कालिदास ने अपने पद 'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम्'[6] द्वारा राजाओं के बचपन में 'विद्याओं' के अभ्यास करने की बात सूचित भी की है। "शास्त्र को नेत्र बनाकर ही वे अपने प्रयत्नों के सूक्ष्म परिणाम को उनके चरितार्थ होने के पूर्व ही देख सकते थे।"[7] राजाओं के अध्ययन के साधारणतः निम्नलिखित विषय थे—(१) शास्त्र,[8] मानवादि[9], (२) परातिसंधान विद्या,[10] (३) दण्डनीति और (४) अर्थशास्त्र तथा ऊपर गिनायी अन्य विद्याएं। ब्रह्मचर्य और शस्त्र-शास्त्रादि में शिक्षण सम्पन्न कर लेने के बाद राजकुमार गोदान (मुंडन) कराकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।[11] कौटिल्य ने राजकुमार को 'लिपि' और 'गणित' सीखने का अनुशासन किया है। राजा, जो सदा 'प्रकृत्यमित्रों'[12] (राजा के पड़ौसी ही उसके स्वाभाविक शत्रु होते थे, क्योंकि दिग्विजय के क्रम में उन्हीं से उसका, अथवा उनका

[1] शाकु., ५, २५; रघु., १७, ७६। [2] रघु., १, १९। [3] प्रयाग-प्रशस्ति, छन्द ३। [4] प्रयाग स्तंभ लेख—निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेः, वही। [5] भीतरी स्तंभलेख, छन्द २। [6] रघु., १, ८। [7] चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्म कार्यार्थदर्शिना, वही, ४, १३। [8] वही, १, ९; ४, १३। [9] नृपस्य धर्मो मनुना प्रणीतः, वही, १४, ६७; मनुप्रभृतिभिः, वही, १, १७; ४, ७। [10] शाकु., ५, २५; पराभिसंधान, रघु., १७, ७६। [11] रघु., ३, ३३। [12] मालविका,. पृ. ११।

उससे पहले संघर्ष होता था) से घिरा रहता था, 'पराभिसन्धान'[1] (दूसरों में फूट डालने की विद्या) के ज्ञान बिना सफल नही हो सकता था, इसी से उसके लिए साम, दान, दण्ड और विभेद की चौमुखी राजनीति[2] सीखना अनिवार्य था। इसी हेतु गुप्तकालीन विष्णुशर्मा ने 'पंचतंत्र' लिखकर मेधा से हीन साधारण राजकुमारों को भी पशु-पक्षियो की कथाओ के बहाने इस चतुर्विधा राजनीति में दक्ष करने का प्रयत्न किया। गुप्त राजकुमारों के लिए यह ग्रंथ बड़े काम का सिद्ध हुआ होगा। स्कन्दगुप्त ने अपने जूनागढ के शिलालेख मे गोप्ता (प्रान्तीय शासक) के लिए, विशेष कर पश्चिम भारत के उस विदेशियों के रन्ध्रलक्ष्य सागरतट के सदर्भ में, जिन गुणों की अपेक्षा की वे सभी दण्डनीति और 'पचतन्त्र' के पाठ्य विषय थे।

दण्डी ने अपने 'दशकुमारचरित'[3] मे राजवाहन की राजसभा के राजकुमारों के पाठ्य विषयो की जो तालिका दी है वह इस प्रकार है—सभी लिपियां और भाषाएं, वेद, वेदांग और उपवेद, काव्य और नाट्यकला, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, मीमांसा, राजनीति, सगीत और छन्द—रसशास्त्र, युद्ध विद्या, द्यूत और चौर्य विद्या, आदि। निःसन्देह यह विषयसूची लंबी है, पर यदि यह राजकुमारो के लिए अत्यधिक भी हुई तो कम से कम यह उस काल के अध्ययन के विषयो की ओर सकेत तो करती ही है। इसमे सन्देह नही कि विद्याभ्यास का ही यह परिणाम था कि संगीत, काव्य, नाट्यादि मे समुद्रगुप्त, स्कदगुप्त, प्रवरसेन, सर्वसेन, शूद्रक, महेन्द्र वर्मा, हर्षादि इतने प्रवीण और कृती हुए।

वैश्यो के लिए भिन्न प्रकार के अध्ययन-विषय थे। पशुपालन और कृषिकर्म के अतिरिक्त उन्हे वाणिज्य के विविध प्रकारों और पण्य (बिक्री की) वस्तुओ में दक्ष होना पड़ता था। उनकी जानकारी के विषय थे—रत्नो, मोती, मूगो, धातुओ, वस्त्रों, इत्र-फुलेलो-गन्धो और प्रसाधनीय वस्तुओ की परख और मूल्य, भूमि और बीजों, बाट-बटखरो-मानो, विविध पण्यो की जानकारी, वाणिज्य मे हानि-लाभो, श्रम-मूल्यों, विभिन्न भाषाओं और देशों का ज्ञान।[4] प्रायः गुप्तकालीन बौद्ध ग्रंथ 'दिव्यावदान' में सम्भ्रांत वणिकपुत्रो के पाठ्य विषयो की जो चर्चा हुई है उसमे लिपि और गणित के ज्ञान के अतिरिक्त सिक्को, ऋणो, निक्षेपो (बैंक मे रखना), रत्नों, गृहो, गजों, अश्वों, पुरुषो और स्त्रियो की परीक्षा का भी उल्लेख है।[5]

इन विषयो के अतिरिक्त प्राविधिक (टेक्निकल) विषयो का शिक्षण वे पाते

[1] रघु., १७, ७६। [2] राजनीति चतुर्विधाम्, वही. १७, ६८। [3] पृ. २१—२२।
[4] मनु., ६, ३२६—३२। [5] २६, ६६—१००।

थे जिन्हे विशेष प्रकार के कार्य करने पडते थे, अथवा विभिन्न कलाओ के धन्धे करने पडते थे। जैसे पुरोहित (कर्मकाण्डी), शासनपुरुष, सैनिक, शिक्षक (संगीत-अभिनय के शिक्षको के ज्ञान के संबंध मे 'मालविकाग्निमित्र' मे विशद चर्चा हुई है), गायक, वादक, नर्तक, अभिनेता, धातुकार, स्वर्णकार, लौहकार, शिल्पी, वास्तुकार, मूर्तिकार, चित्रकार, कुम्भकार (कुम्हार) आदि के लिए मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, कात्यायन, नारद, गौतम आदि की स्मृतियों में सविस्तर नियम बने है। स्त्रिया साधारणतः संगीत—गायन, नर्तन—अभिनय, चित्रण आदि सीखती थी। गणिकाओ को विविध कलाए तो सीखनी ही पडती थी, पुरुषो को आकृष्ट करने के भी उपाय सिखाये जाते थे। इन विषयो के अतिरिक्त कुछ गूढ़ विषयो के सीखने का भी समसामयिक साहित्य में उल्लेख मिलता है। इन्द्रजाल अथवा जादू के भी कुछ विद्यार्थी थे, जैसे 'अपराजिता'[1] अथवा 'शिखाबन्धिनी'[2] (इसके सबध का मन्त्रोच्चार करते समय शिखा बाधी जाती थी) जिसके उपयोग से अपराधियो से रक्षा होती थी। अन्तर्धान हो जाने के लिए 'तिरस्करिणी' विद्या[3] के मन्त्र भी सभवत. सीखे जाते थे और सर्पों के काटे के मन्त्र तो सीखे ही जाते थे, उन्हे वृत्तबद्ध (घेरे मे बाध) देने के मन्त्र भी लोग प्रयुक्त करते थे।[4] इससे अनेक प्रकार के तन्त्र-मन्त्र करने वाले ओझाओ का भी एक परिवार खडा हो गया था। ऊपर के विशद वर्णन से उन विषयों की विभिन्नता की सहज ही अटकल लग जायगी जो गुप्तकाल के सास्कृतिक शिक्षण के अग थे।

२. गुरुकुल और महान् विद्यासंस्थान

राजप्रासाद—विद्याओ अथवा पाठ्य विषयों की शिक्षा के प्राय तीन आश्रय थे—(१) राजाओं अथवा श्रीमानो के अपने प्रासाद, (२) गुरुकुल, और (३) नालन्दा, वलभी जैसे महान् विद्यापीठ। कालिदास की रचनाओ से प्रकट होता है कि राजाओ के प्रासाद मे ही राजमहिलाओ, कुमारियो आदि के शिक्षण का प्रबन्ध होता था। अज अपनी पत्नी इन्दुमती को अपने आप ललित कलाओ (सगीतादि) मे प्रबुद्ध करता है। उसकी पत्नी ही उसकी प्रिय शिष्या है।[5] राजा अग्निमित्र के राजप्रासाद मे ही ललित कलाओं—जैसे सगीत, नृत्य, अभिनय, चित्रण आदि—सिखाने की व्यवस्था थी।[6] 'मालविकाग्निमित्र' मे राजप्रासाद के भीतर ही सगीतशाला[7] और चित्रशाला[8] थी जहा

[1] विक्रमो., पृ. ४०। [2] वही। [3] वही, ४१, ४७, ४६, ७२। [4] रघु., २, ३२; कुमार. २, २१। [5] प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ, रघु., ८, ६७। [6] मालविका., अंक १ और २। [7] वही, पृ. ४, ६। [8] वही, ५।

'सुतीर्थों'[1] (विशेषज्ञो) से सीखे वेतनभोगी[2] आचार्य विविध विषयो मे राजकीय छात्राओं को शिक्षित करते थे।

गुरुकुल—दूसरे प्रकार के शिक्षास्थान गुरुकुल थे, दो प्रकार के—एक तो गृहस्थ गुरु के नगर या गाव मे आवास, दूसरे प्रव्रजित गुरु के वनस्थ आश्रम। आश्रम-जीवन के उल्लेख सामयिक साहित्य, कालिदासादि की रचनाओं मे मिलते है, पर उनके प्रसग चूकि अधिकतर प्राचीनतर कथाओ में ही आये हैं, यह कह सकना कठिन है कि आश्रम अथवा गुरुकुल के विद्यास्थान गुप्तकाल मे भी प्रचलित थे अथवा समाप्त होकर केवल उल्लेख की वस्तु हो गये थे। प्राचीन निर्देशो में वसिष्ठ, कण्व, मरीचि, विशेष कर वरतन्तु के आश्रमो का उल्लेख हुआ है। ब्राह्मणकुमार तो प्राय:, प्राय. सर्वथा, गुरु के कुल मे निवास करते थे। बाण स्वयं एक अरसे तक गुरु के कुल मे निवास करके चौदह वर्ष की अवस्था मे अपने गाव लौटने का उल्लेख करता है। अपने गुरुकुल की वत्सलता की भी उसने प्रशसा की है। आश्रम अथवा गुरुकुल का प्रधान 'कुलपति' कहलाता था। वह शिष्यों के कुल का प्रधान था जहा रहकर शिष्य अपने परिवार जैसा आदर पाते थे। यदि यह स्नेह उन्हे उपलब्ध न होता तो दीर्घकाल तक छोटे बच्चो का अपने कुटुम्ब से दूर और अपरिचितो के परिवार मे रह सकना सभव न होता।

विश्वविद्यालय

गुरुकुलो के अतिरिक्त गुप्तकाल मे विशाल विद्यापीठो का विकास हो गया था। उन्हे उनकी विशाल कईमहला अट्टालिकाओ और विद्यार्थियो की सख्या तथा दूर देशो से आये छात्रो को देखते आज के महाविद्यालयो की सज्ञा दी जा सकती है। देश में महान् विद्यापीठो की परम्परा अजानी न थी। मौर्यकाल से भी पूर्व के, बुद्ध के समय से भी पहले चले आते तक्षशिला के विद्या-सस्थान का जातको मे बडा बखान हुआ है, जहा कोसलराज प्रसेनजित्, बुद्ध के वैद्य प्रसिद्ध जीवक, पीछे सभवत स्वय चाणक्य का शिक्षण हुआ था।

नालन्द

उसके बाद गुप्तकाल को ही, सभवत: उससे भी व्यापक विश्वविद्यालय राजगिरि के समीप नालन्द ग्राम मे बनाने का श्रेय मिला। नालन्द बौद्ध ज्ञान के अध्ययन का केन्द्र था। तब बौद्धों का पठन-पाठन उनके विहारों मे ही होता था, नालन्द भी विहार ही

[1] सुतीर्थाबभिनयविद्या सुशिक्षिता, वही, पृ. १४। [2] वेतनदानेन, वही, पृ. १७।

था, महाविहार, विहारों की परम्परा। एक के बाद एक छ. गुप्त सम्राटों—शक्रादित्य (कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य), उसके पुत्र बुधगुप्त, उसके उत्तराधिकारी तथागत गुप्त, उसके वारिस बालादित्य, उसके पुत्र वज्रादित्य और मध्यदेश के अन्य नृपतियों—ने अपने दानों और वास्तु निर्माणों से उस महान् विद्याकेन्द्र को खड़ा किया था।[1] हुएन्त्सांग के उल्लेखानुसार यहां रह कर पढ़ने वाले छात्रों की संख्या दस हजार थी।[2] ईत्सिंग[3] वह संख्या तीन या साढ़े तीन हजार बताता है। इससे प्रकट है कि या तो हुएन्त्सांग के बाद, राजपूत उत्कर्ष के साथ-साथ बौद्ध धर्म की लोकप्रियता कम होने से नालन्द के छात्रों की संख्या कम हो गयी थी या स्वयं हुएन्त्सांग ने वह संख्या बढ़ा-बढ़ाकर लिखी थी। वैसे तीन साढ़े तीन हजार की भी एक स्थान में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या कुछ कम नहीं, वस्तुतः आधुनिक विश्वविद्यालयों की है, प्राचीन विद्यापीठों में संसार में कहीं भी अनजानी।

हुएन्त्सांग का कहना है कि प्रधान विहार (विद्यालय) के अतिरिक्त वहां आठ विशाल शालाएं थी।[4] ईत्सिंग आठ शालाओं और उनके तीन सौ कमरों का जिक्र करता है।[5] हुएन्त्सांग के अनुसार स्थानीय राजा द्वारा दान किये सौ गावों की आय से नालन्द का खर्च चलता था।[6] ईत्सिंग पहले के राजाओं द्वारा दिये गांवों की संख्या दो सौ बताता है।[7] नालन्द के महत्त्व और उसके महान् आचार्यों के चरित और ज्ञान से आकृष्ट हो चीन आदि दूर दूर देश के बौद्ध छात्र उस विद्यापीठ में ज्ञान और यश उपार्जित करने के लिए आते थे। ईत्सिंग ने विविध देशों से आकर वहां पढ़नेवाले साठ बौद्ध छात्रों का उल्लेख किया है।[8] स्वयं ईत्सिंग ने वहां दस साल रहकर बौद्ध विज्ञान और दर्शन पढ़े थे।[9] वहां प्रवेश बड़ा कठिन था क्योंकि प्रवेश के पहले बड़ी कठिन परीक्षा ली जाती थी जिसमें कुछ ही छात्र सफल हो पाते थे। वहां के आचार्यों और छात्रों दोनों में कालान्तर में कुछ ने जगद्व्यापी कीर्ति कमायी। हुएन्त्सांग और ईत्सिंग दोनों ने इन आचार्यों का बखान किया है।[10] हुएन्त्सांग का तो कहना है कि नालन्द की लंबी अवधि में किसी छात्र ने कभी कोई अविनय या अपचार नहीं किया। बारहवीं सदी के अन्त तक गुप्तकाल का यह विख्यात विश्वविद्यालय, प्रायः आठ सौ साल, चला। नालन्द के कई-महले विहारों का उद्घाटन हाल की खुदाइयों में हुआ है। वहां के खडहरों से जाहिर है कि वहां की

[1] हुएन्त्सांग, वृत्तांत, २, १६४—६५; ईत्सिंग, वृत्तांत, पृ. ६५, १५४–५५।
[2] बील का अनुवाद, पृ. ११२। [3] संस्मरण, ६७। [4] बील, १११।
[5] वृत्तांत, पृ. १५४, संस्मरण., ८७। [6] बील, ११२। [7] वृत्तांत, पृ. ६५।
[8] वही, पृ. १७७। [9] संस्म., १२५। [10] वृत्तांत, बील, ११०—१३८।

इमारतें कितनी बुलन्द थी। चालीस-चालीस फुट ऊंची पीतल-तांबे की तो वहा बुद्ध की मूर्तिया खड़ी थी, जिनमे से एक, आदमकद से कही ऊंची खुदाइयों में मिली, नालन्द के संग्रहालय में सुरक्षित है। प्राचीन संसार का यह सबसे शालीन विद्यापीठ था।

वलभी

जैसे मगध मे नालन्द का विश्वविद्यालय बौद्ध सांप्रदायिक ज्ञानदान के लिए प्रसिद्ध था वैसे ही ब्राह्मण विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन के लिए, बौद्ध दर्शन के बावजूद, प्रसिद्ध विद्या-संस्थान पश्चिमी भारत में, काठियावाड़ मे वलभी का था। इसका समारम्भ भी गुप्तकाल के ही पिछले दिनों मे हुआ था। इसका उल्लेख भी उच्च विद्या के अध्ययन-अध्यापन के प्रसग मे ईत्सिग ने किया है, पर जहा उसे नालन्द का वर्णन करते समय उसके लिये साप्रदायिक मोह था, वलभी के लिए नही था, जिससे उसका सविस्तर वर्णन वह नही कर सका। पर ग्यारहवी सदी के सोमदेव के 'कथासरित्सागर' ने जो उसका उल्लेख किया है उससे प्रमाणित है कि यह विद्यालय भी कम से कम छ. सौ साल तक विद्यादान में सक्रिय रहा। 'सरित्सागर'[1] मे लिखा है कि गगा-यमुना के अन्तर्वेद (द्वाब) से एक ब्राह्मण सोलहवा साल समाप्त होने पर आगे विद्याध्ययन के लिए वलभी गया था। वलभी के राजा से हर्ष की कन्या ब्याही थी, सो जैसे हर्ष ने नालन्द के विहारो की सहायता की थी, उसी की देखादेखी उसके सबधी वलभी के राजाओ ने वलभी के विद्यासंस्थान की सहायता की।

घटिका

गृहस्थ-गुरुओ और आश्रम-गुरुकुलो तथा नालन्द-वलभी के विद्यालयो से भिन्न तीसरे प्रकार की पाठशालाएं भी देश मे थी, जिनका उल्लेख हुआ है और जिन्हें 'घटिका' कहते थे। कदम्ब राजकुल के प्रतिष्ठाता ब्राह्मण मयूरशर्मा ने काची की एक घटिका में ही वेदाध्ययन किया था।[2]

गुरु और शिष्य

गुरु और शिष्य का सबध प्राय देवता और भक्त का था। परन्तु स्वय गुरु शिष्य के प्रति इतना अनुरक्त रहता था कि उसे शिष्य पुत्रवत् प्रिय होता था। इसी से सस्कृत भाषा मे 'गुरु' शब्द मे आचार्य और पिता दोनो अर्थ होते हैं। आचार्य अथवा गुरु को तो

[1] ३२, ४२—४३। [2] स्टडी आव द एन्शेंट हिस्ट्री ऑव तोण्डमण्डलम्, पृ. ४८–५०।

पिता से भी बढ़कर माता का स्थान दिया गया है। 'अथर्ववेद' का उल्लेख है—[1] "आचार्य पढ़ने की दीक्षा लेने आये ब्रह्मचारी को गर्भ मे धारण करता है।" तात्पर्य यह कि जैसे माता शिशु को गर्भ में धारण कर लेने के बाद अपने आहार से उसे कुछ घटाकर नही दे सकती, यदि चाहे तो भी, क्योंकि उसके किये आहार का रस अपने आप शिशु को प्राप्त होता है। वैसे ही आचार्य भी अपने नवागत शिष्य को मानो अपने ज्ञान-गर्भ मे धारण करता है और उसे वह अपने जाने-गुने ज्ञान से किसी प्रकार भी वंचित नही कर सकता। उसके अनेक नाम थे—गुरु, आचार्य, उपाध्याय आदि। कुलपति आचार्य कहलाता था। उसके नीचे आश्रम मे अनेक उपाध्याय अध्यापक होते थे। हुएन्त्साग ने तो एक ही साथ सौ विद्वानो के इतने ही विषयो पर एक ही समय व्याख्यान देने का उल्लेख किया है।[2]

गुरु

विविध कलाओं—नृत्य, गीत, वाद्य, वास्तु, मूर्ति आदि—के गुरु भी आचार्य कहलाते थे। शिष्य अधिकतर उनकी प्रयोगशालाओ मे ही कार्य करते और सीखते थे। 'मालविकाग्निमित्र' के गणदास और हरदत्त ऐसे ही सगीतादि के आचार्य थे[3] जिनके 'विज्ञानसघर्ष' का बयान उस नाटक में आया है।[4] प्राय आचार्यों की प्रतिभा पीढियो से एक ही विशिष्ट विषय में अभ्यास करते रहने से मान्य हो जाती थी, जिससे 'कुलविद्या'[5] का धनी आचार्य और भी आदरणीय हो जाता था। हुएन्त्साग ने नालन्द विहार के बौद्ध आचार्यों की प्रशसा तो की ही है, ब्राह्मण आचार्यों के ज्ञान और उसके वितरण के प्रति उत्साह को बहुत सराहा है। वह लिखता है कि अनेक ब्राह्मण आचार्य ऐसे है जो जीवन पर्यंत निर्धनता और तप का व्रत लेकर देश भर मे घूम-घूमकर अपने अर्जित ज्ञान का लाभ दूसरों को पढ़ाकर कराया करते है।[6] ऐसे आचार्यों का ही एक रूप संभवत पीछे शंकर और कुमारिल के भ्रमण-व्याख्यान-शास्त्रार्थ मे परिणत हुआ।

वेतन

आचार्य जो राजसेवा में थे, उन्हें वेतन मिला करता था।[7] इसका उल्लेख

[1] आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। ११, ५, ३। [2] वाटर्स का अनुवाद, पृ. १६५; मुकर्जी, हर्ष, पृ. १३०। [3] पृ. ४, १४, १९। [4] वही, पृ. १७। [5] वही. पृ. ७; रघु., १७, ३। [6] वृत्तांत, १, १५९—६१। [7] वेतनदानेन, मालविका, पृ. १७।

अन्यत्र किया जा चुका है। पर आचार्यों के एक वर्ग का विचार वेतन ग्रहण के विपरीत था। उनका कहना था कि ज्ञान को वाणिज्य का अग नही बनाना चाहिए और जो केवल जीविका के लिए ज्ञान का मूल्य लेते हैं उनके ज्ञान को ज्ञान नही बल्कि विक्रय की वस्तु माना जाना चाहिए।[१] कभी कभी तो आचार्य 'गुरुदक्षिणा' के नाम पर कोप कर उठते थे। इसका उदाहरण प्राचीन कथा का उद्धरण देकर कालिदास ने दिया है। जब शिष्य कौत्स ने बार-बार गुरुदक्षिणा मागने को गुरु वरतन्तु से कहा तब गुरु ने क्रुद्ध होकर जितनी विद्याएँ पढ़ायी थी उन चौदहो की सख्या के बराबर चौदह कोटि परिमाण का धन माग लिया,[२] जो शिष्य के लिए पर्याप्त सकट का कारण बन गया। पर 'गुरु-दक्षिणा' गुरु को दी जाती थी, किन्तु इसे अधिकतर क्षत्रिय ही दिया करते थे, ब्राह्मणकुमार भिक्षा मे जो कुछ माग लाकर गुरु को अर्पित कर देते थे—उसी मे से स्वय उनको भी आहार मिलता था—वही नित्य गुरुदक्षिणा हो जाया करती थी।

शिष्य

गुरु के पास पढने जाने की क्रिया 'उपनयन' कहलाती थी जिसका प्रतीक द्विजो के लिये यज्ञोपवीत था, पर जिसे प्राय केवल ब्राह्मण धारण करते थे। प्रतिभावान् शिष्य को चुनना गुरु की कुशलता का परिचायक था,[३] पर नि सदेह उसकी अध्ययन मे शिथि-लता से गुरु दोषी नही होता था।[४] वह गुरु निश्चय विशेष विचक्षण माना जाता था जो अल्प-बुद्धि शिष्य के हृदय मे भी अपनी कुशलता से अपने ज्ञान को बैठा दे।[५] उपनयन अथवा अध्ययन आरम्भ करने समय, ईत्सिंग लिखता है,[६] शिष्य की आयु छ साल की होती थी। वह 'शिष्य' अथवा 'वर्णी'[७] कहलाता था। गुरु के साथ रहते समय शिष्य रुरु मृग का चर्म धारण करता था। रघु तो अपने पिता से ही घर मे ही शस्त्र-शास्त्रादि का अध्ययन करता है, फिर भी मृग का चर्म ही पहन कर छात्रजीवन भर रहता है।[८] आश्रम मे वह कुश की चटाई पर सोता था।[९] क्षत्रिय को शस्त्र का अभ्यास अधिक-तर पिता ही कराता था।[१०] पर अनेक बार वह भी पुरूरवा के पुत्र आयु की भांति शस्त्राभ्यास के लिए भी ऋषि के आश्रम मे भेज दिया जाता था।[११] अध्ययन सोलह से चौबीस वर्ष की आयु तक चलता था, पर यह परम्परा की अवधि थी, गुप्तकाल में यह

[१] यस्यागमः केवलजीविकार्थं तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति। मालविका., १, १७।
[२] रघु., ५, २१। [३] मालविका., पृ १९ [४] वही, १, ६; रघु., ३, २९।
[५] मालविका., २, ६। [६] वृत्तांत, पृ. १७०। [७] रघु., ५, १९।
[८] वही, ३, ३१। [९] वही, १, ९५। [१०] वही, ३, ३१। [११] विक्रमो., ५।

अवधि संभवतः कम हो गयी थी। हुएन्त्सांग ने यह अवधि ब्राह्मणो के वेदाध्ययन के विषय मे तीस वर्ष की आयु तक मानी है।[1]

गुरु-शिष्य संबंध

गुरु-शिष्य के सम्बन्ध के नियम बौद्धो मे भी प्रायः वे ही थे जो ब्राह्मण धर्मानुयायियो मे प्रचलित थे। ईत्सिग का साक्ष्य इस स्थिति को सिद्ध करता है। विहारों में भी उन्ही नियमो का व्यवहार होता था। चीनी यात्री लिखता है[2]—"शिष्य उपाध्याय के पास रात्रि के पहले और अन्तिम पहर मे जाता है, उसके तन की मालिश करता है, वस्त्र आदि सभालकर रखता है, जब-तब गुरु के आवास और आगन मे झाड़ू लगाता है। फिर जल छानकर उसे पीने के लिए देता है। अपने से बड़े के प्रति आदर इसी प्रकार प्रकाशित किया जाता है।" आज भी भारत के गावो मे ब्राह्मण गुरु के साथ रहकर अध्ययन करने वाले सस्कृत के विद्यार्थियो का यही व्यवहार है। "इसी प्रकार शिष्य के रोगग्रस्त हो जाने पर गुरु भी शिष्य की सेवा करता है, उसे औषध देता और उसके साथ पितावत् आचरण करता है।"[3] कालिदास ने गुरु-शिष्य के पारस्परिक प्रेम को 'गुरवो गुरुप्रियम्'[4] कहा है। ईत्सिग लिखता है,[5] "उपाध्याय शिष्य को बैठाता है, 'त्रिपिटक' से उसकी योग्यता के अनुसार एक अश उसे देकर पूरे तौर से उसे समझा देता है। उसके आचरण पर निगाह रखता है, उसके दोष भी समझा देता है। जब कभी वह शिष्य को दोषी पाता है, उससे प्रायश्चित्त कराता है। प्रति दिन प्रातः शिष्य प्रणाम कर 'विनय' का पाठ करता और उसका अर्थ गुनता है। पाच साल मे 'विनय' पर अधिकार कर लेने के बाद शिष्य गुरु से अलग रह सकता है, फिर भी उसे कोई न कोई उपाध्याय रखना ही होता है। दस साल के बाद यह सबध भी समाप्त हो जाता है, पर यदि फिर भी 'विनय' उसके हस्तामलक न हो सका तो उसे आ-मृत्यु किसी न किसी आचार्य की सरक्षा मे रहना होता है।" बौद्ध नवदीक्षितो के अतिरिक्त ईत्सिग उपासक शिष्यो के दो भेद करता है—'माणव' और 'ब्रह्मचारी'। माणव वह उन बालको को कहता है जो भविष्य मे सघ की शरण मे जाने की दीक्षा लेने की इच्छा से बौद्ध ग्रथो का अध्ययन करते हैं। ब्रह्मचारी वे हैं जो प्रव्रजित होने की इच्छा नही करते और केवल धर्मेतर साहित्य पढते हैं।[6] इन दोनो शिष्यार्थक शब्दो का उपयोग ब्राह्मणो मे भी होता था। नवदीक्षितों को भोजन सघ से मिलता था। उपासकों

[1] वृत्तांत, १, १५९–६१। [2] वृत्तांत, पृ. ११७–२०। [3] वही, पृ. १०५–०६।
[4] रघु., ३, २९। [5] वही। [6] वृत्तांत, पृ. १०५—०६।

को अपना खर्च आप उठाना पडता था। कभी कभी संघ का कुछ कार्य कर देने के बदले उन्हें भी वही भोजन मिल जाता था।[१] 'दशकुमारचरित' का चन्द्रापीड़ छः वर्ष की आयु मे गुरुकुल में जाता है और दस वर्ष तक वहां रहकर विद्याएँ सीखता है।[२]

नारी-शिक्षा

शूद्रो के अध्ययन की कोई व्यवस्था नही थी और उनके अध्ययन करने के प्रमाण गुप्तकाल मे नही मिलते। उन्हें केवल शिल्पादि सीखने का अधिकार था। पर स्त्रियो के अध्ययन के प्रमाण है। मालविका आदि की ओर ऊपर सकेत किया जा चुका है। साधारणत प्राचीन काल से ही उनके उपनयन, अध्ययन आदि वर्जित थे। इसके अतिरिक्त यदि उनके कोई 'संस्कार' होते भी थे तो उनके साथ वैदिक मन्त्रो का उच्चारण नही किया जाता था। फिर भी साहित्यादि मे अनेक शालीन महिलाओ का उल्लेख मिलता है जो विदुषी थी, जो ऐसी बिना समुचित अध्ययन के नही हो सकती थी। ब्राह्मण कन्याओ को तो पिता और पति दोनो के घरो मे अध्ययन के अवसर होते थे और राजाश्रिता तथा अभिजात कुलीयाओ के लिए महलो मे ही अध्ययन की व्यवस्था हो जाया करती थी। वात्स्यायन[3] का कहना है कि नारियो को ६४ अगविद्याओ का अध्ययन करना चाहिए। गुप्तकालीन 'अमरकोश' नारी 'उपाध्याया', 'उपाध्यायी' और वैदिक मन्त्रो की शिक्षिका 'आचार्या' का उल्लेख करता है।[४]

लेखन और लेखन-सामग्री

भाषा (वाङमय) का ज्ञान[५] वर्ण-परिचय[६] से कराया जाता था। अक्षरो को भूमि पर लिखकर[७] याद करते थे। कालिदास ने लेखन और लिखने के साधनो पर प्रकाश डाला है। लेखन का उसकी कृतियो मे अनेक बार उल्लेख हुआ है।[८] पत्रो,[९] आवरण के भीतर (सप्राभृतक) पत्रों[१०], प्रेमपत्रो[११] (पद्मपत्र पर लिखे[१२]) और

[१] वही। [२] पृ. २१–२२। [3] काम., १, ३, १२; १६; ४, १, ३२।
[४] २, ६, १४। [५] रघु., ३, २८। [६] शाकु., पृ. १५०; रघु., ३, २८; १८, ४६। [७] रघु., १८, ४६। [८] वही, ३, २८; १८, ४६; शाकु., पृ. १५०, ६७, १००, १२४; ३, २३; ७, ५; विक्रमो., पृ. ४४, ४५, ४६, ४७, ५३, ५४।
[९] विक्रमो., पृ. ५६; मालविका., पृ. १०, ११, १०२। [१०] मालविका., पृ. १०१।
[११] शाकु., पृ. ६७; ३, २३। [१२] वही, पृ. १००।

अन्य प्रकार के लेखो[१] के विषय मे कवि ने लिखा है। पत्र विशेष प्रकार से स्नेह-संबोधन सहित[२] 'स्वस्तिवाचनिका'[३] के साथ आरम्भ किये जाते थे। अनेक पत्र काव्य-बद्ध भी लिखे जाते थे।[४] 'चरित'[५] लिखने का भी उल्लेख हुआ है। बाणो[६] और मुद्रिकाओं[७] पर भी नाम खोदे जाते थे। एक स्थल पर 'लेखन साधन'[८] का जिक्र भी हुआ है, जिनमे से दो—भूर्जत्वच[९] (भोजपत्र[१०] और भोज की छाल)—का उल्लेख मिलता है।

[१] शाकु., पृ. २१६; विक्रमो., २, १३। [२] विक्रमो., पृ. ४६; मालविका., पृ. १०२। [३] वही। [४] विक्रमो., पृ. ५४। [५] शाकु., ७, ५। [६] रघु., ३, ५५; ७, ३८; १२, १०३; कुमा., ३, २७; ५, १२७; विक्रमो., ५, ७, [७] शाकु., पृ. ४६, १२०; ६, १२। [८] वही, पृ. १००। [९] कुमार., १, ७। [१०] विक्रमो., पृ. ४४, ५३।

अध्याय १०

राजा, राज्य, शासन और दण्डनीति

राज्य और राजा

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र ने राज्य को सात अगों (सप्तागं रायं) में विभक्त किया है। इस अग वितरण में प्राचीन और समकालीन साहित्य समान हैं। प्राचीन कौटिलीय' 'अर्थशास्त्र',[१] और मनु,[२] गुप्तकालीन 'कामन्दकीयनी तिसार'[३] और कालिदास,[४] तथा पीछे की 'शुक्रनीति'[५] भी एक राय हैं। थोड़े अन्तर के साथ वे राज्य के सात अंग स्वामी (राजा), अमात्य (मत्री), मित्र (राजनीतिक मित्र राष्ट्र), कोश, राष्ट्र (राज्य), दुर्ग और सेना हैं। यह राज्य के सप्तागो की गणना गुप्तकालीन 'अमरकोश'[६] की है। 'शुक्रनीति' ने इन राज्यागों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि राजा राज्य का मस्तक है, अमात्य आखे हैं, मित्र कान हैं, कोश मुख है, दुर्ग भुजाएँ हैं, सेना मस्तिष्क है और राष्ट्र चरण हैं।[७] इन्ही सातो से राज्य का शरीर बना है। गुप्तकालीन 'कामन्दकसार' का कहना है कि ये सातों मिलकर राज्य और शासन का कल्याण करते है और इनमे से एक का अभाव या हानि भी समस्त तत्र को नष्ट कर देती है।[८] राजा को उस राज्य का सर्वस्व माना जाता था। कालिदास ने उसे मनु के बताये धर्म की रक्षा करने वाला[९], पृथ्वी पर सुमेरु की भाति सबसे ऊचा[१०], असाधारण द्रव्यों (महाभूत समाधियो[११]) से बना कहा है, उसके शरीर मे लोकपालो का निवास है[१२] मनुष्यो मे वह असाधारण और अनुपम है। ठीक इसी प्रकार प्रयाग के स्तभलेख मे समुद्रगुप्त के लिए कहा गया है कि उसने अनेक कर्म ऐसे किये थे जो मनुष्य नही कर सकता।[१३] बृहस्पति राजा को सात देवताओ का तेजपुज,[१४] कात्यायन इन्द्र[१५] और नारद विष्णु मानते हैं। नारद का, राजाओ के देवाधिकार के प्रवर्तक होब्स की तरह कहना है कि राजा अधम भी हो तो उसका आदर करना होगा; उसकी आज्ञा का उल्लघन नही किया जा

[१] ६, १। [२] ६, २६४। [३] ४, १। [४] रघु., १, ६०। [५] १, १२१–२२, [६] स्वाम्यमात्य सुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। सप्तांगानि। [७] १, १२२–२४। [८] क्लासिकल एज, पृ. ३४५। [९] रघु., १४, ६७। [१०] वही, १, १४। [११] वही, २८। [१२] वही, २'७५; और देखिए, ३, ११; १७, ७८; ३, १४, १५। [१३] कर्माण्यनेकान्यमनुजसदृशानि, श्लोक ५। [१४] १, १, १२६–३१। [१५] ४६, ५०।

सकता।[1] कात्यायन के अनुसार राजा की सृष्टि तीन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए हुई—(१) प्रजा की रक्षा के लिए, (२) राज्य के विघ्नो को दूर करने के लिए, और (३) ब्राह्मणों का मान करने के लिए।[२] 'कामन्दक' गुप्त राजनीति का सैद्धातिक पक्ष स्थापित करते हुए कहता है कि प्रजा की रक्षा राजा पर निर्भर रहती है और उनके जीवन के साधन उस रक्षा पर निर्भर करते है, राजा के अभाव मे धर्म (दण्डनीति) नष्ट हो जाता है और धर्म नष्ट हो जाने से समार विनष्ट हो जाता है।[3] कालिदास ने इसीलिए प्राचीन सिद्धात 'राजा कालस्य कारणम्'[४] (राजा अपने समय का निर्माता होता है) को दोहराते हुए साथ ही यह भी कहा है कि राजा प्रजा को प्रसन्न रखने के कारण ही 'राजा' कहलाता है (राजा प्रकृतिरजनात्)[५]।

राजा के गुण

राजा अथवा 'गोप्ता' (शासक) के व्यक्तिगत गुणो की उसके उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य मे अनिवार्य आवश्यकता मानी गयी है। 'शुक्रनीति'[६] का सिद्धांत है कि 'जन्म से ही राजा नही बनता।' कालिदास ने राजा जन्म और गुण दोनो से माना है[७] पर बार बार उसने राजा के गुणो की आवश्यकता का उल्लेख किया है।[८] ठीक यही राजनीतिक गुप्तकालीन दृष्टि समकालीन अभिलेख प्रकट करते है। समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त प्रथम ने उसके गुणो के ही कारण उसके बडे छोटे भाइयो मे से उसे चुना था, सार समझ लेने वाले चक्षुओ से निहार कर, जिससे भाइयो के मुह मलिन हो गये थे, मत्रियो और राजसभासदो ने प्रसन्न शाति की सास ली थी। राजा स्वय बाष्पगद्गद हो उठा था,[९] उसने प्रथम कर्तव्य—पृथ्वी को पालो, उसकी रक्षा करो!—की ओर सकेत किया था। राजाओ मे आशा की जाती थी कि इस राजधर्म को निभाने के लिए पहले अपने शरीर को शक्तिमान्[१०] बनाये और बुद्धि को (खारवेल की भाति) शास्त्रो मे

[१] १८, ५, १३, २४–२६; १, १, ६, ८। [२] १५। [3] द क्लासिकल एज, पृ. ३४५। [४] विक्रमो., पृ. ९३। [५] रघु, ४, १२; ६, २१; विक्रमो., पृ. १२१। [६] १, ३६३–६४। [७] जन्मतया गुणश्च, रघु., १६, १। [८] वही, १७, ३४; ७५; लोककान्ता गुणाः, वही, १८, ४५; विक्रमो., ५, २१।
[९] आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुल्यम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्यालुलितेन वाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्व्वीमिति॥
[१०] रघु., १, १३; २१।

अकुण्ठित, गतिमती रखें,[1] ज्ञानवानों का साथ करें।[2]

राजा के कर्तव्य

राजा में, कालिदास कहता है, 'भीम' और 'कान्त' दोनों प्रकार के गुण होने चाहिए जिससे लोग उसका भय भी मानें, उसकी ओर आकृष्ट भी हों।[3] उसे ऐसे गुणों का अर्जन करना चाहिए जिनसे प्रजा उससे मोहित हो जाय।[4] स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ वाले शिलालेख से प्रकट है कि वह 'जनता का प्रिय' था। अपने गुणों की औपचारिक क्रिया से उसने घर घर से अपनी प्रीति बढ़ा ली थी।[5] मन्दसोर के शिलाभिलेख में राजा बन्धुवर्मा को 'प्रजा का बन्धु'[6] कहा गया है। स्वयं चन्द्रगुप्त द्वितीय भी अपने पिता द्वारा, पिता की ही भाति, राज धर्म के लिए पहले चुना गया था। स्कन्दगुप्त के गुणों की तो जूनागढ वाले लेख मे एक परम्परा ही बाध दी गयी है। वह कहता है कि राजलक्ष्मी ने बारी बारी ज्ञानपूर्वक सारे राजपुत्रों के गुण-दोषो का बुद्धिपूर्वक विचार कर अपने आप स्कन्दगुप्त का वरण किया था।[7] राजधर्म—प्रजा को प्रसन्न करने का कार्य—आसान काम न था। प्रजा को प्रसन्न रखते हुए[8] शासन करना था। उसी के परिणाम स्वरूप, प्रजा को प्रसन्न करके ही राजा के चेहरे पर रग चढ सकता था (लब्धवर्ण),[9] प्रजा के हृदय को जीतने का यह लक्ष्य गुप्त राजाओ का निजी अभिप्रेत था। स्कन्दगुप्त अपने अभिलेख मे कालिदास के प्राय इन्ही शब्दो का उपयोग करता है—उसने प्रजा को प्रसन्न कर उसका हृदय जीत लिया था।[10]

प्रजारजन का यह मर्म राज्य और उसके शासन के सचालन मे था जो साधारण कार्य न था।[11] शास्त्रो के अनुसार राजा का प्रत्येक क्षण उसके कार्यों के विभाजन के

[1]वही; हाथीगुंफा का खारवेल का अभिलेख। [2]हीन संसर्गपराङ्मुख, रघु., १८, १४। मिलाइए समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तंभलेख—यस्य प्रज्ञानुषङ्गोचितसुखमनसः, ३। [3]भीमकान्तैः गुणैः, रघु., १, १६। [4]लोककान्ता गुणाः, वही, १८, ४६; गुणैर्लोककान्तैः, विक्रमो., ५, २१। [5]प्रियो जनस्य, १६; संवर्द्धितप्रीतिगृहोपचारैः, २२। [6]छन्द २६।

[7]क्रमेण बुद्ध्या निपुणं प्रधार्य्य ध्यात्वा च कृत्स्नान गुणदोषहेतून्।
व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार ॥५॥

[8]प्रकृतिमण्डलमनुरञ्जयन्राज्यं करोति, विक्रमो., पृ. २१२। [9]राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः, रघु., ६, २१। [10]संवर्द्धितप्रीतिगृहोपचारैः, जूनागढ़ का स्कन्दगुप्त का अभिलेख, श्लोक २२; संरंजयां च प्रकृतीर्बभूव, वही। [11]अविश्रामोऽयं लोकतन्त्राधिकारः, शाकु., पृ. १५४।

अनुरूप बंटा हुआ था। पहले के कौटिल्य,[१] और गुप्तकालीन कालिदास[२] तथा दण्डी[३] तीनों ने राजा के काल और कार्य विभाजनों का वर्णन किया है। राजा उस सूर्य की भांति कर्मचेता था जो एक बार रथ मे घोड़े जोत चुकने पर फिर कभी विरमता नहीं, उस पवन की भांति था जो दिन रात चलता है, उस शेषनाग की तरह था जो पृथ्वी का भार अपने फणो पर सदा से उठाये हुए है।[४] और अपना यह गुरु कार्य राजा केवल प्रजा से उसकी आय का छठा भाग पाने के बदले करता था।[५] आर्यदेव ने 'चतुःशतक' में अपने राजा से पूछा है—तुम भला गर्व कैसे कर सकते हो जब कि प्रजा की उपज का छठा भाग पानेवाले जनता के दास (गणदास) मात्र हो?[६] कालिदास ने अपने 'शाकुन्तल' मे अंग्रेजी वक्तव्य 'अनीजी लाइज द हेड दैट वेयर्स क्राउन' के बहुत निकट का विचार अपने 'शाकुन्तल' मे व्यक्त किया है—'इच्छित वस्तु की सम्प्राप्ति सारी उत्सुकता का नाश कर देती है, सम्प्राप्त का रक्षाकर्म स्वयं घातक और क्लिष्ट हो उठता है; हाथ मे शासन का दण्ड धारण करना थकान को मिटाता नहीं उसे बढाता है, जैसे हाथ में धारण किया हुआ छाते का डंडा, जो इतना घाम का हरण नहीं करता जितना कष्टदायक भार बन जाता है।'[७] कालिदास और गुप्त अभिलेखो ने राजा के शासक रूप के लिए 'गोप्ता' शब्द का बहुशः प्रयोग किया है। गुप्तशासन मे प्रान्तीय शासक भी गोप्त कहलाता था। स्कन्दगुप्त ने अपने जूनागढ वाले लेख मे सौराष्ट्र के कठिन गोप्तापद के लिए उचित व्यक्ति चुनने के अर्थ विचार करते दिन-रात एक कर दी है। उस अभिलेख मे शासक के लिए अपेक्षित गुणो की एक लबी सूची दी हुई है। कालिदास का विचार है कि राज्य वन की भांति है जहा बलवान् पशु दुर्बल पशु को नष्ट कर देता है, गोप्ता रूप मे राजा का कर्तव्य है कि वह राज्यारोहण करते ही राज्य मे दुष्टो को आक्रात कर ले जिससे बलवान् दुर्बल को न सताये।[८] कुमारगुप्त प्रथम और बन्धुवर्मा के मन्दसौर के शिलाभिलेख मे गोप्ता को राज्य का रक्षक और महापुरुषो का नेता[९] कहा गया है। समुद्रगुप्त का शासन साधुजनो (सज्जनो) के उदय और असाधुओं (दुर्जनो) के प्रलय के लिए था।[१०] स्कन्दगुप्त का शासन उसी मंत्र—शशास दुष्टान् (दुष्टो के दलन) का निर्वाह करता था।[११] कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' मे राजा अग्निमित्र के शासन

[१]अर्थशास्त्र, १, १९। [२]रघु., १७, ४९। [३]८ (विश्रुतचरित) पृ. २५७—५८ (निर्णय०)। [४]शाकु., ५, ४। [५]षडंशभाक्, रघु., १७, ६५; शाकु., ५, ४ षष्ठांशवृत्तेः। [६]चतुःशतक, ५, ७७। [७]शाकु., ५, ६। [८]रघु., २, १४। [९]द्वीपस्य गोप्ता महतां च नेता, १, २। [१०]साध्वसाधूदयप्रलयहेतु, प्रयाग-स्तंभलेख। [११]जूनागढ़ का लेख, ५, २१।

के संबंध में जो कहा है—प्रजा के मन की कोई इच्छा, जैसे सार्वजनिक संकटों का निवारण, ऐसी नही जो अग्निवर्ण के रक्षाकाल (गोप्तरि) मे पूरी नही हो जाती थी[1]—ठीक वही स्कन्दगुप्त के संबंध में जूनागढ़ के अभिलेख के कवि ने अभिव्यक्त किया है—जब तक उस राजा (स्कन्दगुप्त) का शासन है, उसकी प्रजा मे से कोई धर्म से च्युत नहीं होता, उस राज्य मे न तो कोई आर्त्त (दीन) है, न दरिद्र है, न व्यसनी है, न लोभी है; न दण्डनीय अपराधी है, और न कोई ऐसे ही है जो विशेष पीडित है।[2] साहित्य और राजनीति दोनो यहा एक दृष्टि हो गये है।

१. उत्तर भारत की शासन-पद्धति

साम्राज्य और उसके प्रांत

गुप्त साम्राज्य के शासन का अध्ययन तीन प्रकरणो—साम्राज्य, प्रान्त और नगर—के अन्तर्गत करना सुकर होगा। गुप्त राजा, जो प्रभुश्री के मूलायतन[3] थे, जो राजाधिराज, महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमदैवत, अप्रतिरथ, अप्रतिवार्यवीर्य, देव आदि विरुदो–उपाधियो से अपने को अपने अभिलेखों मे व्यक्त करते थे, निश्चय साम्राज्यपदीय थे। उनके साम्राज्य के छोर, कम से कम पूरब और पच्छिम मे सागर पर्यंत फैल गये थे। यह अकारण न था कि वे अपने अभिलेखो मे अपने साम्राज्य की सीमाएँ 'चतुरुदधिजलान्ता स्फीतपर्यन्तदेशाम्',[4] 'चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसः'[5] आदि वक्तव्यों द्वारा व्यक्त करने लगे थे। प्रधान गुप्त राजवश के पिछले काल के कुमारगुप्त द्वितीय ने अपने साम्राज्य की सीमा मन्दसौर शिलाभिलेख मे इस प्रकार घोषित की—

चतुस्स मुद्रान्त विलोलमेखलां सुमेरु कैलास बृहत्पयोध राम्।
वनान्त वान्त स्फुटपुष्प हासिनीं कुमार गुप्ते पृथवीं प्रशासति॥[6]

'चारो समुद्र जिसकी मेखला हैं, सुमेरु और कैलास जिसके पयोधर है, जो अपने दिशावलंबित वनान्तो की खिली उपत्यकाओ द्वारा अपना हास प्रकट करती है ऐसी पृथ्वी

[1]आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानाम्
संपत्स्यते न खलुगोप्त रिनाग्निमित्रे॥ मालविका., ५, २०।
[2]तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चिद् धर्म्मादपेतो मनुजः प्रजासु।
आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्ड्यो न वा यो भृशपीडितः स्यात्॥६॥
[3]रघु., ३, ३६। [4]स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ का शिलालेख, छन्द ३।
[5]समुद्रगुप्त का प्रयाग-स्तंभलेख। [6]छन्द, २३।

पर कुमारगुप्त के शासन काल में—'। निश्चय चार समुद्रों की यह पहेली नहीं सुलझायी जा सकती जब तक कि हम उन्हें केवल प्रशस्तिवाची न मान लें। परन्तु निःसन्देह उनके अनेक राजाओं के अधिराट् होने मे कोई सन्देह नही था, जिस पद को उन्होंने समुद्र गुप्त की दिग्विजय द्वारा प्राप्त कर लिया था। स्वयं समुद्रगुप्त ने अनेको राजाओं को समूल उखाड़ कर उनके राज्यो को अपने साम्राज्य में मिला लिया था, अनेक को पराजित कर उन्हें उनके राज्य लौटाकर केवल उनकी प्रभुश्री स्वायत्त कर ली थी, गणराज्यों को अपना अधिराज मानने को बाध्य किया था। शक-मुरुण्डो–शाहिशाहानुशाहियों को साम्राज्य की उत्तरी सीमा पर और समतट, डवाक, नेपाल, कतृपुर आदि पूर्वी, असमी और हिमालयवर्ती शक्तियो को करदायी बना दिया था। अब सामन्त राजा उसके पास कन्याएँ आदि रत्नोपहार लेकर उसको प्रसन्न करने और अपनी 'भुक्ति' (मण्डल) के शासन के लिए गुप्त साम्राज्य का गरुडसयुक्त मुद्राक लगवा अनुमतिपत्र लेने आया करते थे।[1] अब उन सामन्तपदीय राजाओ का गुप्त राजधानी मे आगमन केवल कर जमा करने, आज्ञा लेने और प्रणाम करने के लिए[2] हुआ करता था। काहौम शिलाभिलेख का उल्लेख है कि सैकडो राजाओ के स्वामी इन्द्रोपम स्कन्दगुप्त के आगन मे उसके चरणो मे सहसा प्रणाम करने से जैसे आंधी चल पडती थी।[3] इस साम्राज्य (ऐतिहासिक) पद और समकालीन कालिदास के आदर्श देवतुल्य राजा रघु अथवा पुरूरवा के प्रताप मे क्या अन्तर है। कालिदास प्राय वही बात रघु के संबध मे कहता है—मिलकर जाते समय प्रणामक्रिया मे झुकते राजाओ की मस्तकमालाओं से गिरने वाले मकरन्द से रघु के चरण गौरवान्वित हो उठते थे।[4] पुरूरवा के सबध में कालिदास द्वारा व्यक्त विचार स्कन्दगुप्त के प्रताप से भिन्न नही—एकछत्र पृथ्वी भोगने की प्रभुता से अथवा प्रणाम करने के लिए सिर से लगाये शासनाक (आज्ञापत्र) अपनी चूडामणियो के प्रकाश से रग देनेवाले सामन्तगण के वैभव से, [5]। इमसे प्रकट है कि साम्राज्य मुविस्तृत था जो अनेक माडलिक राज्यो औग भुक्तियो आदि मे बटा हुआ था। उम साम्राज्य का केन्द्र राजा था जो

[1]आत्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदंकस्वविषयभुक्तिशासनयाचन, समुद्रगुप्त का प्रयाग-स्तंभलेख। [2]सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमन, वही।

[3]यस्योपस्थानभूमिर्नृपतिशतशिरः—पातवातावधूता
गुप्ताना वंशजस्य प्रविततयशसस्तस्य सर्वोत्तमर्द्धेः।
राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिपशतपतेः स्कन्दगुप्तस्य शान्ते ॥१॥

[4]प्रस्थानप्रणतिभिरंगुलीषु चक्रुर्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम्। रघु., ४, ८८।

[5]सामन्तमौलिमणिरंजितशासनाङ्कं
एकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम्। विक्रमो., ३, १९।

राजधानी में रहता और मंत्रियों की सहायता से राज करता था। ये मंत्री ऐसे थे जिन्हे वह स्वयं नियुक्त करता था। ये मंत्री केवल तब तक मंत्री थे जब तक राजा की कृपा उन पर बनी थी। राजा का विरोध करके मंत्री मत्नी नही रह सकता था। धर्म-शास्त्रो मे मंत्रियो के गुणो का बखान हुआ है, राजा मत्री गुणवान् चुनता था, पर धर्म-शास्त्रों के आधार पर नही। हा, अधिकतर मत्री कुलागत पसन्द किये जाते थे। मंत्री स्वय भी अपने कुलागत मंत्री होने का अभिमान करते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का साधिविग्रहिक (परराष्ट्र) मत्री वीरसेन शाब अपने 'अन्वयप्राप्त साचिव्य' (कुलागत मत्री) होने का गर्व करता है।[१] कालिदास ने 'मौ लैः'[२] (कुलागत) शब्द का उपयोग मत्रियो के सबध मे इसी अर्थ मे किया है।

मन्त्रि-परिषद्

मत्री सभवत अनेक होते थे, और यद्यपि गुप्त राजाओ के किसी अभिलेख मे 'अमात्य-परिषद' अथवा 'मंत्रि-परिषद्' का प्रकट उल्लेख नही हुआ है, गुप्तकालीन समूचे साहित्य से बार बार मत्रियो की अनेकता की सूचना मिलती है। स्वय अभिलेखों मे जो 'सान्धिविग्रहिक', शान्ति और युद्ध के मत्री, का उल्लेख हुआ है उससे प्रकट है कि उसके अतिरिक्त भी मन्त्री थे। कालिदास ने तो अनेक बार[३] मत्रियो की अनेकता का जिक्र किया है, स्वय 'अमात्य-परिषद'[४] और 'मत्रिपरिषद'[५] भी उनकी रचनाओ मे लाक्षणिक रूप से प्रयुक्त हुए है। 'मालविकाग्निमित्र'[६] मे तो अमात्य परिषद की क्रिया शैली पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। 'अमात्य' अथवा 'मत्री' शब्द से जो अभिहित हुआ है वही सभवत मत्रियो मे प्रधान होता था। वही मत्रिपरिषद के निर्णय की सूचना राजा को देता है और स्वय राजा का निर्णय विचार्य प्रसग पर लेकर मत्रिपरिषद को सूचित करता है।[७] सभव है गुप्त अभिलेखो में सूचित कुछ साम्राज्य के विभाग-प्रधान भी मत्रियो की ही मर्यादा रखते थे। महादण्डनायक और महाबलाधिकृत के से उच्चपदीय साम्राज्याधिकारी कुछ आश्चर्य नही जो मत्री रहे हो। इनके पद के अधिकारियों के नाम कौटिल्यादि की सूची के मत्रियो मे गिनाये भी गये है। मत्रियो मे उनसे कुछ ऊचे स्तर

[१] उदयगिरि में वराह संबंधी वीरसेन शाब का लेख, सी.आई.आई., ३, नं. ६, पृ ३४–३६। [२] रघु., १२, १२; १६, ५७। [३] वही, १, ३४; ८, १७; १२, १२; १३, ७१; ७७; १८, ३६; ५३; १६, ४, ७, ५२, ५४, ५७; विक्रमो., पृ. ८७। [४] मालविका., पृ. १००; विक्रमो., ५। [५] मालविका., पृ. १०१। [६] अंक ५। [७] वही, पृ.१०३।

का युवराज था जो अपने पिता राजा का प्रतिनिधान तो करता ही था, अपने पद के कारण भी वह विशेष महत्त्व का था। राजा के अभिषेक की ही भांति युवराज का भी अभिषेक हुआ करता था और पिता के अन्यत्र व्यस्त अथवा अस्वस्थ रहने पर वही युद्ध आदि के राष्ट्र-सकट का सामना करता था। कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल मे स्कन्द-गुप्त का पुष्यमित्रो के आक्रमण का सामना करना और उन्हे परास्त कर 'विचलित कुल-लक्ष्मी' को फिर से अपनी मर्यादा मे स्थापित करना युवराज के इस प्रकार के उत्तर-दायित्व का प्रमाण है।[1]

साम्राज्य के अधिकारी

साम्राज्य के महान् अधिकारियों मे युवराज और मंत्री (प्रधान मत्री) के अतिरिक्त महाबलाधिकृत, महादण्डनायक, महाप्रतीहार, दण्डपाशाधिकृत, विनय-स्थितिस्थापक आदि थे। महाबलाधिकृत सभवत मन्त्रिपदीय प्रधान सेनापति था। महादण्डनायक सेनापति था जो संभवत महाबलाधिकृत के नीचे उसके ही अधिकरण का प्रधान अधिकारी था। महाप्रतीहार राजप्रासाद के द्वारो और अन्त पुर का रक्षक और राजमहल के रक्षकों का प्रधान था। उसके अथवा उसके स्थानापन्न दौवारिक के पद का महत्त्व कौटिल्य के काल मे ही चला आता था, निश्चय राजा के अत्यन्त निकट और उसके निवास की रक्षा मे सबधित रहने के कारण उसके पद का इतना महत्त्व था। दण्डपाशाधिकृत सभवत साम्राज्य का प्रधान पुलिस अफसर था जिसके नीचे दौस्साहस साधनिक काम करता था जिसका कार्य दुस्साहसी साहसिको का निरोध करना था। विनयस्थितिस्थापक के नाम से—शान्ति अथवा विनय (डिसिप्लिन) कायम रखनेवाला—लगता तो है कि वह भी पुलिस विभाग का ही कोई अधिकारी था, पर पद उसका विशेष ऊचा लगता है जिससे कुछ अजब नही जो वह नागरिक शान्ति की दिशा मे साम्राज्य का प्रधान अधिकारी रहा हो। इनके अतिरिक्त कुछ और अपेक्षाकृत साधारण अधिकारियों के नाम भी मिले हैं, जैसे बलाधिकृत, सेनापति, महाश्वपति (अश्वसेना का प्रधान स्वामी), भटाश्वपति (अश्वसेना नायक) और महापीलुपति (गजनायक)। महादण्डनायक के नीचे ही अनेक दण्डनायक कार्य करते थे, जैसे महाप्रतीहार के नीचे अनेक प्रतीहार नियुक्त थे। ये सभी प्रमाणत राजधानी मे रहते थे, अपने अपने तीर्थों (विभागो, अधि-करणो) के प्रधान थे और मंत्री (प्रधान अमात्य) तथा राजा की देखरेख मे साम्राज्य का शासन करते थे।

[1] भीतरी स्तम्भ-लेख।

देश, भुक्ति

साम्राज्य देशों अथवा भुक्तियों (प्रान्तो) मे विभक्त था। भुक्ति का स्वामी गोप्ता, उपरिक, उपरिक-महाराज, अथवा महाराजपुत्र, देवभट्टारक कहलाता था। संभवतः उसका ही एक नाम कुमारामात्य भी था। गोप्ता का विशिष्ट और सविस्तार परिचय स्कन्दगुप्त के जूनागढ के शिलाभिलेख मे मिलता है, जहा सम्राट् ने सौराष्ट्र के प्रान्ताधिपति को नियुक्त करने के लिए अनेक दिन उस पद के उपयुक्त व्यक्तियों के गुण-दोषों और पदानुकूल गुणो पर विचार किया है। उपरिक अथवा उपरिकमहाराज ही संभवतः महाराजपुत्र, देवभट्टारक कहलाते थे जब वे सम्राट के पुत्र होते थे और अशोक, कुणाल, गोविन्द गुप्त की भाति प्रान्त के शासक नियुक्त होते थे। कुछ आश्चर्य नही जो कुमारामात्य का पद भी प्रान्तीय शासक का ही रहा हो जिसका अर्थ या तो यह रहा हो कि साधारणत राजकुमार द्वारा अधिकृत होनेवाले उस पद पर जब कोई अन्य व्यक्ति नियुक्त होता हो तब उसे कुमार के पद का अमात्य मानकर उसे यह सज्ञा दी जाती रही हो अथवा यह भी सभव है कि राजकुमार के उस उपरिक पद पर नियुक्त होने से उसका यह नाम पड गया हो, जब कुमार के उस पद का स्तर साधारण अमात्य अथवा मत्री का माना जाता हो। कुमारमात्य के ही नीचे आयुक्त अथवा आयुक्तक होते थे जो अनेक बार विजित राजाओ की सपत्ति की देखभाल करते थे या जब तब विषयो (जिलो) का शासन करते थे। गुप्तकाल की एक विशिष्ट भुक्ति तीरभुक्ति थी, आज का तिरहुत, वैशाली (बसाढ, जिला मुजफ्फरपुर, उत्तर बिहार) जिसकी राजधानी थी जहा से गुप्त शासन पर प्रकाश डालने वाली मुहरें मिली है।

विषय

देश (अथवा भुक्तिया) विषयो (जिलो) मे विभक्त थे जिनकी निम्नतम और पहली इकाई ग्राम थे। विषय का प्रधान स्थान (हेडक्वार्टर) अधिष्ठान कहलाता था और उसका दफ्तर अधिकरण कहलाता था। विषय का शासक विषयपति कहलाता था जिसकी नियुक्ति भुक्ति का शासक करता था। विषयपति अपने विषय का शासन नगरसेठ, सार्थवाह (विशिष्ट वणिक), प्रथमकुलिक (प्रधान शिल्पी) और प्रथम कायस्थ (लेखक) की सहायता से करता था। सभवत ये ही नगर के शासन की भी व्यवस्था करते थे। गंगा-यमुना के बीच का द्वाब प्रसिद्ध अन्तर्वेद विषय था। पुस्तपाल पटवारियो की भाति लेखा रखने वाले अधिकारी थे जिनकी रिपोर्ट पर ही भूमि का क्रय-विक्रय सभव हो सकता था। ग्राम की व्यवस्था ग्रामिक (मुखिया) ग्रामवृद्धो अथवा महत्तरो की पचमण्डली (पचायत) से करता था।

सामन्त राज्य

राजधानी और प्रांतों तथा विषयो का शासन तो सम्राट् और उसके द्वारा नियुक्त अधिकारी करते थे, परन्तु प्रांतो की ही भाति कुछ सामन्तो के भी राज्य थे जिनके आन्तरिक शासन मे सामन्त स्वतन्त्र थे परन्तु जिनके शासन की अनुमति उन्हे सम्राट् से लेनी पडती थी। 'परिव्राजक महाराज' इन्ही सामन्त नृपतियों (अथवा 'प्रत्यत नृपतियो') मे से थे जो बघेलखड (नागोद, जासो आदि) मे गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत राज करते थे। इसी प्रकार संभवतः माहिष्मती (नर्मदा तीर पर महेश्वर), सौराष्ट्र-वलभी के मैत्रक, बुन्देलखंड के पांडुवशी, ऐरकिण विषय (सागर) के मातृविष्णु, मन्दसोर के बन्धु वर्मा आदि सामन्त नृपति रहे होंगे जिन्होने गुप्त सम्राटों से उनके उत्कर्ष काल में अपने राज्यो की भुक्ति के लिए शासन (फरमान) प्राप्त किये होंगे। इनमे से अनेक गुप्त साम्राज्य के कमजोर पडते ही स्वतंत्र हो गये। कालिदास ने सामन्तों से घिरे सम्राट् का चित्र इस प्रकार खीचा है—सम्राट् स्वर्णसिंहासन पर स्वर्ण वितान (चंदोवे) के नीचे बैठता था। ऊपर छत्र तना रहता था, बगल मे खड़े सेवक चवर झालते रहते थे। उसके शासन के अक या मुद्रा से अकित शासन-पत्र सामन्त-राजाओं को जब दिये जाते थे तब वे उन्हे सिर से लगाते थे और उनके मस्तक की मणियो से शासनपत्र रग बिरंगी ज्योति फेंकने लगता था। जब सामन्त जाने लगने थे तब बारी बारी से सम्राट् के चरणो मे प्रणाम करते समय एक सिलसिला बाध देते थे और उनके मस्तक की मणियो और पुष्पमालाओ से मकरन्द गिरने से सम्राट् के चरणो के नख चमक उठते थे, रग जाते थे।[1] इससे समुद्र गुप्त के प्रयाग स्तभलेख का सामत सबधी प्रसग स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार सामन्त सम्राट् को प्रणाम आदि से प्रसन्न करने और आज्ञा पालन करने के लिए उसके दरबार मे उपस्थित होते थे और कन्याओ आदि का उपहार देते हुए अपने विषयो अथवा मंडलो के शासनाधिकार की अनुमति के अर्थ साम्राज्य की गरुडमुद्रा से अकित शासन-पत्र प्राप्त करते थे।[2] इससे प्रकट है कि गुप्त राजकीय विभागो से गुजरने वाले सारे पत्रो पर गरुड की छाप लगायी जाती थी। बगैर 'शासन' के अथवा पत्रारूढ़ किये आज्ञापत्र देनेवाले राजा और उसके सेवक दोनो को 'शुक्रनीति' ने चोर कहा है।[3]

अन्य राज्यो की शासन व्यवस्था

स्वाभाविक था कि सामन्त राजा भी अपने राज्यो मे गुप्त साम्राज्य के प्रान्तों

[1]विक्रमो., ४, १३; रघु., ४, ८८; स्कन्दगुप्त का काहौम शिलाभिलेख, १।
[2]प्रयाग-स्तंभलेख। [3]२, ५८२—८३; ५८५—८६।

की-सी ही शासन व्यवस्था प्रचलित करें। जो प्रमाण उनके अभिलेखो आदि से प्राप्त है उनसे यह स्थिति ध्वनित होती है। उस काल के स्वतंत्र राजाओ की शासनव्यवस्था भी गुप्त शासन का ही प्रतिबिंब जान पड़ती है। हूणराज तोरमाण ने पश्चिमी भारत पर राज करते समय 'महाराजाधिराज' का विरुद धारण किया। उसके साम्राज्य मे भी 'ऐरकिण विषय' बना रहा और वहां पहले की ही भांति उसका सामन्तराजा महाराज धन्य-विष्णु विषयपति के रूप मे शासन करता रहा। इसी प्रकार पश्चिमी मालवा का स्वतंत्र नरेश राजाधिराज परमेश्वर विष्णुवर्धन पूर्वी विन्ध्याचल, पारियात्र और पश्चिम सागरवर्ती भूमि के शासन के लिए वहा अपना 'राजस्थानीय' (प्रान्तीय शासक) रखता था जो अपने आप अपने सचिव और विषयपति आदि नियुक्त करता था, जो रीति गुप्तों की भी रही थी। वलभी के मैत्रक भी कुमारामात्य, आयुक्तक, राजस्थानीय, दण्डपाशिक, चौरोद्धरणिक आदि नियुक्त करते थे।

हर्ष का शासन

राजा हर्ष की शासनव्यवस्था भी अधिकतर गुप्त साम्राज्य की व्यवस्था के आधार पर ही बनी थी। हर्ष का विरुद भी गुप्त सम्राटो और अपने पिता, पितामह की ही भाति 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' था। 'हर्षचरित' उसके साम्राज्य के प्रधान अधिकारियो मे 'महासन्धिविग्रहाधिकृत', 'महाबलाधिकृत', 'महाप्रतीहार', 'सेनापति', 'बृहदश्वपति', 'कटुक' (मजिस्ट्रेट) आदि के पदो की सूचना देता है जो गुप्त व्यवस्था से मिलते है। स्वय हर्ष के दानपत्रो से कुछ अधिकारियो की जानकारी होती है, जैसे 'महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत—सामन्त महाराज' और 'महाक्षपटलिक—सामन्त-महाराज' (फरमान के लिखने वाले) तथा 'महाप्रमातार—महासामन्त' (फरमान की घोषणा को कार्य रूप मे परिणत करने वाले)। महाक्षपटलक अक्षपटलको अर्थात् लेखाधिकारियो का प्रधान था और महासामन्तो से प्रकट है कि माडलिक सामन्त भी साम्राज्य के पदाधिकारी हो सकते थे। हर्ष का साम्राज्य भी गुप्तों की ही भाति भुक्तियो, विषयो आदि मे विभक्त था। उसके स्थानीय पदाधिकारियों मे भोगपति, आयुक्तक, प्रतिपालकपुरुष आदि थे। 'हर्षचरित' से एक और अधिकारी 'ग्रामाक्षपटलिक' का भी पता चलता है जो गाव का लेखापत्र आदि सभालता था। मन्त्रिपरिषद जैसा कोई मन्त्रिवर्ग भी वहां निश्चय रहा होगा क्योकि ऐसे ही एक वर्ग ने जिसका प्रधान भण्डि था, कनौज का राज्य स्वीकार करने के लिए हर्ष से प्रार्थना की थी।

भास्कर वर्मन्

इसी प्रकार दूर पूरब कामरूप (असम) के राजा भास्कर वर्मा की राज्य-व्यवस्था की कुछ सूचना उसके दानपत्रों से मिलती है। उसके पदाधिकारियों में 'आज्ञाशत प्रापयिता' (शासन की आज्ञा पूरी करने वाला), 'सीम्नाप्रदाता' (सीमा सबंधी विवाद निर्णय करने वाला), 'न्यायकरणिक' (न्यायाधीश), 'कायस्थ' (लेखक), 'शासयिता' (आज्ञापूरक), 'भाण्डागाराधिकृत' (वस्तुनिधिरक्षक), 'उत्खेटयिता' (कर आदि उगाहने वाला) आदि होते थे। कामरूप के राज्य में भी विषय, विषयपति और उनके अधिकरण थे।

मंत्रि परिषद द्वारा कार्य-निरूपण

इन सभी राज्यो–साम्राज्यो की शासन-व्यवस्था मे समानता इसी कारण थी कि यद्यपि राज्य अलग-अलग थे, उनकी संस्कृति समान थी और उनकी मूल अवस्था के आधार धर्मशास्त्रो के राज्य अथवा दण्डनीति प्रकरण तथा अर्थ शास्त्रादि साहित्य समान आकर मानकर समादृत होते थे। प्रायः उन्ही के निर्देश के अनुसार सर्वत्र मन्त्रियो और मन्त्रिपरिषदो तथा तीर्थादि विभागो द्वारा शासन का कार्य सपन्न होता था। कालिदास ने मन्त्रिपरिषद के कार्य-निरूपण का एक दृष्टान्त 'मालविकाग्निमित्र' और 'शाकुन्तल' मे प्रस्तुत किया है जिसकी यहा सूचना दे देना अनुपयुक्त न होगा। लगता है कि महत्त्व का विषय समूचे मन्त्रिमडल के विचार का विषय होता था और उसका निर्णय अमात्य अथवा मन्त्री, जो सचिवो मे प्रधान होता था, राजा को सूचित कर दिया करता था। एक ऐसा ही निर्णय अमात्य इस प्रकार सूचित करता है—"अमात्य विज्ञापित करता है—विदर्भ के सबध मे जो कुछ करणीय है वह हमने अवधारित (निर्णीत) कर लिया है। अब हम उस सबध मे 'देव' (राजा) का विचार (अभिप्राय) जानना चाहते हैं।"[1] महत्त्व का विषय है कि अमात्य राजा को पहले मन्त्रिपरिषद का निर्धारित करणीय नही बताता, उसकी राय पहले पूछता है। और जब प्रतीहार द्वारा राजा अपना 'अभिप्राय' अमात्य को सूचित कर देता है तब अमात्य मन्त्रियो का निर्णय उद्घाटित करता हुआ कहता है—"देव का अभिप्राय समुचित है, यही दर्शन मन्त्रियो का भी है।"[2] 'दर्शन' शब्द लाक्षणिक है जिसका अर्थ है सामुदायिक वर्ग द्वारा प्रस्ताव रूप मे लिया हुआ निर्णय।[3]

[1]अमात्यो विज्ञापयति। विदर्भगतमनुष्ठेयमवधारितमस्माभिः। देवस्य तावदभिप्रेतं श्रोतुमिच्छामीति। मालविका., पृ. १०३। [2]कल्याणी देवस्य बुद्धिः। मन्त्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम्, वही। [3]सविस्तार विचार के लिए देखिए, इण्डिया इन कालिदास, पृ. १२३–२४।

निर्णयादि के लिए व्यवहार लिखकर ही हुआ करता था। 'शाकुन्तल' मे राजा प्रतीहार से कहता है—"मेरे नाम से अमात्य आर्य (सबोधन मे मत्री के प्रति राजा का आदर प्रकाशित है) पिशुन से कहो—बहुत जगे रहने के कारण धर्मासन पर बैठ सकना (न्यायार्थ) हमारे लिए आज सभव नही जान पड़ता, इससे नागरिको के जो 'वाद' (कार्य) आर्य ने देख-सुन लिये हो उन्हें पत्र पर चढ़ाकर भेज दे।"[1] अन्यत्र मत्री सूचित करता है—"वित्त (अर्थविभाग मे आये धन) की गणना मे अधिक व्यस्त हो जाने के कारण भी जो कुछ नागरिक कार्य देख पाया हू उसे पत्र पर चढ़ाकर भेज रहा हूं, उसे देव स्वय देखें।"[2] इससे मत्रियो की कार्यविधि का कुछ परिचय मिलेगा।

फाह्यान

फाह्यान और हुएन्त्साग ने क्रमश. गुप्त सम्राटो और हर्ष के साम्राज्यों मे भ्रमण कर उनके शासन के सबध मे भी कुछ विचार व्यक्त किये हैं। फाह्यान चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासन के विषय मे कहता है कि व्यक्तिगत कर वहा नही लगता। लोगो को घर-द्वार की रजिस्ट्री नही करानी पडती, न किसी के कही आने-जाने मे भी रोक टोक होती है। जो जहा चाहे जा सकता है, जहा चाहे ठहर सकता है। दण्ड कठोर बिलकुल नही है नरम है। किसी को प्राण दण्ड नही किया जाता शरीर का दण्ड प्रायः दिया ही नही जाता, अपराध के अनुसार भारी या हल्का, केवल जुरमाना कर दिया जाता है। हा, दोबारा राजद्रोह करने पर निश्चय, जहा सर्वत्र प्राणदण्ड दिया जाता है, यहा केवल दाहिना हाथ काट लिया जाता था। राज्य की आय खेतो की उपज से आती थी जिसका अश अन्न अथवा उसके मूल्य के रूप मे दिया जाता था। राज्य के अधिकारियो को वेतन मिलता था और बाजारो मे कौडिया चलती थी, लोग खुशहाल थे।[3] प्रकट है कि मौर्यों के मुकाबिले दण्ड विधान नरम हो गया था। समकालीन कवि कालिदास ने भी 'यथापराध दण्ड'[4] की प्रशसा की है। दण्ड कडा न होने पर भी प्रायः पन्द्रह वर्षों तक गुप्त साम्राज्य मे भ्रमण करते रहने पर भी कभी चोर-डाकुओ से फाह्यान का सामना न पडा, यह शासन की सुव्यवस्था और जनता के सद्भाव का ही परिणाम था। वरना दण्ड विधान कठिन रहने पर भी हर्ष के साम्राज्य में हुएन्त्साग दो-दो बार लूट गया

[1] मद्वचनादमात्यामार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधान्न सम्भावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति, शाकु., पृ. १९८।
[2] अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितम्। तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षी करोत्विति। वही, पृ. २१९। [3] बील का अनुवाद, १६, ३७। [4] रघु., १, ६

था और एक बार तो उसके प्राण देवता पर बलि चढ़ते-चढ़ते बचे थे ।

सेना आदि को वेतन दिया जाना कालिदास से भी सम्मत है,[१] जिसके लिए कौटिल्य[२] का भी अनुकूल विधान है । मौर्य काल मे भी सेना आदि को समुचित वेतन नियमित रूप से दिया जाता था । कौडियां बाजार मे निश्चय चलती रही होगी जिन्हें देख कर ही फाह्यान ने ऐसा लिखा होगा । पर इतनी मात्रा में गुप्तो द्वारा प्रचलित सोने-चादी के सिक्को—सुवर्ण, दीनार आदि—का उल्लेख न करना नि:सन्देह आश्चर्य का विषय बन जाता है ।

हुएन्त्साग

फाह्यान की ही भाति हुएन्त्साग ने भी प्राय चौदह साल तक भारत का भ्रमण किया था । उसका भ्रमणकाल ६३० और ६४४ ई. के बीच हर्ष के शासनकाल मे पडा और उसने शासनादि का भरपूर वर्णन किया है । उसके वृत्तात के अनुसार देश प्रायः सत्तर राज्यो मे विभक्त था । हर्ष के शासनविधान के सबध मे वह लिखता है कि परिवारो की न तो रजिस्ट्री होती थी और न व्यक्ति से बेगार लिया जाता था, कर साधारण लगता था, आय के उद्गम उपज के छठे भाग, घाटो की उतराई और सौदागर आदि थे ।[3] राजा विविध साम्प्रदायिको और विद्वानो को दान देता था ।[४] दान पर्याप्त मात्रा मे नालन्द के विद्यापीठ को भी दिया जाता था । लोग मित्रभाव से नगरो और गावो मे निवास करते थे और घातक अपराध कम होते थे ।[५] पर निश्चय राजपथ और देश की सडके डाकुओ से खाली न थी । हुएन्त्साग के कई बार लुट जाने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । हर्ष की दण्डनीति कडी थी, अपराधो के लिए, विशेषत राजद्रोह और कानून का उल्लघन करने का दण्ड आजीवन कैद थी । अपराधियो को समाज स्वय घृणा की दृष्टि से देखता था और उन्हे समाज का अग नही मानता था[६] माता-पिता के प्रति दुराचार करने या समाजविरोधी कार्य करने के लिए नाक, या एक कान, एक हाथ या एक पाव काट लिया जाता था या अपराधी को वन या दूसरे देश मे भेज दिया जाता था ।[७] कुछ साधारण अपराधो का दण्ड जुरमाना था । अग्निपरीक्षा द्वारा, जल मे डुबोकर, टागकर अथवा विष दान द्वारा भी अपराधी का साक्ष्य लिया जाता था ।[८] स्थिति निश्चय गुप्तकालीन उदार जीवन से भिन्न थी ।

[१]रघु., १७, ६६; मालविका., पृ. १७; वही, पृ. ८७। [२]अर्थशास्त्र, ५, ३ । [3]वाटर्स का अनुवाद, पृ. १७६ । [४]वही । [५]वही, पृ. १७१ । [६]वही, पृ. १७२ । [७]वही । [८]१० वही ।

२. दक्षिण भारत की शासन पद्धति

वाकाटक

दक्षिण के उत्तरी भाग तीसरी से छठी सदी और पीछे तक वाकाटको और बाद मे चालुक्यो के हाथ मे रहे। वाकाटको और गुप्तो के शासन मे कुछ विशेष अन्तर न था। प्रवरसेन प्रथम अपने को 'धर्ममहाराज' और 'सम्राट्' कहता था। वाकाटक रानी को अपने पुत्र की अल्पायु मे अभिभाविका बनने का अधिकार था। प्रभावती गुप्ता ने अपने अल्पवयस्क पुत्र की अभिभाविका बनकर कुछ काल तक साम्राज्य पर राज किया। इनका सेनापति ही इनके दानपत्र आदि लिखा करता था। इनके अधिकारियो मे सबसे ऊचा 'राज्याधिकृत' कहलाता था। इन्होने भूमि आदि की पैमाइश के लिए अपना माप चलाया था ।

चालुक्य

चालुक्यो के नरेश 'महाराज', 'परमेश्वर', 'राजाधिराज परमेश्वर' अथवा 'महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक' तक के शालीन विरुद धारण करते थे। उनके भी अनेक पदाधिकारी गुप्तो की ही भाति महासान्धिविग्रहिक, विषयपति आदि थे। गाव का उनका मुखिया 'ग्रामकटु' कहलाता था और गाव के वृद्धो की सभा 'महत्तराधिकारी' कहलाती थी। प्रजा के लिए उनके यहा प्राचीन ग्रंथो के 'प्रकृति' शब्द का प्रचलन था। एक दानपत्र मे 'महाजनों' और 'नगरो' (नागरिको ?) के साथ 'अठारह प्रकृतियो' का उल्लेख हुआ है।

पल्लव

पल्लव राजाओ मे से अनेक अपने को ब्राह्मण वाकाटको की ही भाति 'धर्ममहाराज' अथवा 'धर्ममहाराजाधिराज' कहते थे। राजा के बाद का प्रधान राज्याधिकारी युवराज होता था जो 'युवमहाराज' कहलाता था। उसकी पत्नी युवरानी को भी भूमि आदि दान करने और उस सबध मे राजपुरुषो को आदेश जारी करने का अधिकार था। राज्य के अन्य अधिकारियो मे प्रधान 'महादण्डनायक' (मुख्य सेनापति) था जिस नाम का उपयोग शालकायन नृपतियो ने भी किया था। अन्य पदाधिकारी 'देशाधिपति', 'विषयपति', 'आयुक्तक', 'विषयमहत्तर' (विष्णुकुण्डी राजाओ मे), 'राजपुरुष', 'अधिकारपुरुष' आदि थे। प्रारभिक पल्लवो के अभिलेखो मे 'अधिकृतो', 'आयुक्तो', 'अध्यक्षों', 'शासनसंचारियों' (सूचना वाहकों) और 'नैयोगिकों'

के नाम मिलते हैं। राजा की सहायता एक मन्त्रि मंडल करता था जिन्हें 'रहस्यादिकद' कहा गया है। राजा का आदेश उसका निजी सचिव उसे प्रचारित करने से पहले लिख लेता था। मौर्य शासन की ही भांति पल्लवो मे भी उच्चावच क्रम से पदाधिकारियो की नियुक्ति होती थी। उनके अभिलेखो मे राजकुमार, रट्टिक (जिलाधिकारी), मदम्ब (जकात अफसर), देशाधिकर (स्थानीय अधिकारी), गामभोजक (गाव के माफीदार), अमच्च, अमात्य, मन्त्री (अरखदिकत रक्षक), गूमिक, (चरो), कप्तान अथवा वनपाल, दूतिक (सूचना वाहक), सजरन्तको और भडमनुषो (योद्धाओ) का उल्लेख हुआ है।

पल्लवो का साम्राज्य राष्ट्रो अथवा मण्डलो मे बटा था, जिनके शासन के लिए राजकुलीय अथवा अभिजात नियुक्त होते थे। कोट्टम् और नाडु छोटे ताल्लुके थे जिनके अलग अलग अधिकारी थे। ग्राम शासन का सबसे निचला आधार था जिसकी शासन-व्यवस्था पिछले पल्लवो के समय विविध विभागो के लिए चुनी सभाएँ करने लगी। कर ग्रहण बडे पैमाने पर होता था और राजा अटारह प्रकार के कर वसूलता था। पल्लवो का शासन अत्यन्त व्यवस्थित था।

३. न्याय और व्यवहार

इसी शासन-प्रसग मे न्यायव्यवस्था और व्यवहार के सैद्धातिक रूप पर एक नजर डाल लेना उचित होगा। इस काल की प्रधान स्मृतिया बृहस्पति, नारद और कात्यायन की है, जिनमे से केवल नारद स्मृति समूची आज उपलब्ध है।

न्यायालय

राजा का सर्वोच्च न्यायालय 'सभा', 'धर्मस्थान' अथवा 'धर्माधिकरण' कहलाता था। कात्यायन राजा को नीतिविशारद मन्त्रियो, न्यायाधीशो, विद्वान् ब्राह्मणो, पचो आदि के साथ विवाद का निर्णय करने की सलाह देते है। बृहस्पति ने सभा के राजा, न्यायाधीश, लेखापाल, पंच, कायस्थ आदि दस सदस्य बताये हैं। कात्यायन नैगमो अथवा श्रेष्ठियो को भी न्याय से सयुक्त किया है। नारद का वक्तव्य है कि न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध राजा भी नही जा सकता। कात्यायन ने न्याय का निर्णय करनेवाले सभासदो को निरालस, निर्भय होकर और ईमानदारी से न्याय करने पर जोर दिया है। उसके अनुसार उनको दण्ड के दोष का भागी नही होना पडता। बृहस्पति ने राज्य के न्यायालय के चार भाग किये हैं, (१) एक ही स्थान मे स्थित, (२) भ्रमणशील, (३) राजा द्वारा नियुक्त जो राजमुद्राक का उपयोग करते हैं, और (४) स्वय राजा। नारद ने नीचे के क्रम से ऊपर उठने वालो के नाम इस प्रकार दिये हैं—

कुल (ग्रामसभा), श्रेणी (संघ), गण, राजा द्वारा नियुक्त और स्वयं राजा।[1]

व्यवहार

व्यवहार—न्याय की विधि—के, नारद के अनुसार, चार उत्तरोत्तर स्थितिया थी—(१) व्यक्ति द्वारा सूचना पाना; (२) यह प्रयत्न करना कि सूचना विधि (कानून) के किस अग का विषय है; (३) दोनों पक्षों के वक्तव्य और प्रमाण, साक्ष्यआदि, और (४) न्याय-निर्णय। इसी को बृहस्पति ने इस प्रकार रखा है—वाद, प्रतिवाद (विपक्ष का उत्तर), प्रतिवादी का ग्रहण अथवा बन्धन, प्रमाण-साक्ष्य और निर्णय। वादी पहले वाद लाता था, फिर न्यायाधीश वाद और हानि को पूछकर समझता था, और वादी को लिखित और मुद्रित निर्णय देता अथवा यदि वाद को विचार के उपयुक्त समझता तो प्रतिवादी को बुलाने के लिए 'समन' द्वारा आज्ञा घोषित करता। जो वादपत्र स्पष्ट नही होता था या विधि के अनेक अधिकारो को संयुक्त कर लेता था, अथवा समाज-विरोधी होता था वह खारिज कर दिया जाता था। समन लेने से इनकार करना या लेकर अदालत मे उपस्थित न होना अपराध माना जाता था और अपराधी जुरमाने से दण्डित होता था। फिर भी इसमे अपवाद होते थे और उचित कारणवश प्रतिवादी समन की अवहेलना कर सकता था। कात्यायन के अनुसार, कुछ अपराधो या मुकदमो मे प्रतिवादी का प्रतिनिधान उसका सबधी या प्रतिनिधि न्यायालय मे उपस्थित होकर करता था। परन्तु गम्भीर वादो अथवा अपराधो के लिए प्रतिनिधान स्वीकृत नही किया जाता था। अदालत मुकदमे के आरम्भ मे दोनो पक्षो की जमानत कराती थी। साधारण वाद का उत्तर शीघ्र देना पडता था परन्तु कुछ स्थितियो मे प्रतिवादी को जवाब-देही करने के लिए कुछ समय मिल जाता था। प्रतिवाद अथवा जवाबदेही चार प्रकार की होती थी—स्वीकरण, प्रत्याख्यान, विशेष अभिकथन और पूर्व निर्णय संबधी अभि-कथन। कात्यायन का कहना है कि इनके अतिरिक्त वाद की बोधहीनता, आत्मविरोधिता या अपूर्णता भी उसे खारिज कर देने के लिए कारण हो सकती थी। प्रमाण, प्रति-वाद होने पर, वादी को और विशेष अभिकथन अथवा पूर्व निर्णय का आश्रय लेने पर प्रतिवादी को प्रस्तुत करने पडते थे। प्रमाण दो प्रकार के माने जाते थे, मानवीय और दैवी। मानवीय प्रमाण साक्षियो, पत्रो और कब्जा द्वारा दिया जाता था और दैवी अग्नि, जलपरीक्षा आदि द्वारा। नारद और कात्यायन का मत है कि दैवी प्रमाणो या साक्ष्य का उपयोग तभी होना चाहिए जब कोई मानवीय प्रमाण प्रस्तुत न हो सके। निर्णय 'जय-

[1]द क्लासिकल एज, पृ. ३६४—६५।

पत्र' अथवा 'पश्चात्कार' द्वारा दिया जाता था। पश्चात्कार प्रकार का निर्णय राजा को अपने हाथों लिखना होता था (अथवा उसके हस्ताक्षर से संयुक्त होता था) और न्यायालय के सभ्य उस पर हस्ताक्षर करते थे।[1]

व्यवहार और दण्डविधि

व्यवहार–विधि और दण्डविधि मे धर्मशास्त्र और परम्परा (रूढि) प्रमाण माने जाते थे। देश मे रूढी भूत प्रथा, जो लोकसम्मत हो और वेद-शास्त्र विरोधी न हो, उसे राजा की मुहर के साथ लिख लेना चाहिये। कात्यायन का कहना है कि अदालती (न्यायिक) व्यवहार के लिए दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है; हानि और देय का भुगतान न होना। ये दोनो व्यवहार को व्यवहार-विधि (सिविल) और दण्ड विधि (क्रिमिनल) दो भागों मे बांट देते हैं। वादों के विषय, विशेष कर उत्तराधिकार, दुर्वचन, आक्रमण, चौर्य (चोरी), स्त्रीधन और हिंसा (बल प्रयोग) संबंधी थे। गुप्तकालीन विधिविचार मे सबसे महत्त्व का परिवर्तन उत्तराधिकार में पुत्रहीन पति की संपत्ति का अधिकार विधवा को मिलना था। याज्ञवल्क्य और विष्णु की स्मृतियो ने पुरानी स्मृतियो के विपरीत उसे स्पष्टत स्वीकार किया है। नारद के विपरीत कात्यायन और बृहस्पति पुत्रहीन पति की विधवा को पति के मरते ही उत्तराधिकार देते हैं, उसके बाद कुमारी कन्याओ, फिर विवाहिता पुत्रियो को, पश्चात् क्रमशः पिता, माता, भ्राता और भ्रातृपुत्रो को।[2]

दण्ट-विधि

स्त्रीधन संबधी विधि का व्यावहारिक विधान सबसे प्रामाणिक और आधिकारिक कात्यायन ने किया है। पहले छ प्रकार के स्त्रीधन माने गये थे—अध्यग्नि (विवाह के समय का), अध्यावाहनिक (विवाहोपरान्त का), प्रीतिदत्त (स्नेहोपहार), भ्रातृदत्त, मातृदत्त और पितृदत्त। कात्यायन ने स्त्रीधन उस धन को भी माना है जो विवाह के मूल्य (शुल्क) मे मिलता है, विवाह के बाद पति अथवा वधू के पिता–माता से प्राप्त होनेवाला है अन्वाधेय, अथवा वह जो विवाहिता ने पति के घर मे अथवा कन्या ने पिता के घर मे पाया है (सौदायिक)। कात्यायन ने दो हजार तक का (चांदी के रुपये) धन तो स्वीकार किया है पर अचल संपत्ति स्वीकार नही की। उसके शिल्पकार्य से प्राप्त द्रव्य पर अधिकार भी वे पति का ही मानते हैं। स्त्रीधन पर पति, पुत्र, पिता,

[1] द क्लासिकल एज। [2] वही, पृ. ३६६।

माता किसी का अधिकार नहीं होता। स्त्रीधन पर पहला अधिकार कन्याओं का होता है। फिर पति अथवा पिता आदि का।[1]

स्त्रीधन

स्मृतियों में दण्ड विधि का विशेष विधान हुआ है। अनेक बार समूची राजनीति का पर्याय ही दण्डनीति मानी गयी है। दुर्वचन और मानहानि का विवेचन नारद तथा कात्यायन ने 'वाक्पारुष्य' शीर्षक के अतर्गत किया है। उन्होंने इसके तीन भेद, निष्ठुर अश्लील और तीव्र (निर्दय) किये हैं। इनका दण्ड अपराध की गुरुता अथवा पक्षों के वर्णों की दृष्टि से अधिक अथवा कम अर्थदण्ड (जुरमाने) द्वारा दिया जाता था। दण्डपारुष्य (आक्रमण) केवल किसी पर चोट करना अथवा उसके किसी अग को हानि पहुचाना ही नही था बल्कि उस पर गलीज फेंकना भी था। इसका दण्ड भी अपराध की गुरुता और पक्षों के वर्ण पर निर्भर रहता था। पशु नष्ट करने पर पशु देना पड़ता था। चोरी दो प्रकार की मानी गयी है—सौदागरी मे बाट-तौल गलत रखना, गलत माल बेचना, जादू अथवा भविष्यवाणी आदि से जीविका चलाना। कात्यायन इसी वर्ग मे कर्म-काण्ड सही तौर से न जानने वाले पुरोहितो और गलत पढ़ाने वाले शिक्षको को भी गिनते है। दूसरे प्रकार की चोरी वह है जो दूसरे की दृष्टि बचाकर या सेंध आदि मारकर की जाय। चोरी की क्षति राजा अथवा उसके अधिकारियों द्वारा पूरा करने का विधान हुआ है। 'साहस' को चोरी से, हिंसा के कारण, अलग किया गया है। नारद और बृहस्पति उसके तीन प्रकार मानते हैं—कृषि-सहायक वस्तुओ, हल आदि और पौधो को नष्ट करना; भोजन, वस्त्रादि नष्ट करना, वध करना, विष देना, अथवा दूसरे की पत्नी से बलात्कार करना। कात्यायन ने इन्ही मे मूर्तियो, मन्दिरो, रत्नों, नगर-प्राकारो का नाश करना अथवा जलधाराओ को दूषित करना भी माना है। इनका दण्ड वर्णों के अनुपात से भी पर्याप्त भारी था। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के दण्डो का भी कात्यायन ने उल्लेख किया है, जैसे न्यायालय मे पूछने पर गवाह का उत्तर न देना, साक्षी होकर भी साक्ष्य न देना, झूठे गवाह लाना, इन सबके अलग अलग दण्ड निर्धारित थे। जज और असेसर (परामर्शक) का किसी पक्ष से मिल जाना अथवा परामर्शक का बिना समझे बूझे राय देना, आदि सभी दण्डनीय थे।[2]

[1]द क्लासिकल एज, पृ. ३६६–६७। [2]वही, पृ. ३६७–६९।

अध्याय ११

धर्म और दर्शन—ब्राह्मण

गुप्तकाल धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे भी एक नया युग लेकर उपस्थित हुआ। नये देवता, नये विश्वास, उनके सबध का नया जीवन्त रोमांचक—लोमहर्षक साहित्य इस नवयुग की देन थे। वैदिक साहित्य मे लोगो का विश्वास बना था, इसका उल्लेख भी बडी आस्था और श्रद्धा से होता था। पर उसके जानकार अब कम रह गये थे, उसका अध्ययन नि सन्देह अब स्वाभाविक अथवा सरल न था। भाषा में इतना परिवर्तन हो गया था कि गुप्तकालीन सस्कृत का जानकार बिना विशेष प्रकार से अध्ययन किये वैदिक भाषा अथवा साहित्य—ब्राह्मण आरण्यक आदि—समझ नहीं सकता था। स्वाभाविक भी था, क्योकि जब उत्तर वैदिककाल मे ही वैदिक भाषा के दुरूह हो जाने से वेदागो और निरुक्त-निघण्टुओ की आवश्यकता पड गयी थी तब उस काल से तो गुप्त-युग प्राय हजार साल दूर था। इससे जो वैदिक विषयो के विशेषज्ञ होना चाहते थे केवल वे ही वेद पढते—पढाते थे, अथवा वे श्रोत्रिय साम और यजुर्वेद पढते—पढाते थे जिन्हें कर्मकाण्डो मे दक्षता प्राप्त करने की आवश्यकता पडती थी।

और ऐसी दक्षता की आवश्यकता एक विशेष कारण से पड भी गयी थी। वह विशेष कारण था वैदिक यज्ञों के अनुष्ठानो की प्रचुरता। वैदिक सभी यज्ञ तो उस काल नही होते थे, परन्तु शुगो के विशिष्ट ब्राह्मण काल मे पुष्यमित्र ने जो अश्वमेध का आरम्भ किया तो भारशिव, वाकाटक और विशेष कर गुप्तकाल मे तो उसकी बाढ सी आ गयी। भारशिव नागो ने तो पीठ पर शिवलिंग धारण कर जैसे अश्वमेध के अनुष्ठान की शपथ खाली थी। दस-दस अश्वमेध उन्होने किये और प्रत्येक अश्वमेध के बाद जो अवभृथ स्नान विश्वनाथ के मन्दिर के पास काशी के घाट पर किया तो उस घाट का नाम ही 'दशाश्वमेध' पड गया। स्वय गुप्त सम्राटो ने अनेक बार अश्वमेध किये, यज्ञ के घोडे की मूर्ति तक कोरकर खडी की, उसके स्मारक मे सिक्के भी चलाये, उन सिक्को पर मेध्य अश्व की आकृति भी खडी उभारी। दक्षिण के पल्लवादि 'धर्मराजो' और' धर्ममहाराजाधि-राजो' ने अश्वमेध की परपरा ही बांध दी। वस्तुत: इस काल कुछ ऐसा माना जाने लगा कि गद्दी पर बैठते ही राजा का पहला कर्तव्य दिग्विजय होना चाहिए, जिसको सिद्धात रूप मे उस काल के कवि कालिदास ने अपने सार्थक वाक्याश—'अनधिगतस्य अधिगताय'—

अप्राप्त की प्राप्ति के लिए—द्वारा अभिव्यक्त किया। उस दिग्विजय अथवा अप्राप्त की प्राप्ति का प्रतीक यह अश्वमेध ही था। वैदिक काल की अनुष्ठान क्रियाओं में सबसे विशिष्ट यह अश्वमेध था अथवा कुछ अन्य यज्ञ थे, और संस्कार थे जिनका महत्त्व दिन दिन कम होता जा रहा था। उन पर हम प्रसगानुसार विचार करेंगे।

बात यह थी कि जब वैदिक देवता अस्त ही हो गये तब उनके सबध के साहित्य का, उनके स्तुतिपरक मन्त्रों—सूक्तो का, एक ऐसी भाषा मे जिसे कोई नही (विशेषज्ञो से भिन्न) समझ पाता था, अध्ययन कौन करे। इन्द्र, वरुण, सूर्य, सोम, अग्नि, नासत्य, मरुत्, पर्जन्य, उषा, अदिति, शची-पौलोमी आदि अब पुराने हो चुके थे, ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने उनका अब ब्राह्मण धर्म मे (बौद्धो-जैनो के धर्मों मे बुद्ध, बोधिसत्त्वो और विभिन्न तीर्थकरो ने) स्थान ले लिया था, और जब-तब उनका मूर्तन होता भी था तो अधिकतर उन्ही के पार्श्वचरो, चमरधारियो, पूजार्थियो के रूप मे। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति अब विशेष महिमावान् थी यद्यपि इनमें भी ब्रह्मा का महत्त्व विशेष न था। वे जगत् के स्रष्टा तो अवश्य माने जाते थे पर उनकी विधिवत् उपासना नही के बराबर हुई, फलत ब्रह्मा की मूर्तिया भी उस काल कम ही बनी और उसी अनुपात मे ब्रह्मा के मन्दिर भी कम खडे हुए। वस्तुत महत्त्व तो विष्णु और शिव का बढा और वे ही सर्वत्र पूजे जाने लगे, उन्ही की मूर्तिया और मन्दिर बनने लगे। तीनों देवताओं मे ब्रह्मा सृष्टि के जनक, विष्णु उसके पालनहार और शिव उसके सहारक माने जाने लगे। इस दृष्टि से भी इनकी पारस्परिक शालीनता का पता लगता है। जनक का महत्त्व शिशु को ससार में लाने मे निश्चय है पर अधिक महत्त्व उसका है जो यावज्जीवन उसका पालन-पोषण करे, उसकी क्षुधा का निवारण कर उसे ऐश्वर्यवान् बनाये, या उसका जिसके कोप मे सहार का भय हो। विष्णु और शिव का ऐश्वर्य इसी मे अधिक बढा। विष्णु के तो दस से चौबीस अवतारो से देवताओ के ससार अथवा आकाश के परिवेश मे उनका व्यापक साका चला और सहार के भय मे शिव कल्याण के सिरजनहार हो गये। लोक और साहित्य मे इन्ही दोनो की महिमा बढी, पूजा होने लगी, स्तोत्र रचे जाने लगे। इन्द्रादि देवता भी दैत्यो के पराभव से इन्ही की शरण जाने लगे, अपनी रक्षा और असुरो के नाश के लिए इन्ही की स्तुति करने लगे। और ये ही कभी राम, कृष्ण के रूप मे, कभी त्रिपुरारिकुमार के रूप मे रावण, कस का, त्रिपुर, तारक का विनाश करने लगे। देवताओ का राजा इन्द्र बना रहा, पर विष्णु और शिव देवताओ और उनके अधिपति इन्द्र दोनो से अतीत, दोनों से ऊपर जा विराजे। इन्द्र और चन्द्र आदि मानवों के स्तर पर उतर गौतम, बृहस्पति आदि को छलने, उनकी पत्नियो की लाज लूटने लगे, पर विष्णु और शिव का सांनिध्य ऐसी घटनाओ मे सोचा भी नही जा सका। उलटे विष्णु ने इन्द्र के अप-

चार से पीड़ित अहल्या को तारा ही। सो अब महिमा वेदो के देवताओं-देवियों के स्थान पर पुराणों के देवताओं-देवियों पर प्रतिष्ठित हुई।

इन नये देवताओ-देवियो का साहित्य पुराण थे जिनकी रचना और पठन-पाठन विशेष आस्था से गुप्तकाल मे होने लगा। इन्ही देवताओं के नाम पर पुराणों के नामकरण भी हुए। यह कुछ कम आश्चर्य की बात नही कि इन्द्र के नाम के साथ कोई पुराण संलग्न नही। इस काल दर्शन के अतिरिक्त विशेष कर दो प्रकार के साहित्य का उदय हुआ। एक तो पुराणो का, जिनमें इन देवताओ के चरित गाये गये, दूसरे ललित साहित्य का, जिसमें इनके मानवोचित गुणो का मधुर विन्यास हुआ। दोनो का हम अन्यत्र सविस्तर उल्लेख कर चुके हैं।

विष्णु

पुराणों मे विष्णु और शिव के अनेक रूप से चरित लिखे गये। उन्ही के नाम से अनेक पुराणो के नाम भी पडे। शिव के अतिरिक्त उनके पुत्रादि के नाम तो पुराणो से सयुक्त हुए ही, विष्णु के तो वाहन गरुड तक के नाम से एक लघु पुराण भी जाना गया। विष्णु आरम्भ मे, ऋग्वेद की देवपरम्परा मे, सूर्य ही था, परन्तु पुराणो मे उनका सस्कार कर उन्हें द्विजन्मा बना दिया गया और उनकी शक्ति निःसीम कर दी गयी। विशेषत पुराणो ने उन्हे उनके विविध चरितों से सयुक्त विविध नाम दिये—हरि, पुरुषोत्तम, त्रिविक्रम, पुण्डरीकाक्ष, पुराण पुरुष, कवि, परमेष्ठी, शार्ङ्गी, महावराह, अच्युत, मधुसूदन, चक्रधर, भगवान् आदि। ये सारे नाम कालिदास ने भी प्रयुक्त किये। और वस्तुत विष्णु के नामो की संख्या तो हजार तक पहुच गयी। 'विष्णु-सहस्रनाम' के पश्चात्कालीन स्तोत्र मे उनके सहस्र नामो की गणना हुई। वैदिक सूक्ष्म सकेतों का पुराणो ने उपबर्हण किया। ऋग्वेद मे विष्णु के, सूर्य की भांति, आकाश मे तीन डग भरने (विक्रम)[१] का उल्लेख हुआ और पुराणो ने वामनावतार के चरित मे उनके आकाश, पृथ्वी और पाताल को तीन डगो मे नाप लेने की लोकप्रिय कथा कह डाली। ऋग्वेद में विष्णु का अस्त्र सूर्य की भाति गोल घूमता एक मेघचक्र है[२] जो पुराणो मे विष्णु के प्रधान सम्पूर्ण अवतार कृष्ण का एकमात्र अस्त्र बन गया है। विष्णु के वाहन गरुत्मान् अथवा 'सुपर्ण' का उल्लेख ऋग्वेद मे भी हुआ है पर पुराणो मे वह स्वयं शक्तिमान् महामहिम देव है जो नागो का शत्रु और सहारक है और उसका वेग अपरिमेय है। ब्राह्मण ग्रथों मे ही विष्णु के अवतारों की ओर सकेत किया जा चुका है जहा वह वामन का रूप धारण

[१]ऋग्वेद, ७, ९९, २। [२]वही, ५, ६३, ४।

करता है, असुरो से पृथ्वी का उद्धार करता है। पर पुराण तो विष्णु के विविध अवतारों की क्रीड़ाभूमि हैं। हम अवतारो का उल्लेख अन्यत्र करेंगे।

रूप और ऐश्वर्य

पुराणों और कालिदास की दी हुई विष्णु की स्तुति के विश्लेषण से, जो विष्णु की मूर्तियो से प्रमाणित है, उसका निम्नलिखित रूप प्रकट होता है। सागर के तल मे वह शेष के सहस्र फणो की शय्या[१] पर विश्राम करता है, उसके लबायमान चरण पद्म पर बैठी[२] लक्ष्मी की गोद मे विराजते है। उसके चार भुजाएँ होती हैं और अपने करों में वह शख, चक्र, गदा और पद्म धारण करता है। उसके वक्ष पर कौस्तुभ[३] नाम की मणि शोभती है और समीप ही उसका वाहन गरुड[४] सेवा के लिए उत्सुक खड़ा रहता है। वाणी और मन दोनो से वह परे है।[५] स्तुतियों मे वह ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनो के कार्य स्वायत्त कर लेता है—आरम्भ में ब्रह्मांड का सर्जन करता है, मध्य मे उसे धारण करता है, अन्त मे उसका क्षय कर देता है।[६] जिस प्रकार वर्षा का जल पहले एक ही स्वाद का होकर विविध भूमियो मे विविध स्वाद ग्रहण कर लेता है, वैसे ही वह अपरिवर्तनशील विष्णु सत्त्व, रज, तम के गुणो से सयुक्त होकर विविध दशाओ मे प्रकट होता है। स्वय अपरिमेय होकर भी वह लोको के परिमाण स्थिर करता है, स्वय सारी कामनाओ से विरहित वह दूसरो की सभी कामना पूरी करता है। स्वय अजेय होकर भी वह सबका जेता है, स्वय अव्यक्त पर समूचे व्यक्त जगत् का कारण है। ऋषि उसे हृदयस्थ पाकर भी दूर, निष्काम होकर भी तपस्वी, दयालु पर स्वयं दुःख से अछूता, प्राचीन होते हुए भी उसे अजर (जरा से रहित) घोषित करते हैं। स्वयं वह सर्वज्ञ है पर दूसरो का अजाना है, सबका स्रष्टा होकर भी वह अपने आप उत्पन्न होता है (उसका कोई अन्य कर्ता नही), सबका स्वामी होकर भी स्वय उसका कोई स्वामी नही, अकेला रहता हुआ भी वह सारे रूप धारण करता है।-'सामवेद' के सातो छन्दो मे उसकी कथा गायी गयी है, सातो सागरो मे वह सोता है, सातो अग्नियो को वह मुह मे धारण करता है, सातो लोको का वह शरण है। उसी विष्णु के चतुर्मुख ब्रह्मा रूप से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष देनेवाले ज्ञान की, सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग वाली चार काल-दशाओ की, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इस चतुर्वर्ण लोक की सृष्टि हुई है। मुक्ति के अर्थ अभ्यास द्वारा वशीकृत मन से हृदय मे स्थित उसकी ज्योति का योगी ध्यान करते है। वह तटस्थ होकर भी

[१]रघु., १०, ७। [२]वही, ८। [३]वही, ६, ४६; १०, १०। [४]वही, १०, १३। [५]वही, १५। [६]वही, १६।

अवतार लेकर इन्द्रिय-विषयो को भोगने, दुश्चर तप तपने और सृष्टि की रक्षा में समर्थ है। अजन्मा होकर भी वह (अवतारों के रूप में) जन्म लेता है, अकर्मा होकर भी वह शत्रुओ का नाश करता है, सोता हुआ भी वह सतत जागरूक रहता है। आगमों मे बताये सिद्धि के सारे मार्ग उसी मे जाकर समाप्त होते है जैसे गगा आदि की सारी धाराएँ सागर मे जा गिरती है। उसी मे ध्यान स्थापित कर, सारे कर्मों को उसी मे समर्पित कर जो वीतराग लोग बन्धनमुक्त होने के प्रयत्न करते हैं उनकी गति वही विष्णु है। पृथ्वी आदि में समाहित उसकी महिमा यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाणो से ज्ञात है, वह सर्वथा अकथनीय है, केवल अनुमान और वेदो के प्रमाण मे अनुमित होता है। वह स्मरण करते ही स्मरण करने वाले को पवित्र कर देता है, केवल उसी से इच्छित फल का लाभ हो जाता है। जैसे सागर के रत्न सूर्य की किरणो से परे है वैसे ही वह भी वाणी और मन से परे, सारी स्तुतियो से परे है। उसके लिए कुछ भी अलभ्य नही, मात्र मनुष्यो पर कृपा करके ही वह मनुष्य रूप में जन्म ले कर्म करता है। उस प्रथम, पुरातन कवि द्वारा सही स्थानों से उच्चरित वर्णों की वाणी इस प्रकार सस्कारपूत हो चरितार्थ हुई।[1] विष्णु की महिमा तिर्यक् है, तीनो ओर झुकी हुई, तीनो लोकों को नापने वाली, त्रिविक्रम, सर्वत्र व्यापक है।[2] त्रिविक्रम वामन विष्णु जब आकाश मे तीनो लोको को नापते हुए डग भरता है तब उसकी सज्ञा 'नारायण' होती है। विष्णु शब्द में ही व्यापकता का भाव सनिहित है, वह विष्णु इसी कारण है कि आकाशादि मे व्याप्त है, इसी से उसका आकाशवत् नील-श्याम वर्ण भी है।

अवतार

विष्णु के मनुष्यादि रूप मे अवतार लेने का (वामन, वराह) सकेत तो प्राचीनतर वैदिक साहित्य मे ही मिल जाता है पर उसका सविस्तार सिद्धान्त कृष्ण द्वारा भगवद्गीता मे घोषित किया गया है, जिसमे स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि जब जब धर्म का पराभव होता है, अधर्म का उत्थान होता है, तब तब कृष्ण जन्म लेकर दुष्टों का सहार कर धर्म और सज्जनों की रक्षा और पृथ्वी का भार हरण करते है। अवतारवाद का पहली बार यह सैद्धान्तिक दार्शनिक निरूपण स्वयं अवतार कृष्ण द्वारा गीता के दसवे और ग्यारहवे अध्यायो मे हुआ है। दसवें में कृष्ण ने सभी समुन्नत वस्तुओ और विषयो से अपनी एकता स्थापित कर ग्यारहवे मे अपना विराट विश्वरूप दिखाया, फिर चतुर्भुज प्रकट किया है और बार बार जन्म लेने की क्रिया की बात कही है। उसी ग्रथ मे आत्मा

[1] रघु., १०, १३—३६। [2] कुमार., ६, ७१।

के आवागमन और अविक्रिय होकर भी बार बार जन्म लेने के सिद्धांत के निरूपण के बाद यह विष्णु का जन्म रूप में अवतरण विशेष अर्थ वाला कहा गया है। अवतारों की संख्या पहले दस थी जो पीछे बढ़कर चौबीस हो गयी। दस अवतारों में गणना मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिह, वामन, राम, परशुराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि की की जाती है। इनमे से मत्स्य, कूर्म, वराह और वामन का उल्लेख, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, 'शतपथ' आदि ब्राह्मणों मे हुआ है। नृसिंहावतार तैत्तिरीय आरण्यक में कथा रूप मे कथित है। इन अवतारों में से अनेक की पूजा गुप्तकाल में होती थी। दूसरी सदी ईसवी और छठी—सातवी सदी के बीच के अनेक अभिलेखो मे इस अवतारपूजा के प्रमाण मिलते हैं। दूसरी सदी के एक अभिलेख मे परशुराम की पूजा का उल्लेख हुआ है।[1] यद्यपि यह कह सकना कठिन है कि उस काल तक अभी वे अवतार माने जा चुके थे या नही। लेख नासिक मे शक ऋषभदत्त का है। उसमे शूर्पारक के पास के रामतीर्थ (परशुराम के स्थान) का उल्लेख हुआ है। कालिदास ने तो 'रघुवश' मे रामजन्म पर राम के विष्णु रूप का वैभव गाया ही है (जिसके अवतरण ऊपर सविस्तर दिये जा चुके है), चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री और वाकाटक साम्राज्ञी प्रभावती गुप्ता, जो अपने को 'अत्यन्त भगवद्भक्ता' कहती है, 'रामगिरि स्वामी', 'मेघदूत' के रामगिरि (रामटेक) के राम की भक्त है। 'विष्णुगोप' कृष्ण, जिसका उल्लेख कालिदास ने 'मेघदूत' मे किया है, की पूजा चौथी सदी ईसवी के पल्लव राजाओ मे बहुत प्रचलित थी। अफसद अभिलेख मे 'वसुदेवपुत्र माधव' के चरणो की लक्ष्मी द्वारा सेवा की बात कही गयी है। स्वय स्कन्दगुप्त के जूनागढ वाले लेख मे वामनरूप विष्णु द्वारा बलि से लक्ष्मी के छल से हर लेने की बात लिखी है। पाचवी सदी मे अनतवर्मा ने बराबर पर्वत की गुहा मे कृष्ण की मूर्ति स्थापित की थी। हूणराज तोरमाण के समय (ल ५०० ई) की एक वराहमूर्ति एरण से प्राप्त हुई है जिसमे 'वराहरूप नारायण' के मन्दिर के निर्माण का उल्लेख हुआ है। बुधगुप्त के दामोदरपुर के अभिलेख मे प्रकट है कि कौशिकी और कोका नदियो के सगम (नेपाल) पर वराहक्षेत्र मे हिमालय के शिखर पर श्वेत वराह स्वामी और कोकामुख स्वामी के मन्दिर बने थे। वराहक्षेत्र मे प्राय उसी काल दामोदरपुर (जिला दीनाजपुर, बगाल) के पास इन्ही दो देवताओ के लिए मन्दिर बने। कदम्ब राजकुल के छठी सदी ईसवी के तगारे के अभिलेख मे वराहावतार का जिक्र है। पूर्वी चालुक्यो के तो राजकुल का चिह्न ही वराह था। अधिकतर चालुक्य अभिलेखो का आरम्भ वराह की वन्दना से होता है।[2] महावराह की सबसे तेजस्वी मूर्ति पृथ्वी की रक्षा करते हुए उदयगिरि की गुहा मे दीवार पर विशालकाय उभारी हुई है। पृथ्वी की नारी

[1] (११६—२४ ई.)। [2] द क्लासिकल एज, पृ. ४२२—२३।

मूर्ति अति लघुकाय उसके दांत से लटकी हुई है। मूर्ति चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की है जो कालिदास के उल्लेख—'भुवा, महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्तः'[1]—को चरितार्थ करती है।

गुप्त नृपति वैष्णव थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 'परम भागवत' विरुद धारण किया था। उस राजकुल के अनेक नरेशों के विरुद 'परम भागवत' और 'परम वैष्णव' थे। समुद्रगुप्त के लिए इस विरुद का उपयोग तो नहीं हुआ है पर उसने अपनी सेना का ध्वज गरुड़ की आकृति से लांछित किया था जिससे वह 'गरुडध्वज' कहलाता था। समुद्रगुप्त के शासन (फरमान) पर जो मुहर (मुद्रा) लगती थी उसे 'गरुत्मदंक', गरुड़ की मुहर कहा गया है। दिल्ली का लोहे का मेहरौली स्तंभ, जिस पर चन्द्र (चन्द्रगुप्त द्वितीय ?) का गुप्तलिपि में अभिलेख है, 'विष्णुध्वज' कहा गया है। बेसनगर वाला ग्रीक हेलियोदोरस का स्तंभ यद्यपि प्राचीनतर है पर उसका शिखर गरुड़ की आकृति से बना है। कालिदास द्वारा किये गोपाल कृष्ण के उल्लेख का जिक्र ऊपर किया जा चुका है। उस कवि ने कृष्ण को उनका पारंपरिक मोरपंख[2] भी उन्हें दिया है, उनके भ्राता बलराम (हलधर, लांगली)[3] और पत्नी रुक्मिणी[4] का भी उल्लेख किया है। कृष्ण-कथाओं के नाग कालिय और मणि कौस्तुभ भी उनकी रचनाओं में स्थान पाते हैं।[5] विष्णु की एक चतुर्भुजी मूर्ति उदयगिरि में मूर्त है जिस पर ४०० ई. तिथि दी हुई है।[6] सैदपुर भीतरी वाला स्कन्दगुप्त का स्तंभ-लेख 'शार्ङ्गिन्' (वासुदेव कृष्ण, अथवा दाशरथि राम धनुर्धर) की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख करता है।[7] स्कन्दगुप्त के सौराष्ट्र के प्रादेशिक गोप्ता चक्रपालित का अभिलेख विष्णुमन्दिर के निर्माण का उल्लेख करता हुआ पहले वामन विष्णु की वन्दना करता है। जोधपुर के निकट मन्दोर में मिले पांचवीं सदी ईसवी के स्तंभ पर शकट (गाड़ी) उलट देने और गोवर्धन धारण की कृष्णकथाएं उत्कीर्ण हैं। मातृविष्णु (गुप्त शासक) और उसका भाई धन्यविष्णु दोनों अपने को 'अत्यन्त भगवद्भक्त' कहते हैं। ४८३ ई के एरण के एक अभिलेख में उनका जनार्दन विष्णु का ध्वजस्तंभ बनवाना लिखा है।[8] बाघेलखंड के खोह नामक स्थान में, जहां गुप्तकालीन शिवमन्दिर खड़ा था, ४६५ ई. का एक ताम्रपत्र मिला है जिसमें जयनाथ नाम के एक व्यक्ति द्वारा भागवत मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए एक गांव दान में देने की बात लिखी है। शक ५०० (५७८ ई.) में चालुक्य नरेश मंगलीश की आज्ञा से कटे दरी-मन्दिर में[9] विष्णु और नारायण तथा वराह और नरसिंह[10] की

[1]कुमार., ६, ८। [2]बर्हेणेव, मेघ., पू०, १५। [3]वही, ४६। [4]विष्णोः च रुक्मिणी, मालविका., ५, २। [5]रघु., ६, ४६। [6]सी. आई. आई. ३, पृ. २२ से आगे। [7]छन्द १०। [8]जनार्दनस्य ध्वजः। [9]फर्गुसन, बर्गेस, केव टेम्पुल्स, पृ. ४०७। [10]वही।

आकृतियां कटी हैं। विष्णु शेषनाग पर लेटे हुए हैं और लक्ष्मी उनके चरण चाप रही हैं। एलोरा की विशाल विष्णुमूर्तियां जगत्प्रसिद्ध हैं।

वैष्णव अथवा भागवत धर्म का प्रचलन भारत में गुप्तों से काफी पहले ही हो चुका था। पांचवीं सदी ई. पू. के स्वयं पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी'[1] में वासुदेव की पूजा का उल्लेख किया है। भागवत धर्म में विदेशी तक दीक्षित होने लगे थे। ग्रीक राजा अन्तिआल्किदस् के शुंग दरबार में भेजे राजदूत भागवत[2] हेलियोदोरस् के बेसनगर में दूसरी सदी ई. पू में बनवाये वासुदेव के गरुडशिखरधारी स्तंभ की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। कुषाण काल की शिला पर उत्कीर्ण कृष्ण को लिये वसुदेव के यमुना सतरण की कथा मिली है जो मथुरा के संग्रहालय मे सुरक्षित है। इनसे और गुप्तकाल के ऊपर दिये सदर्भों से सूचित होता है कि पाचवी सदी ई. पू. से पांचवी सदी ईसवी और पीछे तक किस प्रकार भागवत धर्म की प्रगति होती चली गयी थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त तीनों के सिक्कों पर 'परम भागवत' खुदा होना गुप्तों की उस धर्म मे विशेष निष्ठा सूचित करता है।

वैष्णव धर्म के विभिन्न सप्रदाय

साधारणत 'वैष्णव' और 'भागवत' विष्णु के भक्तों को सूचित करते थे परन्तु बाद मे भागवत केवल वे ही विष्णुभक्त कहलाने लगे जो वृष्णियो मे प्रधान वार्ष्णेय वासुदेव (कृष्ण) की पूजा करते थे। भागवत और पाचरात्र भी पहले प्रायः एक ही थे पर पीछे उनमे भी विशेष अन्तर पड गया। पांचरात्र का प्रधान अग 'व्यूहवाद' था जो व्यूहो की पूजा करता था। पाचरात्र साहित्य की कुछ 'सहिताएँ' कश्मीर मे चौथी और सातवी सदियो के बीच भी रची गयी। 'अमरकोश' मे सभी व्यूहो का उल्लेख हुआ है। व्यूहवाद का ही कुछ परिवर्तित रूप बलदेव, कृष्ण और सुभद्रा अथवा एकानंशा की सयुक्त पूजा है। गुप्तकालीन वराहमिहिर ने बलराम, कृष्ण और बीच मे एकानशा की एकत्र खडी प्रतिमा का उल्लेख किया है। इस प्रकार की एक बलराम, कृष्ण और सुभद्रा की गुप्तकाल से कुछ काल बाद की सम्मिलित पाषाण प्रतिमा लखनऊ के सग्रहालय मे प्रदर्शित है। बाण ने 'हर्षचरित' मे भागवतो और पाचरात्रिको का अलग-अलग वर्णन किया है। भागवत विष्णुभक्त थे, और पाचरात्रिक वैष्णव-भेद। पाचरात्र संप्रदाय के एक ग्रथ 'पद्मतत्र' ने, भेदों के नाम अनेक गिनाये है, जैसे सूरि, सुहृत्, भागवत, सात्वत, पांचकालवित्, एकान्तिक, तन्मय और पाचरात्रिक। महत्त्व का विषय है कि इस गणना में

[1] विक्रमो., ९, ३। [2] ६, ३५; ६, ३६।

भी भागवत और पाचरात्रिक अलग अलग हैं। भागवतों और पांचरात्रिकों में विशेष अन्तर यही था कि भागवत जहा वार्ष्णेय की आराधना करते थे पाचरात्रिक वहां ऋषि नारायण की करते थे। गुप्तकाल मे नारायण अथवा नर-नारायण की पूजा अथवा मूर्तिया अनजानी न थी। कालिदास ने उसी काल नारायण और विष्णु को समान मान, नारायण को नर का मित्र माना है। वास्तव मे नर और नारायण मूल में प्राचीन ऋषि थे जिनके नाम 'ऋग्वेद' तक मे आये है। नर के लिए उस वेद मे दो सूक्त कहे गये हैं और नारायण से सबधित तो ऋग्वेद का प्रसिद्ध पुरुष सूक्त है ही। परन्तु बाद के गुप्तकालीन साहित्य मे दोनों का साथ साथ उल्लेख हुआ है; प्राचीन महिमावान् ऋषियो (पुराण ऋषिसत्तम) और 'तापस' के रूप मे। फिर नारायण को भगवान् और नर को शालीन और असाधारण नर माना जाने लगा। बाद मे नर अर्जुन और नारायण वासुदेव कृष्ण मान लिये गये।

यहा गुप्त अभिलेखो मे विष्णु सबधी कुछ सदर्भों का उल्लेख कर देना समीचीन होगा। कुमारगुप्त प्रथम के गढ़वा अभिलेख मे विष्णु को 'भगवत्' नाम से अभिहित किया गया है। कुछ काल बाद ४८४ ई के एरण के अभिलेख मे विष्णु का जनार्दन नाम मिलता है जिन्हे चतुर्भुज, जगत् की उत्पत्ति, पालन और सहार का कारण तथा जिनका पर्यंक चारो समुद्र माने गये है। उनके वाहन गरुड का भी उसमे उल्लेख हुआ है। छठी सदी के कदम्ब अभिलेख मे हरि का प्राय इन्ही शब्दो मे उल्लेख हुआ है। ४६४ ई के मानदेव के नेपाली अभिलेख के पूर्व दोल पर्वत पर छागु नारायण (गरुडारूढ नारायण) के मन्दिर का होना माना गया है। ४२३ ई के गगधर अभिलेख मे वर्षा ऋतु मे मधुसूदन के सोने की बात लिखी है। मधु, मुर, कौस्तुभ, चक्र, गदा, शार्ङ्ग आदि के उल्लेख से प्रकट है कि विष्णु के सबध की अनेक पौराणिक कथाए भी तब तक लोकव्यवहार मे प्रचलित हो गयी थी। शकट-पातन और गोवर्धन धारण का उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है।

दक्षिण मे विष्णु-पूजा

दक्षिण भारत मे प्रारभिक पल्लव और प्रारभिक गग राजा विष्णु के परम भक्त थे। विष्णु सबधी पल्लव और कदम्ब अभिलेखों का पहले जिक्र किया जा चुका है। कालान्तर मे तमिळ देश विष्णु पूजा का केन्द्र बन गया और कृष्णभक्त आळवारो के पदो ने शीघ्र ही सारे उत्तर भारत तक को प्रभावित किया। गुप्तकालीन 'शिलप्पदिकारम्' मदुरा, काविरिप्पट्टिनम् (कावेरीपत्तनम्) मे कृष्ण और बलदेव के मदिरों का वर्णन

करता है। कवि करिकण्णम् ने कृष्ण के चक्रधर रूप और श्याम रंग का और बलराम के तालध्वज रथ और श्वेत रंग का वर्णन किया है।[1]

शैव धर्म

शैव धर्म का आरम्भ कब हुआ यह कहना कठिन है। कुछ विद्वानो ने शिव की पूजा का प्रचलन एक रूप मे सैन्धव सभ्यता मे भी माना है जिसे स्वीकार करना सभव नही पडता। यद्यपि यह सही है कि एक प्रकार की मुहरो पर शृंगधारी मानवाकार बैठे देवता के चारो ओर शेर, हाथी आदि पशु बैठे हैं। इससे तर्क किया जाता है कि वह पाशुपत सप्रदाय का प्रथम रूप है। यदि ऐसा हुआ तो शैव धर्म सभवत. ससार का सबसे प्राचीन धर्म होगा। परन्तु निश्चय यदि ऐसा होता तो बीच की कड़ियां भी बनी रहती और शृंखला का सर्वथा लोप न हो जाता। ऋग्वेद में कठोरमना रुद्र का उल्लेख तो हुआ है पर शिव का उल्लेख पहले-पहल उत्तर वैदिक काल मे ही मिलता है और जिस रूप मे सैद्धातिक शैव रूप का गुप्तकाल मे विकास हुआ है वह निश्चय बहुत प्राचीन नही, वैष्णवो के दर्शन से पीछे का है, यद्यपि अनेक कुषाण नृपति शिव के परम भक्त रह चुके थे। शैव आगमो को भी तन्त्र—आगमों की ही भाति अति प्राचीन मानने वाले विद्वान् है। 'महाभारत' मे ही, यद्यपि उसमे 'भगवद्गीता' होने के कारण भागवत-वैष्णव धर्म का प्राधान्य है, शिव की बार बार स्तुति हुई है और स्वय वासुदेव कृष्ण के भक्त पाण्डव अर्जुन ने पाशुपत अस्त्र के लिए शिव की तपस्या की है। उसी प्रसग को लेकर छठी सदी के भारवि ने अपना महाकाव्य *'किरातार्जुनीय'* रचा है जिसमे किरात के वेश मे शिव और अर्जुन का घोर युद्ध वर्णन है।

कालिदास का सैद्धांतिक शैव पक्ष

स्वय कालिदास (चौथी सदी ई. और पांचवी के आरम्भ के) ने बार बार अपनी शिवभक्ति अपनी कृतियो मे अभिव्यक्त की है। 'कुमारसभव' महाकाव्य मे तो केवल शिव के चरित की ही महिमा काव्यबद्ध हुई है और शिव के पुत्र कार्तिकेय द्वारा तारकवध के लिए 'कुमार' के जन्म की कथा का उसमे उपोद्घात हुआ है। उसके अतिरिक्त भी कवि की अन्य रचनाओ से प्रकट है कि शिव के सैद्धातिक स्वरूप का गुप्त-काल तक पूर्णत विकास हो चुका था। नीचे पहले इस गुप्तकालीन कवि की कृतियों के ही आधार पर शिव के स्वरूप की सक्षेप मे व्याख्या की जायगी। कालिदास ने शिव के

[1] द क्लासिकल एज, पृ. ४२६—२७।

निम्नलिखित नामों का प्रयोग किया है जिससे उस देवता की शक्तिमत्ता का पता चलता है—ईश, ईश्वर, महेश्वर, परमेश्वर, अष्टमूर्ति, वृषभध्वज, शूलभृत्, पशुपति, त्र्यम्बक, त्रिनेत्र, अयुग्मनेत्र, स्थाणु, नीललोहित, नीलकण्ठ, शितिकण्ठ, विश्वेश्वर, चण्डेश्वर, महाकाल, शभु, हर, गिरीश, भूतनाथ, भूतेश्वर, शकर, शिव, पिनाकी आदि। देश के अनेक शिवमन्दिरो मे से कालिदास ने उज्जैन के ज्योतिर्लिंग महाकाल का, काशी के विश्वनाथ (विश्वेश्वर) और गोकर्ण के शिव का उल्लेख किया है। शिव की अष्टमूर्ति क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर तथा सूर्य, चन्द्र (मन, पिंड) अर्थात् प्रकृति से निर्मित मानी गयी है। तब के शैवो के मत से शिव स्वय समस्त सृष्टि थे, साथ ही समूचे अस्तित्व के कारण अथवा स्रष्टा भी थे, वस्तुत उन रुद्र (अष्टमूर्ति) के आठ प्रत्यक्ष रूप थे—रुद्र, भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे शिव के अष्ट रूप की व्याख्या ऊपर की व्याख्या से विशेष भिन्न नही, जो इस प्रकार है—जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु। जैसे ब्रह्मा सृष्टि के स्रष्टा और विष्णु उसके पालक कहे जाते हैं, शिव वैसे ही उसके सहारक कहे गये हैं। कालिदास ने 'शाकुन्तल' का आरम्भ और अन्त दोनो ही शिव की स्तुति से किये हैं। जल-प्रलय के समय, पुराण कहते हैं, शिव ने कालकूट नामक विष का पान कर लिया था जिसमे उनका कण्ठ नीला हो गया था, और जिससे उनके नीलकण्ठ, शितिकण्ठ, नीललोहित आदि नाम पडे। वे भूतनाथ इस कारण भी कहलाते हैं कि वे श्मशान मे जहा उनका निवास है भूतो के साथ लीलाओ मे व्यस्त रहते हैं।[1]

ऊपर जैसे विष्णु को सृष्टि का कारण, पालक और सहारक कहा गया है, शिव को भी वैसे ही चर, अचर (स्थावर-जगमाना) के जन्म, स्थिति और सहार का कारण (सर्ग-स्थिति-प्रत्यवहारहेतु) कहा गया है। पर शिव का प्रधान कार्य 'प्रत्यवहार' ही माना गया है। उनकी मूर्ति जलमयी है, वे विश्वमूर्ति हैं, अणिमा आदि सिद्धिया उन्हे प्राप्त है, वे अपने भाल पर अर्धचन्द्र धारण करते है, विश्व के आधार हैं। योगी शिव का ही ध्यान करते हैं, विश्व म किये जानेवाले सारे कर्मों के वे साक्षी हैं, इन्द्रादि लोकपाल उन्ही का नमन करते हैं। उन्ही को वेदान्त (उपनिषदो) मे ब्रह्म कहा गया है जो पृथ्वी और आकाश को घेरकर भी शेष रह जाता है, जिस अकेले के लिए 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्राण आदि पांचो वायुओ का सयमन कर उन्हें ही अपने भीतर मोक्ष की साधना करनेवाले खोजते हैं।[2]

[1]इण्डिया इन कालिदास, पृ. ३११—१२। [2]इण्डिया इन कालिदास, पृ. ३१३।

शिव का रूप

शिव की असंख्य मूर्तिया, अकेली और पार्वती की मूर्ति से सयुक्त आज उपलब्ध है। गुप्तकाल मे इस प्रकार की अनेक मूर्तिया बनी जिनकी इस रूप मे और लिंग के रूपो मे पूजा होती थी। इस प्रकार की अनेक मूर्तियो और शिव के मंदिरो का कुछ विवरण कला के प्रसग मे ऊपर किया जा चुका है। अनेक ऐसी मूर्तिया भी शिव की मिली हैं जिनमे मुख नही दिखाया गया, केवल जटाओ की लटें लिंग के ऊपरी भाग से नीचे गिरती हुई दिखायी गयी हैं। ऐसी अनेक मूर्तियो की पूजा आज भी मथुरा मे हो रही है। 'कुमारसभव' मे शिव के समकालीन रूप का सपूर्ण चित्र दिया गया है जब शिव विवाह के लिए तैयार होते है। शिव का तन भस्म से चर्चित है, तिलक के लिए भाल पर अर्धचन्द्र है, परिधान के लिए गज का चर्म है (जिसे गजासुर को मारकर उन्होंने ओढ़ लिया था)। अलकारो के लिए अगो मे स्थान-स्थान पर सर्प लपेट लिये गये है। परिचरो के लिए उनके गण है जो अनेक विकृत रूपो मे असि धारण किये साथ है (इनका अनेक रूपो मे शिवमन्दिर की पट्टियो पर निरूपण हुआ है जो प्रयाग सग्रहालय मे सुरक्षित है। अन्यत्र इनका उल्लेख किया जा चुका है)। ब्रह्मा और विष्णु भी सेवा मे उपस्थित है, गगा और यमुना मोर्छल कर रही है। सिहचर्म के आस्तरण बिछी नन्दी की पीठ पर शिव सवार हैं। नन्दी स्वर्ण की करधनी पहनते है जिनकी किंकिणिया निरतर चलते समय बजती रहती हैं।[1]

पाशुपतसप्रदाय

वैष्णवो की ही भाति शैवो के भी अनेक सप्रदाय चले। उनमे पाशुपत, वीर शैव, प्रत्यभिज्ञा आदि विशेष प्रसिद्ध हुए। पाशुपतो का विशेष उत्कर्ष ईसा की आरभिक सदियो मे हुआ और गुप्तकाल में उनके सप्रदाय का सर्वत्र बोलबाला था, स्वय कालिदास सभवत इसी सप्रदाय का अनुयायी था। कवि ने परोक्ष रूप से शिव के पशुपति, भूतनाथ, भूतेश्वर आदि नाम-शब्दो द्वारा सप्रदाय की ओर सकेत किया है। उस गुप्तकालीन पाशुपत धर्म के सबध मे यहा दो शब्द लिख देना उचित होगा। पाशुपत सिद्धात के तीन अग हैं—'पति' (स्वामी), व्यक्ति, आत्मा अथवा 'पशु' और 'पाश' (बन्धन)। सिद्धात के चार 'पाद' हैं—'विद्या' अथवा ज्ञान, 'क्रिया' अथवा कर्म, 'योग' (ध्यान आदि) और 'चर्या' अथवा आचार, विनय। पाशुपत रूप का कुछ सकेत प्राचीन साहित्य मे मिलता है। जो रुद्र नाम शिव ने कालान्तर मे ले लिया उसका ऋग्वेद मे एक विरुद 'पशुप' प्रयुक्त

[1] इण्डिया इन कालिदास, पृ. ३१३—१४।

हुआ है ।[१] अथर्ववेद में भव, शर्व, भूतपति और पशुपति चारो नाम आये हैं और पशुपति के पांच विशिष्ट पशु—गौ, अश्व, मनुष्य, अज और भेड़ गिनाये गये हैं ।[२] ब्राह्मणों मे ही रुद्र पूर्णतः शिव का पर्याय हो गया है और दोनों एक मान लिये गये है। महाभारत[३] में पाशुपत सिद्धात का उद्घाटन भी पाच धार्मिक सिद्धातों मे हुआ है और पाशुपत अस्त्र के लिए ही अर्जुन कठिन तपस्या करता है, कालिदास[४] ने भी जिसका उल्लेख किया है ।[५]

शैवो के कुल के ही कार्तिकेय और गणेश के सप्रदाय भी हैं पर उनका जिक्र हम उन देवताओ के प्रसग मे करेंगे । यहां दकन और सुदूर दक्षिण की शिव पूजा के स्वरूप का सक्षिप्त विवरण दे देना उचित होगा । वाकाटक, शालकायन, कदम्ब और पश्चिमी गग–राजकुलों के अनेकानेक नरेश तो शैव धर्मावलम्बी थे ही बृहत्फलायन, आनन्द और विष्णु-कुण्डिन राजवश भी प्राय· सर्वथा शैवानुयायी थे ।

दक्षिण से शिवपूजा

दक्षिण भारत मे शैव धर्म का विशेष प्रचार और उसका साप्रदायिक-सैद्धातिक निरूपण प्राय. गुप्त काल के बाद ही हुआ पर गुप्तकाल मे ही जैन और बौद्ध धर्मों को शैव धर्म धीरे-धीरे दक्षिण मे अपदस्थ करने लगा था और शीघ्र ही उसने उनका स्थान ले लिया । कुछ स्थानो मे निश्चय बौद्ध महत्त्व बना रहा, जैसा हुएन्त्साग के विवरण से प्रकट होता है, पर अधिकतर प्रचलन दक्षिण मे शैव विचारो का ही प्राय सागर से सागर तक हो गया । श्रवणबेलगोला आदि मे निःसन्देह जैनो का महत्त्व आज भी बना है। दक्षिण मे शैव आचार्यों ने अधिकतर पहले राजाओं को ही अपने सप्रदाय में दीक्षित किया, जिससे राजा के काल का कारण होने से, धर्म का जनता मे विशेष प्रभाव पडे । सो उनका पहला प्रयत्न पल्लवराज महेन्द्रवर्मा प्रथम (६००–६३० ई. के लगभग) को शैव बनाने मे हुआ। महेन्द्रवर्मा पहले कट्टर जैन था और लोगो को बलपूर्वक जैन बनाने मे अपने बल का प्रयोग करता था। सन्त अप्पर के प्रयत्न से वह शैव हो गया और उसने जो अपना 'मत्तविलास' नाम का प्रहसन लिखा उसमे बौद्धो को विशेष हास्यास्पद रूप मे प्रस्तुत किया। उस प्रहसन मे शैंव 'कापालिको' और 'पाशुपतो' का भी जिक्र आया है। महेन्द्रवर्मा के शैव होने के बाद उसकी राजधानी शैव सप्रदाय का केन्द्र बन गयी और काची तथा अपने राज्य के अनेक स्थानो मे महेन्द्रवर्मा ने शिवमन्दिर बनवाये

[१] ११, ११५, ६। [२] ११, २, ६। [३] शांति, ३४६, ६८। [४] विक्रमो., १, १।
[५] इण्डिया. पृ. ३१४।

और शिव की मूर्तियां प्रतिष्ठित की। उसके उत्तराधिकारियो ने भी शिव के प्रति अपनी भक्ति के प्रमाण दिये।

दक्षिण मे शिवपूजा के प्रधान आधार और प्रचार के मुख्य कारण ६३ नायमारों अथवा अडयारों के गेय गीत अथवा पद थे। भक्ति से ओतप्रोत पदो मे शिव-स्तुतिया तब खूब ही गायी जाने लगी थी। सिद्धांत की दृष्टि से भी सन्त तिरुमूलार ने अपनी विख्यात रचना 'तिरुमदिरम्' मे अपनी रहस्यमयी अनुभूतियों के प्रकाश मे वेदो और आगमों के विचार समन्वित कर दिये। इस विचार का परिणाम शिव अथवा नन्दी के रूप मे भगवान् से भक्त का एक हो जाना था। दक्षिण के प्रधान चार सन्तों—अप्पर, तिरुज्ञान-सम्बन्दर, सुन्दरमूर्ति और माणिक्क वाचकर—ने विशेष निष्ठा से शैव धर्म का प्रचार किया। इनके 'समयाचार' मे चार प्रकार की—दास मार्ग, सत्पुत्र मार्ग, सन्मार्ग और सखा मार्ग—भक्ति का उपबर्हण हुआ है। इनमे से सर्वाधिक महिमावान् अप्पर ने तीन प्रकार से शिव की उपासना की—त्रिमूर्ति के सहारक शिव को निम्नतम, परापर अर्थात् शिव और शक्ति की सयुक्त परज्योति स्थिति को मध्यम और स्तभ, ज्ञानवान् प्रकाशपुज को उच्चतम मानकर।[1]

अर्धनारीश्वर

शिव और पार्वती की सयुक्त मूर्तियों की पूजा गुप्तकाल के बाद विशेष चल पडी यद्यपि उसका प्रभूत प्रारंभ गुप्तयुग मे ही हो गया था। उसी सयोग का प्रादुर्भाव समकालीन कवि कालिदास ने अपने 'कुमारसभव' मे इतने यत्न से कराया। दोनो—शिव और पार्वती परस्पर इतने सनिहित हुए कि दोनो की समन्वित मूर्ति 'अर्धनारीश्वर' की कल्पना और रचना हुई। इसमे एक ही तन के पुरुष और नारी—शिव और पार्वती—दो भाग किये होते हैं, शिव बायी ओर, पार्वती दाहिनी ओर प्रदर्शित होते हैं, दोनों के केवल अर्धांग। गुप्तकाल की मूर्तियों के देवपरिवार मे अर्धनारीश्वर की मूर्तिया अनेक कोरी गयी। इसी स्थिति से शिव की शक्तिपूजा को भी पर्याप्त प्रश्रय मिला जिसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

त्रिमूर्ति

इस सयुक्त देवत्व की भावना का प्राय. उदय ही गुप्तकाल मे हुआ। यह तीनो प्रधान हिन्दू देवताओं—ब्रह्मा, विष्णु, शिव—की पूजा मे एक प्रकार का समन्वय था।

[1] इण्डिया इन कालिदास, पृ. ३१५।

किस प्रकार बहुदेववाद एकदेववाद की ओर धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था, इसके उदाहरण गुप्तकाल की, वस्तुत उसके पिछले युगो की (जिनका कालिदासयुगीन चिन्तन ने ही आरम्भ कर दिया था) मूर्तियो मे अनेक मिलते हैं। वस्तुत: कवि ने तीनो को जो अलग अलग स्तुतियो मे वैभव प्रदान किया है उसमे तीनो के ही गुणों का समाहार उपस्थित है, शेष उनको केवल मूर्तिरूप मे सयुक्त कर देना था। वस्तुत: कवि की यह समन्वय की उदार भावना गुप्तकाल की उदार भावना की ही प्रतीक थी। कालिदास स्वय शिव के परम भक्त और उपासक थे, जिन्होंने शक्ति के पुरुष से विलग होने, फिर पहचानी जाकर एक हो जाने का, प्रत्यभिज्ञा का पूर्वरूप अपने 'शाकुन्तल' मे प्रस्तुत किया, शिव की सर्वत्र उपासना की, पर दाशरथि राम और राम के रघुकुल के ऐश्वर्य-निरूपण के अर्थ 'रघुवश' की रचना की। रचना 'रघुवंश' की की पर उसका आरम्भ शिव के नाम लेकिया, जैसे 'कुमारसभव' मे ब्रह्मा की प्रभूत प्रार्थना की। इस बहुदेव-परम्परा को सयुक्त एकेश्वर मान जो कवि ने वेदान्तिक परम्परा मे शिव को—एक ही मूर्ति (एकैव मूर्ति) मानकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव—तीनो देवताओ की शक्ति का समाहार माना है यह बाद के अद्वैत सिद्धात का सूचक है। परन्तु इस स्थिति—त्रिदेव—तक पहुचने के लिए एक मजिल की आवश्यकता थी, द्विदेव की हरिहर के रूप मे—जो कालिदास और गुप्तयुग ने प्रस्तुत कर दी।

हरिहर

हरि (विष्णु) से हर (शिव) की ओर द्विदेव की कल्पना त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, शिव की त्रिमूर्ति) की कल्पना का उपोद्घात थी। विष्णु और शिव की भक्ति गुप्तकाल मे घनी निदर्शित हुई और कम से कम उत्तर भारत मे दोनो को समान रूप से आदृत करने की जो उदारता का कालिदास आदि ने आरम्भ किया तो उत्तर भारत वैष्णवो और शवो के उग्र सघर्ष और पारस्परिक उपद्रवो से बच गया जो दक्षिण भारत मे घनघोर चले। कालिदास की इस कविपरम्परा को सदियो बाद तुलसीदास ने भी नये रूप से प्रतिष्ठित किया जो रामकथा (रामचरितमानस) मे शिव को असाधारण स्थान ही नही दिया बल्कि उन्हे अपने आराध्य राम का आराध्य ही मान लिया। यह महत्त्व की बात है कि गुप्तकाल मे पहले हरिहर की कल्पना का उदय नही हुआ था, उसी काल के मूर्तिकार ने हरिहर की पहली सयुक्त प्रतिमा कोरी।

स्कन्द-कार्तिकेय

विष्णु और शिव के समक्ष साधारण देवता होते हुए भी एक सप्रदाय से संबंधित होने के कारण कार्तिकेय का उल्लेख यहां कर देना आवश्यक हो जाता है। शिव के कार्तिकेय

और गणेश दो पुत्र थे। जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, गुप्तकाल मे कुमार (स्कन्द कार्तिकेय) की अनेक प्रतिमाएँ कोरी गयी। कार्तिकेय के कुमार, स्कन्द आदि अनेक नाम हैं। उनके अन्य नामों में दो 'शरवणभव' और 'शरजन्मा' भी हैं जो उनके शरो के वन में जन्म लेने की पौराणिक कथा के अनुसार पडे है। गुप्तकाल मे कार्तिकेय अथवा कुमार की पूजा का प्रचार बढ़ा था इसका सबसे बडा प्रमाण कालिदास जैसे सस्कृत के मूर्धन्य कवि द्वारा उस देवता के जन्म से सबंधित अमर काव्य 'कुमारसभव' की रचना है। स्कन्द देवसेना के सेनानी माने गये है। गुप्त युग मे बनने वाली मयूर पर बैठी स्कन्द की मूर्तियो का उल्लेख कालिदास ने भी किया है।[1] उस कवि के अनुसार[2] स्कन्द का एक मन्दिर देवगिरि पर भी गुप्तकाल मे बना था। मूर्ति मे अधिकतर कार्तिकेय की मूर्ति मयूर पर चढ़ी छ· मुखो वाली होती है। कार्तिकेय की पूजा प्राचीन साहित्य के अनुसार पर्याप्त प्राचीन जान पडती है। स्वय पतजलि ने दूसरी सदी ई पू. मे लिखे अपने 'महाभाष्य'[3] मे स्कन्द की पूजा की ओर सकेत किया है। गुप्तो से शीघ्र ही पूर्व कुषाणो ने भी इस पूजा को महत्त्व दिया था और कनिष्क की कुछ मुद्राओं के पीछे तो इस देवता की अनेक आकृतिया बनी हैं जिनके नीचे ग्रीकाक्षरो में उनके अपने अपने नाम, जैसे 'स्कन्दो','महासेनो', 'कोमारो' और 'बिजागो' (विशाख)[4] लिखे है। बिलसड मे भी 'स्वामी महासेन' का एक मन्दिर था जिसकी प्रतोली के ध्रुव शर्मा द्वारा निर्माण का ४१४ ई. के एक अभिलेख मे जिक्र हुआ है। कुमारगुप्त के नाम मे ही इस देवता का नाम ध्वनित है, जैसे उसके पुत्र स्कन्दगुप्त के नाम मे भी। इसके अतिरिक्त यह भी कुछ कम महत्त्व की बात नही कि अपने पितामह समुद्रगुप्त के चलाये गरुड़ध्वज के स्थान पर कुमारगुप्त ने कार्तिकेय के वाहन मयूर से लाछित अपना नया ध्वज चलाया। कदम्ब और यौधेय दोनो ही कार्तिकेय की पूजा करते थे। इसी देवता की सुब्रह्मण्य नाम से दक्षिण मे पूजा हुई। गुप्तकालीन कार्तिकेय की मूर्तियो मे उत्तर भारत में एक और आकृति का भी प्रादुर्भाव हुआ—शिखी पर आरूढ का, जिसमे स्कन्द मयूर पर चढे दो हाथो मे से एक मे मातुलुग (बीजपूरक, बिजौरा नीबू) और दूसरे मे शक्ति (बल्लम) धारण करते है। उनकी एकाध मूर्तिया चतुर्भुजी भी मिली है। उनकी दो पत्निया है, देवसेना और बल्ली।

गणेश—गाणपत्य सप्रदाय

शिव के दूसरे पुत्र विघ्ननाशक गजवदन गणेश माने जाते है, कार्य के आरम्भ मे

[1] रघु., ६, ४; मे. पू., ४४–४५। [2] मे. पू., ४३—४५। [3] ५, ३, ९९।
[4] जे. बी. बी. आर. ए. एस., १२, पृ. ३८५।

जिनकी वन्दना अनिवार्य मानी गयी है। गुप्तकाल मे उनकी मूर्तियां विशेष लोकप्रिय हुई और बनी। उनके गणपति नाम से संयुक्त एक 'गाणपत्य' संप्रदाय ही चल पडा। 'याज्ञवल्क्य सहिता' मे गणपति-प्रकरण नाम का एक अध्याय ही लिखा गया है। 'मानव-गृह्यसूत्र' में गणेश्वर और विनायक दोनों के सप्रदायो के सिद्धांत निरूपित हुए हैं। शिव के गण विघ्नकारक थे, इसी से 'कुमारसंभव' मे कालिदास ने शिवसमाधि के प्रसंग में लतागृह के द्वार के पाहरू हेमदण्डधर नन्दी द्वारा अपने होठो पर उंगली रखकर उन्हे चुप रहने के लिए सावधान कराया है। उन्ही गणो के स्वामी गणेश थे जिससे उनका भी पहले विघ्नकारी होना स्वाभाविक था। इसी से जैसे संहारक रुद्र का रूप कल्याणकारी शिव मे, उन्हें पूजकर, सवारा गया, विघ्नकारी विनायक को भी पूजकर उन्हें विघ्नहारी की संज्ञा दी गयी। 'बृहत्सहिता' में वराहमिहिर ने गणो और विनायको के विघ्नकारी रूप का उल्लेख किया है। शकराचार्य ने इस सप्रदाय के छ वर्गों को परास्त करने की बात कही है। गुप्तकाल मे गणेश की अनेक प्रकार की मूर्तियां बनी। अधिकतर तीन प्रकार की, खडी, बैठती और नाचती है। उनमे सभी मे गजमस्तक और बडा उदर होता है जिससे उनके नाम भी क्रमश: गजवदन और लबोदर पड गये है। इस प्रकार की अनेक मूर्तिया सारे देश में बिखरी पडी है। नृत्यत् गणेश की एक मृन्मूर्ति लखनऊ सग्रहालय मे भी सुरक्षित है। यह बडे चौकोन खाने मे लाल मिट्टी की बनी है, प्राय फुट भर लबी, फुट भर चौडी। गणेश की प्राचीनतम मूर्ति, नग्न रूप मे कोरी, मथुरा सग्रहालय मे है। ऊपर बतायी मृन्मूर्ति की भाति ही एक दूसरी भीतरगाव के मन्दिर मे ही उपलब्ध मृन्मूर्ति है जिसमे गणेश आकाश मे उडे जा रहे है और चारों मे से एक भुजा मे उठाये लड्डुओं के थाल पर गणेश की सूड की चोट प्रस्तुत है। गुप्तकाल की ही, प्राय छठी सदी की गणेश की दो मूर्तिया भूमरा के टूटे शिवमदिर के मलवे से मिली है जिनमे से एक दो भुजाओ की है दूसरी चतुर्भुजी है। पहाडपुर मे भी अनेक धातु, पत्थर और मिट्टी की गणपति-मूर्तिया मिली है। इनमे से एक उत्तर गुप्तकालीन है, पत्थर की, बैठी हुई, जिसके एक हाथ मे रुद्राक्ष की माला है, दूसरे मे गाजर, तीसरे मे त्रिशूल और चौथे मे सर्प की पुच्छ है जिसका शरीर उनके तन पर यज्ञोपवीत की भाति उभरा हुआ है। देवता का वाहन मूषक (चूहा) नीचे निरूपित है और तीसरा नेत्र भाल पर बना है। गणेश के हाथो मे अनेक बार दूसरे आयुध भी प्रदर्शित होते है, जैसे मोदकथाल, पुस्तक, कलश, भग्न गजदन्त, परशु आदि। गणेश के गजमस्तक के सबध में कालान्तर मे अनेक पौराणिक और लौकिक कथाए देश मे प्रचलित हुई। ज्ञान और अध्ययन के देवता होने के कारण गणेश हाथ मे पुस्तक धारण करते है। आज भी हिन्दुओ मे विद्यारभ 'श्री गणेश' के उच्चारण के साथ किया जाता है। किसी भी कार्य का आरम्भ 'श्री गणेश' के पर्याय द्वारा सूचित किया जाता

है। कलम या लेखनी गणेश द्वारा व्यास के बोलने पर 'महाभारत' लिखे जाने का भी प्रतीक है। कथा कही गयी है कि व्यास जब 'महाभारत' की रचना करने लगे तब कथाओ और विचारो की उनके मन मे ऐसी बाढ़ आयी कि उनका बोला हुआ साहित्य साधारण लेखक नही लिख पाता। इससे गणेश से लिखने की प्रार्थना की गयी। गणेश ने लिखना तो स्वीकार कर लिया पर यह शर्त लगा दी कि व्यास धाराप्रवाह बोले और कही रुके नही जिससे उनकी कलम को रुकना न पडे। व्यास ने उनकी यह शर्त तो मान ली पर साथ ही अपनी भी एक शर्त रख दी कि उनका कोई छन्द बिना उसका भरपूर अर्थ समझे गणेश न लिखे। गणेश के शर्त स्वीकार कर लेने पर व्यास ने बोलना और गणेश ने लिखना आरम्भ कर दिया। व्यास भावो का वेग कम करने और कथा मे सही क्रम लाने के लिए छन्दों के अर्थ मे उनकी रचना द्वारा कई बार ऐसी गुत्थिया डाल देते थे कि उनको सुलझाने और उनका अर्थ समझने के लिए गणेश को जब-तब कलम रोककर विरम जाना पडता था जिससे उन्हे भी सुस्ता लेने का अवसर मिल जाने लगा। 'कलम' महाभारत लिखने का प्रतीक और 'पुस्तक' स्वय महाभारत का प्रतीक तो है, पर कलम और पुस्तक साधारण लेखन और अध्ययन के प्रतीक भी माने जा सकते है। वैसे तो गणेश की पूजा आज भी सर्वत्र प्रचलित है पर महाराष्ट्र मे गणेश प्रधान देव माने और पूजे जाते है। उनका त्यौहार बड़े उत्साह से मनाया जाता है। इस देवता की भी शिव की ही भाति अनेकानेक मूर्तिया है और यद्यपि स्वतत्र मन्दिर गणेश के कम है, शिव के परिवार मे उनकी मूर्तिया अनन्त हैं।

ब्रह्मा

विष्णु और शिव का सविस्तर उल्लेख हो जाने पर ब्राह्मण धर्म के कुछ गौण अथवा अप्रधान देवताओ का नीचे वर्णन किया जायगा। इनमे विष्णु और शिव के साथ त्रिमूर्ति का अग माने जाने के कारण ब्रह्मा का स्थान मख्य है। अत्यन्त प्राचीन काल मे सूर्य की ही भाति ब्रह्मा की सज्ञा भी प्रजापति थी। गुप्तकाल मे प्रजापति शब्द केवल ब्रह्मा का ही बोधक हो गया था। कालिदास ने ब्रह्मा और प्रजापति को पर्याय रूप मे प्रयुक्त किया है। उससे सदियो पूर्व 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' मे भी दोनो एक ही देवता माने गये हैं।[1] वस्तुत ब्राह्मण ग्रथो मे ही प्रजापति को प्रधान मान उसे ब्रह्मा का रूप प्रदान किया गया है। 'शतपथ'[2] और 'तैत्तिरीय'[3] दोनों ब्राह्मण प्रजापति को सारे देवताओ का जनक मानते है और 'शतपथ' की तो घोषणा है कि आरंभ मे जब कुछ भी

[1] ३, ४। [2] ११, १, १६, १४। [3] ८, १, ३, ४।

वर्तमान न था तब केवल प्रजापति का ही अस्तित्व था।[१] 'ऋग्वेद' मे प्रजापति के लिए जो सूक्त कहा गया है उसमे वह सारे जीवो का स्वामी और देवोपरि देवता माना गया है।[२] कालिदास ने विष्णु और शिव की ही भाति ब्रह्मा की महिमा का भी बखान किया है। वे अपने आप उत्पन्न होनेवाले 'स्वयंभू' हैं,[३] चतुर्मुख[४] और वागीश[५] हैं, चराचर विश्व के स्रष्टा हैं।[६] उन्होने ही सृष्टि के अमोघ बीज को जल पर डाला था।[७] वे ही सर्ग (सृष्टि), स्थिति (उसके पालन) और प्रलय के कारण हैं।[८] सृष्टि से पूर्व सत्त्व, रज और तम नामक गुणो का ब्रह्मा मे ही निवास था।[९] वे ही पिता और माता दोनो है क्योंकि सृष्टि करने के अर्थ उन्होने अपने तन को पुरुष और नारी रूप दो अंशो मे विभक्त कर लिया था।[१०] उनका दिन कल्पान्त तक है, उनकी रात कल्पान्त तक है। दिन मे वे जागते और रात मे सोते हैं जिससे उनके जागते सृष्टि चलती रहती है, सोते प्रलय का अन्धकार छाया रहता है।[११] वह स्वयं अजन्मा[१२] है, स्वय कारणहीन है, पर सबका कारण और कर्ता है, सबका आदि कारण होकर भी स्वय अनादि है, उसका कोई स्वामी नही, वह स्वय सबका स्वामी है।[१३] वह स्वय अपना ज्ञाता है, अपने को स्वय सिरजता है और अन्त मे अपने मे ही लय हो जाता है।[१४] अपनी ही इच्छा से ब्रह्मा कभी द्रव कभी ठोस, कभी स्थूल कभी सूक्ष्म, कभी लघु कभी गुरु, कभी व्यक्त कभी अव्यक्त हो जाता है।[१५] वह उस मत्र का कारण है जिसका आरम्भ 'प्रणव' (ओम्) शब्द से होता है, जिसकी क्रिया यज्ञ है, जिसका परिणाम स्वर्ग है।[१६] अपनी ही प्रकृति का वह पुरुष है।[१७] वह पितरो का पिता है, देवताओं का देवता, स्रष्टाओ का स्रष्टा।[१८] वही हवि भी है होता भी, भोज्य भी है भोक्ता भी, ज्ञान भी है ज्ञाता भी, ध्येय भी है ध्याता भी।[१९] इस प्रकार गुप्तकालीन धर्मविधान मे पुराणो और उपनिषदो दोनो के ब्रह्मा मिलाकर एक कर दिये गये है। गुप्तकालीन कवि और मूर्तिकार ने समान रूप से पुराणो के अनुसार ब्रह्मा को सरस्वती का पति माना है। मूर्तिरूप मे ब्रह्मा के चार मुख है, श्मश्रुल (दाढी-मूछ वाले), चार हाथ है जिनमे वे वेद की पुस्तक, कमण्डलु, रुद्राक्ष और स्रुव (हवन करने का लकडी का चम्मच) धारण करते हैं, सरस्वती उनके अक मे विराजती है। इस प्रकार की अनेक मूर्तिया हमारे सग्रहालयो मे सुरक्षित है।

[१] २, ४, १। [२] १०, १२१। [३] कुमार., २, १। [४] वही, ३, १७। [५] वही। [६] वही, ५। [७] वही। [८] वही, ६। [९] वही, ४। [१०] स्त्रीपुंसावात्मभागौ, वही, ७। [११] वही, ८। [१२] रघु., ५, ३६; कुमार., २, ५। [१३] कुमार., २, ६। [१४] वही, १०। [१५] वही, ११। [१६] वही, १२। [१७] वही, १३। [१८] वही, १४। [१९] वही, १५।

पर धीरे-धीरे पौराणिक काल मे ब्रह्मा की महिमा विष्णु और शिव के सामने घटती गयी है । स्वयभू होते हुए भी उनकी उत्पत्ति विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से हुई है। 'पद्मपुराण' मे ब्रह्मा को परम पद देने का प्रयास हुआ है और 'बृहत्सहिता' और 'विष्णुधर्मोत्तर' दोनों उसकी मूर्तिया बनाने का विधान करते है, जैसे 'पद्मपुराण' उनकी पूजा की विधि प्रस्तुत करता है। ब्रह्मा के महत्त्व का ह्रास ही उनके मन्दिरो के देश मे प्राय. अभाव होने का कारण है। ब्रह्मा के जाने हुए मन्दिर (कुल पाच-छ.) मध्यकाल के पुष्कर और प्रयाग मे है। पर मन्दिरो का अभाव होते हुए भी ब्रह्मा की मूर्तियो का अभाव कभी न रहा। फिर भी ये मूर्तिया 'स्वयप्रधान' नही विष्णु और शिव के पार्षद रूप मे ही अधिकतर निर्मित हुई। वस्तुत ब्रह्मा की मूर्तियो की प्रचुरता इतनी है कि वे सिन्ध से बगाल तक मिली है। इस देवता की कासे की बनी एक मूर्ति सिन्ध के मीरपुर खास मे मिली है जो कराची सग्रहालय मे सुरक्षित है; यह अत्यन्त महत्त्व की है। इसके चार मस्तक और दो भुजाए है जो पुस्तक और अक्षमाल अथवा कमण्डल धारण किये हुए हैं, मस्तक पर जटाएँ है। मूर्ति पूर्व-मध्यकाल की है।[1]

सूर्य

सूर्य का सबध भी आदि रूप से ऋग्वैदिक देवपरम्परा से है जिसके प्राचीन सविता नाम का उल्लेख गुप्तकालीन कवि ने भी किया है।[2] पीछे सात घोडे रथ मे जुते उसके मान लिये गये। सूर्य के अश्वो का उल्लेख 'ऋग्वेद' मे भी हुआ है।[3] पर 'ऋग्वेद' का सूर्य निश्चय प्रकृति का स्वरूप है, उसका पूजन मूर्तिमान् रूप मे इस देश मे बहुत पीछे शुरू हुआ जिसका सबध विजातियो से है। 'भविष्य पुराण' मे उल्लेख है कि जाम्बवती और कृष्ण के पुत्र साम्ब ने सूर्य का पहला मन्दिर सिन्ध मे चन्द्रभागा के तीर बनवाया और उसमे देवता–मूर्ति के पूजन के अर्थ शकद्वीप से शक-ब्राह्मणो (मग-पुजारियो) को बुलाया। प्रकट है कि तब सूर्य की मूर्तिपूजा के अभाव मे देशी पुजारियो की कुशलता उस दिशा मे न थी[4]—कर्मकाण्ड कठिन क्रिया है जिसमे अभ्यास आवश्यक है—जिससे शाकद्वीपी ब्राह्मणो की आवश्यकता पडी जो मध्य एशिया मे प्रचलित सूर्य की पूजा करने मे दक्ष थे। चन्द्रभागा (चिनाब) के तट पर मुलतान मे खडा एक मन्दिर चीनी यात्री हुएन्त्साग ने देखा था। चार सदियो बाद अल्बेरूनी ने भी उस मन्दिर का जिक्र किया। सत्रहवी सदी मे औरगजेब ने उसे ढहा दिया। यह मन्दिर नि सन्देह साम्ब का बनवाया तो

[1]टी. ए. जी. राव, एलिमेन्ट्स् ऑव हिन्दू आइकोनोग्राफी, २, पृ. ५०६—१०, प्लेट नं. १४८। [2]ऋतु., १, ६। [3]८, ६१, १६। [4]१३६।

न था पर इससे सिद्ध है कि तब सूर्य की पूजा सिन्ध में प्रचलित रही थी, विशेष कर इस कारण भी कि सूर्योपासक शकों का अवतरण पहले सिन्ध की ही भूमि पर हुआ था। महत्त्व का विषय है कि वराहमिहिर 'मगों' को सूर्यमूर्ति की पूजा के लिए पुजारी बनाने का विधान करता है।[1] भारत मे मिली सूर्य की पहली मूर्ति कुषाणकाल (पहली सदी ईसवी) की है जो मथुरा सग्रहालय मे आज भी सुरक्षित है।[2] इसकी साजसज्जा सर्वथा अभारतीय और मध्य-एशियाई है। वह सटा सलूका (वेस्ट कोट) और घुटनो तक पहुंचने वाले मध्य-एशियाई बूट पहनता है जो कुषाण राजाओ और सैनिकों[3] का परिधान है। साथ ही वह ईरानी राजपुरुषों की ही भांति खजर भी धारण करता है। वस्तुतः सूर्य का विशेषक कमल पुष्प यदि वह न धारण करता तो उसके कुषाण जातीय सामन्त होने का भ्रम हो जाता, जैसा आनन्द कुमार स्वामी को हो भी गया था। ब्रह्मा के मन्दिरों की ही भांति सूर्य के मन्दिरों की सख्या भी देश मे कम रही है। कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' मे सूर्य के उपस्थान का उल्लेख किया है।[4] कुमारगुप्त द्वितीय के शासन काल मे पाचवी सदी मे रेशम बुनने वाले जुलाहो के एक सघ ने मन्दसोर के कुछ पहले बने सूर्यमन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। इस जीर्णोद्धार की कहानी वहा के मधुर काव्यमय अभिलेख मे खुदी है।[5] कालान्तर मे, विशेषत मध्यकाल मे, सूर्य के अनेक मन्दिर बने जब उत्तर भारत मे, मुख्यत कश्मीर मे हूणो के शासनकाल मे सूर्य की पूजा लोकप्रिय हुई। कश्मीर मे तब सूर्य के अनेक मन्दिर बने जिनमे ग्रीक-गान्धार शैली का मार्तण्ड का मन्दिर, ललितादित्य का बनवाया, विशेष प्रसिद्ध हुआ। आज भी उसका खण्डहर खडा है। शक और कुषाण दोनो सूर्य के उपासक थे, यद्यपि पीछे शैवोपासना उनमे विशेष प्रचलित हुई। थानेश्वर के वर्धन-वशी राजाओ मे भी सूर्यपूजा का पहले बोलबाला था। मथुरा मे, लगता है, सिन्ध की ही भांति, कुछ काल तक सूर्यपूजा पर्याप्त प्रचलित रही जो वहा के सग्रहालय मे रखी कुषाणकालीन अनेक सूर्य प्रतिमाओ से प्रमाणित है। कालिदास ने सूर्य के सात हरे अश्वो का उल्लेख किया है (हरिदश्व)।[6] सात की जगह अनेक बार केवल चार घोडों का भी सूर्य के रथ मे मूर्तियो मे उपयोग हुआ है। मथुरा सग्रहालय की मूर्तियों के घोडे वायुवेग से उडे जाते कला मे प्रदर्शित हुए हैं। स्वय सूर्य रथ पर बैठा है, उसके दाहिने हाथ में खजर है, बदन पर सटा सलूका है, पैरो मे कुषाणो और मध्य-एशियाइयो के ऊँचे जूते है। समूची साजसज्जा निःसन्देह अभारतीय है। भारतीय सूर्यमूर्ति के उदाहरण भारतकला-भवन,

[1]बृहत्संहिता, ६०, १९। [2]नं. डी. ४६। [3]नं. २१२ (चष्टन), २१३ (कनिष्क), २१५ (वेम कड्फिसेज)। [4]५, ४। [5]कुमारगुप्त और बन्धुवर्मा का अभिलेख। [6]रघु., ३, २२।

काशी विश्वविद्यालय में प्रदर्शित हैं जिनमे सूर्य बैठा या खडा है और उसके रथ के सात घोडों को जंघाहीन अरुण हाक रहा है। देवता की हथेली अथवा कन्धे पर उसका प्रतीक कमल अंकित है। अक्सर उसकी दोनों पत्निया प्रभा और छाया, उसके साथ ही मूर्ति में उभरी होती है। मध्यकाल मे सूर्य की मूर्तिया भारतीय शैली मे असख्य बनी, पाल कला में धातु अथवा धातु का तीखापन लिये वे रूप मे मनहर थी। पुरी जिले में सागर तीर पर खडा कनारक का सूर्यमन्दिर वास्तुकला का मानदण्ड है, पर है वह गुप्तकाल के बहुत बाद का, मध्यकालीन सूर्य का मन्दिर एक उत्तर प्रदेश के बहराइच मे भी था जिसकी ख्याति इतनी बढी कि मन्दिर के नगर का नाम ही 'ब्रह्मर्चि' (सूर्य) पड गया जो बिगडकर आज 'बहराइच' बन गया है।

सूर्य के मन्दिरो का अधिकतर निर्माण पश्चिमी भारत के राजस्थान आदि मे हुआ। राजस्थान के दक्षिण में वे विशेष फले-फूले जहा शाकद्वीपी ब्राह्मण प्रचुर सख्या में बस गये थे।[1] मुलतान अथवा मूलस्थान का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पुराणो मे उसे साम्बपुर भी कहा गया है। वहा के मन्दिर के अतिरिक्त अन्य मन्दिरो का होना भी अभिलेखो से सूचित है। जिस मन्दसोर के सूर्यमन्दिर के जीर्णोद्धार की बात ऊपर कही गयी है वह ४३६ ई मे बना था और उसका जीर्णोद्धार सैंतीस वर्ष बाद ही ४७३ ई मे हुआ था। इन्दौर के ४६५ ई के ताम्रलेख मे सूर्यमन्दिर मे दीवा जलाने के लिए दान का जिक्र है। इसी प्रकार ५११ ई का एक दानपत्र एक दूसरे सूर्यमन्दिर का उल्लेख करता है और ग्वालियर के मिहिरकुल के शासन के ग्यारहवे वर्ष के अभिलेख मे भी एक सूर्य-मन्दिर के निर्माण की बात कही गयी है। हर्षवर्धन के पूर्वजो के सूर्यपूजक होने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हुएन्त्साग के वृत्तांत के अनुसार कन्नौज मे जो बौद्ध समारोह हुआ था, उसमे राजा ने बुद्ध की मूर्ति के साथ सूर्य और शिव की मूर्तिया भी पधरायी थी। इसी प्रकार आध्र के शालकायन राजकुल का आराध्य सूर्य ही था।

मथुरा की कुषाणकालीन ईरानी मुद्रा और साजसज्जा मे निर्मित सूर्य की मूर्तियो का जिक्र ऊपर किया जा चुका है। वहा की गुप्तकालीन सूर्यमूर्तियो का स्वरूप भी अधिकतर विदेशी ही है। भूमरा के शिवमदिर के चैत्य-वातायन मे सूर्य की एक मूर्ति उभारी गयी है जो वर्तुलाकार पगडी, लबा कोट, कमरबन्द फेंटा कसे हुए है और पैरो में घुटनो तक के ऊचे चमडे के जूते पहने हुए है। हाथो मे उसके कमल-कुड्मल हैं। उसके परिवार के दो जनों का वेश भी प्राय ऐसा ही है। दक्षिण भारत की सूर्यमूर्तियो मे जूतों का सर्वथा अभाव है और लबे कोट की जगह वे प्राय सदा 'उदरबन्ध' धारण करती है।

[1] द क्लासिकल एज, पृ. ४४२।

प्रकट है कि सूर्य की पूजा दक्षिण पहुचने के समय तक उसकी मूर्ति सर्वथा भारतीय हो चुकी थी।

इन्द्र

इन्द्र 'ऋग्वेद' का सबसे शक्तिमान् देवता था पर गुप्तकाल मे उसकी महिमा घट गयी थी। पौराणिक विश्वास मे वह अब भी देवराज कहलाता था, देवसेना का नेतृत्व करता था, पर वास्तव मे वह उनकी भीड का अग्रणी मात्र रह गया था, विष्णु और शिव के सामने उसकी कोई हस्ती नहीं रह गयी थी, वह उनका सेवक मात्र था। गुप्तकालीन कवि इन्द्र का वर्णन अति प्राचीन आख्यानो मे ही करता है।[१] जहां उसका कार्य यशस्वियो का मान और तपस्वियो का तप भंग करना रह गया था। हा, यज्ञो[२] का अब भी वह प्रधान देवता था और आकाश मे इन्द्रधनुष[३] के उगने पर उसकी विशेष पूजा होती थी, एक 'पुरुहूतध्वज' का उत्सव ही मनाया जाने लगा था। उसकी ऐरावत पर चढी मूर्तिया अब भी बनती थी—जो दूसरी सदी ई पू की भाजा की गुहा और आठवी सदी के एलोरा मे देखी जा सकती हैं—पर अब वह मात्र विष्णु आदि के परिवार का देवता रह गया था। उसका पुत्र जयन्त[४] आदर्श राजकुमार माना जाता था और गुप्त सम्राट् अपने बढ़े ऐश्वर्य की तुलना इन्द्र के वैभव से करते थे।[५]

अग्नि, वरुण, यम

भेडे पर चढे अग्निदेव की मूर्तिया भी पिछले गुप्तकाल मे बनने लगी थीं। पीछे उसके अग्नि की लपटे दिखायी जाती थी। ऋग्वैदिक काल मे अग्नि प्रधान देवताओं मे गिना जाता था। अब उसका महत्त्व केवल यज्ञ-होम के अवसर पर अथवा विवाह के साक्षी के रूप मे होता था। फिर जहा राजा अपने प्रासाद मे तपस्वियो आदि से मिलता था वहा भी अग्नि रखी जाती थी। उस कक्ष का नाम ही अग्न्यगार[६] था। इन्द्र और अग्नि की ही भाति वरुण की प्रतिष्ठा भी कम हो गयी थी। वह जलेश्वर था। वह राजा की उस प्रेरणा का पोषक था जिससे राजा कुमार्गियों का विनयन करता था।[७] कुषाण और गुप्तकालीन मूर्तिकला मे वरुण अपने वाहन घडियाल पर चढ़ा दुष्टो के दमन के लिए पाश लिये दिखाया

[१]रघु., ३; कुमार., ७, ४५; शाकु., ६। [२]रघु., ३, ३८, ४४; ६, २३। [३]वही, ४, ३। [४]वही, ३, २३; ६, ७८। [५]समुद्रगुप्त का प्रयाग का प्रशस्ति-लेख, पं. २६; चन्द्रगुप्त द्वितीय का मथुरा का प्रस्तरलेख। [६]रघु., ५, २५; शाकु., ५। [७]शाकु., ५, ८।

गया है।[1] ऋग्वैदिक काल से यम की महिमा पौराणिक काल मे अधिक बढी। उस काल अभी उसका देवत्व विशेष स्पष्ट न हुआ था और अधिकतर उसका अधिकार वरुण का करणीय था, पर गुप्तकाल मे वरुण की सत्ता कम हो जाने के कारण यम की स्थिति स्पष्ट हो आयी थी और उसका विनयन का कार्य अब यम ही करने लगा था। वह 'कृतान्त'[2] है जो कूट शाल्मलि (सेमल) का दण्ड धारण करता है।[3] अन्तक नाम से उसका उल्लेख गुप्त अभिलेखो मे हुआ है[4] और उसकी मूर्ति भैसे पर चढ़ी कोरी गयी है। अब तक वह नरक का स्वामी और दक्षिण का लोकपाल हो चुका था।

कुबेर

उत्तर दिशा के लोकपाल कुबेर की गुप्तकाल मे पूजा होने लगी थी। पौराणिक आख्यानों में उसका नाम धनपति के रूप मे खुलकर आने लगा था। वह यक्षो का स्वामी माना गया है और अलका मे उसका निवास बताया गया है। यक्षो की पूजा गुप्तकाल मे पर्याप्त होने लगी थी और उस काल के कवि कालिदास ने अपने काव्य 'मेघदूत' का नायक कुबेर के क्रोध से अभिशप्त एक यक्ष को ही बनाया। मूर्तिकला में कुबेर एक हाथ मे सुरापान के लिए चषक, दूसरे में रत्नो से भरी नकुली (तोडा) धारण करता है और उसका निकला हुआ पेट बनिया का रूप खडा कर देता है। मथुरा और लखनऊ के सग्रहालयो मे कुबेर की अनेक मूर्तिया सुरक्षित है। कुषाणकालीन कुबेर की एक मथुरा की मूर्ति आसवपायी स्थिति मे कोरी गयी है जिसे ग्रीक नारिया सुरापान करा रही है। गुप्त अभिलेखो मे भी इस देवता का उल्लेख मिलता है।[5] कालिदास ने भी अनेक बार कुबेर का उल्लेख किया है।[6]

शेषनाग

शेषनाग भी नवीन देवता है, जो अपने सहस्र फणो पर पृथ्वी का भार धारण करता है। वह विष्णु की शय्या है जिसके गुजलको पर विष्णु क्षीरसागर मे विश्राम करते हैं। इस रूप मे विष्णु के साथ ही गुप्तकाल मे उसकी अनेक मूर्तिया बनी। लक्ष्मण और बलराम शेषनाग के अवतार माने गये हैं।

[1]प्रयाग का स्तम्भलेख। [2]मेघदूत—संगमं नौ कृतान्तः। [3]रघु., १२, ६५। [4]प्रयाग का स्तंभलेख, एरण अभिलेख। [5]प्रयाग प्रशस्ति-लेख, पं. २६; एरण का लेख, पं. ९; चन्द्रगुप्त द्वितीय का मथुरा प्रस्तरलेख; भीतरी वाला स्कन्दगुप्त का लेख। [6]रघु., ५, २६; २८; ९, २४; २५; १४, २०; १६, १०; १७, ८१; कुमार., २, २२; मे. पू., ७; विक्रमो., १, ४।

देवियां, लक्ष्मी

गुप्तकालीन देवियो की सख्या भी प्रचुर थी यद्यपि उनकी सख्या देवताओ के बराबर न थी। देववर्ग मे प्रधान होने के कारण स्वाभाविक ही विष्णु और शिव की पत्नियो—लक्ष्मी और पार्वती—का प्रभाव उस काल पर्याप्त बढ़ा। इनके अतिरिक्त भी सप्त मातृकाओ, सरस्वती, गगा, यमुना आदि का भी प्राबल्य तब के मूर्तिविधान मे बढ़ा।

लक्ष्मी, धन की स्वामिनी, विष्णु की पत्नी है जो अधिकतर विष्णु के साथ उनके चरण की सेवा करती पद्म पर बैठी मूर्त हुई है। पद्म से सबधित होने के कारण ही उसका एक नाम पद्मा अथवा कमला भी है। गुप्तकालीन लक्ष्मी के अनेक रूप मिलते है जो विष्णु से अलग स्वतन्त्र रूपायित हुए है। क्षीरशायी विष्णु-सेविनी लक्ष्मी से भिन्न उसके दो रूप गजलक्ष्मी और श्रीलक्ष्मी के हैं। गजलक्ष्मी रूप मे वह दोनो ओर से गजो द्वारा अभिषेक की जाती हुई (नहलायी जाती हुई) दिखायी जाती है। इस प्रकार की लक्ष्मी की अनेक गुप्तकालीन मूर्तिया पत्थर और मिट्टी की बनी मिली हैं। श्रीलक्ष्मी विशेषत. कमलो से घिरी रहती है। ऐसी एक स्तम्भचढ़ी लक्ष्मी की खडी मूर्ति लखनऊ के सग्रहालय मे सुरक्षित है जो गुप्तकाल से कुछ पूर्व की है। उसके पीछे के स्तम्भ भाग मे फुल्ल कमल और हस रूपायित है।

लक्ष्मी का विष्णु की पत्नी माना जाना गुप्तकालीन पुराणो की देन है। प्रकटादित्य के सारनाथ-अभिलेख मे वह वासुदेव की पत्नी कही गयी है, जैसे स्कन्दगुप्त के जूनागढ वाले लेख मे विष्णु की। गजलक्ष्मी के रूप तो अनेक सिक्को पर भी उभारे गये। गजलक्ष्मी शरभपुर और समतट के राजवशो का प्रतीक बन गयी थी, जिसे उन्होने राज-चिह्न के रूप मे उपयुक्त किया।[1]

शक्ति

वैष्णव और शैव सम्प्रदायो की ही भाति शाक्तों का सम्प्रदाय भी इस देश मे प्रबल हुआ जिसकी मर्यादा आज भी बनी हुई है। शक्ति वस्तुतः उमा और पार्वती का ही विकसित तान्त्रिक-दार्शनिक रूप है जिसकी कालान्तर में विशेष महिमा बढी। उमा शिव की पत्नी का प्रायः कन्या रूप है जो विवाहिता होकर माता-रूपिणी पार्वती कहलायी पर वही धीरे-धीरे जब कपालाभरणा काली अथवा सिंहवाहिनी दुर्गा बन महाकाल की

[1] द क्लासिकल एज, पृ. ४३४।

शक्ति बनी तब उसका तेज जैसे स्वतंत्र हो उठा। विष्णु और शिव को छोड़ देव और देवी वर्ग में किसी देवता की महिमा इतनी नही बढ़ी जितनी इस शक्ति अथवा दुर्गा की। यह कह सकना कठिन है कि कैसे और कब शक्ति काली, चामुण्डा, चण्डी, देवी आदि के रूप में शिवपत्नी बन गयी, पर निश्चय उसकी स्थिति ऐसी होकर भी लक्ष्मी, इन्द्राणी आदि की भाति पति की शक्ति पर निर्भर नही, स्वय प्रधान है। उसका संबध दूसरी ओर सरस्वती से भी है क्योंकि वह वाग्देवी भी मानी जाती है। उसके इस रूप मे, लगता है 'ऋग्वेद' की शक्ति-देवी वागम्भृणी का निवास हुआ जिसके वाक्तेज की समता ससार के साहित्य में नही है। वह कहती है—"अह रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ। अह जनाय समद कृणोमि अह द्यावापृथिवी आविवेश"—मैं ही ब्रह्म के द्वेषियो को मारने के लिए रुद्र का धनुष चढ़ाती हू, मैं ही सेनाओ को मैदान मे ला खडी करती हू, मैं ही आकाश और पृथ्वी पर सर्वत्र व्याप्त हू।[1]

सभवत शक्ति को साख्य दर्शन के पुरुष के समकक्ष की प्रकृति से कुछ बल मिला। पुरुष निश्चेष्ट है, प्रकृति ही सक्रिय है, वेदान्तवादियो की माया की भाति जिसे 'नित्या शक्ति' कहा गया है। माया प्रज्ञा और स्वप्न दोनो है इससे देवी सरस्वती और मोह-रात्रि दोनो हो गयी। इस प्रकार शक्ति, ज्ञान और मोह उत्पन्न करनेवाली शक्तिया स्रष्टा शक्ति से सयुक्त हो गयी। महालक्ष्मी, तान्त्रिको की शक्ति देवताओ तक को सिरजने लगी, दुर्गा रूप में वह असुरो का सहार करने लगी, देवी रूप मे शाक्त साहित्य को साक्षात् कराने लगी, योगनिद्रा रूप मे जीवो को निद्राभिभूत करने लगी।[2]

शक्ति मे विष्णु और शिव दोनो के प्रभाव का समिश्रण प्रकट है, जैसे देवी के महा-लक्ष्मी नाम से ही प्रकट है। 'हरिवश' उसे विष्णु और इन्द्र की भगिनी कौशिकी मानता है, 'महाभारत' मे दुर्गा नारायण और शिव दोनो की भार्या है, और 'विष्णुपुराण' में आद्या-शक्ति महालक्ष्मी का रूप लेती है। पीछे उसका सबध शिव की बढ़ती शक्ति के साथ होता है, वे उमापति होते हैं, वह माहेश्वरी, महादेवी, महाकाली आदि नामो से अभिहित होने लगती है। गौरी आरम्भ मे वरुण की पत्नी है, पार्वती की सखी, जो धीरे धीरे शिव की ही अर्धांगिनी बन जाती है और उमापति गौरीश बन जाते हैं। इस प्रकार देवताओ की शक्तियों का परिवार धीरे ही धीरे शिव के परिवार मे लुप्त हो जाता है, सप्त मातृकाएं शिवपरिवार की देविया सयुक्त रूप से प्रकट होती हैं जिनका उल्लेख यथास्थान करेगे।

पुराणो (मार्कण्डेयादि) में जो असुर सहार की अनन्त कथाएँ गुही जाने लगी उनसे देवी का माहात्म्य कल्पनातीत बढ़ा, जिसने उसे उसी अनुपात मे अपने शिव जैसे समर्थ

[1] उपाध्याय, विमेन इन ऋग्वेद, पृ. २१। [2] द क्लासिकल एज, पृ. ४४५।

और शक्तिमान् स्वामी से भी स्वतंत्र कर दिया। शुम्भ-निशुम्भ, चण्ड-मुण्ड, रक्तबीज और महिषासुर आदि के संहार ने देवी की शक्ति अथवा देवी की महिमा अनंत मात्रा में बढ़ा दी जो किसी देवता के लिए ऐश्वर्य का कार्य हो सकता था। मातृसत्ताक जगत् में इसकी विशेष सत्ता जमी और शक्ति अपने देवता से स्वाधीन सर्वथा एकाकिनी हो बैठी। पति से स्वतंत्र ही उसकी पूजा में स्तवन होने लगे, 'चण्डीशतक', 'चण्डीस्तोत्र' आदि रचे जाने लगे। शिव शक्ति में समाये और शक्ति शिव में समायी, शैव और शाक्त संप्रदाय संयुक्त हो चले। उमा-महेश्वर और अर्धनारीश्वर का यह परिणाम होना ही था। इसी में गणेश और कार्तिकेय के संप्रदाय भी आ मिले, तारा प्रज्ञापारमिता की भी सत्ता शक्ति से आ मिली, तब शैव-शाक्त-वज्रयानी तन्त्रवाद का एक अद्भुत शक्तिसंचय 'शक्ति' को प्राप्त हुआ जिसके जोड़ की शक्तिमत्ता किसी देवता में न जुड़ी। सर्प और चेचक आदि संबंधित भय का भी संबंध मनसा आदि देवियों में किया जाने लगा जो मूलतः शक्ति का ही पर्याय बन गयी। शक्ति की दार्शनिक सत्ता तो निश्चय व्यक्ति शक्ति में भी ऊपर उठी पर उसकी व्यावहारिक सत्ता दुर्गा, चंडी आदि के कठिन कृत्यों में विकसी।

सप्त मातृका

जब शक्ति के अनेक कृत्य अनेकधा संपन्न हुए तब सभी देवताओं की शक्तियां, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, एकत्र संयुक्त हो गयी और 'सप्त मातृका' कहलायी। नाम तो उनके अलग अलग—ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और यमी अथवा चामुण्डा—देवताओं से ही संबंधित रहे, पर संयुक्त रूप में वे उनसे सर्वथा भिन्न हो गयी, उनकी शक्ति आत्मसात् कर उनसे विच्छिन्न, अपनी संयुक्त शक्ति से दीप्तिमती। सप्त मातृकाओं का एकत्र उदय कुषाण काल में ही हो चुका था जिनका एक ही पट्टिका में रूपायन तब अनेक बार हुआ। इनसे रूपायित अनेक पट्टिकाएँ मथुरा, प्रयाग और लखनऊ के संग्रहालयों में प्रदर्शित है। पट्टिकाओं पर वे नीचे तक घाघरा धारण करती है। उनका परिगणन गुप्त कालीन कोशकार अमरसिंह ने 'अमरकोश' में किया है।[1] समकालीन कवि कालिदास उन्हें संयुक्त रूप में 'मातर' कहता है[2] और कम से कम एक गुप्त अभिलेख उनका नामतः उल्लेख करता है।[3]

[1] ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्त मातरः॥

[2] कुमार., ७, ३८। [3] स्कन्दगुप्त का बिहार स्तंभलेख, पंक्ति, ६।

सरस्वती

सरस्वती, अपनी स्वतत्र सत्ता रखती हुई भी, ब्रह्मा की पत्नी है और मूर्तियों मे पुस्तक, अक्षमाला आदि धारण करती है। ज्ञान और गिरा की देवी सरस्वती का वाहन हस है और मूर्तियों मे देवी कच्छपी वीणा धारण करती है।

गंगा-यमुना

गगा और यमुना का कला मे प्रादुर्भाव कुषाण काल मे ही हो गया था और गुप्त-काल मे उनकी क्रमश: मकर और कछुए पर चढ़ी अनेक मूर्तिया बनी। अधिकतर ये देव-मन्दिरो के द्वार की चौखट पर चमर धारण किये खडी मूर्त होती है। कालिदास ने भी इन्हें शिव की चमर धारिणी सेविकाओ के रूप मे ही प्रकट किया है।[1] गगा का उद्‌भव विष्णु के अगूठे से[2] और यमुना का सूर्य से माना जाता है। पर्वतो और नदियो की पूजा इस देश की देशप्रियता मे सनिहित रही है। स्वय 'ऋग्वेद' मे पजाब की नदियों और गगा–यमुना का स्तवन हुआ है।[3] गुप्तकाल मे तो गगा–यमुना मे स्नान पातकनाश का साधन माना जाने लगा था और प्रयाग मे उनका सगम तो कब का तीर्थ की सज्ञा पा चुका था। कालिदास ने उसका अत्यन्त मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है।[4] हर्ष ने उसी सगम पर अपना महामोक्ष–परिषद् का दानयज्ञ सपन्न किया था। गगा के ही तीर भारशिव नागो ने अपने अश्वमेधो के बार-बार अवभृथ स्नान किये थे। यमुना के तीर और धारा सबधी कृष्ण की अनन्त कथाएँ गुप्तकाल तक लोकप्रिय बन चुकी थी और भगीरथ द्वारा गगा के पृथ्वी पर लाये जाने का कठिन प्रयत्न तब तक कहानी बन चुका था।

पितृपूजा

देवी-देवताओ के अतिरिक्त अनेक मानव और अन्य जीव भी देवो–अर्धदेवो की महिमा गुप्तकाल तक प्राप्त कर चुके थे। पितरो की पूजा तो मानवो मे अति प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है।[5] पिडदान सभी गृहस्थो के लिए आवश्यक माना जाता था। पुत्र उत्पन्न करके गृहस्थ पितरो के ही ऋण से उऋण होता था। पुत्रहीनता इसी कारण दु:ख माना गया कि उससे पितरो के पिंडदान की क्रिया समाप्त हो जायगी।

[1]कुमार., ७, ४२। [2]वही, ६, ७०। [3]प्रसिद्ध नदी-सूक्त में। [4]रघु., १३, ५४—७५। [5]वही, १, ६६; ६७; ६९; ७१; ५, ८; शाकु., ६, २५।

सप्तर्षि

प्राचीन सप्तर्षि भी एक प्रकार के पितर ही थे, जो आकाश के नक्षत्रों में प्रतिष्ठित कर लिये गये। 'ऋग्वेद' मे भी इनकी संख्या सात है।[१] विष्णुपुराण की गुप्तकालीन प्रणाली से भिन्न समकालीन कवि कालिदास ने उनकी संख्या परम्परा का पालन कर सात ही[२] दी है। 'विष्णुपुराण' की सप्तर्षि गणना इस प्रकार है—भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि और वसिष्ठ। पितरो की ही भाति सप्तर्षियो का पद भी देवतुल्य माना जाता था। 'ऋग्वेद' ने ही अति प्राचीन काल मे उन्हें दिव्य कहा और देवतुल्य उनका आदर किया।[3] 'शतपथब्राह्मण'[४] और बृहदारण्यक उपनिषद[५] ने भी इस मान्य परम्परा को स्वीकार कर उसका प्रसार किया। कालिदास ने उनका उपयोग शिव के विवाहार्थ हिमालय से उसकी कन्या उमा को उनसे मंगवाकर किया।[६] पितरो की ही भाति पुण्यजनों[७] की गणना भी विद्याधरो, गन्धर्वों, अप्सराओ, सर्पों, देवो आदि के साथ की गयी है।

विद्याधर, किन्नर

धार्मिक जनविश्वास तब कुछ अश तक ऐसी योनियो मे भी था जो मनुष्य और देवो से पृथक् थी पर अधिकतर देवोत्तर थी। विद्याधर, किन्नर अथवा किंपुरुष, यक्ष, सिद्ध, गण आदि इन्ही योनियो के थे जिनका उल्लेख तत्कालीन कवियो ने किया है और कलाकारो ने जिनकी मूर्तिया कोरी या चित्रकारो ने जिनके चित्र चिते हैं। लोगों का इनकी अमानवी शक्ति मे विश्वास था। लोग समझते थे कि विद्याधर हिमालय के ऊचे शिखरो पर रहते हैं। गेरू द्वारा भोजपत्र पर विद्याधरियो के प्रेमपत्र लिखने का उल्लेख मिलता है।[८] हर्ष ने अपने नाटक 'नागानन्द' का एक विद्याधर को ही नायक बनाया है। किन्नरों का मस्तक तो मनुष्य का, पर धड घोड़े का होता था। इस प्रकार के किन्नर-किन्नरियो के मूर्तन कला मे भी हुए हैं और इनमे से कुछ मथुरा के सग्रहालय मे आज भी देखे जा सकते है। इन्ही की एक दूसरी योनि अश्वमुखी कहलाती थी।[९] किन्नरो को भी गन्धर्वों की ही भाति स्वर्गीय गायक माना गया है।[१०] इन्हीं का दूसरा नाम किंपुरुष था क्योंकि इन्हें देख कर नर या पुरुष का धोखा हो जाया करता था।

[१] ४, ४२, ८। [२] रघु., १०, ६३; कुमार., १, १६। [3] १०, १०९, ४। [४] १४, ५, २, ६। [५] २, २, ६। [६] कुमार., ६, ४७—८८। [७] गन्धर्वाप्सरसो देवाः पुण्यजनाः पितरः, अथर्ववेद, ८, ८, १५। [८] कुमार., १, ७। [९] वही, ११। [१०] वही, ८।

यक्ष

यक्ष अलका मे रहते और धनराज कुबेर की सेवा करते थे। उनकी नगरी और जीवन का कालिदास ने पौराणिक विश्वासगत वर्णन किया है। मौर्यकाल से ही, संभवतः और भी पहले से लोगों मे यक्षो की पूजा चल पडी थी। तब से गुप्तकाल तक लगातार यक्षो की मूर्तिया बनती आयी थी और उनका पूजन जनसाधारण मे सामान्य रूप से होने लगा था। यह महत्त्व का विषय है कि भारत की प्राचीनतम मूर्ति यक्ष की ही उपलब्ध हुई है जो विशाल, सर्वतोभद्रिका मौर्य कालीन है।[1] यह मथुरा के संग्रहालय में प्रदर्शित है। इसका निर्माण दिन्न नामक मूर्तिकार ने किया था। हमारे संग्रहालयो मे इस प्रकार की छोटी-बडी सैंकडों मूर्तिया संगृहीत है जिनसे देश में व्यापक रूप से यक्ष-पूजा के प्रचलित रहने का प्रमाण मिलता है। प्रणय के क्षेत्र मे यक्षो का अपना स्थान था जिससे कालिदास का अपने 'मेघदूत' का नायक यक्ष को बनाना स्वाभाविक हो गया। यक्ष जनजीवन के रोमाचक अग को व्यक्त करते है। यक्षी भारतीय कला और साहित्य मे मानवीय तृष्णा और तृषित मनोरथो की परिचायिका है जो पुरुष-वामन को वाहन बना उस पर खडी होती है। पुरुष की उन सारी कामनाओं की वह मूर्तिमती सत्ता है जिनसे पुरुष कुचला जा रहा है। इस प्रकार की अनेक यक्षी मूर्तिया कुषाण और गुप्तकाल मे बनी।

सिद्ध और गण

सिद्धो का भी विद्याधरो की ही भाति हिमालय के शिखरो पर ही निवास माना जाता है।[2] उनमे अमानवी विभूति और सिद्धिया होने की कल्पना की गयी है। इन्ही की भाति गण भी अमानवी शक्ति के जीव माने जाते हैं। इनका सबध शिव से रहा है।[3] ये विविध प्रकार के डरावने रूपधारी होते है और इनके स्वामी शिव के पुत्र गणेश या गणपति हैं। इनके अनेक रूप भूमरा के शिवमन्दिर की दीवारों पर कोरे गये थे जिनकी पट्टिकाएँ प्रयाग के संग्रहालय मे प्रदर्शित हैं। जैसे शिव के गण थे वैसे ही काली की अपनी योगिनिया थी जिनकी काया डरावनी थी, यद्यपि जिन्हे अनेक प्रकार की सिद्धिया प्राप्त थी।

बहुदेववाद

गुप्तकाल का भारतीय धर्म पहले की ही भाति बहुदेववादी था और यद्यपि

[1]परखम यक्ष, नं. सी. १। [2]कुमार., १, ५। [3]वही, ५४; ७, ४०।

वैदिक काल से ही एक ही देव के अनेक रूपी देवता होने की बात कही जाती रही थी, वस्तुतः एकदेववाद, एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवादी देव का स्वरूप बन न सका। कम से कम गुप्तकाल के जीवन मे देवधर्म की वह स्थिति अजानी थी। दार्शनिक ऊहापोह मे निश्चय यह व्यापक एकदेव की सत्ता स्वीकार की जाने लगी थी परन्तु जनसाधारण पौराणिक विश्वासो के अनुरूप ही अनेक देवोदेवियो की उनकी प्रतिमाओ के माध्यम से उपासना करता था। आराध्य निश्चय सारे देवताओं का अतिक्रमण कर मात्र अकेला आराधक के हृदय मे प्रवेश पाता था, परन्तु अन्य देवताओ के प्रति उसका अनादर कभी नहीं होता था। एक देवाराधक अपने आराध्य मे सभी अन्य देवताओ की शक्ति और गुणो की प्रतिष्ठा कर उसे पूजता था और उसी एक को जगत का कर्ता, पालक तथा संहारक मानता था। ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनो को अपने आप जनमकर, चराचर को सिरज, उसे धारण और उसका पालन कर अन्त मे उसका नाश करने की महिमा बारी-बारी से दी गयी है। तीनो की एक मूर्ति बना, फिर ब्रह्मा को छोड हरिहर की एकान्त कल्पना द्वारा द्विदेवो के क्रम से अर्धनारीश्वर का विधान अवश्य देवताओं की अनेकता से एकता की ओर सकेत करता है, पर पूजन मे व्यवहार भिन्न-भिन्न जातियो, जनो, वर्णों, सघो आदि मे भिन्न भिन्न देवताओ का ही हुआ।

पूजा

देश मे मन्दिरो की सख्या अनन्त थी, उनमे पधरायी देवमूर्तियो की संख्या अनन्त थी और उन देवस्थानो मे ऋचागायको, स्तोत्रपाठको, उपासको की भीड लगी रहती थी, देवमूर्तिया बनवाकर पूजा के लिए दान कर देना धर्मभावना का प्रमाण माना जाता था। अनेक लोग मूर्तियो के पूजन के अर्थ, मन्दिर बनवाकर उसके व्यय के अर्थ, दान द्वारा 'अक्षय-नीवी' प्रस्तुत करते थे जिससे पूजन मे द्रव्य का कभी अभाव न हो। इस प्रकार के ग्राम, भूमि, पशु और मूर्तिदान सबधी असख्य अभिलेख कुषाण और गुप्त-कालीन ब्राह्मी मे लिखे मिले हैं जिनसे पूजन की इस स्थिति पर प्रकाश पडता है। पूजा की अनेक विधिया थी, जिनका उल्लेख समकालीन साहित्य मे सपर्या,[१] विधिक्रिया[२] अर्चना,[3] बलिकर्म[४] आदि शब्दो द्वारा हुआ है। विधि का तात्पर्य पूजन की विशेष रीति से था। सभी देवताओ की पूजा एक ही प्रकार से नही होती थी। सूर्य, शिव, विष्णु, विविध देवियो की अर्चना भिन्न भिन्न प्रकार से, भिन्न भिन्न द्रव्यो, पुष्पो, पत्रो, हवियों

[१] रघु., ५, २२। [२] वही, १, ५६; ५, ७; ७६; ८, ७६; कुमार., ८, ४७; ५०।
[3] शाकु., पृ., ११७। [४] विक्रमो., ३, २।

आदि द्वारा होती थी। पूजा में देवी, चण्डी आदि को पशुबलि भी चढ़ती थी, पर साधारणतः पुष्प, पत्र, दूर्वा, कुश, अक्षत तथा विविध मिठाइयो और पकवानों का उपयोग होता था। मधु, घृत आदि से प्रस्तुत अर्घ्य भी देवताओ और अतिथियो की सेवा मे प्रयुक्त होता था। पूजा दिन मे कम से कम दो बार—प्रात. और सध्या—की जाती थी। पूजन-स्तवन के समय अजलि भरकर जो जल या फूल चढाते थे उसे अजलिक्रिया कहते थे। श्राद्ध मे जल के साथ तिल का भी उपयोग होता था जिससे वह 'तिलोदक' कहलाता था। पूजा शास्त्रोक्त विधि से सपन्न की जाती थी और 'विधिविदो' का देश मे अभाव न था।

अनुष्ठान

'अनुष्ठान' और 'व्रत' तब के धर्माचरण के प्रधान बहिरग थे और क्रियाओं के अतिरिक्त अनुष्ठान मे वैदिक मन्त्रो का जाप होता था और नियत समय के भीतर उपवास के बाद मन्त्रो के उच्चारण के साथ अग्निहोम किया जाता था। अनुष्ठान का प्रयोजन व्याधि और अनागत विपत्ति दूर करना अथवा विशेष मनोरथ पूरा करना होता था। अधिकतर घरो मे अनुष्ठानों के लिए एक कमरा ही अलग कर दिया जाता था जिसे 'मगलगृह' कहते थे।

व्रत

व्रतों के भी अनेक प्रकार थे। उनका अनुष्ठान उपवास करते हुए अनेक धर्म-क्रियाओ द्वारा संपन्न होता था। व्रत की समाप्ति 'पारण' द्वारा होती थी जब ब्राह्मणो को भोजन करा, उन्हे दक्षिणा आदि से सतुष्ट कर गृहस्थ स्वय आहार ग्रहण करता था। व्रत मे उपवास तोडने के अर्थ लिया गया आहार ही 'पारण' कहलाता था। मनौती पूरी करने के लिए अथवा त्यौहारो पर व्रत किये जाते थे। नारी जब व्रत-उपवास करती थी तब वह धवल वस्त्र धारण करती थी, केवल अनिवार्य आभूषण पहनती और मागलिक दूब अपने अलको मे गूथ लेती थी। प्रोषितपतिकाएँ अथवा विरहिणिया विरह के दिनो मे मलिन वस्त्र पहन केशो को अस्निग्ध छोड देती थी जिससे उनकी वेणिया रूखी हो जाती थी। कुपित पति को प्रसन्न करने के लिए वे जिस व्रत का अनुष्ठान करती थी उसे प्रिय-प्रसादनव्रत कहते थे। 'प्रायोपवेश'—धीरे धीरे आहार कम करके प्राण दे देने—का व्यवहार भी समाज मे अजाना न था, यद्यपि इस प्रकार का प्राणनाशक व्रत अधिकतर जैन लोग किया करते थे। गाय की सेवा का व्रत भी कुछ लोग बड़े मनोयोग से करते थे। कालिदास ने दिलीप के गोव्रत का प्राचीन अनुष्ठान 'रघुवंश' मे बड़े मनोयोग

से अंकित किया है।[1] गुप्तकाल में गाय महनीय मानी जाती थी, उसकी प्रदक्षिणा का शास्त्रों में विधान किया गया है। 'असिधाराव्रत' की विशेष महिमा मानी जाती थी, यह जैसे तलवार की धार पर दौड़ना था। एक ही शय्या पर युवती स्त्री के साथ सोकर भी उससे विरत रहना[2] असिधाराव्रत का एक रूप था। निश्चय यह संज्ञा अनेक कठिन व्रतो के पालन की भी थी। जब पति परदेश मे होता था तब एक अनुष्ठान किया जाता था जिसे 'काकबलि' कहते थे। विरहिणी पत्नी पति के बाहर रहने के दिन गिनकर उतनी ही सख्या मे फूल टाग देती और नित्य एक फूल देहली पर फेंक देती। नित्य की पूजा के अन्न को कौए को खिलाने से भी यह नाम प्रचलित हुआ जान पडता है। पति के लौटने के लिए काक को अन्न देकर उससे कौतुकपूर्वक दिन उचरवाया भी जाता था।

यज्ञ

प्राचीन यज्ञों की परम्परा अभी मरी न थी। अनेक प्रकार के यज्ञ गुप्तकाल मे भी होते थे। यज्ञ दोनो प्रकार के होते थे, दीर्घ और शीघ्र समाप्त हो जानेवाले। 'दीर्घ सत्र' अथवा 'महाक्रतु' दीर्घकालीन यज्ञ था। 'भागवत पुराण' के अनुसार दीर्घ सत्र का अनुष्ठान-परिमाण एक वर्ष से सहस्र वर्ष तक होता था। जिस यज्ञ मे पशुवध नही होता था उसे 'अध्वर' कहते थे, पर अनेक प्रकार के यज्ञ ऐसे भी थे जिनमे पशुवध होता था।[3] 'मेध्य' उस पशु को कहते थे जो वेदी पर बलि दिया जाता था। पशु को वध के पहले यज्ञस्तभ से, जिसे 'यूप'[4] कहते थे, बाध देते थे। यह बन्धन कर्म स्वय यज्ञ की क्रियाओ मे से था और मत्रोच्चारण द्वारा सपन्न होता था।[5] कालिदास ने श्रोत्रिय ब्राह्मणों को दान मे दिये गावो और उनमे खडे यूपो का वर्णन किया है।[6] उभरी हुई अर्गला के साथ पत्थर के दो विशाल यूप मथुरा के सग्रहालय मे सुरक्षित है। इनमें से एक, एक साम-वेदी ब्राह्मण का दान है जो उस पर खुदे अभिलेख से प्रकट है।[7] दिग्विजय के लिए अश्व-मेध की परम्परा गुप्तकाल मे भी जीवित रही थी। गुप्त सम्राट् 'अश्वमेध-पराक्रम' कहे गये हैं। समुद्रगुप्त के अश्वमेध का स्मारक एक प्रकार का सोने का सिक्का था जो

[1] सर्ग २।

[2] यत्रैकशयनस्थापि प्रमदा नोपभुज्यते।
असिधाराव्रतं तत्तु ब्रवन्ति मुनिपुंगवाः॥ —यादव।

[3] पशुमारणकर्मदारुणो, शाकु., ६, १। [4] रघु., १, ४४; ६, ३८; ६, ३०; ११, ३७; १३, ६१; १६, ३५। [5] वही, ११, ३७। [6] वही, १, ४४।

[7] मं. क्यू. १३, फोगल का 'कैटेलाग'।

आज भी उपलब्ध है और जिसमें बलि के लिए वेदी के सामने अश्व की खडी आकृति ढाली गयी है। उसी अश्व की एक छोटी आकृति पत्थर में गढी लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है, जिस पर, कुछ विद्वानों का विश्वास है, गुप्त साम्राज्य का मानचित्र भी खुदा है। कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' में अश्वमेध संबंधी संघर्ष का चित्र खींचा है। अश्व निरर्गल (बेलगाम) करके छोड दिया जाता था। वह स्वच्छन्द विचरता था और उसकी रक्षा के लिए अश्वमेध करने वाले की सेना उसके पीछे चलती थी। जब अश्व किसी स्वतंत्र राष्ट्र की सीमा मे प्रवेश करता तब उस राष्ट्र के राजा का धर्म होता था कि या तो वह चुपचाप अश्वमेधी की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ले या यदि उसे उसकी सत्ता मान्य न हो तो घोड को बाध ले। दूसरी स्थिति में दोनो की सेनाओं मे युद्ध होता था। यदि अश्वमेधी की सेना जीत जाती तो वह राज्य उसका हो जाता और यदि वह सेना हार जाती तो अश्वमेध भ्रष्ट हो जाता। यदि वर्ष भर के बाद अश्व लौट आता तब उसे मुक्त करने वाला राजा सम्राट् की उपाधि धारण कर अश्व को बलि देकर यज्ञ सपन्न करता था। सभी प्रकार के यज्ञों के आरम्भ मे यजमान पहले यज्ञ की दीक्षा लेता।[१] उस काल, तब के विश्वास के अनुसार, शिव उस दीक्षा के साथ यजमान के शरीर मे प्रवेश कर उसे अपना-सा ही पवित्र बना देते। वह 'यज्ञशरण' (यज्ञशाला) मे प्रवेश करने के बाद यज्ञ समाप्त होने तक वही रहता था, उसे कभी छोड़ नही सकता था।[२] यज्ञ के बाद एक और अनुष्ठान होता था जिसका नाम अवभृथ-स्नान था और जो स्वय एक प्रकार का छोटा-मोटा यज्ञ था। 'दीर्घसत्र' के बाद सोलह पुरोहित इसमे भाग लेते थे। यजमान यज्ञ का अन्तिम स्नान करता था और पुरोहित यज्ञ मे उपयुक्त आहुति, भस्म आदि को वरुण की पूजा करके नदी मे प्रवाहित कर देते थे।[३]

अश्वमेध और दीर्घसत्र के अतिरिक्त 'विश्वजित्' नामक यज्ञ का भी उल्लेख मिलता है पर प्राचीन प्रसग मे ही,[४] जिससे प्रकट है कि इस प्रकार के यज्ञ की सामर्थ्य राजाओं मे अब नही रह गयी थी। इसमे दिग्विजय के बाद सम्राट् अपना सब कुछ ब्राह्मणो को दान कर दिया करता था। हर्ष ने कोई अश्वमेध तो नही किया पर प्रयाग मे त्रिवेणी के सगम पर 'महामोक्ष परिषद' का आयोजन कर अपना सारा कोष, अपना परिधान तक दान कर दिया था, जिससे अपने पहनने के लिए उसे अपनी बहिन राज्यश्री से वस्त्रों का जोडा मांगना पडा था। 'पुत्रेष्टि' पुत्र की प्राप्ति के लिए किया जाता था।

[१]रघु., ८, ७५; ११, २४। [२]रघु., ८, ७५; और देखिए बौधायन, सोमप्रकरण। [३]अमरकोश, दीक्षान्तोऽ वभृथो यज्ञः; बौधायन, अग्निष्टोमसूत्र, प्रश्न ५, सूत्र ६२—६३; तैत्तिरीय ब्राह्मण, २, ६६। [४]रघु., ५, १।

यज्ञ अथवा अनुष्ठान के बाद पुरोहितो-ब्राह्मणों को अनिवार्यतः 'दक्षिणा'[1] दी जाती थी। पुरोहितो की सख्या वैदिक काल मे ही सोलह से ऊपर हो गयी थी। विश्वजित् यज्ञ मे तो सभी कुछ यजमान को दान कर देना पड़ता था। यज्ञ में अनेक प्रकार की वस्तुएँ चढ़ती थी। ये वस्तुए 'मेध्य' कहलाती थी। पशु के अतिरिक्त अन्य मेध्यों मे हवि अथवा पयश्चरु, खीर आदि गिनी जाती थी, इसी से अग्नि का एक नाम 'हविर्भुज्' पड गया था। यज्ञो का प्रधान देवता इन्द्र था जिससे उसका एक नाम 'मखाश-भाज्' भी था। 'स्रुव' जिससे हवि अग्नि मे डाली जाती थी, विककत नामक लकड़ी का बना होता था। स्रुक्[2] इससे बडा होता था, एक प्रकार की कलछी। 'अरणी' भी लकडी की होती थी जिससे वेदी की आग मथकर निकालते थे।[3] यज्ञ मे कुश का भी उपयोग होता था। यजमान अनुष्ठान के समय दण्ड[4] धारण करता और 'अजिन'[5] (चर्म) के आसन पर बैठता था।

यज्ञाग्नि

यज्ञ की आहुतिया जिस साधन मे देवताओ तक पहुचती थी उस अग्नि की बडी महिमा थी। उसी के माध्यम से सारे अनुष्ठान होते थे, इसी से ऋग्वेद का पहला मत्र अग्नि के सबध मे ही कहा गया है और उसमें इस देवता की स्तुति मे गाये सूक्तो की सख्या अनेक है। गुप्तकाल मे भी यज्ञाग्नि की वह महिमा बनी रही थी, ब्रह्मचारी अपने सारे योग-होम अग्नि की ही सहायता से करते थे और गृहस्थ के लिए तो वह अग्नि मानो गृह का पर्याय हो गयी थी। वह उसी द्वारा अपना नित्य का 'अग्निहोत्र' सपन्न करता था। विवाह के अवसर पर अग्नि को ही साक्षी बनाते थे, उसी की प्रदक्षिणा करते थे और दम्पति से यह आशा की जाती थी कि वे उस अग्नि को जीवन भर प्रज्वलित रखे। अग्नियों के कई प्रकार माने जाते थे––दक्षिण, गार्हपत्य और आहवनीय। कालिदास ने इन तीनो का सकेत किया है।[6] मनु ने 'सभ्य' और 'आवसथ्य' नाम जोडकर यह सख्या पाच कर दी है।[7] गार्हपत्य वह अग्नि थी जो गृहस्थ अपने पिता से प्राप्त करता और अपने पुत्र को छोड जाता था और इस प्रकार यह क्रम अटूट चलता था। इसी से अगार लेकर हवन आदि के लिए तीसरे प्रकार की अग्नि प्रज्वलित करते थे।

[1]रघु., १, ३१; १७, ८०। [2]मोनियर-विलियम्स, संस्कृत–इंग्लिश डिक्शनरी, पृ. १२७४। [3]वही, पृ. ८६। [4]रघु., ६, २१। [5]वही। [6]रघु. ५, २५; १, ६। [7]मनुस्मृति, २, ३२१।

तीर्थ

तीर्थों की यात्रा लोकप्रिय थी जैसे वह आज भी है। तीर्थ के जल मे स्नान करने से, लोगों का विश्वास था कि, पातक नष्ट हो जाते हैं। तीर्थस्थान पवित्र नदियों के तीर अथवा उनके समीप या सगम पर स्थापित थे। गगा-यमुना और गगा-सरयू के सगम विशिष्ट तीर्थ थे। इनके अतिरिक्त भी अन्य तीर्थों की संख्या अगणित थी। कुछ समकालीन तीर्थों का उल्लेख कालिदास ने किया है। ये थे शचीतीर्थ, सोमतीर्थ (प्रभास), गोकर्ण, पुष्कर, अप्सरस्तीर्थ आदि। राज्याभिषेक के लिए सागर, नदियों और तीर्थ-स्थानों से जल लाया जाता था।

आश्रमधर्म

साधारणत वर्णाश्रम-धर्म ब्राह्मण समाज का आधार माना गया है। वर्णधर्म तो आज भी किसी न किसी रूप से वर्तमान है पर आश्रमों की प्रथा प्राचीन काल मे भी समुचित रूप से चली, इसमे सन्देह है। तीन आश्रमो का निर्वाह फिर भी प्रमाणित है। ब्राह्मणकुमारों का ब्रह्मचारी जीवन अधिकतर गुरु के कुल मे बीतता था, गृहस्थ तो सभी वर्णों के विवाहित पुरुष थे। वानप्रस्थ सभवत उठ गया था और सन्यास के लिए आवश्यक न था कि वानप्रस्थ के आधार से ही उसके अन्त मे वह प्रादुर्भूत हो। पर नि सन्देह साधु-सन्यासियो की अनत सख्या मे प्रकट है कि ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य के अतिरिक्त सन्यस्तो का भी अपना समाज था। यद्यपि इसका प्रमाण नही मिलता कि प्रत्येक गृहस्थ अन्त मे सन्यास ले ही लेता था, अथवा कि प्रत्येक सन्यासी विवाहित गृहस्थ पहले रहा ही होता था।

सन्यास

सन्यासी का जीवन निस्पृह त्याग का था जब वह अनेक विधियो से मोक्ष की साधना करता था। जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए अनेक मार्ग बनाये गये थे और प्रत्येक मार्ग पर चलने वाले साधु-सन्तो की सख्या बडी थी। ज्ञान का अर्जन और गुरु बनकर अपने वन्य आश्रम मे ब्रह्मचारियो का कुल बनाकर उनमे उसका वितरण तापसो का इष्ट था। जटिल, साधक, यती, कितने ही प्रकार के साधु थे। जटिल सिर पर जटा रखते, साधक तत्रादि प्रकार से साधन करते थे। यती मरने पर जलाये नही जाते थे, उन्हे समाधि दे दी जाती थी। हुएन्त्साग ने बीसियो प्रकार के परिव्राजको का उल्लेख किया है। साधुओं-सन्यासियो के परिधान भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते थे। वनो मे आश्रम बनाकर रहने वाले साधु वल्कल[1] अर्थात् वृक्षो के छिलके घिसकर बनाये वस्त्र

[1] रघु., १२,८; १४,८२; कुमार., ५,८; ३०,४४; शाकु., १,१७; २,१२; विक्रमो., पृ. १३५।

पहनते थे। आश्रम की स्त्रियां भी वल्कल ही धारण करती थी।[१] शिव के लिए कहा गया है कि वे गजचर्म धारण करते हैं। कपडे के बने वस्त्र गेरुए रंग लिये जाते थे जो 'काषाय'[२] कहलाते थे और 'काषाय-ग्रहण' सन्यास की सज्ञा ही बन गयी थी। आश्रमवासी साधु कमर मे मूज की बनी मेखला भी धारण करते थे। अधिकतर शिवभक्त साधु-अवधूत रुद्राक्ष की माला गले मे, कानो मे, कलाइयो पर पहनते थे और उसी की माला जपते थे।[३] उंगलियों के लिए अक्षमालिका स्फटिक की भी बनती थी।[४] साधु मृगचर्म और कुश के आसन पर बैठते थे।[५] उनकी शय्या रूखी भूमि अथवा कुशासन होता था—"शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसन ज्ञानामृत भोजनम्।" दण्डी स्वामी दण्ड और काषाय धारण करते थे।[६] जलपात्र के लिए वे कमण्डलु का व्यवहार करते थे जो कद्दू अथवा लकडी का बनता था। आश्रम मे रहनेवाले सिर मे इगुदी का तेल लगाते और वही तेल दीये मे जलाते थे।[७]

तप और तापस

तपस्वियों की तपस्या का वर्णन गुप्तकालीन पुराणों और ललित साहित्य में भर-पूर हुआ है। तापस लोग अधिकतर वनवासी थे और अपने तपोवनो मे ही रहकर तप करते थे। उनके तपो और तप शील जीवन के कारण ही ये आश्रम तपोवन कहलाते थे। पुराणों का कहना है कि तापस इस प्रकार आत्मस्थ हो जाते थे कि उन्हे बाहरी दुनिया के उपचार नही व्यापते थे।[८] ऐसी स्थितियो की भी कल्पना कर ली जाती थी जब तापस का शरीर मात्र खभे का सा हो रहता था और दीमको का टीला उन्हे ढक लेता था।[९] सर्प उनके तन पर रेंगते थे[१०] और उनकी जटाओ मे पक्षी अपने घोसले बना लेते थे।[११] निश्चय यह स्थिति अधिकतर काल्पनिक है, फिर भी यह लोगो का विश्वास प्रतिबिंबित करती है। पचाग्नि तपने वालों की कमी न थी, जो चारों कोनों मे अग्निराशि प्रज्वलित कर स्वय बीच मे बैठते और सूर्य की पाचवी अग्नि मस्तक पर झेलते थे।[१२] कुमारसभव[१३] में कालिदास ने उमा के तप का जो वर्णन किया है वह असाधारण सहनशीलता का परिचय देता है, वह गर्मियो मे पचाग्नि तापती है, जाडो में बर्फीली हवा और

[१] शाकु., १, १७; २, १२; रघु., १४, ८२; कुमार., ५, ८; ४४। [२] मालविका., पृ. ६६। [३] रघु., १३, ४३; कुमार., ३, ४६; ५, ११; ६३। [४] कुमार., ५, ६३। [५] रघु., ८, १८। [६] कुमार., ५, १२। [७] रघु., ६, २१; १४, ८१; शाकु., पृ. २००। [८] शाकु., ७। [९] वही, ७, ११। [१०] वही। [११] वही। [१२] कुमार., ५, २०; रघु., १३, ४१। [१३] सर्ग ५।

ज न में खड़ी रहती है, बरसात में नगी शिलाओं पर शयन करती है, मूज की मेखला पहनती और अक्ष की माला अनामिका उगली मे धारण करती है। जैसे वृक्ष मात्र जल का आहार करते हैं, सारे आहार छोड़कर वह भी मात्र जल का आहार करने लगती है। उसके कठिन तप से तापस लजा जाते हैं। कवि ने अन्य प्रकार के तापसो और तपो का भी समकालीन पुराणपरक वर्णन किया है, कुछ तापस केवल कुश की फुनगिया खाकर जीते है, कुछ एक हाथ ऊपर उठाये दूसरे मे रुद्राक्ष का कंगन धारे हाथ को नीचे किये सालो से खडे तप रहे हैं, कुछ नीचे जलती आग के धुए से लाल आखे किये पेडों मे पाव डाले उल्टे लटके हुए हैं। उस काल के लोगो का विश्वास था कि तप की शक्ति से तापस भूत, वर्तमान और भविष्य—त्रिकालदर्शी हो जाता है, वह शाप द्वारा दुष्टो को नष्ट कर सकता है। फिर भी शरीर को धर्म का मूल आधार मानकर उसे बचा रखने की सलाह दी गयी है—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' शरीर, वचन और विचार पर अकुश (त्रि-दण्ड) रखने को भी महातप माना गया है।

तपोवन का जीवन

तप का आचरण करने के लिए तपोवनो मे ही सुविधा होती थी जहा तापस के मन को चचल करने के कारणो का अभाव होता था और मन एकाग्र किया जा सकता था। वन के एकात मे गृहस्थ के जीवन से दूर, यती यथेच्छ तप तपता और इष्ट की साधना करता था। अनेक उपकरणो से तपोवन और तापसों के आश्रम पहचाने जा सकते थे; नीवार के धान और चावल जहां-तहा बिखरे रहते थे, पक्षी उन्हे बिखेर देते थे, उनके घोसलो मे चावलो का गिरते रहना साधारण बात थी। प्रेम से पाले हिरन निर्भय होकर लोगों के बीच विचरते थे। वृक्षो की डालों से सूखने के लिए लटकाये वल्कल वस्त्रो से जल निरन्तर टपकता रहता था, सींचे तरुओ के आलवाल (थले) जल से भरे रहते थे। सध्याकाल आश्रम समिधा, फल-फूल वन से लाये तापसो से भर जाया करते थे। वन के दूर-दूर मे ईंधन आदि लाने का कार्य आश्रम के कुमार करते थे। पक्षी और मृगो पर तापसो का स्नेह बरसता था। अनेक बार मृगों के नाम रख दिये जाते थे और कुश खाते समय मुह मे घाव हो जाने पर इंगुदी का तेल लगाकर उनके घाव अच्छे कर लिये जाते थे। जैसे माताए अपने बच्चों को आहार देती थी वैसे ही ऋषिपत्नियां जब आहार देने के लिए मृगो को बुला लाती थी तब उनके ठट्ट के ठट्ट आकर खडे हो जाते थे और पर्णकुटियों के द्वार और आगन उनसे भर जाया करते थे। सूर्यास्त के बाद ग्रास लेकर मृग आश्रम की हवन की वेदियो के पास बैठ चुपचाप जुगाली करने लगते थे। नीवार का अन्न पर्णकुटियो के सामने राशि बनाकर रखा जाता था। ऋषिकन्याएँ आश्रमतरुओं

को सींचती थी; कुटी अथवा पर्णशाला मे तपस्वी निवास करता था, जहां इंगुदी के तेल का दीपक जलता था। कुटी मे सोने के लिए मृगचर्म और कुश की शय्या पड़ी होती थी। ऐसे धर्मारण्य का शान्त वातावरण जब किसी गृहस्थ अतिथि को आकर्षित करता था तब तापस शान्त मन से, विनीत भाव से होम की सामग्री, अर्घ्यादि द्वारा अतिथि का सत्कार करते थे। इसी से जब कभी अपने धर्मारण्य से तापस नगर मे जाते उन्हे विपरीत अनुभव होता, लगता कि जैसे वे जलते घर मे आ गये है, जैसे स्नान करने के बाद उन्हे तेल लगाये अशुद्ध हाथों किसी ने छू दिया है, जैसे स्वच्छन्द जीव बन्धन मे डाल दिया गया है। प्रकट है कि गुप्तकाल तक आश्रमो का सर्वथा अभाव नही हो गया था और अनेक आत्मनिग्रही साधु वनो में अपने आश्रम बनाकर वहा रहते, याग-अनुष्ठान करते और वन के एकान्त मे ज्ञान का अर्जन और दान करते थे जहां ब्रह्मचारियो का मेला लगा रहता था।

सृष्टि और प्रलय

धर्म और जनविश्वास में सृष्टि और प्रलय का अपना स्थान था। लोग मानते थे कि ब्रह्मा इस ससार की सृष्टि करते है। ससार, जगत् आदि नामो से, जन्म-मरण के साधन से, इस लोक मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। कल्प भर ससार चलता है, कल्पान्त मे स्वय ब्रह्मा उसका अन्त कर देते हैं, और कल्प ब्रह्मा के जीवन का एक दिन होता है, मानवयुगो के हजार वृत्त, नेतालीस करोड बीस लाख साल का। ब्रह्मा के इस एक दिन के अन्त मे इतनी ही लबी रात आती है जब प्रलय हो जाती है, जब सारा ससार जल का अटूट सागर बन जाता है, अन्धकार मे सब कुछ खो जाता है। उसी सागर पर शेष की शय्या पर विष्णु उषा-काल तक निद्राग्रस्त रहते हैं। पौ फटते ही ब्रह्मा सर्जन का कार्य आरम्भ कर देते हैं और नये कल्प का आरम्भ हो जाता है। पुराणो के अनुसार लोक सात है, पृथ्वी और सूर्य के बीच का लोक, सिद्धों-मुनियों आदि का लोक, सूर्यलोक से ऊपर और ध्रुव के नीचे का इन्द्रलोक, उससे ऊपर का भृगु आदिको का लोक जो नीचे के तीनो लोको के नाश के समय भी बने रहते है, उससे ऊपर ब्रह्मा के पुत्रो का लोक है, देवर्षियो का, और सबसे ऊपर स्वय ब्रह्मा का अपना ब्रह्मलोक है।

मृत्यु और परलोक

जन्म-मरण के द्वारा आत्मा बन्धन मे रहती है, जिससे मोक्ष का प्रयत्न किया जाता है। दर्शनो ने उसके लिए अनेक उपाय गुने है, पुराण शरीरबन्ध से मोक्ष और तत्त्वज्ञान के लाभ का एक उपाय गगा-यमुना-सरस्वती के सगम पर स्नान भी

बताते हैं। परलोक का भय तब के लोगो मे बना रहता था, मृत्यु परलोक पहुचाने का माध्यम थी। मरण अवश्यभावी स्वाभाविक है, अवयवो का अपने आधार को लौट जाना; जीवन अस्वाभाविक, प्रकृति के अवयवो का अपने आधार से उठकर उसे विकृत कर देना—"मरण प्रकृति. शरीरिणा विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधै.।" फिर भी मरण केवल दीर्घ निद्रा है जो आत्मा के पुनर्जन्म से टूट जाती है। नरक का स्वामी यम है जो पाप-पुण्य के अनुसार ही मृतकों को उनके कृत्यो का फल देता है। मृत्यु के बाद लोकान्तर अथवा परलोक का जीवन प्रेत (मरा हुआ व्यक्ति) जीता है। स्वर्ग और नरक उसके दो स्वरूप है जो पुण्य और पाप के अनुसार मृतक को प्राप्त होते है। स्वर्ग प्राप्त करनेवालों का वहा की अप्सराएँ स्वागत करती है जहा देवताओ के साथ सख्य और निवास होता है, जहा से पुण्य की समाप्ति के बाद लौटकर जीव फिर जन्म लेता है। स्वर्ग का दूसरा नाम वैकुण्ठधाम (विष्णु का निवास) भी है। जो प्रेत स्वर्ग अथवा नरक को नही जाते वे पितृलोक मे प्रवेश पाते है, जो अपने पृथ्वी के पुरुष-परिवार से पिण्डदान पाते है, इससे पितृक्रिया अथवा श्राद्ध करते रहना आवश्यक है। इसी पिण्डदान के लिए पृथ्वी पर पुत्रादि की शृखला का कायम रहना अनिवार्य है।

जनविश्वास

गुप्तकालीन जनविश्वास सर्वसाधारण के जीवन का समोहक अग था। ये जन-विश्वास अति प्राचीन काल से चलते आये थे, तब भी चले और अधिकतर आज तक चले आये है। लोगो का विश्वास था कि दाहिनी आख का फडकना नारी के लिए अशुभ का सूचक है, इसी प्रकार बायी आख फडकने से वे शुभ का दर्शन करती हैं। पुरुष को शुभाशुभ की सूचना इससे विपरीत व्यापार से मिलती है, यानी उसके दाहिने अग (भुजा) का फडकना शुभ का परिचायक है और बाये अग का फडकना अशुभ का। शृगाल का रोना अशुभ था और उसे सुन लेने पर हाथ मे लिया हुआ कार्य स्थगित कर दिया जाता था। सेना के पास गिद्ध का मडराना उसकी पराजय और विनाश का परिचायक माना जाता था। विश्वास था कि तिरस्करिणी विद्या का अभ्यास कर मनुष्य इच्छानुसार अन्तर्धान हो सकता है। इसी प्रकार मन्त्र पढकर शिखाबन्धन विद्या द्वारा 'अपराजिता' शक्ति लाभ कर मनुष्य शत्रुओ और दानवो से अजेय हो सकता था। इस जनविश्वास का ही परिणाम था कि हस्तरेखाओ के अध्ययन और भविष्य-कथन के लिए ग्रथ रचे गये। वराहमिहिर के 'बृहज्जातक' और 'बृहत्सहिता' इसी के परिणाम थे। चौथी सदी ईसवी तक महायान बौद्ध सप्रदाय मे विविध 'धरणियो' (रक्षा-तावीजो) का उदय हो चुका था जो न केवल इस देश मे लोकप्रिय हुईं बल्कि अन्य देशो

मे भी जहां-जहा इस देश की सस्कृति का प्रचार हुआ वहा-वहा उनका भी प्रसार हुआ।[1] गुप्तकाल का साहित्य इन शुभाशुभ के लाभ-दोषों से भरा है। 'मृच्छकटिक' में गोपाल के राजा हो जाने का भविष्य कथन हुआ है।[2] 'हर्षचरित'[3] में रानी दो पुत्र और एक कन्या जनने का स्वप्न देखती है जो सच हो जाता है और भविष्यवादी हर्ष के जन्म पर भविष्य मे अभ्युदय का कथन करता है। इसी प्रकार उसमे[4] हर्ष राजा के सबंध मे स्वप्न और अशुभो द्वारा उसकी मृत्यु की सूचना मिलती है। राजा के ऊपर आये सकटो को दूर करने के लिए 'महामयूरी' मन्त्र का जाप किया जाता है। राजा की मृत्यु के पूर्व अनेक प्रकार के टोटके किये जाते हैं।[5] अपने भाई राज्यवर्धन की हत्या की सूचना हर्ष स्वप्न द्वारा पाता है और हर्ष के अभियान के समय शत्रुओ को अशुभ सूचनाओ द्वारा अपने सहार का आभास मिल जाता है।[6] इसी कारण परम्परा के अनुसार हर्ष के विजयाभियान के लिए शुभ दिन निश्चित किया जाता है।[7] फिर भी बुद्धिमान् इन जनविश्वासो के अतर्क की निन्दा भी जब-तब करते थे। स्वय हर्ष अपने सभासदो की निन्दा करता है जब वे उसके मुद्रांक के भूमि पर गिरने से भयभीत हो जाते हैं।[8] फिर भी इससे जनभावना के ऊपर कोई अन्यथा प्रभाव नही पडता। कहते हैं स्वय बृहस्पति ने अप्सराओ को शिखाबन्धन मन्त्र द्वारा 'अपराजिता' की दीक्षा दी थी।[9] नक्षत्रो की निकटता और दूरी मनुष्य के भाग्य को प्रभावित करती है, ऐसा लोगो का घना विश्वास था।[10] लोग मानते थे कि हस अनायास दूध से जल को अलग कर सकता है।[11] जनविश्वास था कि सूम जो जीवन काल मे अपने धन को छापकर बैठता था, मरने पर वही सर्प होकर गड़े धन की रक्षा करता था और धन हरने वालो को डस लेता था।[12] बच्चो को रक्षा का तावीज पहनाया जाता था और लोगों का विश्वास था कि अगर हानि पहुंचाने की इच्छा से किसी ने उसे छुआ तो ताबीज (रक्षाकरण्डक) झट साप बनकर उसे काट लेगा।[13] विजय पाने के लिए धारण की हुई धरणी या ताबीज 'जयश्रीवलय' या 'जैत्राभरण' कहलाता था।[14] लोगो का विश्वास था कि भुजंग मत्र के जोर से रेखा के भीतर बांध लिया जा सकता है।[15] साप काटे का मन्त्र

[1]विण्टर्नित्स, हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, २, ३८०—८७। [2]अंक ६। [3]अध्याय ४। [4]वही, अध्याय ५। [5]वही। [6]वही, अध्याय ६। [7]वही, अध्याय ७। [8]वही, अध्याय, ७। [9]विक्रमोर्वशीय, अंक २ के संबंधित प्रसंग में एस. पी. पण्डित का वक्तव्य। [10]मालविका., पृ. ७१। [11]शाकु., ६, २८। [12]वही। [13]शाकु., पृ. २४१। [14]रघु., १६, ७४; ८३। [15]वही, २, ३२।

से उपचार 'उदकुम्भविधान' कहलाता था।[1] 'मेरुतन्त्र' से प्रकट है कि उदकुम्भविधान की प्रक्रिया करते समय मंत्रपूत कलश से मन्त्र पढ़कर जल लेकर साप काटे पर छिड़कते थे और सर्प की आकृति की बनी कोई वस्तु सांप काटे स्थल पर छुलाते थे। 'मालविकाग्निमित्र' मे विदूषक इसी रीति से अपने मिथ्या सर्पदशन का उपचार करता है।[2] दैवचिन्तको का उल्लेख तो 'अर्थशास्त्र' मे भी हुआ है[3] जिन्हे नियमित रूप से वेतन देने का विधान था। वे राजा के शुभाशुभ की सूचना देते रहते थे और विजयाभियानों की उचित तिथि बताते थे। साधारणत उनसे पूछे बिना राजा किसी कार्य का आरम्भ नही करता था। 'असुरी' राजाओ के दरबार मे भविष्यवादी दैवचिन्तक अपने विशिष्ट पद पर नियुक्त थे। देव अथवा नक्षत्र-पूजा से ग्रहदशा सभाली जाती थी।[4] भूत-प्रेतो के उपद्रव तथा घरो के उनसे अभिभूत होने के अनेक उल्लेख गुप्तकालीन साहित्य मे हुए हैं।[5]

लोगो का विश्वास था कि अणिमा-लघिमा आदि सिद्धिया साधकर मनुष्य अद्‌भुत शक्ति प्राप्त कर सकता है और आकाश मे विचरण तक कर सकता है।[6] योग के प्रभाव से, जनविश्वास था कि बन्द किवाडो मे भी प्रवेश किया जा सकता है।[7] पौराणिक कथाओ ने जनविश्वास को विशेष प्रभावित किया था। कपिल मुनि द्वारा सगर की सेना का विनाश,[8] अगस्त्य मुनि का कलश-जन्म,[9] विष्णु के अगूठे से गगा का उद्‌भव,[10] भगीरथ द्वारा गंगा का शिव की जटाओ और अन्त मे पृथ्वी पर अवतारण,[11] पक्षधर पर्वतो का गगन विचरण,[12] देवताओ का आकाश गमन,[13] अप्सराओं,[14] वामन द्वारा बलि का छलन,[15] महावराह द्वारा पृथ्वी का उद्धार,[16] शमी वृक्ष मे अग्नि का निवास[17] आदि पौराणिक कथाओ का निर्बन्ध उपयोग युग के साहित्य मे होने लगा था। जन्तर-मन्तर मे उस काल की जनता का कितना असीम विश्वास था यह दण्डी के 'दशकुमारचरित' की कथाओ मे पढा जा सकता है।

सस्कार

द्विज वह था जो सस्कारो द्वारा दूसरा जन्म धारण करता था, पक्षियों की

[1]मालविका., पृ. ६९। [2]वही, पृ. ६९—८२। [3]५, ३। [4]शाकु., पृ. २२। [5]वही, ३, २४; वही, पृ. २२३—सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः, संशयगतं, वही। [6]विहायसा गत्वा, वही, पृ., २६३। [7]रघु., १६, ७। [8]वही, ३, ५०। [9]वही, ४, ५१। [10]कुमार., ६, ७०। [11]रघु., ४, ३२। [12]वही, ४०; कुमार., १, २०। [13]रघु., ६, १। [14]वही, २७ आदि। [15]वही, ७, ३५। [16]वही, ५६। [17]शाकु., ४, ३।

भाति जो एक बार अडे के रूप में माता के उदर से, दूसरी बार अडे से पक्षधर होकर। मात्र जन्म लेकर मनुष्य असस्कृत रहता है, सस्कारों से वह मणि की भांति चमक उठता है। द्विज सज्ञा प्राविधिक रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनो की थी क्योकि तीनो के सस्कारो का विधान धर्मसूत्रो और स्मृतियो मे हुआ है। परन्तु वास्तव मे द्विज नाम कालान्तर मे केवल ब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त होने लगा। गुप्तकाल मे भी अधिकतर सस्कार, यज्ञोपवीत आदि ब्राह्मण के ही होते थे, यद्यपि समकालीन कवि कालिदास ने प्राचीन सदर्भों मे रघु आदि क्षत्रियो के लिए भी सस्कारो का वर्णन उपयुक्त माना और किया है। वैसे तो सस्कारो की सख्या सोलह थी जिनका आरम्भ जीवन के आरम्भ से पहले होकर अन्त मरण के पश्चात् होता था, पर साधारणत जो सस्कार तीनो वर्णों के होते थे उनमे प्रधान पुसवन, जातकर्म, नामधेय, चूडाकर्म, उपवीत, गोदान, विवाह और दशाह थे। इनमे उपवीत सस्कार चाहे होता तीनो का रहा हो उसका विशेष सबध ब्राह्मणो से ही था। सभवत क्षत्रिय और वैश्य सस्कार के बाद उसे धारण करना भी छोड देते थे।

गर्भिणी भार्या मे जीवन का सचार होते ही पुसवन सस्कार होता था, विशेषत पुरुष सन्तान के लिए। भार्या की दाहिनी हथेली पर जौ का एक दाना और माष के दो दाने रखकर उन पर घी या दही डालते थे और वह चाटती थी जब मन्त्रो का उच्चारण होता रहता था। जातकर्म जन्म का सस्कार था जो प्रसव की शुद्धि के लिए किया जाता था। शिशु का नाल काटने के पहले ही इसे सपन्न कर लेते थे। पुत्र के उत्पन्न होते ही स्नान कर पिता अपने नौ पूर्वजो का श्राद्ध कर शिशु को देखता और उसे घी-शहद चटाता। नामधेय—नाम रखने का—सस्कार जन्म की शुद्धि हो जाने के बाद ही होता था जिसे पिता सपादित करता था। चूडाकर्म शिशु के जन्म मे पहले या तीसरे साल होता था जब उसके मस्तक पर शिखा रखी जाती थी। उपनयन सस्कार वेदारम्भ के समय होता था जब बालक गुरु के समीप जाने के लिए उपवीत धारण करता था। परशुराम के शरीर पर यज्ञोपवीत ब्राह्मण पिता का प्रतीक माना गया है (पित्र्यमश)[1] क्षत्रिया माता का प्रतिनिधान उनका धनुष करता था। क्योंकि रेणुका राजा प्रसेनजित् की कन्या थी। इससे जान पडता है कि गुप्तकाल मे क्षत्रिय यज्ञोपवीत पहनते नही थे, केवल ब्राह्मण ही पहनते थे। उपनयन सस्कार ही उपनीत को 'द्विज' कहलाने का अधिकार देता था। गोदान दाढ़ी का संस्कार था, पहली बार चेहरे के बाल साफ किये जाते थे। मनु के अनुसार गोदान ब्राह्मण का सोलहवे साल, क्षत्रिय का बाईसवे साल और वैश्य का चौबीसवे साल होता था।[2] सभवत यह सस्कार विवाह के ही अवसर पर उससे

[1]रघु., ११, ६४। [2]मनुस्मृति, २, ६५।

शीघ्र ही पूर्व होता था। विवाह् संस्कार का उल्लेख अन्यत्र ऊपर किया जा चुका है। दशाह अन्तिम संस्कार था, मृत्यु के दस दिन बाद का, मरण का अशौच दूर करने के लिए। दशाह के दस दिनों के बाद श्राद्ध संस्कार होता था, जिससे मरण संबंधी अशौच दूर हो जाता था। यह संस्कार मरने के दिन से दसवें दिन तक गिना जाता था जिससे इसके अन्तर्गत समूची 'और्ध्वदेहिक' (मरने के बाद की) क्रियाएं आती थी, 'अन्त्यमडन', प्रेतचीवर (कफन) लपेटने से लेकर दसवें दिन की अन्तिम क्रियाओं तक।

पर्व, उत्सव

उस काल के कुछ उत्सवो का भी यहां जिक्र कर देना उचित होगा। त्यौहारो और उत्सवो की तो वस्तुत सख्या उस काल के समाज मे गणनातीत थी, यहां हम केवल कुछ का उल्लेख करेंगे जिनका वर्णन तत्कालीन साहित्य मे हुआ है। 'इन्द्रध्वज',[1] जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इन्द्र संबधी उत्सव था। इन्द्रधनुष के पहले दर्शन पर भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की तिथि अष्टमी से द्वादशी तक पाच दिन यह त्यौहार मनाया जाता था। इस अवसर पर नागरिक नगर के द्वार पर गज की ऊचाई का चौपहला स्तभ खडा कर शरद् मे पुरुहूत का यह महोत्सव करते थे। वसन्त के आगमन पर कामदेव के स्वागत मे 'ऋतूत्सव'[2] नाम का उत्सव होता था जब उस काम के देवता को आम के बौरो से पूजते थे। इस अवसर पर मिटाई बाटी जाती थी, और 'रत्नावली' मे वर्णित समारोह के अनुसार इसमे लोग पिचकारियों द्वारा एक-दूसरे पर रंग डालते थे। प्रकट है कि यह उत्सव आज की होली है। इस वसन्तोत्सव पर अनेक बार नाटकों का मचन भी होता था। कालिदास का 'मालविकाग्नि मित्र' इसी अवसर पर खेला गया था।[3] पूर्णिमा (विशेष कर शरद् की सध्या) 'जनता' घरो से बाहर जाकर मनाती थी, मैदानो मे जहां से डूबते सूर्य और उगते चन्द्रमा के अरुणाभ गोले एक साथ देखे जा सकते थे।[4] उत्सवो मे पर्याप्त समारोह होता था—गृह और नगर तोरणो,[5] चीनी रेशम की पताकाओ[6] और चित्रों[7] आदि से सजाये जाते थे। कालिदास की रचनाओ मे राम के अभिषेक के समय अयोध्या,[8] उमा-महेश्वर के विवाह के अवसर पर हिमालय का काल्पनिक नगर ओषधिप्रस्थ[9] और अज-इन्दुमती के विवाह पर विदर्भ की राजधानी कुण्डिनपुर[10] के सजाये जाने का वर्णन हुआ है।

[1] रघु., ४, ३। [2] वही, ६, ४६; शाकु., पृ. १८९, २१२; मालविका., पृ. २। [3] मालविका., पृ. २। [4] रघु., ११, ८२। [5] वही, ७, ४; मे. उ, १२; कुमार., ७, ३। [6] रघु., ७, ४; कुमार., ७, ३। [7] मे. उ., १२। [8] रघु., १२, ३। [9] कुमार., ७, ३। [10] रघु., ७, ४।

ऊपर के पृष्ठों से गुप्तकालीन ब्राह्मण धर्म के व्यवहार पक्ष पर प्रकाश पड़ेगा। इनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि पौराणिक देवताओं और कथाओं का जनता के विश्वास पर प्रभुत्व था। देव-देवियों के अनन्त मन्दिर और असंख्य मूर्तियाँ बनी और पूजी गयी। गुप्तकाल से पूर्व मूर्तियों की सम्पदा इस मात्रा में कभी नहीं बनी। धर्म का तब प्रधान रूप, बौद्धादि सभी धर्मों में मूर्तिपूजन था।

दर्शन

दार्शनिक साहित्य का उल्लेख पहले, साहित्य के प्रसग मे किया जा चुका है। यहा हम ब्राह्मण अथवा हिन्दू षड्दर्शनों पर विचार करेंगे। ये षड्दर्शन, साख्य योग, न्याय-वैशेषिक और मीमासा-वेदान्त हैं। ऐसा नही कि इनका उदय जोड़ा ही जोड़ा हुआ हो; वस्तुतः इनका परस्पर सबध, एक दूसरे पर एक दूसरे का प्रभाव इतना रहा है कि इन पर इसी रूप में विचार करना अध्ययन की दृष्टि से सुकर होगा।

सांख्य और योग

पर इसमे भी सन्देह नहीं कि इनमे से कुछ एक दूसरे के पूरक रहे हैं, जैसे सांख्य और योग। इन दोनो दर्शनो का सांनिध्य प्राचीन काल से ही माना जाता रहा है। इनमें से विशेषत सांख्य ने दर्शन पक्ष साधा और योग ने प्राणायाम की साधना प्रस्तुत की। समकालीन ललित साहित्य ने भी जब कभी दर्शनो की विवेचना की, साख्य-योग को एक साथ ही रखा। बल्कि कवि ने भी भगवद्गीता की ही भांति विश्व का साख्य-योग द्वारा चिन्तित स्वरूप ही स्वीकार किया। साख्य के अनुसार, ससार की सृष्टि और विकास 'प्रकृति' से हुआ है। प्रकृति के तीन अग हैं; सत्त्व, रजस् और तमस्। सत्त्व प्रकाश का परिचायक है, रजस् क्रिया का और तमस् अन्धकार अथवा अक्रिया (मोह)। ये तीनों गुण कहलाते हैं और ये त्रिगुण एक साथ प्रकृतिस्थ हैं, प्रकृति में ही स्थित होकर उसका निर्माण करते हैं। इन तीनों गुणों की पूर्ण साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। सत्त्व गुण सुख अथवा आनन्द का पोषक है; शांति, लघुता, तुष्टि, दया, धैर्य आदि इसके अनेक रूप हैं। रजस् दुःख का पोषक है; व्यथा, संकट, विरह, उत्साह, चिन्ता, रन्ध्रान्वेषण आदि इसके रूप हैं। इसी प्रकार तमस् मोह (माया) का पोषक है; अज्ञान, जड़ता, घृणा, गुरुता, प्रमाद, आलस्य, मत्तावस्था आदि इसके लक्षण हैं।

प्रकृति

त्रिगुणों का संबध सारे दर्शनों से है। मनुष्य का समूचा जीवन, उसके पुण्य,

कामनाएँ, भावनाएँ, आवेग, तृष्णाएँ, कर्म सभी इन्हीं तीन गुणो से उत्पन्न होते हैं। इन्ही गुणों से अणु आदि बनते और प्रकृति में परिवर्तन होते हैं। सांख्यो के अनुसार प्रकृति ही विश्व के निर्माण में मूल कारण है जिसका दूसरा नाम 'अव्यक्त' है। सांख्यो की धारणा में दो प्रधान अग हैं—प्रकृति (प्रधाना) और पुरुष (आत्मा)। प्रकृति परिवर्तन का सिद्धान्त है, भोग्य विषय भी। पुरुष चेतन है, परिवर्तनशील वातावरण मे स्वय परिवर्तन हीन, कर्ता। विश्व प्रकृति का ही विकसित रूप है जिसके निर्माण अथवा विकास मे पुरुष का कोई भाग नहीं। वह मात्र देखता रहता है, जब प्रकृति सृष्टि का विकास करती है। प्रकृति पुरुष के अर्थ क्रिया करती है। कारिका का कथन है कि इनमे से एक अंधी है, दूसरा लंगडा है, इससे सर्जन कार्य के लिए उनका सयोग अनिवार्य हो जाता है। कारिकाकार का समकालीन कवि कहता है—प्रकृति पुरुष की अर्थसाधिका है, वह 'पुरुषार्थ प्रवर्तिनी' है।[1] मूल प्रकृति ही बुद्धि का कारण है, परोक्ष कारण। बुद्धि अथवा महत्तत्त्व का उसी से त्रिगुणों की सक्रियता के उपरान्त प्रादुर्भाव होता है।

पुरुष साधारणतः निष्क्रिय हैं, केवल कुछ दशाओ में वे सचेत और मुग्ध होते हैं। जब प्रकृति पुरुष के सपर्क मे आती है तब ससार का अनेक क्रमिक स्थितियों से प्रादुर्भाव होने लगता है। दोनो के सबंध बिना जगत् का आविर्भाव सभव नही। प्रकृति जड है, एक है, पुरुष चेतन हैं, अनेक हैं, अनन्त। साख्य के अनुसार कार्य कारण में स्थित परन्तु अव्यक्त रहता है। प्रकृति मे गुणों की जब तक साम्यावस्था रहती है तब तक सृष्टि नही होती, पर जब उनमे विषमता उत्पन्न होती है तब क्रमिक सर्जन होता है, पहले महत्तत्त्व अथवा बुद्धि का, जिससे अहकार उत्पन्न होता है। सत्त्व के प्रधान रहते अहकार से ग्यारहो इन्द्रियों और तमस्-प्रधान अहकार से पंचतन्मात्राओं तथा उनसे स्थूल महाभूतो का आविर्भाव होता है।

साख्य के अनुसार तीन प्रकार के दुःख हैं। एक दुःख मनुष्य की अपनी ही सीमाओं, व्यथाओं के कारण होता है। दूसरा दूसरों—पशुओ से चोरो तक—के कारण उत्पन्न होने वाला दुःख है और तीसरा अग्नि, जल, वायु आदि प्रकृति के विकारो के कारण उत्पन्न होता है। ये सारे ही कारण हमारे दुःख के जनक हो सकते हैं। और इन दुःखों का शमन सत्य ज्ञान के जरिये हो सकता है।

सांख्य निरीश्वरवादी है, क्योंकि यदि प्रकृति-पुरुष मात्र की कल्पना से विश्व की पहेली समझायी जा सके तो ईश्वर की आवश्यकता ही कहां आती है? सांख्य के

[1] कुमार., २, १३।

प्रवर्तक आचार्य कपिल माने जाते हैं। आसुरि, पंचशिख और पीछे पांचवीं सदी के ईश्वर-कृष्ण ने साख्य दर्शन का विस्तार किया।

योग के आचार्य पतजलि हैं। परन्तु अनेक लोग योगदर्शन और 'महाभाष्य' के रचयिता पतजलि को एक नही मानते। योग ने एक अंश मे ईश्वर को माना है, उसे मानव से विशेष शक्ति वाला, उसका ध्येय, माना है। यही सांख्य और योग दर्शनो मे अन्तर है। कुछ आश्चर्य नही जो योगदर्शन भी साख्य की ही भाति आरम्भ मे निरीश्वरवादी रहा हो क्योकि ईश्वर सबधी उसकी चर्चा भी प्राय. निर्वैयक्तिक ही है विशेष प्रकट नहीं। उस दर्शन मे शरीर और मन के शासन के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को अनिवार्य माना है। योग के इन आठ अगो के अभ्यास से पतजलि का मत है, मन एकाग्र हो जाता है। साख्य के पचीस तत्त्वो को स्वीकार कर योग ने एक अपना ईश्वर तत्त्व जोडकर उनकी सख्या २६ कर ली है। योग दर्शन का कहना है कि जो पुरुष क्लेश, कर्म, कर्मफल और आशय के सपर्क से शून्य रहता है वही 'ईश्वर' कहलाता है। योगदर्शन के ग्रथो का वर्णन पहले किया जा चुका है।

वैशेषिक, न्याय

वैशेषिक सभवत. न्याय से पहले का प्रतिपादित दर्शन है। ज्ञान के उद्गम के सबध मे दोनो के मत समान है, दोनो आत्मा, ईश्वर और दृश्य जगत् की यथार्थता पर विश्वास करते हैं। जहा न्याय का उद्देश्य ज्ञान की मीमासा है वहा वैशेषिक बाह्य जगत् की व्याख्या करता है। वैशेषिक के अनुसार पदार्थ सात होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। आत्मा के ज्ञान के लिए आत्मा से भिन्न पदार्थों का ज्ञान अनिवार्य है। तत्त्वज्ञान इन दोनो के ज्ञान से ही सभव है। द्रव्य हैं जिन पर नौ गुण और कर्म आश्रित हैं। द्रव्य, गुण तथा कर्म के समान धर्मों का योग 'सामान्य' कहलाता है और वस्तुओ का परस्पर के वैधर्म्य का ज्ञान 'विशेष' से होता है। सामान्य और विशेष जैसे नित्य पदार्थों का अन्य पदार्थों से संबध दिखाने के लिए 'समवाय' नामक नित्य सम्बन्ध की सत्ता मानी गयी है। इन्ही के समान 'अभाव' भी यथार्थ है। निष्काम कर्मों का अनुष्ठान तत्त्व ज्ञान और फलत: मोक्ष प्रदान करता है।

विविध गुणो से युक्त पदार्थों के सघात से जगत् बना है। पदार्थों का विभाजन परमाणुओं मे हो सकता है। परमाणु अपने निर्माता तत्त्व के अनुसार अनेक प्रकार के हैं। तत्त्व चार हैं—क्षिति, जल, पावक और वायु। देश और काल मे ही जगत का विकास हुआ है। देश और काल केवल विचारत. विभाज्य हैं परमाणुतः नहीं। जगत् के सारे पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं, प्रत्येक अपने विशेष गुण से पहचाना जाता है। पर उनमे सामान्य

गुण भी हैं, जिससे उनके वर्ग बन जाते हैं। वर्गों और व्यक्तियों मे अन्तर 'विशेष' का है। पदार्थों का परिवर्तन होता है, जिससे कार्य-कारण भाव है। पदार्थ और उनके गुण, देश और काल में उनके संबंध नित्य है। जगत् ज्ञेय है, आत्मा ज्ञाता है। क्लेश कैसे हो सकता है जब तक क्लेशात्मा नही है और मोक्ष किसका होगा यदि मुक्त होने के लिए आत्मा नही? आत्मा है जो क्लेश सहती है और उससे मुक्त होना चाहती है। इनके अतिरिक्त एक ईश्वर भी है जो जगत् की नित्य परमाणुओं से सृष्टि करता है। जगत् का कारणरूप उसे स्वीकार किया जाता है। इस दर्शन के प्रवर्तक कणाद है।

न्याय दर्शन का ध्येय ज्ञान का सिद्धांत स्थापित करना है। यह दर्शन तर्क का है—"पर्वत पर आग है, क्योकि वहां से धुआं उठ रहा है। जहां धुआं है वहां आग होती है, जैसे रसोई में, पर्वत मे धुआं है इससे वहा आग है।" व्याप्ति-निष्कर्ष के अतिरिक्त इस दर्शन ने तीन प्रमाण और माने है, प्रत्यक्ष, उपमान और शब्द। गौतम न्यायसूत्रों के प्रणेता माने जाते है जिनमे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि सोलह पदार्थों का यथार्थ विवेचन हुआ है। पीछे बिहार और बगाल मे न्याय दर्शन ने एक नया रूप लिया जो नव्यन्याय कहलाया।

मीमासा—पूर्व और उत्तर (वेदान्त)

षड्दर्शनो मे मीमासा और वेदान्त की भी गणना है। मीमांसा दो हैं, पूर्व और उत्तर। उत्तर मीमासा वेदान्त भी कहलाती है और वस्तुत. उत्तर मीमासा वेदान्त नाम से ही विख्यात हुई। दोनो का मूल सिद्धात एक है, वेदों की दार्शनिक व्याख्या। इस व्याख्या के कारण ही सभवत. दोनो मूल मे एक ही दर्शन थे, पर धीरे-धीरे दोनो सिद्धात मे पृथक् होते गये और उनमे परस्पर वह संबध भी नही रह गया जो साख्य-योग और न्याय-वैशेषिक मे है।

पूर्व और उत्तर दोनो मीमासाओं की मूल प्रेरणा वेद थे; उनको ही उन्होंने अकाट्य प्रमाण और सत्य दर्शन का मूल माना। वेदो की आदि सत्यता पर अवलबित होने के कारण उन्हें पहले वैदिक शब्दो की व्याख्या करनी पडी। उनका सिद्धांत हुआ कि शब्दों और उनके अर्थ का सबंध अनन्त, नित्य और स्थायी है। वेदो के कर्ता न तो मानव है न देव, इससे वे नित्य और सनातन हैं। यदि वस्तु का ज्ञान है तो वस्तु है, फिर ज्ञान ही प्रमाण है, उस ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नही। पदार्थों का याथार्थ्य हमे ज्ञान से होता है, पर इसका अर्थ यह नही कि वे ज्ञान के जनक हैं। त्रुटि से ज्ञान के वस्तुतथ्य पर कोई प्रभाव नही पड़ता। वेद के शब्द हमे ज्ञान प्रदान करते हैं, उनकी सत्यता मे शका करने का स्थान नही।

वैदिक अर्थों में भिन्नता हो सकती है, यदि है तो सभी साधु व्याख्याताओं का प्रयत्न उनका समन्वय खोजने में होना चाहिए। इस युक्ति का विन्यास पूर्व मीमांसा ने ब्राह्मण ग्रथो के सबंध मे किया है और उत्तर मीमांसको ने उपनिषदों के सबंध में। दोनों के मत से वेदों की भाषा एक है, भाव एक है, सत्य एक है। वह सत्य क्या है ?

आत्मा है, वह नित्य है या नही यह दीगर बात है। पर किसी ऐसे का होना अनिवार्य है जो यज्ञ करे—कराये और जिसके लिए क्रिया—विधियों का कुछ अर्थ हो। उपनिषदो की व्याख्या भी किसी के लिए है। इससे आत्मा का अस्तित्व है। उसकी रक्षा होनी चाहिए। उसकी सृष्टि नही होती और मुक्त होकर वह निर्वेद को प्राप्त होती है। आत्मा कर्म करती है और कर्मों का फल भी भोगती है। पूर्व मीमासा मे इन आत्माओ की अनेकता के प्रति आस्था है। आत्मा की ही भाति जगत् का भी अस्तित्व है, पदार्थों और गुणों के जगत् का अस्तित्व, जिनका हम अनुभव करते है। हमे जगत् का अनुभव होता है इससे इनकार नही किया जा सकता। परन्तु वह जगत् वैसा ही है जैसा हम उसे जानते है, या उसका हमारा ज्ञान मिथ्या है, इस पर वेदान्त ने विशेष विचार किया है।

ईश्वर की आवश्यकता नही, अतः वह है भी नही। जगत् परिवर्तनशील है पर सर्जित नही है। शब्द और उसके अर्थ का संबध भी सर्जित नही। कर्म जब अपने आप अपना फल लाता है तब फलदाता की आवश्यकता ही कहा पडती है। वेदान्त की दृष्टि इस सबंध मे भिन्न है, उसमे ब्रह्म से ही सबका आरम्भ और विकास होता है। वेद कुछ कर्मों को करने की आज्ञा देते है। कर्म अनेक प्रकार के है। कुछ कर्म ऐसे हैं जिन्हें करना ही होगा। वे आदेशात्मक हैं। कुछ कर्म ऐसे भी है जिन्हे करने का कुछ प्रयोजन होता है, पर प्रयोजन के अभाव मे उन्हें करने की आवश्यकता नही। कुछ कर्म ऐसे है जिन्हें करना अनुचित या पाप है। कुछ कर्म ऐसे है जो अनुचित करने के परिणाम मे प्रायश्चित्तस्वरूप है। मीमासा दर्शन का कहना है कि वर्णाश्रम धर्म सबधी कृत्य निश्चय करणीय हैं। उनको आमरण करना होगा। पर जिसने संन्यास ले लिया है, ज्ञान प्राप्त कर लिया है, और जो मोक्ष के मार्ग पर आरूढ हो चुका है, क्या उसे भी कर्म करने होंगे ? इस विषय पर पूर्व और उत्तर मीमांसको के विचारो मे पर्याप्त भेद हो गया। पूर्व मीमांसा की सबसे महत्त्व की देन दर्शन के क्षेत्र मे व्याख्या के सिद्धातो के नियमों का निर्माण थी। आज भी विधि (कानून) आदि के विषय पर इन नियमों का उपयोग लाभकर होता है।

वेदांत का सबध उपनिषदों से है जिनकी व्याख्या में बादरायण व्यास ने अपने ब्रह्मसूत्र लिखे। स्वयं इन सूत्रो का अर्थ इतना दुरूह हो गया कि इनकी व्याख्या में अनेक

ग्रंथ लिखे गये। आठवीं सदी में वेदांत की अपनी अद्वैत दृष्टि से शंकर ने ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या की और केवल ब्रह्म को सत्य मानकर जगत् को मिथ्या तथा जीव को ब्रह्म ही घोषित किया। उसके बाद वेदात के अनेक आचार्यों ने अनेक मत व्यक्त किये जिससे वेदात मे अनेक मार्ग निरूपित हुए।

ब्राह्मण धर्म और दर्शन के मत-मतांतर भिन्न-भिन्न होकर भी एक ही समन्वित परिवार के हैं। परिवार में अनेक बार, विशेष कर दक्षिण में, कलह हुए हैं, पर अधिकतर आचार्यों ने तर्क और दार्शनिक वादविवाद के परे किसी प्रकार की हिंसा को इस क्षेत्र मे पनपने नहीं दिया और उनकी उदारता ने बार-बार अनेकता मे एकता घोषित की। परन्तु निश्चय तर्कसम्मत दार्शनिक चिन्तन सदा समन्वय का विषय नही होता, अनेक बार वह वर्तमान के विरुद्ध विद्रोह कर उठता है। बौद्धों, जैनों और लोकायतों के दर्शन इसी वर्ग के थे जिनका आगे उल्लेख करेंगे। इनके धर्म और दर्शन के अतिरिक्त इस देश मे गुप्तकाल में ही ईसाई धर्म का भी प्रादुर्भाव हो गया था, इससे उसका भी सक्षेप मे उल्लेख कर देना समीचीन होगा।

अध्याय १२

धर्म और दर्शन

बौद्ध, जैन, लोकायत और अन्य

बौद्ध और जैन धर्मों का विकास बहुत कुछ उन्हीं दशाओं और दिशाओं में हुआ जिनमें ब्राह्मण धर्म का हुआ था। अन्तर बस इतना ही था कि विशेष परिस्थितियों में बौद्ध धर्म देश से बाहर फूला-फला और देश में उसका अन्त हो गया; और जैन धर्म अन्य कारणों से सीमित रहा फिर भी अद्यावधि अपनी परिमित सीमाओं मे जीवित है। बौद्ध और जैन दोनों धर्मों मे ब्राह्मण धर्म की ही भांति मत-मतातर हुए और ब्राह्मण पुराणों का उन पर अमित प्रभाव पडा। उनका धार्मिक पूजा-अनुष्ठानों का रूप ब्राह्मण अनुष्ठानों से प्रभावित हुआ और धर्म बुद्ध-बोधिसत्त्व तथा महावीर और अन्य तीर्थंकर मूर्तियों में केंद्रित हुआ।

लोकायतों का धर्म नहीं दर्शन मात्र है, अत्यन्त प्राचीन, जिस पर सामग्री कम होते हुए भी हम विचार करेंगे। इस काल के धार्मिक रंगमंच पर ईसाई धर्म का भी अवतरण हुआ जिस पर कुछ लिखना आवश्यक होगा। इस्लाम का प्रादुर्भाव तो गुप्तकाल के अन्त के दिनों में हर्षवर्धन के शासन काल में अरब मे हुआ और यद्यपि मलाबार के सागर-तट पर सातवीं सदी के अन्त मे उसका कुछ अलक्षित विकास हुआ, भारत के जीवन से उसका संबंध वास्तव मे आठवीं सदी में ही हुआ जो हमारे अध्ययन काल की सीमाओं से बाहर पड़ता है। जिससे हम यहां उस धर्म और दर्शन पर विचार न कर सकेंगे।

१. बौद्ध धर्म और दर्शन

धर्म और अभिव्यक्ति—बुद्धमूर्ति

बौद्ध धर्म और दर्शन के क्षेत्र में इस काल सबसे महत्त्व की घटना महायान का उदय थी। स्वय ब्राह्मण धर्म की वैष्णवादि भक्ति परम्परा से प्रभावित इसकी नयी भावसंपदा ने ब्राह्मण धर्म को भी प्रभूत प्रभावित किया। महायान ने भारत को पहली मूर्ति दी जो धार्मिक निष्ठा से देव मानकर पूजी गयी। इसी बीच बोधिसत्त्व का उदय हुआ और बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की मूर्तियों से जनपद-नगर भर गये। फिर

ब्राह्मण धर्म में पौराणिक जनविश्वास का जो शीघ्र विकास हुआ तो उसका समचा देवपरिवार, चाहे बुद्ध और बोधिसत्त्व की सेवा में ही सही, बौद्ध धर्मसत्ता का भी अंग बन गया। मूर्तियों का उदय और अनन्त प्रसार बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मों मे समान वेग और बाहुल्य के साथ हुआ। हीनयान मे भी आकृतियो का आविष्कार और मूर्तन होता था, पर अधिकतर बह कथाओं का अर्ध चित्रण (रिलीफ) अथवा पल्लवन था और उसका उद्देश्य पूजन नही था। पूजन विशेष कर इस कारण नहीं था कि अभी बुद्ध की मूर्ति ही नही बनी थी, केवल कथा अथवा घटनाओं के उद्घाटन मे बुद्ध के जीवन से संबंधित बोधिवृक्ष, धर्मचक्रप्रवर्तन, छत्र, भिक्षापात्र आदि की आकृतियां पत्थर मे उभारी गयी जिनका बौद्ध उपासक और भिक्षु आदर करते थे, पर ये आकृतियां हीनयान मे कभी उपास्य अथवा ध्यान का केन्द्र नही मानी गयी। उसके लिए महायान का आगमन अनिवार्य था।

हीनयान

हीनयान मे भी गुप्तकाल से भी पहले कई मत-मतान्तरो का उदय हो चुका था। गुप्तकाल मे वे मत-मतान्तर देश के अनेक भागों मे अपने मतों का प्रचार कर रहे थे। गुप्ताक्षरों मे उपलब्ध अनेक मुहरो से पता चलता है कि तब हीनयान के अनेक मत-मतान्तरो—सर्वास्तिवादी, सम्मितीय अथवा वात्सीपुत्रीय, थेरवाद आदि का अनेक स्थानो मे बोलबाला था। फिर भी हीनयानियो ने इतना अपने मत का प्रचार नही किया जितना अपने विहारों को केन्द्र बनाकर उन्होने चिन्तन और अपने दार्शनिक सिद्धातो का निरूपण तथा उन पर साहित्य का निर्माण किया। उनकी दार्शनिक रचनाओ का देश के दार्शनिक चिन्तन पर घना प्रभाव पडा। उनके अनेक दार्शनिक चिन्तक भारतीय दर्शन के स्तंभ बन गये।

महायान का उदय

विहारों की चहारदीवारी के भीतर जिस विचारपरम्परा का अध्ययन हुआ, स्वाभाविक ही वह वैयक्तिक मेधा का चमत्कार जितना सिद्ध हुआ उतना जन-जीवन के सपर्क मे नही आ सका। धर्म जनसाधारण के विश्वास का आधार है, दर्शन मेधावियों की विभूति है। दर्शन का अध्ययन होता है, प्रचार नही। इस स्थिति मे हीनयान का चिन्तन-दर्शन विहारो तक ही सीमित रह गया, वह जनता को प्रभावित न कर सका, जब कि ब्राह्मण धर्म में उपासकों के व्यक्तिगत भक्ति के केन्द्र और आराध्य विष्णु आदि अपनी भक्तवत्सलता में नित्य विकास करते जा रहे थे। हीनयान की यह कमी बौद्ध

धर्म के एक अन्य संप्रदाय ने पूरी की। वह महायान था जिसका विकास उसके प्रधान उपास्य और केन्द्र बोधिसत्त्व को मूल मानकर हुआ। महायान का उदय बौद्ध धर्म के इतिहास में एक असाधारण महत्त्व की घटना थी। हीनयान के विपरीत महायान ने अपने पूजाविधान, भक्तिभाव और व्यक्तिगत देवभावना से बौद्ध जनता का मन हर लिया। इसने व्यक्ति के निर्माण अथवा अर्हत्वाद के सीमित आधार को छोड़, उस यान की हीनता को तज, उदारचेता हो, जनविश्वास के आराध्य बोधिसत्त्व को उपास्य बना महायान की प्रतिष्ठा की, जिस पर हीन एक की जगह उदार अनन्त जनसंख्या आरूढ़ हुई और बुद्ध के 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' का संकल्प चरितार्थ होने की सभावना हुई। इस महायान पर चढ़कर सभी प्राणी, मानव अथवा मानवभिन्न, भवसागर के पार जा सकते थे। इसमें धर्म का कठोर रूप दूर जा पड़ा, चरित रूप विशेष समान्य हुआ और जनविस्तार के अनुपात मे ही इसका विकास हुआ। बोधिसत्त्व होने का प्रयास न केवल साधारण मानव अब कर सकता था बल्कि पशु-पक्षी तक उस पद को प्राप्त कर सकते थे। बुद्ध की जातककथाओ ने और भी इस दृष्टि का प्रसार किया जिनकी सादगी और कथानको ने सुनने वालों का मन मोह लिया। न केवल भारत की जनता ने नये धर्म को चाव से अपनाया बल्कि अन्य देशो की जनता को भी इसने आकृष्ट किया और महायान, जिसने सभी का भिक्षु बन जाना आवश्यक नही समझा, समूचे एशिया का धार्मिक आंदोलन बन गया।

बौद्ध दार्शनिक संप्रदाय

महायान आदि दर्शनों के सविस्तर वर्णन के पहले बौद्ध दर्शन पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना उत्तम होगा। बौद्धों का प्रधान और प्राचीनतम ग्रंथ 'त्रिपिटक' है। महायान सप्रदाय का प्रथम प्रवर्तक नागार्जुन जन्म से ब्राह्मण था, और लिखा भी उसने और इस सप्रदाय के आचार्यों ने संस्कृत में ही। इस सम्प्रदाय के चार मतान्तर हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक।

महायान के मत-मतांतर

वैभाषिकों का मत है कि जगत् के भीतरी-बाहरी सभी पदार्थ सत्य हैं जिनका पता प्रत्यक्ष प्रमाण से लगता है। वैभाषिक मत 'सर्वास्तिवाद' नाम से भी विख्यात हुआ। सौत्रान्तिक मत बाहरी पदार्थों को सत्य मानता है, पर उन्हें जानने में प्रमाण प्रत्यक्ष को नहीं अनुमान को मानता है। योगाचार मत चित्त मात्र को सत्य मानता है, अन्य को नहीं। इस मत का दूसरा नाम 'विज्ञानवाद' भी पड़ा, क्योंकि चित्त का दूसरा नाम विज्ञान भी है।

माध्यमिक मत जगत् के सारे पदार्थों को शून्यरूप मानता है इसी से इसका नाम शून्यवाद भी पड़ा। इन चारों रूपों का एकत्र वर्णन लोकप्रियता के साथ नीचे का श्लोक करता है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः ।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ॥[1]

'अभिधम्मकोश' वसुबन्धु का लिखा, वैभाषिकों का प्रधान सिद्धांत ग्रंथ है। वसुबन्धु पहले पेशावर के कौशिकगोत्रीय ब्राह्मण थे जो बौद्ध भिक्षु होकर अयोध्या में रहने लगे थे। उनके बड़े भाई असग प्रसिद्ध विज्ञानवादी थे जिनके प्रभाव में आकर सर्वास्तिवादी वसुबन्धु विज्ञानवादी बन गये। योगाचार अथवा विज्ञानवाद के प्रवर्तक आर्य मैत्रेय अथवा मैत्रेयनाथ थे पर उसका प्रचार इन्ही दोनो भाइयो ने किया। प्रकाड बौद्धाचार्य वसुबन्धु संभवत. समुद्रगुप्त के शिक्षक भी रह चुके थे। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि और व्याडि की ही भाति असग और वसुबन्धु भी सीमाप्रांत के पठान थे। वसुबन्धु के प्रधान शिष्य बौद्ध संप्रदाय के विशिष्ट तार्किक दिङ्नाग थे जिनका 'प्रमाणसमुच्चय' बौद्ध न्याय दर्शन का असाधारण ग्रंथ है। इसी सप्रदाय के दूसरे प्रधान आलोकस्तभ धर्मकीर्ति सातवीं सदी के पूर्वार्ध मे हुए जिनका लिखा 'प्रमाणवार्तिक' विज्ञानवाद का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। धर्मकीर्ति की मेधा असाधारण थी। कार्ल मार्क्स और एगेल्स ने अपनी 'कम्यूनिस्त घोषणा' मे लिखा कि चेतना जीवितो से स्वतंत्र नही, इससे जगत् से परे किसी सिरजनहार की आवश्यकता नहीं। निरीश्वरवादी धर्मकीर्ति ने ठीक इसी सिद्धांत की घोषणा अपने 'प्रमाणवार्तिक' में उनसे प्रायः ग्यारह सौ साल पहले की। शून्यवादी माध्यमिक आचार्य नागार्जुन को अनेक लोगो ने महायान का प्रवर्तक और कुषाणराज कनिष्क का समकालीन माना है। इसी मत के आचार्य आर्यदेव, बुद्धपालित, भावविवेक, चन्द्रकीर्ति और शांतरक्षित थे। इनमें से पहले संभवतः तीसरी सदी के, दूसरे पाचवी, तीसरे और चौथे सातवी के और पांचवें आठवीं सदी के थे। महायान से ही मंत्रयान, वज्रयान और कालचक्रयान का कालान्तर में प्रादुर्भाव हुआ।[2]

सिद्धान्त

हीनयान और महायान दोनों के भिक्षु-आचार प्राय. समान थे। परन्तु उनके

[1]बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. ६५८—५९ । [2]वही, पृ. ६५९—६० ।

सिद्धांतों मे पर्याप्त वैषम्य था। हीनयानी यथार्थवादी थे और महायानी शून्यवादी थे। दोनों में अन्तर शून्यता अथवा अनात्मता के विषय पर था। हीनयानी पुद्गल-शून्यता में विश्वास करते थे अर्थात् वे किसी आत्मा जैसी भावना में विश्वास नहीं करते थे। महायानियों की शून्यता उसकी अनात्मता अर्थात् पुद्गल या आत्मा और धर्म के अभाव में थी। महायानियों के विचार मे सत्य का दर्शन शून्यता और धर्म दोनो के अभाव में नही हो सकता। शून्यता पुद्गल अथवा आत्मा का अभाव है, धर्म दृश्य जगत् को कहते हैं। इन दोनो शून्यताओं का ज्ञान क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के त्याग से होता है। हीनयानी अर्हत् जगत् को एक जूट मानते हैं, उसकी विविधता या पारस्परिक भेद को स्वीकार नही करते। जैसे हीनयानी श्रावक मिट्टी के कलश और मिट्टी के अश्व में भेद नही करते। महायानी यह भेद तो नही ही मानते, बल्कि तत्संबधी धर्म अथवा मिट्टी के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते। इस धर्मशून्यता के ज्ञान से ही सत्य अथवा ज्ञेय का आवरण हट जाता है और ज्ञान की 'पारमिता' की उपलब्धि हो जाती है। महायानी सिद्धांत का मर्म यह है कि भिक्षु अपूर्ण इन्द्रियजन्य जगत् के अनुभव से एक प्रकार के भ्रम में आबद्ध हो जाता है, और जब वह इस मृगपिपासा अथवा स्वप्नावस्था को समझ लेता है तब उस भ्रम का निवारण और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।[1]

हीनयानियो ने बुद्ध को पहले सर्वज्ञानी के रूप में माना, फिर उन्हे अमनुजकर्मा और लोकोत्तर अथवा देवो से भी महत्तर माना; महायानियों ने उन्हे स्वयं निर्वाण, शून्यता, अथवा धर्मधातु जगत् माना, जन्म और जरा से परे, स्वयसत्य, भूतकोटि (अस्तित्व की परिणति), वर्णनातीत। बुद्ध को उन्होने 'त्रिकाय' माना, धर्मकाय (रूपारूप से परे, अनन्त और शाश्वत)। बोधिसत्त्व सभोगकाय है, क्लेशादि से सपन्न मानव रूप, जो पथ प्रदर्शन के लिए रूप धारण करते है, और रूपकाय अथवा निर्माण-काय, अनन्त रूपो द्वारा अनन्त लोकों के जगत् के स्वामी हैं। वास्तविक बुद्ध के निर्माण-काय गौतम बुद्ध हैं। इस प्रकार के निर्माणकायो की संख्या अनन्त है। 'त्रिकाय' ही पूजन का आधार बना। कालान्तर में पाच ध्यानी बुद्धो, उनके बोधिसत्त्वो और ताराओं का विकास हुआ। वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसम्भव, अमिताभ और अमोघसिद्धि पाचो ध्यानी बुद्ध हैं।[2]

महायान-आचार

हीनयानियों ने आत्मसत्ता को हीन माना और तन को सर्वथा अपवित्र। महा-

[1] द क्लासिकल एज, पृ. ३७८—७९० । [2] वही, पृ. ३७४—७५ ।

यान ने जन्म-जन्मान्तर मे परसेवा को लक्ष्य बनाया, परतुष्टि में ही आत्मतुष्टि मानी। जब तक दूसरे सुखी न हो लें, स्वर्गीय जीवन, निर्वाण पद न प्राप्त कर लें, महायानी अपने लिए सुख, स्वर्ग अथवा निर्वाण पद की कामना नहीं करेगा। हीनयानियो का अपने ही निर्वाण के लिए आत्मसत्ता का विनाश महायानियो को अत्यन्त हेय लगा। महायानी का पहला व्रत था अपने आप में बोधिचित्त का विकास, परसेवाव्रत। बोधिचित्त विकसित कर लेने के बाद ही महायानी बोधिसत्त्व कहलाता था। उसके बाद वह बोधि-प्रस्थान अथवा छ पारमिताओं—दान, शील, क्षान्ति (सहनशीलता), वीर्य (मानसिक शक्ति), ध्यान और प्रज्ञा (सत्य का ज्ञान)—का सपादन करता था। इनमे से एक पूर्णता की उपलब्धि भी सर्वस्व के बलिदान की अपेक्षा करती थी। छहों पारमिताओ की उपलब्धि एक जीवन मे सभव न थी। स्वयं बुद्ध ने इन पारमिताओं की प्राप्ति, जातक-कथाओं मे वर्णित, अनेक परसेवासमत जन्मो मे की थी। महायानी का प्रेम, उसकी दया, सभी कुछ दूसरों के लिए था। जो भी पुण्य वह अर्जित करता था वह दूसरों ही के लिए था। यही परार्थ की भावना महायानियों को हीनयानियों से विशेष पृथक् करती थी।

भिक्षु-जीवन

हीनयानी भिक्षुओ की भाति महायानी भिक्षुओं के लिए कोई विनय अथवा आचारपद्धति, यम-नियम अनिवार्यत: विहित न थे। बुद्ध और उनके उपदेशो मे आस्था तथा परसेवा मे आत्मसमर्पण ही उनका परम व्रत था। बोधिसत्त्वो से अपेक्षा की जाती थी कि वे वन मे जाकर आत्मगुरु (कल्याणमित्र) स्वीकार कर अशुभ-भावनाओं (मृत शरीर की विविध स्थितियों) और चार स्मृति-उपस्थानों (चित्तस्थितियो) का ध्यान करें। लाभ, यश, भोजन-वसन आदि का लोभ (लोकधर्म) त्याग वे मैत्री, करुणा, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा का अभ्यास करें। महायानी और हीनयानी भिक्षु अक्सर एक साथ एक ही विहार में रहते थे, जिससे प्रकट है कि एक मात्रा तक दोनो एक ही प्रकार के आधारभूत आचारो का सेवन करते रहे होंगे। दोनों को प्रारंभिक दीक्षा भी समान रूप से ही दी जाती थी, केवल बोधि-चित्त का व्रत—बुद्धो और चैत्यो की उपासना, त्रिरत्न की शरण और पापस्वीकरण, दूसरो के गुणों का अंगीकरण, अन्यो के पथ प्रदर्शन के लिए बुद्ध से प्रार्थना और बोधि के लिए अपने पुण्य समर्पित कर देना—महायानियों के आचरण की विशेषता थी।[1]

[1] द क्लासिकल एज, ३८०।

पूजाविधि

फाह्यान ने बौद्धों की पूजा का जो वर्णन किया है उससे प्रकट है कि उसका एक रूप सारिपुत्र, मौद्गलायन, आनन्द के नाम पर स्तूप स्थापित करना था। चूंकि आनन्द के ही अध्यवसाय से भिक्षुणी-संघ का आरम्भ हुआ था इससे भिक्षुणियां आनन्द के स्तूप पर चढ़ावा करती थी। महायानी प्रज्ञापारमिता तारा, मंजुश्री और अवलोकितेश्वर को चढ़ावा चढ़ाते थे। चीनी यात्रियों के भ्रमण वृत्तांत से प्रकट है कि गुप्तकाल मे हीनयानी बुद्धों और अपने अर्हत्सन्तो की पूजा करते थे और महायानी बोधिसत्त्वों और प्रज्ञापारमिता की। यत्र-तत्र मैत्रेय की पूजा भी प्रचलित थी। फाह्यान और हुएन्त्साग दोनों ने मूर्तियों के साथ जलूस निकालने की पूजा-प्रथा का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार के जलूस फाह्यान ने खुतन और पाटलिपुत्र मे देखे थे और हुएन्त्साग ने कनौज मे हर्ष द्वारा आयोजित बुद्ध, सूर्य, शिव आदि की मूर्तियों के साथ जलूस निकाले जाने का विशद वर्णन किया है। मूर्तियां सातो मूल्यवान् रत्नो, रेशमी पताकाओ, छत्रों, वितानो आदि से सजे रथो, हाथियों, घोड़ों आदि पर सजकर निकलती थी।

प्रादेशिक प्रभुत्व

धीरे-धीरे महायान के लोकप्रिय हो जाने से निश्चय हीनयान का प्रभुत्व भारत से उठ गया, फिर भी गुप्तकाल में उत्तर भारत मे हीनयानियो की, विशेष कर सर्वास्तिवादियों की, संख्या बनी रही। उत्तरपश्चिमी सीमाप्रात, कश्मीर, ईरान, मध्य एशिया, चीन, सुमात्रा, जावा, कोचीन चीन आदि मे वैभाषिकों अथवा सर्वास्तिवादियों का विशेष प्रभुत्व था। इसी प्रकार उज्जयिनी, वलभी, कांची, सिंहल, स्याम और बरमा मे स्थविरवादियो—महिशासकों का जोर था। मगध के नालन्द, विक्रमशिला और पाटलिपुत्र के विहारों मे हीनयानी और महायानी भिक्षु दोनो साथ साथ रहते थे। लोबनोर, दरद, उद्यान (दक्षिण-पश्चिमी अफगानिस्तान), गन्धार, बन्नू, कनौज और सिंहल में फाह्यान के अनुसार केवल हीनयानी थे और अफगानिस्तान के दूसरे इलाकों, पंजाब के भिड़ मे, मथुरा और पाटलिपुत्र मे हीनयानी और महायानी दोनों समान रूप से प्रतिष्ठित थे। हुएन्त्सांग लिखता है कि (सातवीं सदी के आरम्भ में भी) भारत से बाहर और उसके उत्तरी प्रदेशो, कूची, बलख, बामियान, कश्मीर और देश के भीतर स्रुघ्न, प्रयाग और कौशांबी आदि में हीनयानियों का बोलबाला था, और कपिशा, जालन्धर, मथुरा, साकेत, नेपाल, पुड्रवर्धन, अभयगिरि (सिंहल), कोंकणपुर, महाराष्ट्र, ईरान आदि में महायानी प्रबल थे। हुएन्त्सांग के भ्रमणकाल में हीनयानी साम्मतीयों का प्रभुत्व बढ़ गया था और उनका निवास विशेष कर विशोक, अहिच्छत्रा, संकाश्य, श्रावस्ती, कपिलवस्तु,

वाराणसी, वैशाली, कर्णसुवर्ण, मालवा, वलभी, हयमुख, आनन्दपुर, सिन्ध, कच्छ आदि मे था ।

बौद्ध दर्शन

वैभाषिक

ऊपर एक अश में बौद्ध दार्शनिक संप्रदायों का उल्लेख किया जा चुका है, पर अभी उनका उनके ग्रन्थों आदि के सन्दर्भ में दर्शन अपेक्षित है जो यहां किया जा रहा है। कात्यायनीपुत्र के 'ज्ञानप्रस्थानसूत्र' को स्वीकार कर लेने के कारण कश्मीर और गन्धार के सर्वास्तिवादी वैभाषिक कहलाये। कहते हैं कि अश्वघोष ने 'विभाषाओं' का सस्कृत मे प्रकाश किया। इनका चीनी अनुवाद ३८३-४३४ ई. में हो चुका था। इनका अधिकतर अध्ययन और मनन कश्मीर मे हुआ। इस मत के प्रधान आचार्य धर्मोत्तर, धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र और बुद्धदेव थे। गन्धार के वसुबन्धु ने पाचवीं सदी मे कश्मीर जाकर विभाषाओं का अध्ययन सघभद्र से किया। अपने 'अभिधर्मकोश' और 'भाष्य' में फिर उसने इन विभाषाओं का मनन किया। हीनयानी और महायानी दोनो भिक्षु इनका अध्ययन करने लगे। 'कोश' का अनुवाद परमार्थ ने ५६३–६७ में और हुएन्त्सांग ने ६५१–५४ ई. मे किया।

वसुबन्धु का शिष्य गुणप्रभ वेद-शास्त्रो मे पारगत मथुरा का ब्राह्मण था जो बौद्ध हो गया था। वह त्रिपिटको और महायान ग्रथो का महापडित, राजा हर्ष का गुरु था जो पहले मथुरा, फिर मतिपुर के विहार मे रहा। हुएन्त्सांग उसे महान् आचार्य मानता है। उसने महायान छोड़ वैभाषिक मत स्वीकार कर लिया था।

सौत्रान्तिक

वैभाषिकों के यथार्थवाद के प्रबल शत्रु सौत्रान्तिकों का उदय गन्धार और कश्मीर में हुआ। विभाषाओं और अभिधर्मों के विपरीत ये सूत्रों या सुत्तान्तों को दार्शनिक आधारशिला मानते थे। दृष्टान्तों को प्रमाण मानने के कारण ये दार्ष्टान्तिक भी कहलाते थे। वैभाषिकों के प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध ये बाह्य पदार्थों को केवल प्रज्ञप्ति अथवा रूप मात्र मानते थे जिनका अस्तित्व ये बाह्यार्थानुमेयत्व अथवा अनुमान से स्वीकार करते थे। 'कोश' का कहना था कि आकाश अथवा निर्वाण द्रव्य अथवा वास्तविक पदार्थ नहीं केवल पदार्थत्व का अभाव है। सौत्रान्तिकों के अनुसार निर्वाण (सुख) के अतिरिक्त कुछ भी अनात्म नहीं, अनित्य नहीं, दुःख नहीं। इनका कहना था कि स्कन्ध-मालाएं (तत्त्वों

के सूक्ष्म रूप) बदलती रहती हैं पर निर्वाण में उनका सर्वथा अभाव हो जाता है। इस मत के प्रवर्तक तक्षशिला के आचार्य कुमारलब्ध थे और अश्वघोष, नागार्जुन और आर्य-देव के साथ भारत के चार 'सूर्यों' में गिने जाते थे। वे आर्यदेव और वसुबन्धु के बीच कभी हुए। इस मत के एक प्रधान आचार्य श्रीलाभ थे जिनका वसुबन्धु ने उल्लेख किया है। ये कश्मीरी थे जो अयोध्या में रहने लगे थे।

माध्यमिक

गुप्तकाल मे जिस माध्यमिक मत का बोलबाला हुआ उसका प्रवर्तन नागार्जुन ने पहली सदी ईसवी में किया था। अपनी 'मूल मध्यमकारिका' मे इन्होंने यथार्थ को मात्र शून्यता माना। उन्होंने शून्यता (निर्वाण) पर ही ससार (दृश्य जगत्) को अवलंबित मानकर ससार और यथार्थ (निर्वाण अथवा शून्यता) मे भेद नही माना। नागार्जुन के बाद सिंहलनरेश के धर्मपुत्र आर्यदेव ने नालन्द के स्थविर पद से माध्यमिक मत का विकास किया। उनका 'चतु.शतक' आज भी मूल संस्कृत मे सुरक्षित है। आर्यदेव का देहान्त दूसरी सदी के अन्त मे काची मे हुआ। वेद-वेदागो और तंत्र-मन्त्रो मे दक्ष उत्तरापथ के ब्राह्मण मातृचेट अथवा पितृचेट पहले महेश्वर के भक्त थे जो आर्यदेव से हारकर बौद्ध हो गये थे। इनका नाम पहले काल था और अपनी तर्कशक्ति के कारण ये 'दुर्धर्ष काल' कहलाने लगे थे। राहुलभद्र के स्थविर काल मे इन्होंने नालन्द मे चौदह कुटियों और चौदह विहारों का निर्माण कराया। इनकी तेरह कृतियो मे लोकप्रिय स्तोत्र 'वर्णार्हवर्णस्तोत्र' और 'शतपचाशत्कनामस्तोत्र' थे जिनका पाठ हीनयानी और महायानी दोनों नालन्द में करते थे। अमिताभ बुद्ध के भक्त राहुलभद्र नालन्द मे इस मत के प्रधान आचार्य और मातृचेट के उत्तराधिकारी हुए। ये शूद्र और बडे धनवान् थे। इस मत के दूसरे आचार्य राहुलमित्र और नागमित्र थे। नागमित्र पांचवी सदी के आरम्भ में असग के समकालीन संघरक्षित के शिष्य थे। पाचवी सदी के ही कश्मीरी कुमारजीव ने चीन में माध्यमिक मत का प्रचार किया। इनके सस्कृत बौद्ध ग्रंथो के चीनी मे किये अनुवाद प्रसिद्ध हैं। ये कूची से बन्दी बनाकर चीन ले जाये गये थे।

माध्यमिक मत के दो प्रधान प्रचारक आचार्य बुद्धपालित और भावविवेक हुए जिनका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। ये दोनों सघरक्षित के शिष्य और पाचवी सदी के अन्त मे योगाचार सप्रदाय के आचार्य स्थिरमति और दिङ्नाग के समकालीन थे। दाक्षिणात्य बुद्धपालित कलिंग-राजधानी दन्तपुर में रहता था जिसने शन्यता स्थापित करने के लिए नागार्जुन और आर्यदेव के तर्क 'प्रासगिक' का उपयोग किया। भावविवेक भी दक्षिण (मलयगिरि) में ही जन्मा था। मध्यदेश में महायान ज्ञान का अर्जन कर वह

फिर दक्षिण लौटा और वहा पचास विहारो का महास्थविर हो गया। उसने भी नागार्जुन के 'मूल मध्यमक' पर बुद्धपालित की ही भाति अपना भाष्य 'प्रज्ञाप्रदीप' लिखा, पर प्रासगिक तर्क छोड उसने स्वातत्रिक तर्क द्वारा शून्यता के सिद्धात का प्रतिपादन किया। इसी आचार्य के समय योगाचार माध्यमिको से बिलकुल अलग हो गया।

माध्यमिक आचार्य चन्द्रकीर्ति की 'मूल मध्यमक' पर लिखी 'प्रसन्नपदा' व्याख्या मूल सस्कृत मे उपलब्ध असाधारण प्रतिभा की रचना मानी जाती है। दक्षिण के समन्त मे जन्मे चन्द्रकीर्ति ने बुद्धपालित के शिष्य कमलबुद्धि से माध्यमिक दर्शन पढा। वह नालन्दा का स्थविर था और दक्षिण जाकर उसने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। योगाचारी चन्द्रगोमी उसका समकालीन था। चन्द्रकीर्ति के उत्तराधिकारी धर्मपाल (६३५ ई) और जयदेव हुए। इनके बाद महास्थविर सौराष्ट्र के राजा कल्याणवर्मा के पुत्र शातिदेव (शातिवर्मा) हुए जो चन्द्रकीर्ति के बाद माध्यमिक मत के सबसे महान् आचार्य थे। ये भुसुक नाम से भी प्रसिद्ध हुए।

योगाचार

तीसरी सदी ईसवी मे योगाचार मत का प्रादुर्भाव हुआ जिसकी स्थापना मैत्रेयनाथ ने की। माध्यमिको की ही भाति योगाचारियो ने भी शून्यता को ही सत्य माना है जिसका न आदि है न अन्त है और जो वर्णनातीत है। योगाचार विज्ञप्ति मात्र (शुद्ध चेतना) को सत्य मानता है, माध्यमिक शास्त्र गुण या चेतना को भी स्वीकार नही करता। मैत्रेयनाथ (२७०–३५०) अयोध्या मे ८० वर्ष की अवस्था मे मरे। उनके ग्रथ 'अभिसमयालकारकारिका', 'मध्यान्तविभाग' और 'बोधिसत्त्वभूमि' मूल सस्कृत मे उपलब्ध है। इस मत के अन्य आचार्य असग और वसुबन्धु पुरुषपुर (पेशावर) के राजपुरोहित के पुत्र थे। असग पहले पिण्डोल द्वारा महिशासक सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए पर उससे सन्तुष्ट न होने से मैत्रेयनाथ के शिष्य हो गये, जिनके विचारो का योगाचार के सिद्धात रूप से उन्होंने विन्यास किया। असग ३१०–९० ई मे अस्सी वर्ष की आयु तक अयोध्या मे जीवित रहे, जहा उन्होने अपने तेजस्वी प्रतिभाशाली अनुज वसुबन्धु को सर्वास्तिवाद से योगाचार मे दीक्षित किया। वसुबन्धु ने अपनी 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' द्वारा योगाचार के विज्ञानवाद का विन्यास किया। भाष्यकार और दार्शनिक होने के साथ ही वे तार्किक भी थे और तर्कशास्त्र पर उन्होंने 'वादहृदय', 'वादविधान' और 'वादविधि' आदि अनेक ग्रथ लिखे। नालन्द के इस आचार्य के अनेक विख्यात शिष्य हुए—गुणमति, स्थिरमति, दिङ्नाग, सघदास, धर्मदास, धर्मपाल और विमुक्तसेन।

वलभी के गुणमति नालन्द के आचार्यो मे भी प्रतिष्ठित हुए। प्रसिद्ध आचार्य

परमार्थ गुणमति के ही शिष्य थे जिन्होंने उनके ग्रंथ 'लक्षणानुसारशास्त्र' का चीनी मे अनुवाद किया। दण्डकारण्य के निवासी स्थिरमति दीर्घकाल तक वलभी के विहार में गुणमति के साथ रहे और उन्होने अपने गुरु वसुबन्धु के अनेक ग्रंथो की व्याख्या लिखी। प्रखर प्रतिभावान् दिङ्नाग काची के ब्राह्मण कुल में जन्मा था और पहले वात्सीपुत्रीय भिक्षु (साम्मतीय) हुआ, पीछे वसुबन्धु के प्रभाव से विज्ञानवादी हो गया। उसने अपने गुरु के तर्क से न्याय को अलग कर दिया। दिङ्नाग का 'प्रमाणसमुच्चय' न्याय का प्रामाणिक ग्रथ है। उसके अनेक ग्रथो का चीनी मे ५६० ई० तक अनुवाद हो चुका था। इस तर्क के सिद्धान्त को न्याय के दार्शनिक विज्ञान का पद देने का श्रेय उसी को है। वह अद्भुत मेधावी और तार्किक था। उसने ब्राह्मण धर्मावलबियो के सिद्धान्तो पर प्रहार किये, ब्राह्मण सिद्धान्तवादी उद्योतकर, कुमारिल और पार्थसारथि मिश्र ने भी उसके उत्तर दिये। दिङ्नाग पाचवी सदी के अन्त मे हुआ। विख्यात है कि उसने कालिदास पर भी प्रहार किया, जिसका उत्तर कवि ने 'मेघदूत' में 'दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्' द्वारा उसकी अवमानना करके दिया।

शकर स्वामी और धर्मपाल, योगाचार के दोनो आचार्य दाक्षिणात्य और दिङ्नाग के शिष्य थे। धर्मपाल के बाद उसका शिष्य शीलभद्र नालन्द का स्थविर हुआ जिससे हुएन्त्साग ने पढा। वह नालन्द का अन्तिम विज्ञानवादी आचार्य था। उस मत का पिछले काल का आचार्य प्रसिद्ध धर्मकीर्ति हुआ जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वह दक्षिण का ब्राह्मण था। अठारह साल की आयु मे उसने सारे ब्राह्मण ग्रथो का अध्ययन कर लिया पर उनसे सतुष्ट न होने से बौद्ध उपासक हो गया। उसे धर्मपाल ने मध्यदेश मे दीक्षित किया। साख्य दर्शन के साथ उसने ब्राह्मण दार्शनिको का परास्त किया और न्याय मे नयी दृष्टि प्रस्तुत की। 'प्रमाणवार्तिक' और 'न्यायबिन्दु' उसके प्रख्यात तर्कग्रथ है। धर्मकीर्ति सातवी सदी के मध्य कभी हुआ।

स्थिरमति का शिष्य वैयाकरण चन्द्रगोमी वारेन्द्र का था, न्याय और विज्ञानवाद का असाधारण आचार्य। वह तारा और अवलोकितेश्वर का भक्त था। वारेन्द्र के राजा की कन्या तारा को उसने व्याहा, फिर वह देवी तारा का उपासक बनकर प्रव्रजित हो गया और गगा पार चन्द्रद्वीप मे तारा और अवलोकितेश्वर के मन्दिर स्थापित किये। चन्द्रगोमी ने अनेक ग्रथ लिखे, उसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। अन्त मे वह सिंहल चला गया और सागर पार धनश्री द्वीप के पोतला मे रहने लगा। वहा भी उसने तारा और अवलोकितेश्वर के मन्दिर खडे किये।

बौद्ध सम्प्रदायों और उनके आचार्यों का परिचय दे चुकने के बाद सक्षेप में यहा गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियों का भी कुछ परिचय इसी सदर्भ मे दे देना अनुपयुक्त

न होगा। विशेष कर इस कारण भी कि बौद्ध मूर्तियों ने समसामयिक कला को प्रभावित कर विकसित किया, इसका उल्लेख यहा महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

बुद्ध की मूर्तियां

अन्य मूर्तियों के साथ ही बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्तियों का उल्लेख भी मूर्तिकला के प्रसग मे पहले किया जा चुका है, फिर भी धर्म और पूजन के संदर्भ में सक्षेप मे उनका उल्लेख यहा अनुचित न होगा। बुद्ध और बोधिसत्त्व मूर्तियो का गुप्तकालीन ऐश्वर्य कला की परिणति है। सारनाथ की धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा मे बैठी मूर्ति शाति और ध्यान की अभिराम उपलब्धि है। इसका प्रभामडल सुरुचि का असाधारण उदाहरण है। मथुरा की बुद्ध की खडी मूर्ति, जिसके हाथ टूट गये हैं, अनुपात और सुरुचि मे लासानी है। उसका और उस काल की अन्य बुद्धमूर्तियो का परिधान स्वयं अलकरण की सुरुचि का प्रमाण बन गया है। मानकुअर वाली बैठी बुद्ध मूर्ति (४४८-४६ ई) दैवी वैभव मे जैसे आविर्भूत हुई है। कसिया की, मथुरा के मूर्तिकार दिन्न द्वारा निर्मित, निर्वाण मुद्रा मे पडी बुद्धमूर्ति स्वय अपना प्रमाण है; ऐसी मूर्ति उस मुद्रा मे न तो पहले कभी बनी न पीछे। सारनाथ के मूर्तिसंग्रह से उदाहृत है कि उस काल अवलोकितेश्वर, मैत्रेय और मजुश्री आदि बोधिसत्त्वो की भी अनेक सुन्दर मूर्तिया बनी। इन मूर्तियो के भाल पर सबधित ध्यानी बुद्ध की आकृति उभरी हुई है। मैत्रेय नागकेसर के फूल धारण करने लगे है जो पहले अमृतपात्र धारण करते थे।

भाष्यों का युग

बुद्धघोष—पालि का नया धार्मिक साहित्य भी इस काल का महत्त्व का है। 'निदानकथा' मे पहली बार बुद्ध की आयत जीवनचर्या दी गयी है। बोधगया के ब्राह्मण बुद्धघोष ने बौद्ध होकर राजा महानाम (४०६-३१ ई) के शासनकाल मे सिंहल मे प्रवास किया और मैत्रेय बोधिसत्त्व कहलाये। स्वय बुद्धघोष ने अपनी कृतियो मे विसुद्धिमग्ग, समन्तपासादिका, सुमगलविलासिनी, पपचसूदनी, सारत्थप्पकासिनी और मनोरथपूरणी का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक रचनाओ के जनक बुद्धघोष माने जाते है। उनकी असाधारण कृति विसुद्धिमग्ग है जिसमे बुद्ध का समूचा सिद्धात दार्शनिक रूप से प्रस्तुत हुआ है। त्रिपिटको पर उनका भाष्य भी असाधारण महत्त्व का है। इस अमर चिन्तक की कृतियां विश्वकोश हैं जिनमे उस काल और उससे पहले भारत की राजनीतिक, धार्मिक, सास्कृतिक और दार्शनिक स्थिति पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है।

बुद्धदत्त, आनन्द, धम्मपाल—बौद्ध धर्म ने बुद्धघोष के-से कम ही विद्वान् उत्पन्न किये हैं। उनकी रचनाओं में से अनेक पर बुद्धदत्त ने व्याख्या लिखी। आनन्द भी बुद्धघोष का समकालीन था जिसने अभिधम्म की अट्ठकथा पर 'अभिधम्ममूलटीका' लिखी। धम्मपाल ने चौदह भाष्य लिखे। उसकी रचनाओं में भी उसके प्रकाण्ड पाण्डित्य का पता चलता है।

उपसेन, कस्सप—उपसेन का नाम बोधगया के एक अभिलेख में मिलता है, जिससे उसका कार्यकाल पांचवीं सदी प्रमाणित होता है। महानिद्देस पर उसकी व्याख्या प्रसिद्ध है। कस्सप नाम के अनेक बौद्ध पंडित हो गये हैं, उसमें प्रसिद्ध 'बुद्धवंश' का रचयिता उनमें से कौन है यह कह सकना कठिन जान पड़ता है। इनके अतिरिक्त उपतिस्स, धम्मसिरि और महासामि के नाम भी व्याख्याताओं और भाष्यकारों में जाने हुए हैं।

दीपवंश, महावंश

सिंहलद्वीप ने विशेषतः बौद्ध साहित्य को उसके ऐतिहासिक रूप में मण्डित किया है। दीपवंश और महावंश उसी अध्यवसाय के परिणाम हैं। उनका आरम्भ वस्तुतः सिंहली अट्ठकथाओं में होता है। अनजाने कृतिकार द्वारा सम्पन्न दीपवंश में पहली बार अट्ठकथाओं को काव्यबद्ध करने का प्रयत्न हुआ है। काव्य की दृष्टि से निम्न कोटि का होकर भी इतिहास की दृष्टि से यह ग्रंथ महत्त्व का है। सिंहली राजा महासेन के राज्य-काल में चौथी सदी ईसवी में यह ग्रंथ रचा गया था। महावंश दीपवंश से ऊंचा ऐतिहासिक काव्य है। इसे महानाम ने संभवतः पांचवीं सदी में रचा। इस रचना का अन्त भी दीपवंश की ही भांति महासेन की मृत्यु (३६२ ई॰) के साथ हो जाता है। इसमें दीपवंश की अनेक कथाएँ पूरी कर दी गयी हैं या नयी जोड़ दी गयी हैं। भारतीय विचारों के अनुसार महावंश दीपवंश की मात्र व्याख्या है। जो भी हो, ऐतिहासिक दृष्टि से दोनों कृतियां महत्त्व की हैं और बौद्ध इतिहास पर प्रभूत प्रकाश डालती हैं। भारतीय इतिहास के निर्माण में इनसे सहायता भी भरपूर ली गयी है, धार्मिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में।

२. जैन धर्म और दर्शन

जैन धर्म बौद्ध धर्म की ही भांति मगध में जन्मा और राजस्थान, पश्चिमी भारत, दकन और दक्षिण में फैल गया। यद्यपि कालान्तर में स्वयं मगध से वह लुप्त हो गया, पर बौद्ध धर्म की भांति वह भारत से बाहर नहीं फैल सका। इसके उपासक राजा और धनी-मानी तथा व्यवसायी वर्ग रहे जिससे इसके विस्तार में आसानी हुई।

धीरे-धीरे विन्ध्य पर्वत के दक्षिण इस धर्म का विशेष प्रभुत्व बढ़ा।

जैन धर्म के प्रधानतः दो सम्प्रदाय हुए—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दक्षिण मे इनकी शाखाएँ संघ और गण कहलायी, उत्तर मे कुल, शाखा आदि। गुप्त सम्राटो के वैष्णव-शैवादि ब्राह्मण धर्मों के उत्थान काल मे निश्चय बौद्धो के साथ-साथ जैनों का भी ह्रास हुआ। फिर भी इसके प्रमाण हैं कि जैन धर्म मध्य वर्ग के अनेक भागो मे लोकप्रिय रहा। गुप्तकाल के अनेक अभिलेखो मे जैन धर्म मे लोगो की आस्था के प्रमाण मिलते है। इनमे से दो कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल के है, क्रमश ४२६ और ४३२ ई. के। इनमे से एक मे उदयगिरि (मालवा) मे पार्श्वनाथ की प्रतिमा के दान का उल्लेख है, दूसरे मे मथुरा की एक महिला द्वारा जिन-मूर्ति की स्थापना का बखान हुआ है। स्कन्दगुप्त के राज्यकाल के कहौम के अभिलेख मे पाच तीर्थंकर मूर्तियों के वहा प्रतिष्ठित करने का जिक्र है। पहाड़पुर मे, जैसा उसके ४७८ ई के ताम्रलेख मे सूचित है, एक जैन दम्पति ने वट गोहाली के जैन विहार के लिए कुछ भूमि दान की थी। हुएन्त्साग लिखता है कि तक्षशिला और विपुल (पूर्व) मे श्वेताबरो और दिगबरो दोनो सप्रदायो के मुनि थे और पूरब पौण्ड्रवर्धन (बगाल) और समतट मे दिगम्बरों का बाहुल्य था। परन्तु निश्चय उस काल के ब्राह्मणधर्मी लोग जैनो का अनादर करते थे। 'मृच्छकटिक'[1] मे जैसे बौद्ध भिक्षु का दर्शन अशुभ माना गया है, दण्डी और बाण ने भी अपने 'दशकुमार-चरित' और 'हर्षचरित' मे जैनो की क्षपणक आदि कुशब्दो द्वारा अवमानना की है।

दक्षिण में प्रसार

दक्षिण मे जैनो ने राजाओ को प्रभावित कर अपने धर्म का विशेष प्रचार किया। कन्नड प्रदेश मे तो यह धर्म पर्याप्त फला फूला। अनेक राजपरिवार और मन्त्रिवर्ग अपने सेठो सहित जैन धर्म के अनुयायी हो गये। मैसूर के गग राजाओं पर इस धर्म का घना प्रभाव था।[2] ख्यातो से पता चलता है कि गग वश का प्रतिष्ठाता जैनाचार्य सिहनदी का शिष्य हो गया था जिससे उसके उत्तराधिकारियों ने भी इस धर्म को स्वीकार कर लिया। राजा अविनीत को जैन मुनि विजयकीर्ति ने विनीत किया था और उसी राजकुल के दुर्विनीत को दिगम्बर पूज्यपाद ने बहुश्रुत बनाया था। अविनीत, शिवमार और श्रीपुरुष के तो जैन मुनियो के लिए दिये दान और बनवाये मन्दिरो का भी उल्लेख हुआ है। वैजयन्ती अथवा बनवासी के राजाओ का नाम अक्सर जैन परम्परा के पोषको मे लिया जाता है। मयूरशर्मा निःसन्देह उनमे अपवाद था। अन्य राजा निश्चय जैन

[1] अंक ६। [2] सालेतोरे, मेडिएवल जैनिज्म, पृ. ७।

गुरुओ के कृपाभाजन बने रहे। इनके अभिलेखो मे जैनो के प्रति इनकी निष्ठा का प्रमाण मिलता है ।

तमिळ साहित्य से सुदूर दक्षिण मे जैन धर्म के विकास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उसमे प्रकट है कि वहा उस धर्म के अनुयायियो की सख्या बडी थी। वस्तुत 'तोळ-काप्पियम्' और 'कुरल' काव्यो के रचयिता जैन धर्मावलम्बी ही माने जाते है। बौद्ध काव्य 'मणिमेखलै' मे दिगम्बर जैनो के सिद्धात का खासा निरूपण हुआ है। निश्चय जीवकचिन्तामणि, सिलप्पदिकारम्, नीलकेशि, यशोधर काव्य आदि जैन सिद्धातो और विश्वासो से ही अनुप्राणित है। यह समय सातवीं सदी से पहले का था। जैन-ग्रथ-कार समन्तभद्र काची से सबधित है और प्राकृत का प्राचीनतम दक्षिणात्य लेखक कुन्दकुन्द दिगम्बर साहित्य मे प्रसिद्ध है। सभवत पल्लव नरेश शिवकुमार महाराज उसका शिष्य था। काची के राजा सिहवर्मा के समय ४५८ ई मे जैन सर्वनन्दी ने अपना प्राकृत ग्रथ 'लोकविभाग' लिखा। सभवत कर्नाटक मे आनेवाले कलभ्र भी जैन धर्मावलम्बी ही थे।

दर्शन

चार्वाक और बौद्ध दर्शनों की ही भांति जैन दर्शन की भी नास्तिक दर्शनो मे गणना है। इस धर्म के मूल सिद्धांत अर्धमागधी मे लिखे है। इसके सिद्धात ग्रथो की सख्या ४५ है। इनमे ११ अग, १२ उपाग, १० प्रकीर्ण, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र और स्वतन्त्र ग्रथ नन्दी-सूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र हैं। प्रकीर्ण छन्दोबद्ध है। छेदसूत्र सभवत प्रकीर्णों से पहले के है। इनमे जैन मुनियो के आचार का विधान हुआ है। 'छेद' का अर्थ दण्ड होता है। इसमे भी कठोर दण्ड अथवा सघ से सर्वथा निकाल देने का दण्ड जिनका विषय है वे 'मल' कहलाते है। इन सूत्रो मे जैनो के मूल सिद्धातो का भी निरूपण हुआ है। नन्दी और अनुयोगद्वार मे पुनीत सिद्धान्तो के अध्ययन के लिए एक प्रकार की सैद्धांतिक भूमिका दी हुई है। प्राचीन जैनाचार्यों मे कुन्दकुन्दाचार्य और समन्तभद्र प्रधान है। पूर्व मध्य-युग के आचार्यो मे मुख्य सिद्धसेन दिवाकर थे।

जैनाचार्य मोक्ष के तीन साधन बताते है—सम्यक् दर्शन (श्रद्धा), सम्यक् ज्ञान (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष, इनका सही ज्ञान) और सम्यक् चरित्र, जिसके लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन अनिवार्य है। जैन छ द्रव्यो को मानते है—एकदेश-व्यापी द्रव्य 'काल' है। बहुदेश-व्यापी द्रव्य 'अस्तिकाय' है। सत्ता धारण करने से वे अस्ति और शरीर के कारण 'काय' कहलाते हैं। ऐसे द्रव्य पाच है—जीव, पुद्गल (भूत), आकाश, धर्म और अधर्म। भारतीय दर्शन के क्षेत्र मे जैनो की विशेष देन 'स्याद्वाद' अथवा सप्तभगी नय है।

वलभी की जैन संगीति में पहली बार जैनो के ऊपर लिखे अग, उपाग, प्रकीर्ण आदि विभक्त होकर सिद्धातग्रथ बने। वस्तुत इनमें से एक अग ही विशेष प्राचीन है। इसे श्वेताबर और दिगबर दोनो ही मानते है। वलभी की संगीति देवर्धि गणि की अध्यक्षता मे गुप्तकाल (५१२ अथवा ५२५ ई.) मे ही हुई थी। वलभी पीछे जैनशास्त्रीय सक्रियता का केन्द्र बन गया। पुष्पदन्त और भूतबलि ने भी वही अपनी प्रज्ञा का विस्तार किया और जिनभद्र क्षमाश्रमण ने अपना प्रसिद्ध ग्रथ 'विशेषावश्यक भाष्य' ६०९ ई मे वही रचा। कुन्दकुन्दाचार्य तो गुप्तकाल मे पहले हुए थे पर प्राकृत मे इस काल की अनेक जैनाचार्यों ने अपनी रचनाएँ की। इनमे विख्यात है 'मूलाचार' के लेखक वट्टकेर, 'द्वादशानुप्रेक्षा' के कर्ता स्वामी कार्तिकेय, 'तिलोयपण्णत्ति' के रचयिता यतिवृषभ और सिद्धान्तग्रन्थों के निर्माता पुष्पदन्त, भूतबलि और गुणधर। संस्कृत मे लिखने वाले आचार्यों मे प्रधान समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलक, मानतुग थे।

३. ईसाई धर्म

दूसरी सदी से ही ईसाई सन्तो का भारत आना और ईसाई जातियो का भारत मे बस्तियां बसाकर रहना शुरू हो गया था। वस्तुत एक किंवदन्ती तो यह है कि ईसा का शिष्य टामस गान्दोफर्नीज (गुदफर) के पह्लव शासन मे पहली सदी ईसवी के आरभ मे ही तक्षशिला आ पहुचा था। ४२० ई की एक कृति 'लॉजियाक हिस्तोरीज' (पलादियस) के अनुसार चौथी सदी ईसवी तक दक्षिण भारत मे ईसाई चर्च प्रतिष्ठित हो चुका था। 'कोस्मस इन्दिकोप्लिउस्तिज' से पता चलता है कि "ताप्रोबेन (सिंहल) मे भी ईसाई धर्म प्रतिष्ठित है जहा गिरजा, पादरी और ईसाई धर्म के अनुयायी है, पर मुझे यह पता नही कि उनके परे भी कही ईसाइयो का निवास है। मले (मलाबार) देश, जहा काली मिर्च उगती है, मे भी एक गिरजा है और कल्यान मे भी। वहा बिशप भी है जिसकी नियुक्ति पर्शिया मे हुई है।"

इससे प्रकट है कि भारत और सिंहल मे गुप्तकाल मे ही ईसाई धर्म की प्रतिष्ठा हो चुकी थी यद्यपि वह ईरान के आधार से सबधित था। मलाबार के ईसाई समुदाय ने मलयालियो से बडा सद्भाव बढाया जिससे उस धर्म का वहा कभी ह्रास नही हुआ। ३२५ ई मे निकाइया के सम्मेलन (कौंसिल) मे ईसाई जगत् के जो तीन सौ बिशप शामिल हुए थे उनमे से एक ने अपना हस्ताक्षर करते हुए लिखा था—'फारस और महान् भारत का बिशप जान'। कहानियो मे चौथी सदी मे थियो फिलस ओर फ्रुमेन्तियस के भी भारत आने की बात कही गयी है।

पश्चिमी भारत के सागरतट पर बसे ईसाई नेस्तोरी थे जिनका सबध ईरानी

ईसाई चर्च मे था। चोडमंडल सागरतीर पर बसे मैलापुरी ईसाई भी नेस्तोरी ही थे, यह निष्कर्ष १५४७ मे सत टामस पर्वत पर मिले क्रूस से निकाला गया है। उस पर एक पह्लवी अभिलेख भी है जो सातवी या आठवी सदी का है। इसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। ऐसा ही क्रूम उत्तर त्रावणकोर के कोट्टयम् मे भी मिला है जिससे प्रकट है कि आठवी सदी से पहले दक्षिण भारत के पूरबी और पश्चिमी दोनो सागरतटो पर ईसाई बस्तिया बस चुकी थी। इससे यह भी प्रकट है कि गुप्तकाल में ही इन ईसाई परिवारों का आना और बसना प्रारंभ हो गया होगा। चाहे पहली सदी मे टामस का गुदफर की राजधानी तक्षशिला मे आना निराधार किंवदन्ती ही रही हो, निश्चय 'हिस्तारीज' और 'कोस्मस' के ऊपर उद्धृत वक्तव्यो पर अविश्वास करने का कोई कारण नही जान पडता। युग की उदारता दक्षिण की सहिष्णुता पर भी अपना प्रभाव डाले बिना न रह सकी। इस प्रकार चार्वाक, बौद्ध और जैन नास्तिकों, ब्राह्मणधर्मियो और ईसाइयो तक का गुप्तकाल मे इस देश की सीमाओ मे निवास था।

अध्याय १३

गुप्तकालीन संस्कृति का वैदेशिक विस्तार

भारतीय संस्कृति के विस्तार, विशेष कर बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए तीसरी सदी ई पू मे ही अशोक ने भारत के बाहर भी अपने प्रचारक भेजे थे, पर ईसा की प्रारंभिक सदियो मे तो भारत के उत्तर, मध्य एशिया और चीन मे अनेक बौद्ध विहार बन गये थे और शीघ्र ही अनेक भारतीय पडित उद्यान, खुत्तन, तकलामकान, तुर्फान आदि लाघकर तुन-हुआग (चीन) की ओर जाने लग गये थे। व्यापार का मार्ग सदियो से बना हुआ था जिसे अब धार्मिक सन्तो ने पकडा और जला डालने वाली लू मे भी खच्चरो की रगों मे रक्त निकाल, उससे अपनी प्यास बुझा कश्मीरी और पेशावरी बौद्ध पडित चीन की ज्ञान-पिपासा बुझाने उत्तर-पूर्व जाने लगे। शीघ्र ही दोनो ओर से धार्मिक यात्रियो का आना-जाना प्रारम्भ हो गया।

उत्तर की राह तो चल ही पडी थी, पूरब जल की राह भारतीय माझियो ने कब की खोल रखी थी। सो कम्बुज और चम्पा, बरमा और स्याम, मलया और सुमात्रा, जावा और बाली एक एक कर भारतीय धर्म और सस्कृति के प्रचारको के लक्ष्य बने, जहां जाकर उन्होंने प्रेम और दया, सख्य और भाईचारे का सन्देश दिया। इस अध्याय मे इन्ही देशो के सास्कृतिक सबध की चर्चा करेगे।

१. चीन

चीन जाने के मार्ग मे कूची का पडाव बडे महत्त्व का रहा था। सदियो पहले से मध्य एशिया के उस बौद्ध केन्द्र मे भारतीय भिक्षु रहते आये थे। सर आरेल स्टाइन ने जो उस दिशा मे खोजे की है उनसे वहा की भारतीयता का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अब चीन जाने की राह मे कूची की मजिल विशेष सहायक सिद्ध हुई। चौथी सदी ईसवी से विशेष जो कूची से चीन जाने का ताता बधा तो वह सदियो नही टूटा। उस काल चीन जानेवाले भारतीय भिक्षुओ मे अग्रणी कुमारजीव था जो वैभव का जीवन त्याग भिक्षु का कठिन जीवन अपना चुका था।

पर कहानी एक पीढी पहले कुमारजीव के पिता कुमारायण से शुरू होती है। कुमारायण कश्मीर राजवश के वशागत मत्रिकुल मे उत्पन्न हुआ था, पर वह कूची चला

गया था। कूची के राजा ने उसके ज्ञान से चकित होकर कुमारायण को अपना राजगुरु बना लिया। इसी बीच राजकन्या जीवा उसमे आकृष्ट हो गयी और दोनों का ब्याह हो गया। इस सबध मे पुत्र कुमारजीव का जन्म हुआ जिसके नाम मे माता-पिता दोनो के परस्पर प्यार की ध्वनि थी। पुत्र उत्पन्न होने के कुछ ही काल बाद जीवा भिक्षुणी हो गयी और ना बरस के बालक कुमारजीव को लेकर उसके अध्ययन के लिए कश्मीर जा पहुची। कुमारजीव ने वहा बन्धुदत्त से बौद्ध साहित्य, धर्म और दर्शन और विविध विषय पढे और शीघ्र अपनी तीव्र मेधा से विख्यात होकर वह अपनी माता के साथ मध्य एशिया के विविध बौद्ध स्थलों का भ्रमण करता कूची लौटा। इसी बीच चीन और कूची मे युद्ध छिड गया था। विजयिनी चीनी सेना ने आचार्य कुमारजीव को बन्दी बना लिया और चीन पकड ले गयी। आचार्य ३८३ ई. मे कान्सू पहुचे और कु-त्साग के राजा के यहा प्राय: पन्द्रह साल रहे, फिर चीनी सम्राट् के निमत्रण पर ४०१ ई मे वे राजधानी पहुचे जहा ग्यारह साल रहे। बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ वे वहा बौद्ध ग्रथो का चीनी मे अनुवाद करते रहे। सौ से ऊपर सस्कृत रचनाओ का उन्होंने अनुवाद किया और चीन मे विख्यात हो गये। अनेक चीनी पडित आकर उनके शिष्य हो गये, चीन के धार्मिक इतिहास को एक नयी दिशा मिली। कश्मीरी भिक्षुओ ने जो चीन मे बौद्ध धर्म के प्रसार और सस्कृत बौद्ध ग्रथों के चीनी अनुवाद की दिशा मे भगीरथ प्रयत्न किये, कुमारजीव उनमे पहले थे।

चीन जाने वाले कश्मीरी पडितो मे विशिष्ट निम्न लिखित थे—सघभूति (३८१-८४), गौतम सघदेव (३८४-९७), पुण्यत्रात (४०४), विमलाक्ष (४०६-१३), बुद्धजीव (४२३), धर्ममित्र (४२४-४२) और धर्मयश (ल० ४००-२४)। ब्राह्मण बुद्धयश बौद्ध भिक्षु हो काशगर के राजा के निमत्रण पर काशगर पहुचा। वहा निमत्रित तीन हजार भिक्षुओं मे उसकी प्रतिभा विशेष सम्मानित हुई। वहा दस साल ठहर वह भी चीन पहुचा और कुमारजीव के साथ अनुवाद का कार्य उसके मरण काल तक करता रहा। उसकी मृत्यु के बाद वह कश्मीर लौट आया।

कश्मीर का राजकुमार गुणवर्मा राजा के मरने पर मत्रियो द्वारा सिंहासन स्वीकार करने के लिए आमत्रित हुआ, पर उसे अस्वीकार कर भिक्षु का चिवीवर पहन वह सिंहल जा पहुचा। फिर वहा से जावा पहुच, उसने वहा के राजा और राजमाता को बौद्ध धर्म मे दीक्षित किया। शत्रुओं के जावा पर आक्रमण करने पर उसने राजा को उनसे लड़कर राजधर्म पूरा करने के लिए उत्साहित किया। राजा विजयी हुआ और जावा में बौद्ध धर्म का प्रचार पर्याप्त मात्रा मे हुआ। ४२४ मे यश के धनी गुण-वर्मा को चीनी सम्राट् ने नानकिंग आने का निमत्रण दिया। भारतीय पोतपति नन्दी

के पोत पर चढ गुणवर्मा ४३१ मे नानकिंग पहुचा। सम्राट् ने स्वय जेतवन विहार जाकर उसका स्वागत किया। साल भर के भीतर ही गुणवर्मा चीन में ही मर गया पर इसी बीच उसने ग्यारह सस्कृत ग्रथो के चीनी मे अनुवाद कर लिये थे।

भारतीय विद्वानों का चीन प्रवास

भारतीय बौद्ध भिक्षुओ का चीन के प्रति अभियान कश्मीरी पडितो तक ही सीमित न था, अन्य भारतीय प्रदेशो मे भी अनेक भिक्षु वहा जा पहुचे। इनमे प्रधान थे मध्यदेश के गुणभद्र (४३५-६८), काशी के प्रज्ञारुचि (५१६-४३), उज्जयिनी के उपशून्य (छठी सदी) और बगाल तथा आसाम के ज्ञानभद्र, जिनयशा और यशोगुप्त (छठी सदी)। नगरहार (जलालाबाद) के बुद्धभद्र फाह्यान के निमत्रण पर चीन गये। उड्डीयान (स्वात घाटी) से विमोक्षसेन और बामियान से जिनगुप्त भी चीन जा पहुचे। जिनगुप्त गन्धार के थे। तीनो के ५५६ में चीन पहुचने पर उन्हे एक विशेष विहार का निर्माण करा वहा रखा गया, लेकिन राजनीतिक उथल-पुथल के कारण ५७२ मे उन्हे स्वदेश लौटते राह मे तुर्कों के राजा ने रोक लिया। जिनगुप्त ५४५ मे फिर चीन लौटा और वही ६०० मे वह मरा।

मध्य देश का धर्मक्षेम कूची की राह जाकर चीन मे ४१४ से ४३२ ई तक अनुवाद करता रहा, फिर जब राजा की इच्छा के प्रतिकूल भारत लौटना चाहा तब उसने उसे ४३३ मे मरवा डाला। उज्जयिनी के परमार्थ ने इस दिशा मे बडा नाम कमाया। वह पाटलिपुत्र मे था, जब चीनी सम्राट् वू के भेजे प्रतिनिधिमडल ने एक पडित भिक्षु मागा। गुप्त सम्राट् विष्णुगुप्त ने परमार्थ को भेजा जो पर्याप्त बौद्ध ग्रथ लेकर चीन ५४६ ई मे पहुचा और प्राय ७० ग्रथो का अनुवाद कर चुकने पर ५६९ मे वही मरा। धर्मगुप्त लाट (दक्षिण गुजरात) का था। वह काफिरिस्तान, बदख्शा, वखा और ताशकुर्गान होता, काशगर, कूची, कडा शहर, तुर्फान, हामी आदि बौद्ध विहारो मे ठहरता ५९० ई मे चीन पहुचा। अनुवाद कार्य के अतिरिक्त उसने राह के राज्यो की राजनीति, भूगोल, लोगो के रहन-सहन, सामाजिक स्थिति पर भी एक महत्त्व का ग्रथ लिखा जो आज उपलब्ध नही।

पल्लव नरेश के पुत्र बोधिधर्म ने इस क्षेत्र मे बडा नाम कमाया। छठी सदी के उत्तरार्ध मे सम्राट् वू ने उसका स्वागत किया। महायान के ध्यानी रूप का उसने वहा प्रचार किया और अपनी अलौकिक लीलाओ के लिए वह बडा प्रसिद्ध हुआ।

चीनी जिज्ञासुओं की भारत यात्रा

यह विवरण तो हुआ उन भारतीयो का जिन्होने चीन जाकर भारतीय ग्रथों के वहा चीनी मे अनुवाद किये और बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इस धर्माचरण, विशेष कर भारतीय भिक्षुओं के विनय, आचार, विद्या, ज्ञान और धर्म प्रचार के उत्साह ने चीनी धार्मिक जीवन को भी जड़ तक प्रभावित कर दिया, जिसके परिणाम स्वरूप स्वय चीनियों मे बौद्ध धर्म के आदि देश आने और यहा से ग्रथ ले जाने की प्रबल कामना जगी। जनता के अतिरिक्त अनेक चीनी विद्वान् भिक्षु हो गये और भारत की ओर चले। इस प्रकार भारत आनेवाले चीनी भिक्षुओ का ताता बध गया। उन्होने, विशेषत फाह्यान, हुएन्त्साग और ईत्सिग ने जो अपने भ्रमणवृत्तात और यहा के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक विवरण लिखे उनसे भारत के तत्कालीन इतिहास के लिखने मे बडी सहायता मिली है।

इन चीनी यात्रियो मे प्रथम प्रसिद्ध ज्ञानपिपासु, चीनी विद्वान् कुल मे जन्मा, स्वय असाधारण पडित ताओ-अगान था जो स्वय भारत तो नही आया पर जिसने चौथी सदी के उत्तरार्ध मे अनुवादो का संपादन किया, स्वयं ग्रथो पर भाष्य लिखे और देश मे बौद्ध धर्म के प्रचार के प्रबध किये। उसके प्रयत्न से पहला चीनी अभियान भारत की ओर ३९९ ई मे पाच भिक्षुओ के साथ फाह्यान का हुआ। वह स्थलमार्ग मे आया और उसने राह की मुसीबतों का बयान इस प्रकार किया—उसमे जितने भी यात्री मिले राह मे एक-एक कर मर गये—"न तो ऊपर आकाश मे एक पछी दिखाई पडता है न जमीन पर एक जानवर! रेगिस्तान पार करने के लिए कोई राह नही, जहा ही पैर पडते है मरे हुओं की हड्डिया पैरों तले पडती है, जिसमे पता चलता है कि राह यही है।" इससे भारत और चीन आने-जाने वाले उस काल के यात्रियो की मुसीबतो और उन्हे सर करने की उनकी लगन का अदाज लगाया जा सकता है। फाह्यान के साथियो मे से एक राह मे मर गया, कई चीन लौट गये।

फाह्यान ने कश्मीर की राह भारत मे प्रवेश किया और ३९९-४१४ मे प्राय १४ वर्ष उत्तर भारत मे फिरता रहा। पाटलिपुत्र मे कई साल रहकर उसने सस्कृत पढी और विनयपिटक की नकल तैयार की। फिर अन्त मे ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह से उसने जहाज पकडा और चौदह दिन की यात्रा के बाद वह चीन वापस पहुच गया। ८८ साल की उम्र मे वह मरा।

४०४ ई मे फाह्यान के कुछ ही बाद चे-माग पन्द्रह भिक्षुओं के साथ चला। नौ तो पामीरो से ही लौट गये, एक मर गया, तीन लौटती राह मरे। सही सलामत केवल च-माग बस एक साथी के साथ ४२४ ई मे चीन लौट पाया। इसी प्रकार फा-योंग ४२७

ई में २५ भिक्षुओं के साथ कश्मीर की राह भारत आया और सागर की राह लौटा। चीनी सम्राज्ञी (वेई राजवंश) का भेजा सुग-युन अपना दूतमडल लिये ५१८ ई मे चीन से चला और उद्यान-गंधार की राह भारत आया। सुई राजवंश का भी एक दूत-मडल ग्रंथों के लिए (६०५-१७ ई में) भारत आया।

राजकीय सद्भावना

इस चीन-भारत बौद्धिक-धार्मिक संबंध का परिणाम यह हुआ कि चीनी राज-वंशों मे इस धर्म के प्रचार की होड लग गयी। पहले राजकुल की ही भांति त्सिन राजकुल ने भी प्रयत्न किये--उन्होंने चार विहार बनवाये जिनमे (३१७-४२०) प्राय १७,०६८ भिक्षु निवास करने लगे, वेई राजकुल के शासन काल (३८६-५३४) मे धर्म प्रचार मे और भी प्रगति हुई। वू-त्सी राजा ने ३८६-४०७ के बीच १५ चैत्य बनवाये, दो विहार और १,००० सोने की मूर्तियां बनवायी। त्सी राजाओ मे से एक ने सोने का चैत्य, दूसरे ने ५०५ मे पुस्तकों के लिए भारत दूतमडल भेजा। ५५०-७७ मे तुर्कों मे भी इस धर्म का प्रचार हुआ और कगान के तुर्क राजा ने अपनी प्रजा के साथ बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। दक्षिण चीन मे सोग (४२०-७६), त्सी (४७६-५०२) और लियाग (५०२-५७) राजवंशों ने इस धर्म को अपनी सहायता दी। एक ने तो पशुवध भी बन्द कर दिया। महायान दर्शन का अमिताभ सम्प्रदाय तभी चला जो वहा 'श्वेत कमल' का सम्प्रदाय कहलाया। लू-शान नाम का प्रख्यात चीनी भिक्षु इसका प्रवर्तक था। इस सम्प्रदाय के उद्योग से समूचे चीन मे धार्मिक और सास्कृतिक क्षेत्र मे आमूल परिवर्तन हुआ। इस प्रकार उस काल वहा अनेक सम्प्रदायो का आरम्भ हुआ। चीनी सम्राटों के उत्तर मे उत्तर भारतीय राजाओ ने भी अनेक दूतमडल चीन भेजे। ताग नृपतियो के शासन काल मे यह सद्भाव और बढा और हर्ष तथा चीनी सम्राट् ने परस्पर सन्धि की, दूतमडल भेजे। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना हुएन्त्साग और ईत्सिग तथा अन्य अनेक चीनी यात्रियो का भारत भ्रमण है, पर चूंकि वह काल हमारी कालसीमाओं के बाहर पड़ता है, हम उनका उल्लेख नहीं करेंगे, वैसे पहले यथास्थान उनका उल्लेख होता गया है।

मुद्रण कला के उद्भव का चमत्कार

चीन पर भारतीय प्रभाव का एक रूप विश्वव्यापी सिद्ध हुआ। चीनी जनता की पुस्तकों की माग पूरी करने के लिए और भारत से आयी धार्मिक ग्रंथसपदा को उस तक पहुंचाने के लिए देश के शिल्पियो ने वह काम किया जो ससार मे अनजाना था और जिसका लाभ नयी खोजो के साथ संसार आज भी उठा रहा है। वह था मुद्रण यंत्र (छपाई

कला) का आविष्कार। चीनियो ने ब्लाक प्रिंटिंग लकडी से शुरू कर दी। कोरियाइयो ने टाइप की आवश्यकता मान टाइप तैयार कर लिये जिन्हे जापानियों की मेधा ने पूर्ण कर दिया। इसी बीच अरब म इस्लाम का उदय हो चुका था और अरब अपने विद्यापीठो और शोधकेन्द्रो मे भारत, चीन और ग्रीस के गौरवग्रथ अनूदित कर पश्चिम मे उनका प्रचार करने लगे थे। प्रेस और टाइप भी उन्होने कालान्तर मे स्पेन पर अधिकार कर वहा पहुचाये। तभी यूरोप के देशो मे पुनर्जागरण और धर्मसुधार के आदोलनों मे बाइबिल का विविध यूरोपीय भाषाओ मे अनुवाद कर उसे जनता के हाथो में देना था कि वह स्वय पढ़कर देखे कि ईसा और भगवान् ने पोपो को कितना अधिकार दे रखा है, कितना वे अपने मन की करते है। फिर क्या था, स्पेन, इटली और जर्मनी मे प्रेस खडे हो गये और विशेष कर जर्मन प्रेसो ने यूरोप मे क्रान्ति की आग जगा दी। यूरोप मे एक नये, वर्तमान, युग का उदय हुआ। इस राज का पता कम लोगो को है कि यूरोप की इस स्थिति का दूर का परोक्ष जनक और कारण भारत था।

२ अफगानिस्तान

यद्यपि मौर्यों के बाद भारत का राजनीतिक अधिकार हिन्दूकुश से उठ गया था——केवल ग्रीक, पह्लव कुषाण आदि ही जब-तब उस पर शासन करते रहे——भारतीय बौद्धिक और धार्मिक सत्ता उस पर सदा बनी रही थी। काबुल तो कुषाणो के शासन मे रहा ही था, पेशावर स्वय कनिष्क की राजधानी थी। फाह्यान और हुएन्त्साग दोनो ने वहा, विशेष कर उद्यान (दक्षिण-पूर्वी अफगानिस्तान), बामियान आदि मे बौद्ध धर्म के प्रचलित होने का उल्लेख किया है। फाह्यान तो यहा तक कहता है कि वहा की बोली भी मध्य देश की ही थी। हुएन्त्साग ने तो लमगान, जलालाबाद और स्वात घाटी को भी भारत का ही अश माना है। बामियान हिन्दूकुश के नीचे था और इसी से होकर दर्रो की राह लोग काबुल से बलख जाते थे। प्राचीन परम्पराओ का कहना है कि कपिलवस्तु के विड्डूभ द्वारा जला दिये जाने पर कपिलवस्तु के दो परिवारो ने वहा राजकुल स्थापित कर लिये थे जिनके राजकुमार भिक्षु होकर चीन गये थे, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कार्फिरिस्तान मे हुएन्त्साग के समय क्षत्रिय बौद्ध राजा था जहा के सौ विहारो मे ६,००० भिक्षु रहते थे। इधर हाल की पुरातात्विक खुदाइयों मे अफगानिस्तान और निकट के इलाको मे सैकड़ों स्तूपों के खडहर मिले हैं और हजारो मूर्तिया उपलब्ध हुई है। वह सारा इलाका, चीन की सरहद तक, भारतीय धर्म मानता और भारतीय भाषाएँ बोलता था।

३. पश्चिम के देश

रोम और भारत का प्राचीन काल में व्यापारिक संबंध रहा था और प्लिनी आदि के निरंतर आंदोलन के बावजूद भारत के गरम मसाले, मोती और मलमल रोम के बाजारों में महंगे दामों बिकते रहे थे। अन्यत्र लिखा जा चुका है कि गुप्तकाल में ही जब विजिगीषु अलारिक ४०८ ई० में रोम को जीतकर उसके सम्भ्रान्त नागरिकों को तलवार के घाट उतारने पर आमादा हुआ तब उनकी रक्षा, गिबन लिखता है, अलारिक के मांगने पर भारतीय काली मिर्च (तीन हजार पाउण्ड) देकर खरीदी गयी। कनिष्क के समय भारतीय नरेश और रोमन नरेश के बीच राजदूतों का भी आना-जाना हुआ। जहां तक व्यापार का संबंध है निश्चय वह तीसरी सदी में कुछ कम अवश्य हो गया पर पांचवीं सदी के अन्त तक निर्बाध चलता रहा। उसका सिलसिला शायद तब टूटा जब हूणों ने रोमन साम्राज्य की कमर तोड़ दी।

उसी भारत-रोम व्यापार का यह परिणाम हुआ कि असंख्य परिमाण में रोमन सिक्के भारत प्रति वर्ष आने लगे, जिनमें से हजारों सागरतीर के नगरों में इस शताब्दी के आरम्भ में मिले हैं। पूर्वी साम्राज्य के रोमन सम्राट् अर्कादियस (३९५-४०८) और पश्चिमी रोमन सम्राट् ओनोरियस (३९५-४२३) के बड़ी संख्या में तांबे के सिक्के, कोन्स्तान्तियस द्वितीय (३३७-६१), थियोदोसियस द्वितीय (४०८-४५०), जेनो (४७४-९१) और अनस्तासियस (४९१-५१८) के एक-एक सोने के सिक्के मदुरा में मिले। थियोदोसियस द्वितीय मार्कियन (४५०-५७), लियो (४५७-७४), जेनो, अनस्तासियस और जुस्तिनस प्रथम (५१८-२७) के अनेक सिक्के त्रावणकोर में पाये गये हैं। थियोदोसियस प्रथम (३७९-९५), वालेन्तिनियन (३६४-७५) और इयोदोक्सिया (४०१-४०४) के सिक्के दक्षिण भारत के अनेक भागों में उपलब्ध हुए है। इससे प्रकट है कि छठी सदी के आरम्भ तक दोनों देशों में संपर्क और सद्भाव बना रहा था।

यह तो हुई यूरोपीय देशों से संपर्क की बात, पश्चिमी एशिया के देशों और भारत के बीच के सार्थ (कारवां) मार्ग सदा कारवों के चलते रहने से बराबर भरे रहते थे। चौथी सदी के उत्तरार्ध में भारतीय धातु के बने बरतन फरात नदी के पास के बात्ने के बाजार में हर साल बिकने जाते थे।[1] चीन का अरब और ईरानियों के साथ व्यापार भी भारत की ही राह होकर गुजरता था। अरबों और ईरानियों के सारे जहाज

[1] अम्मियानस मार्सेलिनस, १४, ३, ३३।

माल भरे भारत के सागर-तट से होकर ही चीन और दूसरे पूरबी देशों को जाते थे। वज्रबोधि के वृत्तान्त से प्रकट है कि जब वह ७२० ई० मे चीन गया था तब उसने सिंहल के एक बन्दरगाह मे ३५ ईरानी जहाज देखे थे।[1] स्वय ईत्सिंग भारत आते समय चीन से ईरानी जहाज पर ही चढा था। इस्लाम के उदय से पूर्व भी भारत और अरब का सागरीय व्यापार जाना हुआ था। भारतीय लोहे की बनी तलवार का जिक्र अरबी साहित्य मे बार बार हुआ है।[2]

अदन के सुगन्ध द्रव्यो का बाजार सारे ससार की ही तरह सिन्ध और हिन्द मे भी था। भारतीय गरम मसाले अरबी बाजारो मे बड़ी मात्रा मे बिकते थे। इस्लाम के उदय से पहले अरब के दक्षिण-पूर्वी सागरतट के बन्दर डाबा मे चीन और यूनान के सौदागरो के साथ भारतीय सिन्धी सौदागर भी एकत्र हुआ करते थे। तबरी लिखता है कि खुसरो (५६०-६२८) के शासनकाल के ३६वे साल भारत के राजा ने राजदूतो द्वारा ईरानी राजा और उसके पुत्रो के लिए उपहार भेजे थे। भारतीय राजा पुलकेशी द्वितीय था। अजन्ता की गुहा न १ के भित्तिचित्रो मे खुसरो द्वितीय और उसकी रानी शीरीन के साथ-साथ ईरानी राजदूतो के चित्रित होने की भी अटकल लगायी गयी है, यद्यपि इसके लिए कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। कालिदास ने वनायु तुरगो[3]—अरबी घोड़ो—का उल्लेख किया है और बाणभट्ट कहता है कि हर्ष-वर्धन के अस्तबल ईरानी घोडो मे भरे थे।[4] हर्ष का एक सेनापति घमड से कहता है कि वीरो के लिए तुरुष्का (तुर्कों) का देश हाथ भर दूर है, फारस बित्ते भर है, शकस्थान केवल खरहो की उछाल भर।[5] हर्ष के पहले से ही भारत-ईरान का यह सबध चला आता था। पह्लवी साहित्य से जान पडता है कि हर्ष से पूर्व के भारतीय राजा देवशर्मा ने खुसरो प्रथम के पास अन्य उपहारो के साथ शतरज का फलक और उसकी गोट भेजी थी। फिरदौसी अपने 'शाहनामे' मे लिखता है कि हिन्द के राजा के यहा से अनुशीरवाँ (खुसरो प्रथम) के दरबार मे दूत शतरज लेकर उसके मसलो के हल पूछने आये। जानी हुई बात है कि ईरान मे शतरज (सस्कृत 'चतुरग') का प्रचार भारत की ओर से ही हुआ था। ईरान से फिर वह खेल अरब भी पहुँच गया (सातवी सदी से पहले), जहा से (दसवी सदी से पूर्व) फिर वह विविध यूरोपीय देशो को गया।[6]

'पचतत्र' की कथाओ के फारसी-पह्लवी और अरबी अनुवाद की बात पहले

[1] द क्लासिकल एज, पृ. ६१०। [2] स्काफ का अनुवाद, पेरिप्लस, पृ. ७०—७१।
[3] रघु., सर्ग ६ के वैतालिक श्लोक। [4] हर्षचरित, पृ. २१०। [5] वही।
[6] एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, देखिए 'चेस'।

लिखी जा चुकी है। छठी सदी ईसवी तक उसका पहले फारसी-पह्लवी, फिर अरबी, उससे सीरियक मे अनुवाद हो चुका था। इस अरबी अनुवाद से ही इन कथाओ के अनुवाद इब्रानी, लातीनी, स्पेनी, इतालवी और अन्य यूरोपीय भाषाओ मे हुए। आठवी सदी मे दमिश्क के सन्त योहन ने 'बरलाम और जोआफत' लिखा जिसमे जातक कथाओ के आधार पर बनी अनेक बुद्ध सबधी कहानिया डाल दी गयी। इसमे बुद्ध का चरित आदर्श ईसाई सन्त का चरित मानकर लिखा गया जिससे बुद्ध का नाम ईसाई सन्त जोआफत के रूप मे ग्रेगरी तेरहवे (१५८२) की 'मोर्तिरालोजी' मे लिख लिया गया। ईरान मे भारतीय आयुर्वेद का भी साका चला। ईरानी साहित्य मे लिखा है कि बर्ज़ूहिये, सस्सानी राजा अनुशीरवा (खुसरो प्रथम, ५३१-७६) के शासनकाल मे चिकित्सा और अन्य विज्ञान सीखने भारत आया था। हुएन्त्साग के कथनानुसार ईरान के शासन मे आने वाले भारत के पश्चिम के एक देश मे सौ बौद्ध विहार और उनमे ६,००० भिक्षु थे, साथ ही वहा विशेषत पाशुपतो के, सैकडो देव (ब्राह्मण) मन्दिर थे। अरबी 'बुत' शब्द 'बुद्ध' से ही बना है जिससे प्रकट है कि पश्चिम मे बुद्ध की मूर्तिया जानी हुई थी।

४. पूर्व के देश

फूनान

भारतीय सपर्क के पूर्वी देशो मे प्रधान होने से चीन का उल्लेख पहले किया गया है, अब कम्बुज, चम्पा, बरमा, स्याम, जावा, सुमात्रा आदि का वर्णन होगा। फूनान का हिन्दू राज्य कम्बुज मे पहले ही स्थापित हो चुका था। चीनी साहित्य मे उल्लेख मिलता है कि फूनान के हिन्दू राजा चन्तन ने ३५७ ई. मे चीन को अपने राजदूत भेजे। चौथी सदी ईसवी के अन्त अथवा पाचवी सदी के आरम्भ मे कौण्डिन्य नाम का ब्राह्मण फूनान का राजा चुना गया। वह भारत से हाल का ही आया था। कौण्डिन्य के वशज जयवर्मा ने कान्तोन को कुछ सौदागर भेजे थे। वे भारतीय भिक्षु नागसेन के साथ ही सागर के मार्ग से चले परन्तु तूफान आने के कारण उन्हे चम्पा मे उतर जाना पडा। सबके लुट जाने पर नागसेन, जिसके पास लूटने के लिए कुछ न था, सही सलामत फूनान लौट आया। जयवर्मा ने चीनी सम्राट् के पास चम्पा के विरुद्ध सहायता के लिए नागसेन को भेजा। ४८४ ई. मे नागसेन चीन पहुचा और चीनी सम्राट् के सामने उसने महेश्वर (शिव), बुद्ध और चीनी सम्राट् की प्रशसा मे स्तोत्र पढ़े। सम्राट् ने चम्पा के राजा की भर्त्सना तो की पर जयवर्मा की कोई सहायता नहीं की। इसके बाद ५०३ मे जयवर्मा ने मूंगे की बुद्धमूर्ति के साथ अनेक बहुमूल्य उपहार सम्राट को भेजे। ५११ और

५१४ में उसने दो बार अपने दूत और भेजे और फूनान के दो भिक्षु चीन में बसकर बौद्ध ग्रथो का चीनी मे अनुवाद करने लगे। अभिलेखों से पता चलता है कि जयवर्मा की पत्नी का नाम कुलप्रभावती था, जिससे उसे गुणवर्मा नाम का पुत्र हुआ। उसकी रखैल के पुत्र रुद्रवर्मा ने भाई को मारकर फूनान की राजगद्दी स्वायत्त कर ली।

कम्बुज

रुद्रवर्मा के सस्कृत अभिलेख मे प्रकट है कि उसने ५१७ और ५३९ मे छ-छः बार चीन को राजदूत भेजे। फूनान का एक सामन्त राज्य कम्बुज था जो स्वतन्त्र हो गया था। उसने इस काल फूनान पर आक्रमण किया। कुछ काल दोनो मे सघर्ष चलता रहा, अन्त में कम्बुज ने फूनान पर अधिकार कर लिया। कम्बुज का राज्य कम्बोदिया के उत्तर-पूर्वी भाग मे है। कम्बुज से ही कम्बोदिया (फ्रेंच) नाम बना है। ख्यातो का कहना है कि आर्य देश के कम्बु स्वायम्भुव ने इस राज्य की नीव डाली। श्रुतवर्मा के पुत्र श्रेष्ठ-वर्मा ने फूनान से कम्बुज को स्वतन्त्र कर अपनी राजधानी का नाम श्रेष्ठपुर रखा। लाओस मे वन फू अथवा लिंगपर्वत पर इस राजवश के आराध्य भद्रेश्वर शिव का मदिर था।

छठी सदी के अन्त मे भववर्मा ने वहा नये राजकुल की स्थापना की। उसके भाई महेन्द्रवर्मा ने प्राय समूचा फूनान जीत लिया। उसके मरने पर ईशानसेन के समय ६३० ई मे दग्रेक पर्वत के उत्तर में मून नदी की घाटी तक समूचे कम्बोदिया और कोचीन-चीन पर उसका अधिकार हो गया। उसके बाद के राजाओं का विशेष पता नही चलता और कम्बुज का इतिहास भी अन्धकार मे खो जाता है। ईशानवर्मा तक कम्बुज और चीन दोनो के साथ भारत का सबध बना रहा था क्योंकि उसने दोनो को अपने राजदूत भेजे थे।

चम्पा

चम्पा का हिन्दू राज्य ३३६ ई मे विशेष ख्यातिलब्ध हुआ जब फानवेन के सेनापति फान यी ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। उत्तर मे बढ़कर उसने चीनी प्रात पर अधिकार कर लिया, जिससे उसका चीनियो से सघर्ष छिड गया। इन्ही युद्धो मे से एक मे उसकी मृत्यु हुई। फान वेन का पौत्र फान-हु-ता ही सभवत सस्कृत अभिलेखो का भद्रवर्मा था। उसके राज्य में चम्पा के अमरावती, विजय और पाण्डुरग थे। राजा पण्डित था, वेदों का ज्ञाता, जिसने माइसोन मे भद्रेश्वर स्वामी का शिवमंदिर बनवाया। उसका पुत्र गंगाराज गद्दी स्वेच्छा से छोड़ भारत में गगा के तीर जा रमा। उसके आते

ही चम्पा में गृहयुद्ध छिड गया जिसका अन्त ४२० ई मे हुआ। अभी चीन से सघर्ष चल ही रहा था। ४४६ मे चीनी सम्राट् ने एक विशाल सेना भेजकर चम्पा पर अधिकार कर लिया और चीनियों ने मदिरो की स्वर्णमूर्तिया पिघलाकर करीब पचास हजार सेर सोना ले लिया। बाद के राजाओं ने कर भेजकर चीनी सम्राट् को ४७२ मे प्रसन्न कर लिया।

भाग्य के उलट-फेर के बाद रुद्रवर्मा चम्पा के सिंहासन पर बैठा। वह ब्रह्म-क्षत्रिय था। ५३० मे कर भेजकर चीनी सम्राट् के प्रतिनिधियो द्वारा उसने अपना अभिषेक कराया। उसके पुत्र शभुवर्मा ने चीन को कर भेजना बन्द कर दिया। ६०५ ई मे चीनी सेना ने चम्पा पर अधिकार कर लिया और १८ राजाओं के स्वर्णफलक और १,३५० बौद्ध ग्रथ हथिया लिये। उसने करीब १०,००० चम्पावासियो के कान भी काट लिये। शभुवर्मा के पुत्र कन्दर्पधर्म ने चीनियों से अच्छा सबध बनाये रखा पर उसकी मृत्यु के बाद भारी गृहकलह देश मे फैल गया।

बरमा

दक्षिण बरमा का प्रदेश रमण्ण देश कहलाता था, जहा के मोन अथवा तलग हिन्दू सस्कृति के उपासक हो गये थे। उनकी प्रधान नगरी द्वारवती थी। कुछ पालि ग्रथो मे उनके द्वारा शासित प्रदेशो का उल्लेख हुआ है। इनमे राजाओं के भारतीय नाम और उनके विहार बनवाने की बात लिखी है। बौद्ध मूर्तियों और अभिलेखो की उपलब्धि से इन ग्रथो के वक्तव्य की सत्यता प्रमाणित हो जाती है।

श्याम

पास की ही भूमि थाइयो अथवा स्यामियो की थी जो हिन्दू थे। युनान मे उनका सबसे महत्त्व का राज्य गान्धार था जिसका एक भाग विदेह-राज्य कहलाता था। इससे प्रकट है कि इस प्रकार भारतीय उपनिवेशनिर्माता स्वदेश के प्रदेशो के नाम अपने उपनिवेशो को दिया करते थे। दक्षिण बरमा की प्यू जाति के बीच हिन्दू उपनिवेशों का निर्माण हुआ। उनमे से एक राज्य की राजधानी श्रीक्षेत्र कहलाती थी। स्थानीय ख्यातो के अनुसार इस राज्य की नीव तगौग के हिन्दू राजकुल के एक व्यक्ति ने डाली थी। इस प्रदेश मे अनेक सस्कृत मे लिखे और प्यू भाषा के पर भारतीय लिपि मे लिखे अभिलेख मिले है। एक बुद्धमूर्ति से राजा जयचन्द्र वर्मा का वहा राज करना प्रकट होता है। उससे पहले के राजाओं के नाम भी मिले हैं जो हरिविक्रम, सिंहविक्रम और सूर्यविक्रम है। अराकान मे जिस हिन्दू राजकुल ने ६०० से १,००० ई तक राज किया उसका नाम 'श्री धर्मराजानुज वश' लिखा मिलता है।

मलय

मलय के प्रायद्वीप मे भी अनेक हिन्दू राज्य कायम हुए जिनके बनवाये भारतीय देवमन्दिरो और विहारो के भग्नावशेष समूचे प्रायद्वीप पर बिखरे पडे हैं। सस्कृत के अभिलेखो से प्रमाणित है कि कम से कम चौथी-पांचवी सदी के बीच सारे प्रायद्वीप पर हिन्दू उपनिवेश बस गये थे जिन पर हिन्दू राजाओं का शासन था। एक अभिलेख मे रक्तमृत्तिका के महानाविक बुद्धगुप्त के दान और सागरतरण के लिए प्रार्थना का उल्लेख हुआ है। यह रक्तमृत्तिका बगाल मे मुर्शिदाबाद से १२ मील दक्षिण आज की रागामाटी है। चीनी साहित्य मे यहा के अनेक हिन्दू राज्यो का उल्लेख हुआ है। उससे प्रकट है कि मलयवासी राजकुलो का संबध भारत से बना बना हुआ था। वहा के लुग-किया-सु के राजा का एक सबधी उस राज्य से भागकर भारत पहुचा और यहा एक राजपुत्री से विवाह किया था। राजा के मरने पर मत्रियों ने उसे बुलाकर राज्य सौप दिया। उसने बीस साल राज किया, फिर उसका पुत्र भगदतो वहा का राजा हुआ। चीनी लेखो मे पता चलता है कि उस राज्य की नीव दूसरी सदी ईसवी मे पडी थी। भगदतो (भगदत्त) ने ५१५ ई में चीनी सम्राट् को एक पत्र लिखा था। चीनी ग्रथो मे अन्य राज्यों के राजाओ के नाम भी मिले है, जैसे गौतम, सुभद्र, विजयवर्मा। स्वय भारतीय साहित्य मे भी कलशपुर और कर्मरग के राज्यों के नाम मिलते है।

जावा

हिन्देशिया मे दक्षिणपूर्वी एशिया के द्वीपों मे सबसे महान् भारतीय उपनिवेशो का समूह था। जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो मे अनेक हिन्दू राज्य गुप्तकालीन सदियो मे प्रतिष्ठित हुए और दीर्घकाल तक जीवित रहे। जावा के जिन दो राज्यो का चीनियों ने उल्लेख किया है वे थे चो-पो और हो-लो-तान, जो पाचवी सदी मे नियमपूर्वक अपने दूत चीन भेजते रहे थे। इनके हिन्दू नामो से प्रकट है कि वे किसी वर्मन् राजवश के थे। पश्चिमी जावा के चार सस्कृत के अभिलेखो मे राजा पूर्णवर्मा का उल्लेख हुआ है। उसका पिता 'राजाधिराज' और पितामह 'राजर्षि' कहे गये हैं। इस राजाधिराज ने चन्द्रभागा की धारा घुमाकर उसे राजधानी से होकर बहने के लिए बाध्य किया था। स्वय पूर्णवर्मा ने गोमती नदी से नहर निकलवा कर ब्राह्मणो को हजार गौएँ दान मे दी। पूर्णवर्मा ने छठी सदी में राज किया। उसकी राजधानी का नाम तारुमा था। चीन के सुई शासन के समय जावा मे दस हिन्दू राज्य थे (५८९-६१८)। तांग काल (६१८-९०६) में जावा के करद राज्यो की संख्या २८ हो गयी थी।

सुमात्रा

सुमात्रा का सबसे प्रसिद्ध भारतीय राजवंश श्रीविजय का था जिसका आरंभ चौथी सदी ईसवी में अथवा उससे भी पहले हुआ था। उसका विशेष उत्कर्ष सातवी सदी के अन्त मे हुआ। धीरे धीरे श्रीविजय के राजाओं ने आसपास के प्राय सभी हिन्दू राज्यों को जीत लिया। श्रीविजय बौद्ध राज्य था। चीनी यात्री ईत्सिंग लिखता है कि दक्षिण सागर के द्वीपो मे श्रीविजय बौद्ध धर्म और विद्या का केन्द्र था और वहा के राजा के पास भारत और श्रीविजय के बीच व्यापार करने वाले अनेक जहाज थे। श्रीविजय चीन से आनेवाले व्यापारियो का भी केन्द्र हो गया था। श्रीविजय के राजाओ की कीर्ति-गाथा गानेवाले अनेक सस्कृत मे लिखे अभिलेख मिले हैं। उसका आगे का इतिहास गुप्तकाल के बाद का है।

बाली

बाली का भी हिन्दू उपनिवेशीकरण छठी सदी मे पूर्व ही हो गया था। लियाग के चीनी राजकुल के वृत्तात से पता चलता है कि 'राजकुल का नाम कौण्डिन्य है जिसने बताया कि शुद्धोदन की पत्नी उसी के प्रदेश की पुत्री थी।' बाली के राजा ने ५१८ ई मे चीन को दूत भेजे। प्रकट है कि कौण्डिन्य राजकुल का प्रभाव सुवर्ण-द्वीप के सभी राजपरिवारो पर था। बाली मे राज करने वाले बौद्ध भारतीय राजाओ का वैभव असाधारण था जिसका चीनी वृत्तात विशेष उल्लेख करते है। ईत्सिग ने भी बाली के बौद्ध राज्य की शालीनता का उद्घोष किया है।

बोर्नियो

पूर्वी बोर्नियो मे सस्कृत मे लिखे सात अभिलेख मिले है जिनमे राजा कुड्ग के पौत्र और अश्ववर्मा के पुत्र मूलवर्मा के चरित की चर्चा हुई है। ये अभिलेख महा-काम नदी के तीर मुआरा कमान मे मिले हैं जो प्राचीन काल मे बडा व्यस्त बन्दर था। मूलवर्मा ने, जैसा इन अभिलेखो से प्रकट है, बहुसुवर्णक नाम का यज्ञ किया और वप्र-केश्वर मे ब्राह्मणो को २०,००० गौएँ दान मे दी थी। ये अभिलेख ४०० ई. के है जिससे प्रमाणित है कि इस राजकुल का आरम्भ चौथी सदी के अन्त तक हो गया था। बोर्नियो के राजा ब्राह्मण धर्मावलबी थे और ब्राह्मणो का वे बडा मान करते थे। राजा के पितामह कुड्ग का नाम फूनान राजवश प्रतिष्ठित करनेवाले कौण्डिन्य के नाम से मिलता है। कुछ आश्चर्य नही जो बोर्नियो के राजवश का प्रतिष्ठाता भी यह ब्राह्मण रहा हो।

५. मध्य एशिया

सर आरेल स्टाइन ने मध्य एशिया के अनेक बौद्ध केन्द्रों से चित्रों की सपदा लाकर प्रमाणित कर दिया है कि वह मध्य एशिया का प्रदेश किस मात्रा मे भारतीय था और कि उसमे एक बडी सख्या मे भारतीय बस्तिया बस गयी थी। वहां की खुदाइयो और विहारो के खडहरो से कितने ही ग्रंथरत्न और उनके भग्न अश प्राप्त हुए है। फिर उस दिशा से आनेवाले चीनी यात्रियों ने भी उस प्रदेश के विषय मे अपने भ्रमण वृत्तातो मे इतना लिखा है कि उस सबध मे अधिक प्रमाणाधारो की आवश्यकता नही ।

शेन-शेन

फाह्यान चौथी सदी के अन्त मे चीन छोडते और भिन्न स्वतत्र देश मे प्रवेश करते समय लिखता है कि देश (मध्य एशिया के पूर्वी सिरे पर लोपनोर के समीप शेन-शेन के राज्य) का राजा बौद्ध है और राज्य में ४,००० भिक्षु रहते हैं। चीन से बाहर निकलते ही उसे यह पहला देश मिला था जो पहले ही बौद्ध हो चुका था। फाह्यान लिखता है कि "इस और अन्य राज्यो की साधारण जनता तथा श्रमण दोनो भारतीय आचार का पालन करते है। अन्तर बस इतना है कि जहा जनता उसके पालन मे तनिक ढीली है श्रमण उसके पालने मे बडे चुस्त है। विविध राज्यों की जनता निश्चय बर्बर भाषा बोलती थी पर सर्वत्र के भिक्षु भारतीय भाषा (सस्कृत-पालि) बोलते और भारतीय ग्रथो का विपुल ज्ञान रखते थे।" इससे मध्य एशिया मे दूर दूर फैले प्रदेशो और राज्यो मे प्रतिष्ठित भारतीय सस्कृति पर पूरा प्रकाश पडता है।

खुत्तन

तुर्फान मध्य एशिया का सबसे उत्तरपूर्वी प्रदेश था जहा बौद्ध धर्म का एकान्त प्रचार था। स्वय काशगर मे सैकडो विहार थे जिनमे हजारो भिक्षु निवास करते थे। तारीम घाटी के उत्तरी भाग मे कूची का राज्य था, दक्षिणी भाग मे खुत्तन था। दोनों ही बौद्ध ज्ञान और आचरण के केन्द्र थे। फाह्यान और हुएन्त्साग दोनो ने खुत्तन के धर्माचरण को सराहा है। फाह्यान के समय खुत्तन के भिक्षुओं की सख्या दसो हजार हो गयी थी। राजपरिवार और प्रजा सभी बौद्ध थे, प्रत्येक गृह के सामने कम से कम बीस हाथ ऊचा स्तूप था। खुत्तन के चार महान् विहारो मे सबसे शालीन गोमती विहार था जिसमे तीन हजार भिक्षु रहते थे। जब वार्षिक त्यौहार के दिन मूर्तियो का जलूस

निलकता था तब उसमे सबसे आगे इसी विहार के भिक्षु चलते थे। इन जलूसों में राजा-रानी भी शामिल होते थे और चौदह दिन तक चलते थे; प्रत्येक विहार का रथों का जलूस एक एक दिन निलकता था। फाह्यान ने इस जलूस का सविस्तर वर्णन किया है। पांचवी सदी के मध्य से सातवी सदी के मध्य तक खुत्तन को हूणों और पश्चिमी तुर्कों के अत्याचार सहने पड़े जिससे उसका जीवन विश्रृंखलित हो गया।

कूची

कूची का राज्य बुद्धस्वामी और कुमारजीव के सबध से विशेष शालीन हो उठा था। यह भी बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यहा के निवासी भारतीय भाषा बोलते थे। कुमारजीव के चरित से, जिसका उल्लेख किया जा चुका है, कूची और भारत के घने सबध का पता चल जायगा। यह स्थिति चौथी सदी मे थी। चीनी वृत्तातों से पता चलता है कि उस सदी के आरम्भ मे कूची के राज्य मे दस हजार स्तूप और मन्दिर थे। प्रथम त्सिन राजवश (चीन) के वृत्तात से प्रकट है कि चौथी-पाचवी सदियों मे उस राज्य मे भिक्षुओं और भिक्षुणियो के लिए अनेक विहार थे जिनमे से अनेक कुमारजीव के गुरु बुद्धस्वामी के तत्त्वावधान मे काम करते थे। एक भिक्षुणी-विहार मे केवल राजकन्याएँ और राजा अथवा राजपुत्रो की पत्निया ही रहती थी। हुएन्त्साग ने वहा के सौ विहारो और पाच हजार भिक्षुओं का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि राजधानी के बाहर बुद्ध की नब्बे फुट ऊची दो खडी मूर्तिया थी जिनके सामने हर पाचवे साल दस दिनो तक बौद्ध सगीति अथवा सघ का अधिवेशन होता था। चीनी यात्री लिखता है कि कूची के निवासी वीणा और वशी बजाने मे बेजोड थे। सगीत मे कूचीवासियो की दक्षता और रुचि नि सन्देह भारतीय प्रभाव के कारण थी। चीनी वृत्तातो से प्रकट है कि अनेक भारतीय सगीतज्ञ परिवार वहा जा बसे थे, इनमे से एक झा अथवा उपाध्याय (त्सा ओ) परिवार कुलागत सगीतसाधक था। उस परिवार का एक व्यक्ति चीन जाकर वहा ५५० और ५७७ के बीच रहा था। उसी काल सुजीव नाम का एक अन्य संगीतज्ञ भी कूची से चीन गया था। प्रसिद्ध 'बावर मैनुस्क्रिप्ट' (हस्तलिखित पोथियो का सग्रह) कूची के पास ही मिला था, जिसमे गुप्त ब्राह्मी और प्राकृत मिश्रित सस्कृत मे लिखे सात ग्रथ मिले थे जिनमे से तीन चिकित्सा संबधी थे। तियेन शान पर्वत मे खोदी महत्त्व बुद्धो की गुहाएँ भी उल्लेखनीय हैं जहां से अनेक ग्रंथ उपलब्ध हुए थे।

अध्याय १४

उपसंहार

पिछले तेरह अध्यायों मे गुप्तकालीन सस्कृति की कहानी दी गयी है। यह कहानी भारत के वैभव और ह्रास की कहानी है। गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग रहा है जिसके जोड़ के ऋद्ध युग ससार के इतिहास मे कम हुए है। यह काल उस सस्कृति की क्षमता, उदारता, सयम, निर्माण, भौतिक समृद्धि, उससे सजनित विलास और परिणामत ह्रास का रहा है।

ससार का शायद कोई देश नही जो विदेशी जातियो और उनके स्नेह–घृणा की इस मात्रा में क्रीडाभूमि रहा हो जिस मात्रा मे भारत बना रहा है। परन्तु उसकी असाधारण क्षमता ने उन सबको आत्मसात् कर लिया है, उनके गुण-दोषो को ग्रस लिया है, ग्रास बना लिया है। इस क्षमता और इसके परिणाम मे जो उसे अलौकिक उदा-रता मिली है उससे उसने अपने गुने ज्ञान और साधी कला, दर्शन और विज्ञान को मात्र अपना न मानकर ससार की सस्कृतियो को वितरित कर दिया है। अपने आक्र-मणकारियो की चोट तन पर लेकर उसने अशोक के समकालीन ग्रीक राज्यो मे शत्रुओ को दवा बाटी है, उनके मूल देश (हूणो के मूल स्थान चीनी कान्सू) मे दया, सौजन्य और स्नेह के संदेश पहुचाये हैं। ससार मे कभी मात्रा और सुन्दरता मे इतनी मूर्तिया नही कोरी गयी, इतनी चित्रसपदा पहाड़ी दीवारो पर नही बिखरी जितनी भारत मे—चित्रो के क्षेत्र मे तो अजन्ता जैसा प्रसार ससार मे सिवा तुन-हुआन की गुफाओ के और कही नही, जो उसी की नकल मे बनी, और यूरोप मे तो इस प्रकार के सामूहिक चित्र तो बस इटली के नगरो मे पुनर्जागरण काल मे कही हजार साल बाद ही लिखे गये।

साहित्य का भाल कालिदास की सी चन्द्रबिन्दी से विभूषित हुआ और दर्शन असाधारण प्रतिभाओ की प्रज्ञा से भरा पुरा, गणित और ज्योतिष आर्यभट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त की मेधा से सवरा और ससार के गणित की शिलाभित्ति बना। बौद्ध मिशनरियो ने जो विदेशों मे धर्मोपदेश किये उनसे संसार की परुषता घटी और चीन से पश्चिमी एशिया तक, पूर्वी यूरोप तक उनके सदेश लोगो मे एक नये जीवन की संभावना जगाने लगे; बौद्ध सघ के आचारो से प्रभावित ईसाई साधुसघ शाति और शुद्धाचार पश्चिम की बर्बर जातियो मे फैलाने लगे। साम्राज्य की संरक्षा मे सार्थवाहों के

लिए मार्ग सुरक्षित हो गये और दूर दूर के देशों से जल और स्थल मार्गों से जो व्यापार हुआ तो देश मे सोना धारासार बरसने लगा। साधारण जनता सभ्रात होने के सपने देखने लगी और संभ्रांत विलास का जीवन बिताने लगे। स्कन्दगुप्त के से तपस्वियो का सर्वथा अभाव न था पर कुमारगुप्त की विलासिता फल गयी, और देश तथा समाज अब सजग रक्षा का परिकर छोड आवास के शुद्धातो में विचरने लगे, राजाओं के अन्त पुर अन्तो और सीमाओ से उन्हे उदासीन कर चले। भारत शीघ्र ही निश्चेष्ट, अकर्मण्य, तन्त्रकुशल, मोहमुग्ध हो मुह के बल आ गिरा।

भारत पराजित क्यो हुआ ? अनवरत पराजित क्यो होता रहा ? प्रश्न बडा स्वाभाविक है। उत्तर इसका अपेक्षाकृत कठिन इसलिए हो जाता है कि यहा वीरो का अभाव नही रहा, कर्मठो का अभाव नही रहा, चिन्तको का अभाव नही रहा, साहस की कमी नही रही।

कारण इसका भारत का सामाजिक सगठन रहा है। भारत विधानो का देश रहा है। यहा के व्यक्तियो, व्यक्तिसमूहो अथवा विविध आबादियो ने अपने हित का आप चिन्तन नही किया है। उनके लिए अन्य व्यक्ति चिन्तन करते रहे हैं। विधानपरक जीवन इतना स्वाभाविक हो गया था कि विधान के अपूर्ण होने का प्रश्न उठाने का साहस किसी को न हुआ और जिस विषय पर शास्त्र का विधान था उस पर अपना मत और आचरण निश्चित करना व्यक्ति के लिए प्राय असभव हो गया था। और वह विधान चाहे औचित्य, उपादेयता, काल और देश का अतिक्रमण कर गया, उसकी फिर से नयी परिस्थितियो के आलोक मे समीक्षा करने की आवश्यकता नही समझी गयी।

इसका ज्वलन्त उदाहरण वर्ण-व्यवस्था है। उसने जनता के नैतिक जीवन मे प्राय सारी दुर्बलताएँ भर दी। वर्ण कभी श्रम विभाजन और देशो की आर्थिक व्यवस्था के अर्थ बने—यही साधारणतया इतिहासकारो का मत है, यद्यपि वर्ग और वर्ण-विशेष की स्वार्थ-लोलुपता और परपोषण नीति इसका प्रधान कारण रही है, इस वक्तव्य मे कम यथार्थता नही है। वर्णव्यवस्था ने समाज को जाति-पाति के बन्धनो मे जकडकर उसे टूक-टूक कर दिया। समूह-समूह, व्यक्ति-व्यक्ति मे ऊच-नीच की भावना आयी। नीति-पुस्तको मे लिखा तो अवश्य गया कि व्यक्ति की पूजा उसके गुणों से होती है, परन्तु जीवन मे वस्तुत ऐसा कभी हुआ नही। व्यक्ति सदा अपने वर्ण और आर्थिक संपन्नता से आदृत अथवा अनादृत हुआ। इसमे जन्म को उत्कर्षापकर्ष का कारण मान व्यक्ति ने अपने अध्यवसाय के ऊपर उठने की बात छोड दी। विधायको ने—मनु आदि ने—उसे बार-बार समझाया कि उसकी व्यक्तिगत हीन परिस्थिति उसके पूर्व जन्मो के दुष्कर्मों की परिणति है जिसमें उसे सन्तोष करना ही होगा। अपनी स्थिति को बदलने का व्यक्ति अथवा समूह

ने प्रयत्न नही किया। इसमे आत्मविश्वास तो जाता ही रहा, व्यक्ति अपनी हीनता से विद्रोही नही, अकिंचन हो उठा। अन्त्यजो की असाधारण सख्या-शक्ति को निश्चेष्ट और अकिंचन कर देने से स्वय वर्णों मे पारस्परिक प्रेम न होने के कारण सामूहिक आचरण सभव नही रहा। ब्राह्मण द्वारा क्षत्रियो के, क्षत्रियो द्वारा वैश्यो के कर्तव्य पर-धर्म समझे गये, यद्यपि अपवादो की कमी भी इस दिशा मे नही है। राजनीति क्षत्रियकर्म है इस विचार ने क्षत्रियेतर मानव को उससे उदासीन कर दिया। "कोउ नृप होउ हमैं का हानी, चेरि छांडि नहिं होउब रानी" पर-काल में इसी उदासीनता को व्यक्त करने लगा।

भारत ने अपनी भूलों को सुधारने अथवा दूसरो से सीखने का कभी प्रयत्न नही किया। साथ ही उसकी वसुन्धरा की उर्वरा शक्ति ने आसानी से अन्न प्रसव कर अपने निवासियों को प्रमादी बना दिया। सघर्ष, जो प्रगति की आद्या शक्ति है, उनके जीवन मे न रहा। भारतीय साधारणत घर से बाहर नही निकले। भारतीय सैन्य-सगठन अत्यन्त प्रश्नात्मक था। परम्परा मे चली आती चतुरगिणी सेना कालान्तर मे बोझिल सिद्ध हुई, परन्तु उसके विधान मे भारतीयो ने कोई अन्तर न डाला। जहा चीन से अतलातक सागर तक के देशो मे जातिया कही भी हुए युद्धपरक अनुसन्धानो से लाभ उठा लेती थी, भारत अपनी पुरानी अप्रगतिशील सैन्य-नीति का पोषक बना रहा। सेनाएँ समान साधनो वाली देशी सेनाओ से तो लडती रही पर विदेशी सेनाओं के सामने पीठ दिखाने लगी।

पर इन सासारिक उपलब्धियों के अभाव मे भी भारत ने, विशेष कर गुप्तकाल मे जो कुछ गुना और किया, नि सन्देह वह नि शेष न होकर भी विपुल और शालीन था। अनेक बार आत्मालोचन—यद्यपि उसका प्रादुर्भाव मात्र एक घटना ही थी—स्तुत्य सदर्भ लेकर उपस्थित हुआ। गुप्तकालीन विष्णुपुराणकार ने समुद्रगुप्त की दिग्विजय को लक्ष्य कर जो उद्गार निकाले वे सभी काल के सास्कृतिक इतिहासकारो के लिए प्रमाण हैं—'सम्राटों का यश धूमिल पड जाता है क्योंकि वह जल पर लिखा है। जिन सम्राटों ने कहा, भारत हमारा है, वे मिट गये। स्वयं राघव के साम्राज्य पर सदेह होने लगा है। साम्राज्य को धिक्कार है! ऐश्वर्य को धिक्कार है!'

मनुष्य-देव नामानुक्रमणी